समाजशास्त्र का परिचय

समाजशास्त्र का परिचय

[INTRODUCTION TO SOCIOLOGY]

वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

ISBN 81–7056–268–6

संस्करण : प्रथम, 2004

मूल्य : सात सौ पचास रुपये

प्रकाशक :
पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर—302 003
e-mail . panchsheel_j@sify.com

शब्द-संयोजक :
पंचशील कम्प्यूटर्स
फिल्म कॉलोनी, जयपुर

मुद्रक :
शीतल प्रिन्टर्स
फिल्म कॉलोनी, जयपुर

भूमिका

आज के वैश्वीकरण के युग मे समाज की प्रगति एव विकास के लिए अनेक सामाजिक नीतियाँ एवं विकास कार्यक्रम बनाए जा रहे हैं। इन कार्यक्रमो के निर्माण के लिए समाज से सम्बन्धित सभी पहलुओ का ज्ञान होना आवश्यक है। इसी उद्देश्य को ध्यान मे रखते हुए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने समाजशास्त्र विषय मे समाज के पूर्ण ज्ञान को वैश्वीकरण की प्रक्रिया के सन्दर्भ मे अद्यतन बनाने के लिए अनुशसा की है। यह कृति उसी के अनुरूप लिखी गई है।

प्रस्तुत कृति मे सर्वप्रथम समाजशास्त्र की प्रकृति, अर्थ एव समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करते हुए समाजशास्त्रीय अध्ययनो के वैज्ञानिक और मानविकी अभिविन्यास से परिचित कराया गया है। तत्पश्चात् समाज, समुदाय, सस्था, समिति, सामाजिक समूह एवं सामाजिक सरचना की अवधारणाओं को स्पष्ट किया गया है। साथ ही समाज के महत्त्वपूर्ण घटकों : परिवार, नातेदारी, धर्म, शिक्षा एव राजनीति पर प्रकाश डाला गया है।

व्यक्ति और समाज अन्योन्याश्रित रूप मे सम्बन्धित हैं इसलिए व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध, प्रस्थिति, भूमिका, सस्कृति, सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक प्रतिमान, सामाजीकरण, सामाजिक मूल्य एवं अनुशास्तियों के सम्प्रत्ययो की भी विस्तार से विवेचना की गई है।

परिवर्तन समाज का शाश्वत नियम है किन्तु सामाजिक परिवर्तन की दिशा क्या हो? इस दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन का अर्थ, प्रकार, कारक एवं सिद्धान्तों पर विशेष रूप मे प्रकाश डाला गया है। समाज की समस्याओ से अवगत होने के लिए उनके अर्थ एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण से परिचित होना आवश्यक है। पुस्तक मे इस पर विशेष ध्यान दिया गया है।

यह पुस्तक विषय-सामग्री को पाठकों के समक्ष अति सरल, सहज एवं सुपाठ्य रूप से सप्रेषित करती है। विषय को सुग्राह्य एवं अधुनातन बनाने के उद्देश्य से यथासम्भव नवीन आंकडे, सूचनाएँ एवं तालिका आदि प्रस्तुत की गई हैं।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन मे जिन विद्वानों की रचनाओ का सहारा लिया गया है उनके प्रति मैं हृदय मे आभारी हूँ। पंचशील प्रकाश के संचालक श्री मूलचद गुप्ता के प्रति मैं अपना विशेष आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अल्प समय मे पुस्तक को प्रकाशित करने तथा जिज्ञासु पाठकों तक पहुँचाने का अथक प्रयास किया है। इसे और अधिक उपयोगी बनाने के लिए जिज्ञासु पाठकों के सुझाव आमंत्रित हैं, उनके बहुमूल्य सुझावों का सदैव स्वागत रहेगा।

—वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा

विषय-सूची

अध्याय-1

समाजशास्त्र की प्रकृति

(Nature of Sociology)

समाजशास्त्र की एक विषय के रूप में 1838 में स्थापना से लेकर आज तक यह विवाद रहा है कि समाजशास्त्र की प्रकृति क्या है? इसकी प्रकृति का अध्ययन अनेक विद्वानों ने किया है। जब भी इस विषय पर चर्चा होती है कि समाजशास्त्र की प्रकृति क्या है? तो एक पक्ष इसकी प्रकृति को वैज्ञानिक सिद्ध करने का प्रयास करता है तो दूसरा पक्ष अनेक प्रश्न तथा आपत्तियाँ उठाकर इसकी प्रकृति की वैज्ञानिकता के प्रति अविश्वास पैदा करने का प्रयास करता है। समाजशास्त्र की प्रकृति को समझने में केन्द्र बिन्दु यही है कि क्या समाजशास्त्र की प्रकृति प्राकृतिक विज्ञानों जैसी है? क्या समाजशास्त्र भौतिक विज्ञान के समान भविष्यवाणियाँ करने में सक्षम है? क्या समाजशास्त्र के पास प्रयोगशाला है? क्या समाजशास्त्र के अध्ययन के परिणामों के आधार पर इसके सिद्धान्तों को वैज्ञानिक कहा जा सकता है? क्या समाजशास्त्र के सिद्धान्त वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं? इसके अध्ययन की पद्धतियाँ, तथ्य-संकलन के साधन, तथ्यों का वर्गीकरण, सारणीयन एवं विश्लेषण पूर्ण वैज्ञानिक है? क्या समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों तथा सामान्यीकरणों की जाँच और पुनःजाँच न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की तरह 'जब चाहे, जहाँ चाहे' की तरह की जा सकती है? इन सब प्रश्नो और पहलुओ का अध्ययन समाजशास्त्र की प्रकृति के सन्दर्भ मे करना आवश्यक है, तभी इसकी वैज्ञानिक प्रकृति की सत्यता ज्ञात हो सकेगी।

विज्ञान का अर्थ और समाजशास्त्र की प्रकृति

(Meaning of Science and Nature of Sociology)

समाजशास्त्र—एक विज्ञान के रूप में (Sociology—As a Science)—समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति के सम्बन्ध में कुछ कहने से पहले विज्ञान का अर्थ समझना आवश्यक है जो निम्नलिखित है—

विज्ञान की अनेक विद्वानों ने परिभाषाएँ दी हैं, जो इस प्रकार हैं—

1. **कार्ल पियर्सन** (Karl Pearson) के अनुसार, "तथ्यो का वर्गीकरण, उनका क्रम और तथ्यों को तुलनात्मक महत्त्व प्रदान करना ही विज्ञान का प्रमुख कार्य है।"

2. **चर्चमैन और एकोफ** (Churchman and Akoff) के अनुसार, "विज्ञान, ज्ञान प्राप्त करने का व्यवस्थित तरीका है।" इन्होंने विज्ञान का अर्थ 'कुशल खोज' बताया है।

3 बीसंज और बीसंज (Biesanz and Biesanz) ने लिखा है, "यह (विज्ञान) एक पद्धति या उपागम है न कि विषय-सामग्री जो विज्ञान की कसौटी है।"

4 ग्रीन एव स्टुअर्ट चेज (Green and Stuart Chase) के अनुसार, "विज्ञान का सम्बन्ध पद्धति से है न कि विषय-सामग्री से।"

इन परिभाषाओ से स्पष्ट होता है कि विज्ञान का सम्बन्ध वैज्ञानिक अध्ययन विधि से है न कि किसी विशिष्ट प्रकार की अध्ययन सामग्री से। विज्ञान तो एक खोज है, अध्ययन की व्यवस्थित और क्रमबद्ध पद्धति है। पियर्सन के अनुसार तथ्यो को वर्गीकरण करना, तथ्यो का तुलनात्मक विधि से महत्त्व प्रदान करना विज्ञान का कार्य है—ये तथ्य प्राकृतिक हो अथवा सामाजिक इससे विज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। समाजशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानो मे अन्तर विषय-सामग्री का है न कि अध्ययन विधि का। उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर समाजशास्त्र की प्रकृति को वैज्ञानिक कहा जा सकता है। अब आगे समाजशास्त्र की प्रकृति को वैज्ञानिक पद्धति के सन्दर्भ मे देखने का प्रयास किया जायेगा, साथ ही यह भी देखने का प्रयास किया जायेगा कि समाजशास्त्र मे वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किस सीमा तक होता है तथा समाजशास्त्र की क्या सीमाएँ हैं—

वैज्ञानिक पद्धति और समाजशास्त्र की प्रकृति
(Meaning of Science and Nature of Sociology)

वैज्ञानिक पद्धति (Scientific Method)—विज्ञान मे क्रमबद्ध व व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है, इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए सामाजिक अनुसन्धानकर्त्ताओं ने वैज्ञानिक पद्धति के निश्चित चरण बताए हैं—वैज्ञानिक अध्ययन की एक व्यवस्थित कार्य प्रणाली होती है। अध्ययन में प्रारम्भ से लेकर अन्तिम चरण तक वैज्ञानिक को निश्चित प्रक्रियाओं से होकर गुजरना पड़ता है।

पी वी यग, लुण्डबर्ग, गुड्‌े एव हाट आदि ने समाजशास्त्र मे वैज्ञानिक पद्धति के जो चरण बताए हैं वो निम्नलिखित हैं— —

(1) समस्या का कथन अथवा उपकल्पना का निर्माण,
(2) तथ्यो का संकलन, अवलोकन एवं परीक्षण,
(3) तथ्यों का वर्गीकरण, सारणीयन एवं सगठन,
(4) सामान्यीकरण/निष्कर्ष/सिद्धान्त का निर्माण, तथा
(5) प्रतिवेदन।

उपर्युक्त सभी चरणो को विस्तार से निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है।

वैज्ञानिक पद्धति के चरण

समस्या का कथन या उपकल्पना का निर्माण	तथ्यों का अवलोकन, सकलन एवं परीक्षण	तथ्यों का वर्गीकरण, सारणीयन एवं संगठन	सामान्यीकरण/ निष्कर्ष	प्रतिवेदन

(1) समस्या का कथन या उपकल्पना का निर्माण (Statement of the Problem or Formulation of the Hypothesis)—वैज्ञानिक अध्ययन में सर्वप्रथम अध्ययन से सम्बन्धित

समस्या का सावधानीपूर्वक चयन किया जाता है। समस्या कथन के रूप मे भी हो सकती है और उपकल्पना के रूप में भी। यदि वैज्ञानिक कथन की जाँच करने का उद्देश्य लेकर अध्ययन करना चाहता है तो उसे समस्या उपकल्पना अर्थात् कारण-प्रभाव के रूप मे प्रस्तुत करनी होती है। ये कारण-प्रभाव सम्बन्ध अध्ययन के निष्कर्ष में सत्य या असत्य प्रमाणित हो सकते हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययन में वैज्ञानिक चरणों का पालन करके अन्त मे वैज्ञानिक सिद्धान्त का निर्माण किया जाता है।

(2) **तथ्यों का अवलोकन, संकलन एवं परीक्षण** (Observation, Collection and Testing of Data)—वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति के द्वितीय चरण में समस्या से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्र किया जाता है। समाजशास्त्र में तथ्यो का संकलन, अवलोकन, साक्षात्कार, अनुसूची, प्रश्नावली आदि प्रविधियों के द्वारा किये जाते हैं। तथ्य-संकलन की प्रविधि का चयन समस्या अथवा उपकल्पना के अनुसार किया जाता है। अगर अध्ययन में परीक्षण सम्भव होता है तो वैज्ञानिक कारकों को नियन्त्रित करके उनकी मात्रा को घटा-बढ़ाकर परीक्षण करता है और तथ्य एकत्र करता है।

(3) **तथ्यों का वर्गीकरण, सारणीयन एवं संगठन** (Classification, Tabulation and Organization of Data)—तथ्य संकलन के पश्चात् एकत्र सामग्री मे परस्पर कारण-प्रभाव का अध्ययन करने के लिए तथ्यो को विभिन्न वर्गों या समूहो मे बाँटा जाता है। समाजशास्त्र मे गुणों को ध्यान में रखकर एकत्र सामग्री को तालिका के रूप मे क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित किया जाता है।

(4) **सामान्यीकरण/निष्कर्ष** (Generalization and Conclusion)—इस चरण में वैज्ञानिक परिणाम निकलता है। यदि प्रथम चरण मे उपकल्पना का निर्माण किया गया है तो वैज्ञानिक यहाँ उपकल्पना से सम्बन्धित परिणाम सिद्धान्त के रूप मे प्रस्तुत करता है। उपकल्पना पूर्ण सिद्ध हो जाती है तो वह सिद्धान्त के रूप में स्थापित हो जाती है। यदि समस्या केवल कथन के रूप मे लेकर वैज्ञानिक ने अध्ययन किया है तो वह जो निष्कर्ष देगा वे भविष्य में वैज्ञानिक अध्ययन करने के लिए उपकल्पना के निर्माण में सहायक होगे। समाजशास्त्रीय अध्ययनों में इस चरण का कड़ाई से पालन किया जाता है।

(5) **प्रतिवेदन** (Report)—**गुडे** एवं **हाट** ने लिखा है कि वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति में अन्तिम चरण सबसे महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार वैज्ञानिक का यह उत्तरदायित्व है कि वह प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जो कुछ अनुसन्धान प्रक्रिया से गुजरा है उसे प्रतिवेदन के रूप मे ज्यों-का-त्यों प्रस्तुत करे। अध्ययन से सम्बन्धित प्रत्येक चरण का विवरण उसे देना चाहिए—प्रतिवेदन मे मुख्य निष्कर्ष, सिद्धान्त, अध्ययन की सीमाएँ, कठिनाइयाँ आदि का उल्लेख करना चाहिए। **गुडे** एवं **हाट** ने कहा है कि प्रतिवेदन में वैज्ञानिक अध्ययन से सम्बन्धित सभी प्रक्रियाओ के उल्लेख की उपयोगिता यह है कि अगर अन्य वैज्ञानिक अध्ययन की प्रामाणिकता, विश्वसनीयता एवं सत्यापन की जाँच करना चाहें तो वे प्रतिवेदन में दी गई सभी बातो का अक्षरश: पालन करके जाँच कर सकते हैं। समाजशास्त्र में इस चरण का क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप से पालन किया जाता है।

विज्ञान के प्रमुख तत्त्व या विशेषताएँ
[Main Elements (Characteristics) of Science]

विज्ञान की पद्धति के प्रत्येक चरण की कुछ विशेषताएँ व तत्त्व हैं जो उसकी पद्धति को वैज्ञानिक बनाते हैं। अन्य अध्ययन की विधियो की तुलना में वैज्ञानिक विधि मे कुछ विशेषताओं का ध्यान रखा जाता है। विज्ञान की प्रमुख विशेषताओ का उल्लेख अनेक समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक अनुसन्धानकर्त्ताओं ने किया है, जो इस प्रकार हैं—

राय फ्रेन्सेस (Roy Francis) के अनुसार विज्ञान मे — (1) आनुभविकता, (2) तार्किकता, (3) प्रत्यक्षवादिता, और (4) सार्वभौमिकता होनी चाहिए। **मार्टिण्डेल और मोनाकर्सी** ने विज्ञान की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए कहा है कि विज्ञान विचार करने का तरीका है। विज्ञान में विचार समस्याओ के प्रत्युत्तर के द्वारा उत्पन्न होते हैं। साथ ही विचार क्रमबद्ध और व्यवस्थित होते हैं। इन्होने कहा है कि विज्ञान अध्ययन करने का तरीका है।

वैज्ञानिको द्वारा प्रस्तुत विज्ञान की विशेषताएँ मुख्यतः कारणता आनुभविकता और सार्वभौमिकता हैं—
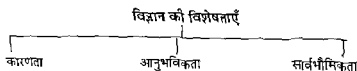
1 **कारणता** (Casuality)—वैज्ञानिक अध्ययन मे विभिन्न तथ्यो को एकत्र किया जाता है। उनमे परस्पर कारण-प्रभाव सम्बन्धो का परीक्षण एवं अवलोकन किया जाता है। तर्क के आधार पर तथ्यो मे परस्पर सम्बन्धो का क्रम निश्चित किया जाता है तब उनको वर्णन व व्याख्या की जाती है। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि जब-जब नगरीकरण होगा तब-तब आवास की समस्या होगी अथवा जब जनसंख्या वृद्धि होगी तो जनसख्या मे श्रम-विभाजन भी बढ़ेगा। इस प्रकार विज्ञान के अध्ययन और निष्कर्षों में कारण-सम्बन्ध होता है।

2 **आनुभविकता** (Empiricism)—विज्ञान, आनुभविक है। विज्ञान मे विशिष्ट घटनाओं का अवलोकन किया जाता है। अध्ययन में जानकारी एकत्र करने के दो तरीके हो सकते हैं—(1) पहला, अध्ययनकर्त्ता स्वय अपनी इन्द्रियों की सहायता से घटना का अवलोकन करे और तथ्य एकत्र करे, (2) दूसरा, लोगों ने जो कुछ लिखा है, कहा है तथा निष्कर्ष निकाले हैं, उनको एकत्र करे। विज्ञान मे पहली विधि अपनाई जाती है, अर्थात् अध्ययनकर्त्ता स्वयं घटना से सम्बन्धित कारकों का अध्ययन करता है। घटनाओ से सम्बन्धित कारण-सम्बन्धों का अवलोकन इन्द्रियों के द्वारा किया जाता हैं। ऐसे अध्ययन आनुभविक होते हैं। विज्ञान इस अर्थ में आनुभविक है।

3 **सार्वभौमिकता** (Universality)— विज्ञान सार्वभौमिक है। विज्ञान के निष्कर्ष सिद्धान्त रूप में होते हैं। वैज्ञानिक तथ्य और सिद्धान्त इसलिए सार्वभौमिक होते हैं क्योकि ये उन परिस्थितियों के विषय में बताते हैं जिनमे कोई घटना या घटना का प्रकार सदैव घटता है। वैज्ञानिक द्वारा किया गया अध्ययन गुप्त नहीं होता है। हर एक उसे देख सकता है। यदि किसी को किसी

प्रकार की आपत्ति हो तो वह अध्ययन के परिणामों की जाँच कर सकता है। विज्ञान के तथ्य, निष्कर्ष, अध्ययन, सिद्धान्त आदि सार्वभौमिक होते हैं।

पूर्वोक्त कारणता, आनुभविकता व सार्वभौमिकता तो विज्ञान की शाश्वत या मौलिक विशेषताएँ हैं लेकिन इसके अतिरिक्त विज्ञान की अध्ययन-पद्धति की भी कुछ विशेषताएँ हैं जिनका वर्णन करना यहाँ आवश्यक है। विभिन्न विद्वानों द्वारा विज्ञान की अध्ययन पद्धति की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया गया है, उन्हें निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

1 **अवलोकन** (Observation)—यूँ तो अनेक प्रकार से तथ्य या जानकारी एकत्र की जा सकती है किन्तु विज्ञान में वे तथ्य एकत्र किए जाते हैं जो सत्य होते हैं, जाँच तथा परीक्षण पर आधारित होते हैं तथा जिनकी सत्यता के सम्बन्ध मे किसी प्रकार की शंका नहीं होती है। इसीलिए विज्ञान में प्राथमिक तथ्यो को एकत्र करने के लिए अवलोकन प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। इस प्रणाली में मानव इन्द्रियो द्वारा घटना का अवलोकन किया जाता है। अवलोकन प्रणाली में घटना जिस रूप में घटती है उसके कारण-प्रभाव अथवा पारस्परिक सम्बन्धों का ज्यों-का-त्यो निरीक्षण किया जाता है। अवलोकन प्रणाली में नेत्रों द्वारा नूतन तथ्यों का विचारपूर्वक संकलन किया जाता है। इसमे घटनाओं का इन्द्रियों द्वारा क्रमबद्ध अवलोकन किया जाता है। **गुडे एवं हाट** ने लिखा है, *"विज्ञान अवलोकन से प्रारम्भ होता है और उसके प्रमाणीकरण के लिए अन्ततः अवलोकन पर ही लौटना पड़ता है।"*

2. **सत्यापन और विश्वसनीयता** (Verification and Reliability)—अध्ययन द्वारा जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनके सत्यापन से आशय है कि विज्ञान मे जो अध्ययन किए जाएँ, उनके परिणामो की जाँच करने पर वे पुन: प्राप्त हों। यदि दुबारा अध्ययन करने पर परिणाम भिन्न आते हैं तो इसका तात्पर्य है कि अध्ययन की पद्धति वैज्ञानिक नहीं है। इसी को सत्यापन कहते हैं।

विज्ञान मे सत्यापन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए **गुडे एवं हाट** ने लिखा है कि सत्यापन अध्ययन के प्रतिवेदन पर निर्भर करता है। वैज्ञानिक को उसका विस्तृत एवं पूर्ण वर्णन प्रतिवेदन मे करना चाहिए जिस प्रक्रिया से होकर अध्ययन किया गया है। ऐसा करने से अन्य लोग यदि अध्ययन के सत्यापन की जाँच करना चाहें तो उन प्रक्रियाओ के आधार पर वे कर सकते हैं। यदि पुनः जाँच से परिणामों की पुष्टि होती है तो तथ्य और निष्कर्ष सत्य माने जायेगे।

विज्ञान का यह गुण भी होता है कि इसके द्वारा निर्मित सिद्धान्त सत्य, प्रमाणित एवं विश्वसनीय होने चाहिएँ। अर्थात् यदि विज्ञान के सिद्धान्त अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति कर लेते हैं जिनके लिए उनका निर्माण किया गया है तो ये सत्य, प्रमाणित व विश्वसनीय कहलाते हैं जो विज्ञान की प्रमुख विशेषता है।

3. **सामान्यीकरण** (Generalization)—विज्ञान तथ्यों के आधार पर जो निष्कर्ष निकालता है उसे सामान्यीकरण कहते हैं। **कोहन** (Cohen) ने इसे निम्न उदाहरण से समझाया है—यदि कोई कहता है कि उसने पत्ते को गिरते हुए देखा है तो उसने एक तथ्य को बताया है। यदि कोई कहता है कि उसने अक्सर पत्तों को गिरते हुए देखा है तो वह अनिश्चित तथा एक ही प्रकार की घटनाओं की बड़ी संख्या प्रस्तुत करता है जो जटिल तथ्य का निर्माण करता है। यदि

कोई यह कहता है कि प्रत्येक पत्ता अवश्य गिरेगा तो वह किसी तथ्य का वर्णन न करके एक सामान्यीकरण सिद्धान्त को प्रस्तुत कर रहा है। सामान्यीकरण विज्ञान का एक प्रमुख तत्त्व है जिसमे कुछ इकाइयो के अध्ययन के आधार पर प्राप्त निष्कर्षो को सम्पूर्ण वर्ग पर लागू किया जाता है।

समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति
(Scientific Nature of Sociology)

विज्ञान की प्रकृति पर विचार करने के पश्चात् अब समाजशास्त्र की प्रकृति का अध्ययन किया जायेगा। समाजशास्त्र को प्रकृति का अध्ययन विज्ञान की पद्धति को आधार मानकर तथा समाजशास्त्र की विशेषताओ, तत्त्वो, लक्षणो व अध्ययन को पद्धतियो का विज्ञान की प्रकृति से तुलना करते हुए किया जायेगा। विज्ञान की प्रकृति का विवेचन पूर्व मे ही किया जा चुका है। इन्हीं बिन्दुओ के आधार पर निम्नलिखित क्रम से समाजशास्त्र की प्रकृति को देखा जायेगा—

(1) पद्धति, (2) अवलोकन, (3) तथ्यों का वर्गीकरण-विश्लेषण तथा सारणीयन, (4) प्रकृति और सामान्यीकरण, (5) 'क्या है?' का अध्ययन, (6) कार्य-कारण सम्बन्धों की विवेचना, (7) सिद्धान्तो की स्थापना, (8) सिद्धान्तो की पुनःपरीक्षा सम्भव, (9) सिद्धान्तो की सार्वभौमिकता, एव (10) भविष्यवाणी।

(1) **समाजशास्त्र की प्रकृति एवं वैज्ञानिक पद्धति** (Nature of Sociology and Scientific Method)—समाजशास्त्र मे समाज, सामाजिक सम्बन्धो, सामाजिक व्यवस्थाओ, घटनाओ आदि का अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार किया जाता है। अध्ययन की योजना तैयार की जाती है। समाजशास्त्रीय अध्ययन वैज्ञानिक पद्धति के सभी चरणो—उपकल्पना का निर्माण, तथ्यो का अवलोकन, सकलन, वर्गीकरण, सगठन, विश्लेषण तथा सामान्यीकरण के आधार पर किया जाता है। सामाजिक अनुसन्धानकर्त्ताओ—यग, गुडे एव हॉट, लुण्डबर्ग, कुक आदि ने लिखा है कि समाजशास्त्र मे समस्या का अध्ययन ही क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप में नहीं किया जाता बल्कि समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो का निर्माण भी किया जाता है। इन सिद्धान्तो की वैज्ञानिक-पद्धति के आधार पर जाँच की जाती है, उनमे सशोधन किया जाता है।

विद्वानो का कहना है कि अध्ययन की पद्धति के आधार पर समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है। समाजशास्त्र एक विज्ञान है।

(2) **समाजशास्त्र की प्रकृति एवं अवलोकन** (Nature of Sociology and Observation)—वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति मे तथ्य-सकलन के चरण का विशेष महत्त्व है। प्राकृतिक विज्ञानो में अवलोकन पद्धति की सहायता से तथ्य एकत्र किये जाते हैं। अवलोकन मुख्य रूप से तीन प्रकार के हैं—(1) सहभागिक, (2) अर्द्ध-सहभागिक, और (3) असहभागिक।

प्राकृतिक विज्ञानो मे केवल असहभागिक अवलोकन का प्रयोग किया जाता है। समाजशास्त्रीय अध्ययनो मे अध्ययन की समस्या पर निर्भर करता है कि उसमे कौन-सी अवलोकन विधि प्रयुक्त की जायेगी। समाजशास्त्री जैसा देखता है, उसी रूप में उसे लिखता है। एकत्र तथ्यो का वर्गीकरण करता है तथा विश्लेषण करके परिणाम निकालता है। यह कार्य क्रमबद्ध और नियोजित रूप से किया जाता है। इस प्रकार अवलोकन के आधार पर समाजशास्त्र की प्रकृति

वैज्ञानिक है।

(3) समाजशास्त्र की प्रकृति और तथ्यों का वर्गीकरण, सारणीयन एवं विश्लेषण (Nature of Sociology and Classfication, Tabulation and Analysis of Data)—समाजशास्त्र में अवलोकन द्वारा तथ्य एकत्र करने के उपरान्त उनको कार्य-कारण के आधार पर अलग-अलग समूहो में वर्गीकृत किया जाता है। इन वर्गों को क्रम से व्यवस्थित किया जाता है। कारको में परस्पर गुण-सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए तालिका में प्रदर्शित किया जाता है। इस प्रकार तथ्यो का विश्लेषण तथा उनमे परस्पर सगठन स्पष्ट हो जाता है। उनके परस्पर गुण-सम्बन्ध का वर्णन किया जाता है। जैसे वैज्ञानिक अध्ययनो में तथ्यो का वर्गीकरण, सारणीयन, विश्लेषण और संगठन तथा वर्णन किया जाता है, समाजशास्त्रीय अध्ययन में भी इन सभी नियमो की पालना की जाती है इसीलिए समाजशास्त्रीय अध्ययन वैज्ञानिक प्रकृति वाले होते हैं।

(4) समाजशास्त्र की प्रकृति और सामान्यीकरण (Nature of Sociology and Genreralization)—वैज्ञानिक अध्ययन का प्रमुख और अन्तिम चरण सामान्यीकरण होता है। इसमे प्रथम चरण मे जो उपकल्पना का निर्माण किया था उसकी जाँच की जाती है तथा तथ्यो का सामान्यीकरण किया जाता है। समाजशास्त्रीय अनुसन्धान में भी अन्तिम चरण सामान्यीकरण का होता है जिसमें समाजशास्त्री एकत्र तथ्यो का वर्गीकरण, सारणीयन आदि करने के बाद निष्कर्ष निकालता है। प्रारम्भ में जिस कल्पना को लेकर वैज्ञानिक चला था उसकी जाँच की जाती है। यदि वह उपकल्पना सिद्ध हो जाती है तो समाजशास्त्र मे वह सिद्धान्त के रूप मे स्थापित हो जाती है। अगर नए परिणाम सामने आते हैं तो उपकल्पना को असत्य घोषित कर दिया जाता है तथा नए सिद्धान्त की स्थापना कर दी जाती है।

इस प्रकार समाजशास्त्र में वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है—उपकल्पना से सिद्धान्त और सिद्धान्त से उपकल्पना तथा फिर सिद्धान्त। इस प्रकार समाजशास्त्री स्थापित सिद्धान्त को चुनौती दे सकता है, उसकी अनुसन्धान द्वारा जाँच करके नए सिद्धान्त की स्थापना करता है। इस अध्ययन और अनुसन्धान की प्रक्रिया के फलस्वरूप समाजशास्त्र का विज्ञान के रूप में विकास हो रहा है।

(5) समाजशास्त्र 'क्या है?' का अध्ययन करता है (Sociology studies "What is it")—समाजशास्त्र में वास्तविकता तथा सत्यता को जानने के लिए अनुसन्धान मे निम्न चार मौलिक प्रश्नों का उत्तर घटना के अध्ययन मे देना चाहिए—

(1) क्या है? (What is it?)

(2) कैसे है? (How is it?)

(3) क्यो है? (Why is it?)

(4) क्या होगा? (What will it be?)

समाजशास्त्रीय अध्ययन मे सामाजिक क्रियाओं का 'क्या है?', 'कैसे है?', क्यों है?' को ध्यान मे रखते हुए अध्ययन का वर्णन और व्याख्या की जाती है। कारको का कारण-प्रभाव के अध्ययन के आधार पर 'क्या होगा?' का विवेचन भी किया जाता है। विज्ञान की तरह समाजशास्त्र

मे 'क्या होना चाहिए?' पर कोई टिप्पणी नहीं की जाती है। समाजशास्त्र में 'क्या होना चाहिए?', 'क्या नहीं होना चाहिए?', क्या अच्छा है?', 'क्या बुरा है?' का कोई स्थान नहीं है, केवल वस्तु-स्थिति पर ध्यान दिया जाता है।

जिस भौगोलिक क्षेत्र मे जीविकोपार्जन के साधन सीमित हैं, जीवन कष्टमय है, आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति बडी कठिनाई से होती है, उन क्षेत्रो मे बसे अनेक पुरुष एक स्त्री से विवाह करते हैं, वहाँ समाजशास्त्र बहुपति विवाह के कारणो पर तो प्रकाश डालता है लेकिन बहुपति विवाह अच्छे हैं अथवा बुरे, इससे इस विज्ञान का कोई सम्बन्ध नही है।

(6) समाजशास्त्र कारण-प्रभाव सम्बन्धों की व्याख्या करता है (Sociology Explains Cause-Effect Relationship)—समाजशास्त्र मे कारको का अध्ययन किया जाता है। घटना के परिणामो के कारणो की खोज की जाती है, कोई घटना किन-किन कारणो से घटती है—इसका वर्णन किया जाता है। कार्ल मार्क्स वर्ग-सघर्ष मे आर्थिक शोषण, उत्पादन के साधन और सम्बन्ध आदि के कार्य-कारण सम्बन्ध की वैज्ञानिक व्याख्या करके बताते हैं कि समाज में परिवर्तन इनके द्वारा कैसे होता है।

(7) समाजशास्त्र में सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है (Sociology formulates Theories)—समाजशास्त्रीय अनुसन्धान मे उपकल्पना का निर्माण, तथ्यो का संकलन, वर्गीकरण, सारणीयन, संगठन, विश्लेषण और व्याख्या आदि की जाती है और अन्त में सिद्धान्त का निर्माण किया जाता है।

(8) समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों की जाँच की जाती है (Sociological theories are tested)—यदि समाज के इतिहास को देखा जाय तो इस बात के अनेक प्रमाण मिल जायेगे जिनमें सिद्धान्तो की जाँच की गई थी। दुर्खीम ने आत्महत्या का प्रजातीय सिद्धान्त, भौगोलिक सिद्धान्त आदि की जाँच करके निष्कर्ष निकाला कि वे गलत थे—क्योंकि तथ्यो के आधार पर वे प्रमाणित सिद्ध नहीं हुए। अनेक प्रचलित आत्महत्या के सिद्धान्तो की जाँच करने के बाद दुर्खीम ने आत्महत्या का समाजशास्त्रीय सिद्धान्त प्रतिपादित किया। इसी प्रकार समाजशास्त्र मे वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर तथ्यो की सहायता से मार्क्स का वर्ग-सघर्ष का सिद्धान्त, सामाजिक-परिवर्तन का उद्विकासीय सिद्धान्त आदि की जाँच की गई तथा नए सिद्धान्तो का निर्माण किया गया। समाजशास्त्रीय सिद्धान्तो का परीक्षण, परिमार्जन और संशोधन सम्भव है।

(9) समाजशास्त्र के सिद्धान्त सार्वभौमिक हैं (Sociological Theories are Universal)—जिस प्रकार विज्ञान मे सिद्धान्त सार्वभौमिक होते हैं उसी भाँति समाजशास्त्र में भी सिद्धान्त सार्वभौमिक होते हैं। समाजशास्त्रीय सिद्धान्त निश्चित परिस्थिति मे कारको के परस्पर कारण-प्रभाव सम्बन्धो की व्याख्या करते हैं—यदि परिस्थितियाँ और कारकों के गुण नहीं बदलते हैं तो समाजशास्त्रीय सिद्धान्त सत्य और प्रमाणित सिद्ध होते हैं। समाजशास्त्र मे वैज्ञानिक अनुसन्धान के चरणों के अनुसार तथ्यो का अध्ययन करके सिद्धान्तो का निर्माण किया जाता है जिनकी जाँच करना सम्भव है। मैकाइवर ने कहा है, "समाज सहयोग है जो संघर्ष से गुजरता है।" "Society is co-operation, crossed by conflict"

(10) **समाजशास्त्र में भविष्यवाणी करने की क्षमता है** (Sociology is capable of Prediction)—समाजशास्त्र 'क्या है?' का अध्ययन करता है तथा उसके आधार पर 'क्या होगा?' की भविष्यवाणी करता है इसलिए समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है। समाजशास्त्र में अनेक समाजशास्त्रियों ने सामाजिक परिवर्तन को भविष्यवाणियाँ की हैं उनमें से कई सत्य निकली हैं। समाज, ग्राम से नगर में विकसित होता है। संयुक्त परिवार एकाकी परिवार में बदलते हैं। अनेक सामाजिक व्यवस्था, संस्कृति और इनसे सम्बन्धित अंगों, जैसे—परिवार समूह, संस्था, विवाह, कला, धर्म आदि आगे चलकर क्या रूप धारण करेंगे, इनके सम्बन्ध में समाजशास्त्रियो ने भविष्यवाणियाँ की हैं।

कोहन (Cohen) ने लिखा है कि सिद्धान्त तथ्यो का घटनाक्रम तथा संक्षिप्तीकरण एवं भविष्यवाणी करता है। तथ्यों के सामान्यीकरण का अर्थ यही है कि दी हुई परिस्थितियों मे वर्णित कारक निश्चित प्रभाव तथा परिणाम देंगे।

समाज सरल से जटिल अवस्था में बदलता है। जैसे-जैसे समाज बदलता है उसमें विभेदीकरण भी बढ़ता जाता है। समाजशास्त्र भविष्यवाणी करने की क्षमता रखता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र एक विज्ञान है और इसकी प्रकृति वैज्ञानिक है।

समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति की कुछ सीमाएँ (Some Limitations of the Scientific Nature of Sociology)—अभी तक समाजशास्त्र की प्रकृति का अध्ययन वैज्ञानिक सन्दर्भ में किया गया है जिसमें समाजशास्त्र की परिभाषा, अनुसन्धान के चरण, उपकल्पना, वर्गीकरण, सारणीयन, निष्कर्ष आदि पर प्रकाश डाला गया है, समाजशास्त्र और विज्ञान की विशेषताओं—कारणता, आनुभविकता, सार्वभौमिकता का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि समाजशास्त्र की प्रकृति वैज्ञानिक है किन्तु इसकी वैज्ञानिकता की कुछ सीमाएँ हैं जिसके कारण समाजशास्त्र की प्रकृति भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र आदि प्राकृतिक विज्ञानो जैसी नहीं है। इसका कारण समाजशास्त्र की अध्ययन पद्धति नहीं है बल्कि समाजशास्त्र के अध्ययन की वस्तु स्वयं मानव तथा मानव-समाज की परिवर्तनशील प्रकृति है।

गुडे एवं हॉट (Goode and Hatt) ने इस सम्बन्ध में समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति की कुछ सीमाओं पर प्रकाश डाला है। आपके अनुसार समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता की निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण सीमाएँ हैं—

समाजशास्त्र की सीमाएँ

भविष्यवाणी करने में असमर्थ	वस्तुपरकता का अभाव	सामाजिक घटनाओ की जटिलता	अध्ययन की वस्तु स्वयं मेधावी मानव

(1) **भविष्यवाणी करने में असमर्थ** (Incapable of Prediction)—समाजशास्त्र के विषय में यह कहा जा सकता है कि यह भविष्यवाणी करने में अक्षम है। इसके सिद्धान्त सभी

समाजों और कालों पर लागू नहीं किये जा सकते हैं। समाजशास्त्र की भविष्यवाणियाँ प्राकृतिक और भौतिक विज्ञानों की भाँति सत्य और प्रमाणित नहीं होती हैं। गुडे एवं हॉट ने समाजशास्त्र की इस विशेषता की सीमा पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि मानव-व्यवहार इतना अधिक परिवर्तित होता रहता है कि उसके सम्बन्ध में वैज्ञानिक और सुनिश्चित भविष्यवाणी करना सम्भव नहीं है। समाजशास्त्र के अध्ययन की वस्तु मानव व्यवहार है। मानव व्यवहार स्वयं बहुत परिवर्तनशील है। समाजशास्त्र के अध्ययन की सामग्री की अनिश्चितता के कारण उसकी भविष्यवाणी भी अनिश्चित है। इसमें समाजशास्त्र की वैज्ञानिक प्रकृति का कोई दोष नहीं है। यह सब इस विज्ञान की सीमा है जिसका हमें ध्यान रखना होगा।

(2) वस्तुपरकता का अभाव (Lack of Objectivity)—वैज्ञानिक से यह अपेक्षा की जाती है कि वह घटना का अध्ययन निष्पक्ष अथवा पक्षपातरहित होकर करे। सामाजिक घटनाओं का अध्ययन निम्नलिखित कारणों से वस्तुनिष्ठ नहीं हो पाता— वैज्ञानिक के व्यक्तिगत गुण, उसके समाज के मूल्य, 'क्या होगा?' के स्थान पर 'क्या होना चाहिए?' पर ध्यान केन्द्रित करना। 'क्या अच्छा है?' और 'क्या बुरा है?' के सन्दर्भ में तथ्यों की व्याख्या करना—इन कारणों से अध्ययन की वैज्ञानिकता कम हो जाती है। गुडे एवं हॉट ने समाजशास्त्र में इसी व्यक्तिनिष्ठता अथवा पक्षपात के आने की सम्भावना के सम्बन्ध में लिखा है, "मानव के व्यवहार का अध्ययन केवल मानव-अवलोकनकर्ताओं द्वारा ही किया जाता है और ये सदैव अवलोकित तथ्यों को तोड़-मरोड़ देते हैं। अतः सत्य को प्राप्त करने की कोई वस्तुनिष्ठ पद्धति नहीं हो सकती।"

(3) सामाजिक घटनाओं की जटिलता (Complexity of Social Phenomena)—समाजशास्त्र में सामाजिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। सामाजिक घटनाएँ बहुत जटिल होती हैं। एक ही सामाजिक घटना में एक से अधिक कारक होते हैं जो एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। कारक और उनके प्रभाव भी अनिश्चित होते हैं। वास्तव में सामाजिक घटना में परिणाम अनेक कारकों के मिश्रित प्रभाव का फल होता है।

प्राकृतिक घटनाओं में अध्ययन की सामग्री जटिल तो हो सकती है परन्तु वह निश्चित प्रकृति वाली होती है। समाजशास्त्र में अध्ययन की सामग्री मानव-व्यवहार, सामाजिक-व्यवस्था, सामाजिक-अन्तःक्रिया, मानव-समूह आदि हैं। इनमें निरन्तर परिवर्तन होता रहता है इस कारण ये निश्चित भी नहीं होते हैं। गुडे एवं हॉट के अनुसार मानव-व्यवहार इतना जटिल एवं अनिश्चित होता है कि वैज्ञानिक पद्धतियों के आधार पर उसके व्यवहार का अध्ययन करना कठिन है।

(4) अध्ययन की वस्तु स्वयं मेधावी मानव (Subject-matter is itself Homo-Sapien)—सभी यह जानते हैं कि मानव एक बुद्धिजीवी प्राणी है। वह निरन्तर चिन्तन करता है, समझता है, सामाजिक प्रक्रियाओं का अवलोकन करता है, उन पर विचार करता है तथा परिस्थितियों के अनुसार क्रिया, प्रतिक्रिया का अवलोकन करता है। उसमें निर्णय लेने की क्षमता है। भविष्यवाणी करने वाला तथा जिसके विषय में भविष्यवाणी की जाती है—दोनों ही मानव हैं इसलिए समाजशास्त्र में अनुसन्धान करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। तथ्य

मानव से एकत्र किये जाते हैं, मानव जो कि सूचनादाता है, सही जानकारी छिपाने की क्षमता रखता है— जिससे वह वैज्ञानिक तथ्य एकत्र करना कठिन हो जाता है।

यदि कुछ समय के लिए हम मान भी ले कि समाजशास्त्र का पूर्ण अध्ययन वैज्ञानिक है, सत्य है, प्रमाणित है, विश्वसनीय है किन्तु जिस मानव के सम्बन्ध मे अध्ययन किया गया है वह यह क्षमता रखता है कि वह योजनाबद्ध तरीके से समस्त परिणामो को, भविष्यवाणियो को अनुमानो को असत्य सिद्ध कर दे। **गुडे एव हॉट** ने इसी तथ्य को निम्नलिखित शब्दो मे व्यक्त किया है— *''वैज्ञानिक मानव के सम्बन्ध मे भविष्यवाणी करता है और मानव मे स्वय मे यह क्षमता है कि वह जान बूझकर उन भविष्यवाणियों को असत्य सिद्ध कर दे।''* समाज की वैज्ञानिक प्रकृति में सबसे बडी बाधा या सीमा उसकी अध्ययन की सामग्री मानव समाज स्वय है। समाजशास्त्र मे अध्ययन का वस्तुनिष्ठ न होना, सामाजिक घटनाओ का जटिल और अनिश्चित होना घटनाओ का गतिशील होना, घटनाओ मे सार्वभौमिकता का अभाव, घटनाओ के माप की कठिनाई आदि सबका कारण समाजशास्त्र के अध्ययन की सामग्री मानव से सम्बन्धित होना है।

❏

अध्याय-2

समाजशास्त्र का अर्थ

(Meaning of Sociology)

समाजशास्त्र मानव समाज का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। मानव समाज अन्य प्राणियो के समाज से अनोखा एव विशिष्ट है। सभी प्राणी सामाजिक प्राणी हैं लेकिन मानव एक ऐसा सामाजिक प्राणी है जिसके पास सस्कृति है। अन्य प्राणियो के पास सस्कृति नहीं है। अन्य सभी प्राणी जन्म से ही सामाजिक होते हैं परन्तु मानव एक ऐसा सामाजिक प्राणी है जो जन्म के बाद सामाजिकता को सीखता है। अन्य जीवो मे सामाजिकता का गुण आनुवांशिक होता है तथा मानव में सामाजिकता का गुण सामाजिक-सास्कृतिक होता है। यह सीखने की प्रक्रिया जीवन पर्यन्त चलती रहती है। मानव मे अनेक ऐसे गुण एव विशेषताएँ हैं जिसके परिणामस्वरूप मानव एक जटिल समाज का निर्माण कर पाया है, जिसका वैज्ञानिक अध्ययन करना आवश्यक है।

सामाजिक विचारकों ने मानव समाज की उत्पत्ति तथा विकास का अध्ययन किया। समाज के अनेक पक्ष सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक सगठन, सामाजिक संरचना, उसके कार्य और दुष्कार्य एव इनमें हुए परिवर्तन के अध्ययन को करने के लिए एक विशिष्ट विज्ञान की आवश्यकता पडी। सर्वप्रथम, फ्रास के विद्वान् ऑगस्त कॉम्ट ने 1838 मे समाजशास्त्र विषय की स्थापना की और जिसके फलस्वरूप आप समाजशास्त्र के जनक कहलाए। इसके बाद समाजशास्त्र विषय का धीरे-धीरे विकास हुआ। अध्ययन के जगत् मे इस विषय का महत्त्व बढा। आज समाज शास्त्र का अन्य सभी विज्ञानों की तुलना में एक विशिष्ट स्थान है।

समाजशास्त्र मानव समाज के विभिन्न घटक, विशेषताएँ, तत्व, कारक तथा सिद्धान्तों का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। अत: समाजशास्त्र विषय में प्रवेश करने से पहिले यह जानना आवश्यक हो जाता है कि समाजशास्त्र किसे कहते हैं? समाजशास्त्र का अर्थ क्या है? विभिन्न विद्वानो ने समाजशास्त्र का क्या अर्थ लगाया है? आदि-आदि। सर्वप्रथम हम समाजशास्त्र की परिभाषाओ और उसके अर्थ का अध्ययन करेगे, जो इस प्रकार हैं—

समाजशास्त्र की परिभाषाएँ एवं अर्थ

(Definition and Meaning of Sociology)

जब हमारे सामने 'समाजशास्त्र' शब्द आता है तो स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि यह शब्द कैसे बना? इसकी उत्पत्ति कब, कहाँ और कैसे हुई? इसका शाब्दिक अर्थ क्या

है? 'समाजशास्त्र' शब्द का इतिहास तथा उत्पत्ति का अध्ययन करने से पता चलता है कि समाजशास्त्र अंग्रेजी के शब्द Sociology का हिन्दी रूपान्तर है। यह दो शब्दों से मिलकर बना है। पहिला शब्द लेटिन भाषा का 'Socius' 'सोशियस' है तथा दूसरा शब्द ग्रीक भाषा का 'Logia' 'लोगिया' है। 'सोशियस' का अर्थ है समाज (Society) और 'लोगिया' का अर्थ है शास्त्र (Science)। इस प्रकार समाजशास्त्र (Sociology) का शाब्दिक अर्थ हुआ 'समाज का शास्त्र' या 'समाज का विज्ञान'।

समाजशास्त्र का शाब्दिक अर्थ (Etymological Meaning of Sociology) —'समाजशास्त्र' शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति देखने के पश्चात् अब हम विभिन्न समाजशास्त्रियों और विद्वानों द्वारा दी गई समाजशास्त्र की परिभाषाओं का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन करेंगे और अंत में निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेंगे कि समाजशास्त्र किसे कहते हैं? विभिन्न समाजशास्त्रियों ने अपने अनुभव, रुचि और दृष्टिकोण के आधार पर समाजशास्त्र की परिभाषाओं के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला है। अध्ययन की सुविधा के लिए इन परिभाषाओं को निम्नलिखित पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है—

समाजशास्त्र विज्ञान है :

मानव समाज का विज्ञान है	सामाजिक संस्थाएँ	सामाजिक सम्बन्ध	सामाजिक अन्त:क्रिया	सामाजिक समूह	सामाजिक व्यवस्था
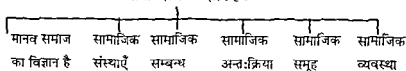
1 **समाजशास्त्र—समाज का विज्ञान** (Sociology—Science of Society)— अनेक विद्वानों ने समाजशास्त्र को समाज का अध्ययन करने वाला विज्ञान बताया है। कुछ महत्त्वपूर्ण विद्वानो की परिभाषाएँ निम्न हैं—

वार्ड (Ward) ने 1902 ई. लिखा, "समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है।"

ओडम (Odum) के अनुसार, "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो समाज का अध्ययन करता है।"

किंग्स्ले डेविस (Kingsley Davis) का कहना है, "समाजशास्त्र मानव समाज का अध्ययन है।"

गिडिंग्स (Giddings) के अनुसार, "समाजशास्त्र समग्र रूप से समाज का क्रमबद्ध वर्णन और व्याख्या है।"

ईकल्स ने समीक्षा करते हुए लिखा है कि समाजशास्त्र समाज के किसी एक अंग का अध्ययन नहीं करता है बल्कि यह तो सम्पूर्ण समाज को एक इकाई मानकर अध्ययन करता है। सम्पूर्ण समाज ही इसके विश्लेषण की इकाई है और इसीलिए यह एक विशिष्ट शास्त्र कहलाता है। यह शास्त्र इन प्रश्नों की खोज करता है—'कोई भी समाज किन आन्तरिक समस्याओं का सामना करते हैं? अधिकतर समाजों में कौन-से सामान्य तत्त्व मिलते हैं? विभिन्न कार्यों, उत्तरदायित्वों को समाज किन विशेष तरीकों से विभाजित करते हैं? संस्थाओं के परस्पर मिलने से क्या परिणाम आते हैं? आदि।

2 **समाजशास्त्र—संस्थाओं का विज्ञान है** (Sociology is the Science of Institutions)— समाजशास्त्रीय विश्लेषण की विशिष्ट इकाई समाज है और उसमे भी विशेष रूप से उन तत्त्वो मे परस्पर सम्बन्ध जो उसका निर्माण करते हैं, विचार काफी पुराना और मान्य है। परिवार, गिरजाघर, पाठशाला, राजनैतिक दल आदि समाजशास्त्र की विशिष्ट विषय-सामग्री है। *संस्थाओं के अध्ययन से सम्बन्धित यह विशिष्ट शास्त्र इन प्रश्नो से सम्बन्धित होगा*—सभी संस्थाओं मे कौन-कौन से लक्षण सामान्य होते हैं ? उनमे अन्तर किन आधारो पर किया जा सकता है? इन आधारो मे भी क्या भिन्नता होती है जब विभिन्न कार्यों को करने वाली संस्थाओ की तुलना की जाती है ?

इकल्स ने लिखा है, "दुर्खीम ने 1901 ई मे कहा था कि, समाजशास्त्र को संस्थाओ के विज्ञान के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है।" लेकिन इस प्रकार के समाजशास्त्रीय विश्लेषण का स्वरूप अधिक विकसित नहीं हुआ। वर्तमान समय मे वृहद्-स्तर के संगठनों के महत्त्व के बढने से इस प्रकार के अध्ययन और अनुसन्धान मे रुचि में पुनः वृद्धि हुई है।

3 **समाजशास्त्र-सामाजिक सम्बन्धों का विज्ञान है** (Sociology is the Science of Social Relations)—इकल्स ने लिखा है कि जिस प्रकार से समाज संस्थाओ की जटिल व्यवस्थाएँ हैं उसी प्रकार से संस्थाएँ भी सरल सामाजिक सम्बन्धों की जटिल व्यवस्थाएँ हैं। परिवार एक संस्था है। इसका निर्माण अनेक सामाजिक सामाजिक सम्बन्धो से होता है, जैसे—पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहिन, दादा-पोता आदि। इन सभी का विशेष सम्बन्धो के प्रकारो के रूपो मे अध्ययन कर सकते हैं। इस प्रकार के सम्बन्ध सामाजिक जीवन में 'अणु' है। इससे भी छोटी इकाई "सामाजिक क्रिया" है जो सामाजिक जीवन का "परमाणु" है। इन सामाजिक सम्बन्धो को विभिन्न प्रकारो को ही समाजशास्त्र की विषय सामग्री कहा गया है।

निम्नलिखित कुछ प्रमुख समाजशास्त्रियो की परिभाषाएँ हैं जो समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धो का विज्ञान बताते हैं—

मैक्स वेबर (Max Weber) के अनुसार, "समाजशास्त्र प्रधानत: सामाजिक सम्बन्धों तथा कृत्यो का अध्ययन है।"

क्यूबर (Cuber) के अनुसार, "समाजशास्त्र को मानव सम्बन्धो के वैज्ञानिक ज्ञान की शाखा के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है।"

वॉन वीज (Von Wiese) ने परिभाषा मे सामाजिक सम्बन्धो को समाजशास्त्र का आधार बताया है। उन्हीं के शब्दो मे, "सामाजिक सम्बन्ध ही समाजशास्त्र की विषय-वस्तु का एकमात्र वास्तविक आधार है।"

मैकाइवर और पेज (Maciver and Page) दो महान् समाजशास्त्री हैं। आप दोनों की विश्वविख्यात पुस्तक (Society) '**समाज**' है जिसमे आपने समाजशास्त्र की परिभाषा स्पष्ट रूप से दी है। इनके अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धो के विषय में है।" इन्होने आगे लिखा कि सामाजिक सम्बन्धो के जाल को हम समाज कहते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि समाजशास्त्र मानव के सामाजिक सम्बन्धो, संस्थाओं एवं मानव समाज का अध्ययन करने वाला विज्ञान है।

सामाजिक सम्बन्धों का निर्माण सामाजिक अन्त:क्रियाओ के द्वारा होता है। इसलिए समाजशास्त्र के अर्थ को अन्त:क्रिया के सन्दर्भ में देखना आवश्यक है, जो निम्न है—

4 **समाजशास्त्र—सामाजिक अन्त:क्रियाओं का विज्ञान है** (Sociology is the Science of Social Interactions)—सिमैल, गिन्सवर्ग एवं गिलिन और गिलिन के अनुसार समाजशास्त्र अन्त:क्रियाओ का अध्ययन करता है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति या समूह जागरूक अवस्था में एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं तथा एक-दूसरे के व्यवहारों को प्रभावित करते हैं तो वह अन्त:क्रिया कहलाती हैं। सामाजिक सम्बन्धो—मानव समाज, सामाजिक समूह और सामाजिक व्यवस्था के निर्माण का आधार अन्त:क्रिया होती है। इसी कारण इन समाजशास्त्रियो ने समाजशास्त्र को सामाजिक अन्त:क्रियाओं के विज्ञान के रूप मे परिभाषित किया है। इन्होने निम्न परिभाषाएँ दी हैं—

जार्ज सिमैल (George Simmel) के अनुसार, "समाजशास्त्र मानवीय अन्त:सम्बन्धो, के स्वरूपो का विज्ञान है।"

गिन्सबर्ग (Ginsberg) के अनुसार, "समाजशास्त्र मानवीय अन्त:क्रियाओं और अन्तर्सम्वन्धों उनकी दशाओं और परिणामों का अध्ययन है।" इन परिभाषाओ में अन्त:क्रियाओ और अन्त:सम्बन्धो पर विशेष बल दिया गया है।

गिलिन और गिलिन के अनुसार, "समाजशास्त्र, व्यापक अर्थ मे, व्यक्तियों के एक-दूसरे के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली अन्त:क्रियाओं का अध्ययन कहा जा सकता है।" इनका यह भी कहना है कि समाज मे रहने वाले व्यक्तियों की अन्त:क्रियाओं का समग्र अध्ययन समाजशास्त्र है।

अन्त:क्रिया मानव समाज की एक स्वाभाविक घटना है। जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति या समूह आपस में एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं और प्रभावित होते हैं तो अन्त:क्रिया हो जाती है। मान लीजिए छात्र अपने अध्यापक से पूछता है—"सर, समाजशास्त्र किसे कहते हैं?" यह क्रिया हुई। अध्यापक के लिए उत्तेजना हुई। इसके बाद अध्यापक उत्तर देते हैं, "समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं का विज्ञान है।" यह 'प्रतिक्रिया' या 'अनुक्रिया' हुई। दोनो के द्वारा एक चक्र पूरा होने पर अन्त:क्रिया कहलाती है। बार-बार जब अन्त:क्रिया होती है तो सामाजिक सम्वन्ध स्थापित हो जाते हैं। इस प्रकार समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओ का विज्ञान भी है और सामाजिक सम्बन्धो का विज्ञान भी है।

5. **समाजशास्त्र—सामाजिक समूहों का विज्ञान है** (Sociology is the Science of Social Groups)—कुछ समाजशास्त्रियों और सामाजिक मनोवैज्ञानिकों ने समाजशास्त्र को सामाजिक समूहों का विज्ञान कहा है। इस प्रकार की परिभाषा देने वाले प्रमुख समाजशास्त्री जॉनसन, बोगार्डस, नोब्स, हाइन, फ्लेमिंग और सामाजिक मनोवैज्ञानिक किम्वाल यग हैं।

जॉनसन (Johnson) के अनुसार, "समाजशास्त्र सामाजिक समूहों का विज्ञान है।" जॉनसन सामाजिक समूह का अर्थ काफी व्यापक लगाते हैं। इनके अनुसार सामाजिक समूह का अर्थ

केवल व्यक्तियो के समूह से नहीं है वरन् व्यक्तियो के मध्य उत्पन्न होने वाली अन्त:क्रियाओं की व्यवस्था से भी है। इनके अनुसार समूह के निर्माण मे सामाजिक अन्त:क्रियाएँ आधार के रूप में हैं और इन्हीं के आधार पर बनने वाले सामाजिक समूहो का अध्ययन समाजशास्त्र का विषय है।

बोगार्डस (Bogardus) ने **'सोशियोलॉजी'** में समाजशास्त्र में समूह के अध्ययनों पर विशेष जोर दिया है, जैसे—परिवार, पाठशाला, मन्दिर, ग्राम,राष्ट्र आदि समूह।

बोगार्डस के अनुसार, "उन मानसिक प्रक्रियाओ का अध्ययन जो कि सामाजिक वर्गों द्वारा समूह मे व्यक्तित्व को विकसित एव परिपक्व करने का कार्य करती है, समाजशास्त्र का सार है।" इस परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि बोगार्डस समाजशास्त्र मे समूह के अध्ययन पर विशेष बल देते हैं।

नोब्स (Nobbs), **हाइन** (Hine) और **फ्लेमिंग** (Flemming) के अनुसार, "समाजशास्त्र समूहो मे लोगो का वैज्ञानिक और व्यवस्थित अध्ययन है।"

किम्बाल यंग (Kimbal Young) के अनुसार, "समाजशास्त्र समूह में मनुष्यो के व्यवहार से सम्बद्ध है।"

उपर्युक्त परिभाषाओ के व्याख्यात्मक विवेचन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाजशास्त्र सामाजिक समूह का वैज्ञानिक अध्ययन है। विभिन्न व्यक्ति जब एक–दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं तो उनमे सामाजिक अन्त:क्रिया होती है और इन्ही के आधार पर सामाजिक समूहो का निर्माण होता है। अतः सामाजिक समूह अन्त:क्रियाओ की एक व्यवस्था है। कुछ समाजशास्त्रियो ने समाजशास्त्र की परिभाषा सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ मे भी दी है। जो निम्नानुसार है—

6 **समाजशास्त्र—सामाजिक व्यवस्था का विज्ञान है** (Sociology is the Science of Social System)—समाजशास्त्र विषय के विकास के साथ–साथ समाजशास्त्रियो ने भी समय–समय पर इसकी परिभाषा को अधिक स्पष्ट, सुनिश्चित तथा पूर्ण रूप देने का प्रयास किया है। इसी क्रम मे इकल्स ने लिखा है कि अगर कोई आग्रह करे कि समाजशास्त्र की मूल समस्या (परिभाषा) एक वाक्य मे बताइए, तो हम कहेंगे, "**... यह सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक अव्यवस्था की प्रकृति की व्याख्या करता है।**" इन्होने संक्षिप्त मे कहा, "**समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन है।**" वैज्ञानिक अध्ययन में अध्ययन की सामग्री के विभिन्न पक्षों की खोज, वर्णन और व्याख्या की जाती है। इकल्स ने इन्हीं अध्ययन के पक्षों को ध्यान में रख कर समाजशास्त्र की एक पूर्ण परिभाषा देने का प्रयास किया है। इनके अनुसार, "**समाजशास्त्र उस व्यवस्था की खोज, तलाश, वर्णन और व्याख्या करता है जो मानव के सामाजिक जीवन के गुण–दोषों को बताते हैं।**" समाजशास्त्र न केवल सामाजिक व्यवस्था का ही अध्ययन करता है बल्कि सामाजिक अव्यवस्था का अध्ययन करना भी इसका कर्त्तव्य है। इकल्स भी इस पक्ष का ध्यान रखते हुए लिखते हैं, "यह (समाजशास्त्र) सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक अव्यवस्था की प्रकृति की व्याख्या का प्रयास करता है।" समाजशास्त्र व्यवस्था और अव्यवस्था मे होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन भी करता है।

निष्कर्ष (Conclusion)—समाजशास्त्र की विषय-सामग्री, प्रवर्तकों के विचार एव परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि समाजशास्त्र मानव समाज को एक पूर्ण इकाई मानकर अध्ययन करने वाला विज्ञान है। इसके विभिन्न घटक, आकार और जटिलता के बढ़ते क्रम में क्रिया, प्रतिक्रिया, अन्त:क्रिया, सामाजिक क्रिया,सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक समूह, सामाजिक संस्थाएँ, समाज और सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं।

समाजशास्त्र

↑

सामाजिक व्यवस्था

↑

सामाजिक संस्थाएँ

↑

सामाजिक सम्बन्ध

↑

सामाजिक क्रिया

↑

अन्त:क्रिया

↑

क्रिया ⇌ प्रतिक्रिया
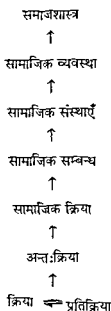
चित्र : समाजशास्त्र के विभिन्न घटक : जटिलता के बढ़ते क्रम में

स्रोत : ऐलक्स इंकल्स—"व्हाट इज सोशियोलॉजी?" के प्रथम एवं द्वितीय अध्यायों पर आधारित, पृष्ठ, 1-27

जब दो या दो से अधिक व्यक्ति परस्पर क्रिया और प्रतिक्रिया करते हैं तो अन्त:क्रिया बनती है। जब दो या दो से अधिक व्यक्ति सम्पर्क करते हैं, बार-बार अन्त:क्रिया करते हैं तो सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं। जब दो या दो से अधिक व्यक्तियों में सम्बन्ध स्थापित होता है तो सामाजिक समूह बनते हैं। समाज व्यवस्था का निर्माण अनेक व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों, अन्त:क्रियाओं और प्रक्रियाओं से सम्भव होता है। समाज व्यवस्था में उपर्युक्त सभी तत्त्वों का होना आवश्यक है। समाज सामाजिक सम्बन्धो की जटिल व्यवस्था को कहते हैं। इस प्रकार क्रिया, प्रतिक्रिया, अन्त:क्रिया, सामाजिक सम्बन्ध, समाज आदि सामाजिक व्यवस्था के आवश्यक तत्त्व हैं। सामाजिक संस्थाएँ अपने विशेष रूप में समाज व्यवस्थाओं में निहित हैं। अत: यह निष्कर्ष निकलता है कि समाजशास्त्र सामाजिक अन्त:क्रियाओं, सामाजिक सम्बन्धों, मानव समाज, सामाजिक समूह, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक अव्यवस्थाएँ तथा उनमें होने वाले परिवर्तनों का विज्ञान है।

समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र
(Scope of Sociology)

समाजशास्त्र एक नया विज्ञान है जिसके विषय-क्षेत्र का निर्धारण करने का कार्य सरल नहीं है। इसके विषय-क्षेत्र को तय करने मे विद्वानों ने काफी प्रयास किए हैं। विषय के क्षेत्र से तात्पर्य है कि इस विज्ञान के अध्ययन का दायरा कहाँ तक फैला हुआ है? उसकी सम्भावित सीमाएँ क्या-क्या हैं? समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में दो सम्प्रदाय हैं—(1) स्वरूपात्मक सम्प्रदाय, और (2) समन्वयात्मक सम्प्रदाय। प्रथम मत समाजशास्त्र को एक विशेष विज्ञान मानता है और द्वितीय मत इसे सामान्य विज्ञान मानता है। समाजशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र को विस्तार से समझने के लिए इन दोनों मतो का विवेचन निम्नलिखित है—

समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के सम्प्रदाय एवं वैज्ञानिक

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय	समन्वयात्मक सम्प्रदाय
जार्ज सिमैल	हॉब हाउस
टॉनीज	दुर्खीम
वान वीज	सोरोकिन
वीरकान्त	
मैकस वेबर	

I. स्वरूपात्मक सम्प्रदाय (Formal School)—इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक जार्ज सिमैल और टॉनीज माने जाते हैं। सोरोकिन के अनुसार इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त इसके प्रमुख लेखको के कार्यों में दिए गए हैं। ये प्रमुख प्रतिनिधि लेखक टॉनीज, सिमैल, वॉन वीज, स्टेम्लर, रिचर्ड, वीरकान्त, रॉस, पार्क और बरगस हैं। यहाँ पर इस सम्प्रदाय के कुछ समाजशास्त्रियो के विचारों को प्रस्तुत किया जा रहा है।

1 जार्ज सिमैल के विचार (Views of George Simmel)—जर्मन समाजशास्त्री जार्ज सिमैल समाजशास्त्र को विशिष्ट सामाजिक विज्ञान बनाना चाहते थे। आपने देखा कि समाज के सभी क्षेत्रो का अध्ययन कोई-न-कोई सामाजिक विज्ञान करता है। इन्होने सामाजिक घटनाओ के अध्ययन के क्षेत्रो को दो प्रकारो में बाँटा। पहिला, सामाजिक सम्बन्धो की अन्तर्वस्तु और दूसरा, सामाजिक सम्बन्धो का स्वरूप (Form), सामाजिक सम्बन्धों की अन्तर्वस्तु (Content) का तो कोई ऐसा पक्ष नहीं बचा है जिसका अध्ययन कोई-न-कोई सामाजिक विज्ञान नहीं करता है लेकिन सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूपों का क्षेत्र ऐसा था जिसका कोई भी अन्य विज्ञान अध्ययन नहीं कर रहा था। इस क्षेत्र को जार्ज सिमैल ने समाजशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र चुना। इस प्रकार आपने सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूपो को समाजशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र निश्चित किया।

सिमैल ने कहा कि सभी भौतिक और अभौतिक वस्तुओ के दो पक्ष होते हैं—(1) स्वरूप एव (2) अन्तर्वस्तु। स्वरूप बाहरी पक्ष है और अन्तर्वस्तु आन्तरिक पक्ष है। आपने कहा कि जिस

प्रकार रेखागणित प्राकृतिक विज्ञानों में वस्तुओं के बाहरी पक्ष अर्थात् स्वरूपों का अध्ययन करता है उसी प्रकार समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों के बाहरी पक्ष अर्थात् स्वरूपों का अध्ययन करता है, प्राकृतिक विज्ञानों में जिस प्रकार रेखागणित है उसी प्रकार सामाजिक विज्ञानों मे समाजशास्त्र है। इस प्रकार सिमैल समाजशास्त्र को एक विशिष्ट सामाजिक विज्ञान कहते हैं, जो मानव के सम्बन्धों के स्वरूपो, सामाजीकरण के स्वरूपों, सामाजिक संगठन के स्वरूपों आदि का अध्ययन, वर्णन, वर्गीकरण, विश्लेषण और व्याख्या करता है। यह मानव के सम्बन्धों के स्वरूपों की अन्तर्वस्तु का अध्ययन नहीं करता है। इस पक्ष का अध्ययन अन्य सामाजिक विज्ञान— अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, इतिहास आदि करते हैं।

रेखागणित भौतिक वस्तुओ के स्थान-सम्बन्धी स्वरूपों का अध्ययन करता है न कि उनकी अन्तर्वस्तु का। इसे उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। एक ही प्रकार, आकार, लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई की बोतल हो उसमे पानी, गंगाजल, दूध, तेल, चीनी कुछ भी भर दें। ये वस्तुएँ बोतल का आकार ले लेती हैं। परन्तु इन वस्तुओ के भरने से बोतल का आकार अर्थात् स्वरूप नहीं बदलता है। जो वस्तुएँ बोतल मे भरी गई हैं उन पर भी बोतल के स्वरूप का प्रभाव नहीं पड़ता। बोतल के स्वरूप अर्थात् आकार का अध्ययन रेखागणित करता है और अन्तर्वस्तु (जो चीजें बोतल में भरी गई हैं) का अध्ययन सम्बन्धित विज्ञान करते हैं। अन्तर्वस्तु और स्वरूप के अध्ययन के क्षेत्र बिल्कुल अलग-अलग हैं। घटना के अध्ययन-दृष्टिकोण भी भिन्न-भिन्न हैं।

मानव सम्बन्धों के स्वरूप मे भिन्न-भिन्न सामाजिक अन्तर्वस्तु हो सकती है तथा एक ही प्रकार की सामाजिक अन्तर्वस्तु के भिन्न-भिन्न रूप हो सकते हैं। ये एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करते हैं। सिमैल ने सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन किया है। प्रभुत्व, अधीनता, प्रतिस्पर्द्धा, अनुकरण, श्रम का विभाजन आदि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों के कुछ उदाहरण हैं जो विभिन्न अन्तर्वस्तुओं वाले होते हैं। ये अन्तर्वस्तुएँ—धार्मिक मठ, आर्थिक केन्द्र, राजनैतिक दल हो सकते हैं। इन विभिन्न अन्तर्वस्तुओं का अध्ययन धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीति विज्ञान के क्षेत्र में आता है। समाजशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र सामाजिक सम्बन्धों के विभिन्न स्वरूपों तक सीमित है। समाजशास्त्र अन्तर्वस्तु का अध्ययन नहीं करता है। सिमैल ने समाजशास्त्र को एक विशिष्ट विज्ञान बताते हुए कहा है कि इसके अध्ययन का क्षेत्र सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का वर्णन, वर्गीकरण, विश्लेषण और व्याख्या करना है। सामाजिक विज्ञान में ऐसे विशिष्ट विज्ञान की आवश्यकता भी है जो सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन करे।

2. **टॉनीज के विचार (Views of Tonnies)**—आपने शुद्ध अथवा स्वरूपात्मक समाजशास्त्र की रूपरेखा दी। इन्होने स्वरूपात्मक समाजशास्त्र की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन किया। सामाजिक सम्बन्धो के मौलिक स्वरूपों के तथ्यो तथा जानकारी का विश्लेषण किया। टॉनीज ने समाज या सामाजिक सम्बन्धों के दो मौलिक रूप बताए हैं—समुदाय (Gemeinschaft) और समाज (Gessellschaft)।

समुदाय (Community)—समुदाय व्यक्तियों का संघ है। इनकी एकता रक्त सम्बन्ध की प्राकृतिक शक्ति से पैदा होती है। इनमें जैविक इच्छा होती है। यहाँ पर कोई व्यक्तिगत इच्छा

नहीं होती है, यह प्रकृति का परिणाम है। इस जैविक एकता के फलस्वरूप सम्पत्ति सारे समुदाय की होती है तथा परिवार कानून होता है।

समाज (Society)—समुदाय व्यक्तियो के सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। इसमे व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत इच्छा के अनुसार अन्त:क्रिया करते हैं तथा स्वयं के उद्देश्यो को पूर्ण करते हैं। समाज प्रकृति की उपज नहीं है तथा किसी भी प्रकार से प्राकृतिक जीव भी नहीं है।

आदिम समूह, परिवार तथा जनजातियाँ समुदाय इसके उदाहरण हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से ये समुदाय (गेमिनशाफ्ट) समाज (गेसेलशाफ्ट) से पहले बने थे। गेसेलशाफ्ट प्रकार गेमिनशाफ्ट से ही विकसित हुए हैं। मानव धीरे-धीरे किसी भी समुदाय के प्रति एक लगाव रखने लगा है। वह अनेक और बड़े-बड़े समूहो का सदस्य बनने लगा है। टॉनीज के अनुसार इतिहास मे परिवर्तन समुदाय से समाज की ओर, लोगों की संस्कृति से सभ्यता के राज्य की ओर होता है। इस परिवर्तन की प्रक्रिया लौटती नहीं है। संक्षिप्त मे यह टॉनीज का स्वरूपात्मक सिद्धान्त है।

3 **वॉन वीज के विचार** (Views of Von Wiese)—आपने सिमैल के समाजशास्त्रीय विचारो को अधिक व्यवस्थित रूप से विकसित किया है। इन्होने सिमैल, रॉस और मैक्स वेबर के प्रति आभार व्यक्त किया है। लेकिन इनके ऊपर सिमैल और रॉस का प्रभाव अन्य समाजशास्त्रियो की तुलना में अधिक पड़ा है। सिमैल की तरह वॉन वीज ने भी समाजशास्त्र को एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप मे स्थापित करने का प्रयास किया है। इन्हीं के शब्दों मे, *"मेरा लक्ष्य समाजशास्त्र को निश्चित रूप से अन्य विज्ञानों से अलग तथा स्थिरता से व्यवस्थित और दृढ़ता से संगठित एक विशिष्ट विज्ञान का रूप देना था।"* सिमैल की तरह वॉन वीज भी यही सोचता था कि विशिष्ट विज्ञान बनाने का मात्र यही तरीका था कि समाजशास्त्र मानव सम्बन्धो के स्वरूपों या सामाजिक प्रक्रियाओं के स्वरूपों का विज्ञान हो।

इन्होने मानव सम्बन्धो या सामाजिक प्रक्रिया के 650 स्वरूपों का वर्णन किया है जिसमें अन्तर्व्यक्ति सम्बन्ध और अन्तर्समूह सम्बन्धों को वर्गीकरण का आधार माना था। सोरोकिन के अनुसार वॉन वीज के विचार अन्यो से अधिक व्यवस्थित थे। वॉन वीज ने शुद्ध समाजशास्त्र को अन्तर्वस्तु से बिल्कुल अलग रखा। इसके लिए इन्होंने सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूप और अन्तर्वस्तु के परस्पर सभी बन्धनों को खत्म कर दिया। वॉन वीज के अनुसार, *"सामाजिक सम्बन्ध ही समाजशास्त्र की विषयवस्तु का एकमात्र वास्तविक आधार है।"*

4 **वीरकान्त के विचार** (Views of Vierkandt)—इस सम्प्रदाय के प्रमुख विद्वानो मे वीरकान्त का भी अपना स्थान है। वीरकान्त ने स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के विचारो को आगे विकसित किया। आपके विचार जार्ज सिमैल के पद-चिन्हो पर थे। सोरोकिन के अनुसार वीरकान्त के विचार वॉन वीज की तुलना मे कम स्वरूपात्मक है। वीरकान्त ने समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र को स्पष्ट और सुनिश्चित करने का प्रयास किया। इनके अनुसार समाजशास्त्र एक विशिष्ट विज्ञान है जो मानसिक सम्बन्धो के स्वरूपो का अध्ययन करता है। इन्होने यश, स्नेह, प्रेम, लज्जा, सम्मान, समर्पण, घृणा, संघर्ष, सहयोग आदि को सामाजिक सम्बन्धो का आधार बताया है। समाजशास्त्र को सम्बन्धों के जन्म और विकास का अध्ययन नहीं करना चाहिए। उसे तो मात्र उन आधारों का

अध्ययन करना चाहिए जिनके कारण व्यक्ति एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। **वीरकान्त** के अनुसार, *"समाजशास्त्र उन मानसिक सम्बन्धों के अंकीय स्वरूपों का अध्ययन है जो मानवों को एक-दूसरे से बाँधते हैं।"* समाजशास्त्र इसीलिए एक विशिष्ट विज्ञान है क्योंकि यह मानसिक सम्बन्धो के स्वरूपों का अध्ययन करता है जो व्यक्तियों को परस्पर बाँधते हैं। समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र मानसिक सम्बन्धों के स्वरूपो के अध्ययन तक सीमित है।

5. **मैक्स वेबर के विचार** (Views of Max Weber)—मैक्स वेबर समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र सामाजिक क्रिया मानते हैं। इन्होने यह मत समाजशास्त्र की परिभाषा मे भी व्यक्त किया है। **वेबर** के अनुसार, "समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक क्रियाओ का व्याख्यात्मक ज्ञान कराने का प्रयास करता है।" मैक्स वेबर ने सामाजिक क्रियाओं की दो प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है—(1) सामाजिक क्रियाएँ अर्थपूर्ण होनी चाहिएँ, तथा (2) ये व्यवहारो से प्रभावित होनी चाहिएँ। वेबर ने कहा कि समाजशास्त्र मे सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धो का अध्ययन नहीं किया जाना चाहिए। समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र स्पष्ट और सीमित होना चाहिए। समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र को विशिष्ट करने के लिए आपका कहना है कि समाजशास्त्र मे केवल सामाजिक क्रियाओं का अध्ययन होना चाहिए। आपने सामाजिक क्रियाओं का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वे व्यवहार जो दूसरे व्यक्तियों के व्यवहारों पर प्रभाव डालते हैं तथा किसी-न-किसी उद्देश्य की पूर्ति करते हैं, सामाजिक क्रिया हैं। आपके अनुसार समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र सामाजिक व्यवहारो का अवलोकन करना, विश्लेषण करना, व्याख्या करना एव तर्क तथा अनुभव से सम्बन्धित सिद्धान्तो का निर्माण करना है।

निष्कर्षतः (Conclusion)—स्वरूपात्मक सम्प्रदाय से सम्बन्धित विद्वान् सिमैल, टॉनीज, वॉन वीज, वीरकान्त, मैक्स वेबर आदि समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का वैज्ञानिक एवं क्रमबद्ध अध्ययन है।

स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की आलोचना (Criticism of Formal School)—आलोचकों का कहना है कि समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों से पृथक् एव विशिष्ट निर्धारित करने में इस सम्प्रदाय के समर्थक अपने प्रयास में असफल रहे। इसकी असफलताओ पर सोरोकिन, फिचर आदि ने विस्तार से प्रकाश डाला है। फिचर ने तो स्वरूपात्मक सम्प्रदाय वालों को समाजशास्त्री ही मानने से इन्कार कर दिया। फिचर का कथन है कि यह सम्प्रदाय सामाजिक जीवन की व्यावहारिक प्रकृति की व्याख्या नहीं करता।

सोरोकिन द्वारा आलोचना (Criticism by Sorokin)—सोरोकिन ने इस सम्प्रदाय की आलोचना अपनी कृति **कॉन्टेम्पोरेरी सोशियोलॉजीकल थ्योरीज** में निम्न की है—

(1) **नवीन विज्ञान का दावा आधारहीन** (Claim of a New Science is Baseless)—स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के प्रवर्तकों और समर्थकों का कहना है कि सामाजिक सम्बन्धों के स्वरूपों का अध्ययन अन्य कोई भी विज्ञान नहीं करता है। इस सम्प्रदाय का यह दावा है कि समाजशास्त्र ही वह नवीन विज्ञान है जो सामाजिक संबंधों के स्वरूपो का अध्ययन करता है। सोरोकिन का कहना है कि इस सम्प्रदाय का यह दावा आधारहीन है। सोरोकिन ने बताया कि

सिमैल, टॉनीज, वीरकान्त, वॉन वीज आदि के अध्ययनों की तुलना मे कानून शास्त्र मे सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूपो का अध्ययन कहीं अधिक सुनिश्चित तथा अच्छे तरीके से किया गया है। स्वरूपात्मक सम्प्रदाय की तुलना मे अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे अन्तर-समूह सम्बन्धों के प्रकार, जैसे—सम्पर्क, अकेलापन, समझौता, विरोध, संघर्ष, युद्ध आदि का अध्ययन अधिक ध्यान से, अधिक स्पष्टता से और अधिक औपचारिकता के साथ किया जाता है। अर्थशास्त्र का उदाहरण लीजिए—यह श्रम का विभाजन और सामाजिक विभेदीकरण, सहयोग और साहचर्य, शोषण आदि के अतिरिक्त अनेक सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूपो का अध्ययन करता है। स्वरूपात्मक सम्प्रदाय कोई नया नही है जो पहिली बार सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूपो का अध्ययन कर रहा है। इसके पहिले से अनेक विज्ञान इसका अध्ययन अधिक विस्तार, क्रमबद्ध, व्यवस्थित तथा सुचारु रूप से करते आए हैं।

(2) स्वरूप और अन्तर्वस्तु का अन्तर असम्भव या मिथ्या (Difference Between Form and Content is Fallacious or Impossible)—यह सम्प्रदाय स्वरूप और अन्तर्वस्तु को एक-दूसरे से अलग मानता है। यह अन्तर सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूपो पर लागू करना गलत है। जो वस्तुएँ स्थान घेरती हैं उन पर यह अन्तर सरलता तथा व्यवस्थित तरीके से लागू किया जा सकता है, लेकिन सत्ता, शक्ति, प्रभुत्व, अधीनस्थता, प्रतिस्पर्धा तथा अन्य स्वरूपो पर (जो स्थान नहीं घेरती हैं) इसे कैसे लागू कर सकते हैं? सोरोकिन ने उदाहरण देकर इसे समझाया है। इनका कहना है, **"हम एक गिलास को शराब, पानी अथवा चीनी से बिना उसके स्वरूप को बदले भर सकते हैं, परन्तु मैं उस सामाजिक संस्था की कल्पना नहीं कर सकता जिसका स्वरूप उसके सदस्यों के बदल जाने के बाद भी नहीं बदलेगा।"** सामाजिक सम्बन्धों के अध्ययन मे स्वरूप और अन्तर्वस्तु को एक-दूसरे से अलग नहीं कर सकते। ऐसा करना यदि मिथ्या है तो समाजशास्त्र मे स्वरूपात्मक सम्प्रदाय का दावा भी गलत है तथा समाजशास्त्र को सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूप का विज्ञान कहना भी अवैज्ञानिक एवं तर्कहीन है।

(3) अवधारणाओं का प्रयोग दोषपूर्ण (Defective Use of Concepts)—स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के विद्वानो ने सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूपों के जो विभिन्न अर्थ लगाए हैं वे दोषपूर्ण और भ्रामक हैं। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि समाजशास्त्र की विषय-सामग्री मानव सम्बन्धो के स्वरूप हैं लेकिन कुछ पक्तियों अथवा पृष्ठो के बाद लिखा मिलता है कि विषय-सामग्री सामाजीकरण के स्वरूप हैं। इन दोनो बातो का बिल्कुल भिन्न-भिन्न अर्थ है। मानव सम्बन्धो के स्वरूप का अर्थ न केवल सामाजीकरण के स्वरूप हैं बल्कि वि-सामाजीकरण, एकीकरण, विघटनात्मक, सहयोग, युद्ध आदि भी इसमे आ जाते हैं। अगर हम समाजशास्त्र को मानव सम्बन्धो के स्वरूप का विज्ञान कहते हैं तो विरोध, संघर्ष, युद्ध, विघटन आदि प्रक्रियाएँ भी समाजशास्त्र के अध्ययन क्षेत्र मे आ जाते हैं। अगर हम समाजशास्त्र को सामाजीकरण के स्वरूपो का विज्ञान बताते हैं तो सामाजीकरण से भिन्न और विरोधी प्रक्रियाएँ—युद्ध, सघर्ष, विघटन, वि-सामाजीकरण आदि—समाजशास्त्र के विषय क्षेत्र मे सम्मिलित नहीं की जा सकती हैं। सिमैल और उनके समर्थकों ने इन परिभाषाओ को एक ही अर्थ मे प्रयोग किया है। यह दोषपूर्ण, अस्पष्ट और अतार्किक है विचार है। इस सम्प्रदाय का ऐसा मानना है कि ये दोनों अवधारणाएँ

पर्यायवाची नहीं हैं **सोरोकिन** के अनुसार, *"इस अर्थ मे तो ये लोग अभी तक शुद्ध दार्शनिक और अनुमानात्मक समाजशास्त्र की अवस्था में हैं।"*

(4) **शुद्ध समाजशास्त्र बनाने में असफल** (Failed to Build Pure Sociology)—स्वरूपात्मक सम्प्रदाय ने शुद्ध समाजशास्त्र का सपना देखा था जो दूसरे विज्ञानों की जानकारी से स्वतन्त्र हो। इन्होंने 'वैज्ञानिक समाजशास्त्र कैसे बनाया जाए?' इस पर तो काफी चर्चा की है, लेकिन एक शुद्ध समाजशास्त्र का निर्माण करके नहीं दिखाया। स्वरूपात्मक सम्प्रदाय ने सैकडो खण्ड लिखे और प्रकाशित किये हैं कि समाजशास्त्र एक स्वतन्त्र विज्ञान कैसे है? समाजशास्त्र को क्या होना चाहिए? इसका निर्माण कैसे किया जा सकता है? इसे दूसरे विज्ञानो से कैसे भिन्न तथा अलग कर सकते हैं? ये सब बातें निरर्थक हैं। ये सब विचार लेखक की असमर्थता ही बताते हैं। जिस प्रकार हम ऐसे रसायनशास्त्र की कल्पना नहीं कर सकते जो भौतिकशास्त्र के ज्ञान का उपयोग नहीं करता हो उसी प्रकार से ऐसे समाजशास्त्र की भी कल्पना नहीं की जा सकती जो अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि की जानकारी का उपयोग नहीं करता हो।

पूर्ण रूप से स्वतन्त्र समाजशास्त्र की आवश्यकता ही कहाँ है? अगर विज्ञान एक-दूसरे के आँकड़े परस्पर काम में लेते हैं तो उसमें हानि ही क्या है? जब ऐसा करना असम्भव है तो उसके पीछे समय, धन और श्रम का अपव्यय करने की क्या आवश्यकता है? अतः स्वरूपात्मक समाजशास्त्र द्वारा स्वतन्त्र समाजशास्त्र के निर्माण का प्रयास एक भ्रम है।

निष्कर्ष (Conclusion)—इन उपर्युक्त आलोचनाओं का अर्थ यह नहीं है कि समाजशास्त्र में स्वरूपात्मक सम्प्रदाय बिल्कुल बेकार है। इन्होने जो सामाजिक सम्बन्धों के प्रकारों का निर्माण तथा विश्लेषण किया है उनका समाजशास्त्र के उन क्षेत्रों में विशेष महत्त्व है जो मानव सम्बन्धों तथा सामाजिक प्रक्रियाओ का अध्ययन करते हैं।

ऐसा कोई शरीर-रचना-विज्ञान नहीं है जो शरीर-क्रिया-विज्ञान, पारिस्थितिकी विज्ञान के तथ्यों का उपयोग नहीं करता हो। हम ऐसे मनोविज्ञान की कल्पना भी नहीं कर सकते जो जीव विज्ञान, शरीर रचना, शरीर क्रिया विज्ञान के तथ्यों के बिना हो। अर्थशास्त्र या राजनीतिशास्त्र में कोई भी ऐसी पुस्तक या निबन्ध नहीं है जिसमे मनोविज्ञान, जीव विज्ञान, इतिहास, जनसांख्यिकी, नीतिशास्त्र यहाँ तक कि दर्शनशास्त्र की जानकारी का उपयोग नहीं किया गया हो।

विज्ञान की स्वतन्त्रता और विशिष्टता एक-दूसरे विज्ञान की जानकारी से अलग रहने से नहीं बनती बल्कि अध्ययन के दृष्टिकोण, उपागम, घटना के पक्ष, विश्लेषण पद्धति आदि से बनती है।

II. समन्वयात्मक सम्प्रदाय (Synthetic School)—समन्वयात्मक सम्प्रदाय के समाजशास्त्रियों का विचार है कि विभिन्न सामाजिक विज्ञानो के बीच में कुछ सामान्य तत्त्व, कारक, लक्षण, विशेषताएँ और नियम हैं जिनका वैज्ञानिक अध्ययन होना चाहिए। उन सामान्य तथ्यों और कारकों का अवलोकन, संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण तथा सामान्यीकरण किया जाना चाहिए। अर्थात् विभिन्न सामाजिक विज्ञानो—अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि मे जो लक्षण तथा तत्त्व सभी में विद्यमान हैं उन सामान्य विशेषताओं का समन्वय करना चाहिए। इन विभिन्न

सामाजिक विज्ञानो मे परस्पर सम्बन्ध है। ये विज्ञान एक-दूसरे के ज्ञान के विकास मे सहयोग करते हैं। समाज के विकास और प्रगति के लिए, उसे समझने के लिए एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता है जो सभी विशिष्ट सामाजिक विज्ञानो के सामान्य ज्ञान मे समन्वय स्थापित करे। हॉबहाउस, दुर्खीम, सोरोकिन आदि ने कहा कि समाजशास्त्र को केवल सामाजिक सम्बन्धो के स्वरूपों तक सीमित नहीं रहना चाहिए, इसे समाज को एक पूर्ण इकाई मानकर अध्ययन करना चाहिए।

समन्वयात्मक सम्प्रदाय के विद्वानों ने निम्नलिखित दो आधार दिए हैं जो इस सम्प्रदाय के महत्त्व और आवश्यकता पर प्रकाश डालते हैं।

(1) इस सम्प्रदाय के समर्थको पर जीव विज्ञान का प्रभाव रहा। इन्होंने समाज को जीव के शरीर जैसा माना। इनका कहना है कि जिस प्रकार से जीव के शरीर में अनेक अंग होते हैं; ये एक-दूसरे से सम्बन्धित होते हैं, एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं और प्रभावित होते हैं; जिस प्रकार शरीर के एक अग मे खराबी होने पर अन्य अंगो तथा सम्पूर्ण शरीर पर प्रभाव पड़ता है, उसी प्रकार, समन्वयात्मक सम्प्रदाय के समाजशास्त्रियो का कहना है कि समाज भी एक जीव की तरह अनेक इकाइयो से मिलकर बनता है। इन विभिन्न इकाइयो मे परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ये एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं और प्रभावित होती हैं। सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को एक जटिल, समग्र मान कर कोई भी विज्ञान अध्ययन नहीं करता है। समाजशास्त्र ही ऐसा सामाजिक विज्ञान है जो समाज को एक सम्पूर्ण इकाई मानकर अध्ययन करता है। समाजशास्त्र एक सामान्य विज्ञान है जिसकी विशिष्टता यही है कि वह समाज का पूर्ण इकाई के रूप मे अध्ययन करता है।

(2) अनेक सामाजिक विज्ञान समाज से सम्बन्धित भिन्न-भिन्न क्षेत्रों का अध्ययन विशेष दृष्टिकोण से करते हैं। सोरोकिन ने कहा कि ऐसा कोई विज्ञान नहीं है जो किसी एक भाग का अध्ययन न करके सम्पूर्ण समाज का अध्ययन करे। लुण्डबर्ग ने समन्वयात्मक सम्प्रदाय का समर्थन करते हुए लिखा कि सामान्य समाजशास्त्र की अनेक कारणो से अत्यन्त आवश्यकता है। अन्य सामाजिक विज्ञान समाज की विशेष सामाजिक घटना का अध्ययन करते हैं, जैसे—अर्थशास्त्र-आर्थिक प्रकार की घटनाओ का, राजनीतिशास्त्र-राजनैतिक प्रकार की घटनाओ का तथा धर्मशास्त्र-धार्मिक प्रकार की घटनाओ का अध्ययन करते हैं। ये सब सामान्य—सामाजिक घटनाओ के उप-प्रकार ही हैं, लेकिन इन सब मे कुछ सामान्य बाते ऐसी हैं जो सभी सामाजिक घटनाओ में विद्यमान हैं किन्तु उनका अध्ययन कोई विज्ञान नहीं करता। इस प्रकार सामान्य तथा पूर्ण ज्ञान के अभाव मे समाज से सम्बन्धित ज्ञान भी पूर्ण नहीं हो सकता। *केवल समाजशास्त्र ही वह सामाजिक विज्ञान हो सकता है जो सम्पूर्ण समाज को एक पूर्ण इकाई मानकर समाज का अध्ययन करता है।* समन्वयात्मक सम्प्रदाय के प्रमुख समर्थक हॉबहाउस, दुर्खीम, सोरोकिन, लुण्डबर्ग, गिन्सबर्गआदि हैं। इनमे से कुछ विचारको के विचार प्रस्तुत हैं—

1. **हॉबहाउस के विचार (Views of Hobhouse)**—आप इंग्लैण्ड के समाजशास्त्री हैं। आपने समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र पर प्रकाश डाला है। इन्होने समाजशास्त्र को एक सामान्य सामाजिक विज्ञान के रूप मे विकसित करने का प्रयास किया। उनके अनुसार समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र विभिन्न सामाजिक विज्ञानो के सामान्य परिणामो को एकत्र करना है तथा उनमें परस्पर

सम्बन्धो की खोज करना है। इन विभिन्न विज्ञानों के उन सामान्य लक्षणों तथा क्षेत्रों का पता लगाना है जिनके द्वारा समाज को समझा जा सके। हॉबहाउस ने कहा कि समाजशास्त्र को इन्हीं सामान्य तत्त्वों, क्षेत्रों तथा पक्षों का अध्ययन करना चाहिए जो अन्य विज्ञान नहीं करते हैं। इन तथ्यों का सामान्यीकरण करना चाहिए। समाजशास्त्र को इन सामान्य क्षेत्रों का अध्ययन करने वाला विज्ञान मानना चाहिए। समाजशास्त्र को समाज के विकास की प्रकृति एवं दशाओं की खोज करनी चाहिए। जितने भी समाज का अध्ययन करने वाले विज्ञान हैं उनकी उन प्रमुख सामान्य धारणाओ का अध्ययन करना चाहिए जो उन विज्ञानों के अध्ययन-क्षेत्र में तो हैं परन्तु उनका अध्ययन नहीं करते हैं। जो कारक समाज के परिवर्तन को नियंत्रित तथा प्रभावित करते हैं उनको एकत्र करना चाहिए। समाजशास्त्र इन सब पक्षों का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन तभी कर सकता है जब इसका विषय-क्षेत्र सामान्य सामाजिक विज्ञान या समन्वयात्मक सामाजिक विज्ञान के रूप में सुनिश्चित हो।

2. दुर्खीम के विचार (Views of Durkheim)—समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध में दुर्खीम के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। आप मानव समाज में व्याप्त सभी घटनाओ का कारण समाज मे खोजते हैं। समाज को सभी परिणामों का कारण मानते हैं। दुर्खीम के समाजशास्त्रीय विचारो की सामान्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं— *"समाजशास्त्र सामूहिक प्रतिनिधानों का विज्ञान है।"* सामूहिक चेतना विशेष रूप से व्यक्तिगत चेतना से भिन्न है। सामूहिक प्रतिनिधान और सामूहिक चेतना विभिन्न तत्त्वो से मिल कर बनते हैं। समाजशास्त्र मनोविज्ञान का उपप्रमेय नहीं है। सामाजिक जीवन की व्याख्या समाज की प्रकृति में खोजनी चाहिए न कि मनोविज्ञान मे। दुर्खीम ने सामूहिक चेतना, सामूहिक प्रतिनिधान और सामाजिक तथ्य की दो निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं—(1) बाह्यता और (2) बाध्यता।

दुर्खीम : सामाजिक तथ्य की विशेषताएँ

बाह्यता | बाध्यता
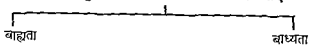
1. बाह्यता (Exteronty)—सामूहिक प्रतिनिधान व्यक्ति के बाहर विद्यमान होते हैं तथा यह व्यक्ति के मस्तिष्क में अनेक बाहरी वस्तुओं—आचार, धर्म, कानून तथा तार्किक नियमो के रूप में आते हैं। इनके अनुसार सामूहिक प्रतिनिधान समाज के सामान्य लक्षणों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

2 बाध्यता (Constraint)—सामूहिक प्रतिनिधानों में व्यक्ति को नियंत्रण मे रखने की शक्ति होती है। इसलिए यह व्यक्तिगत इच्छाओं को नियंत्रित करते हैं। दुर्खीम का कहना है कि एक सामाजिक मत होता है जो व्यक्ति से स्वतन्त्र और व्यक्ति से बाहर होता है। दुर्खीम के अनुसार सामूहिक प्रतिनिधान बहुत शक्तिशाली होते हैं। समाज की सामूहिक चेतना इसका समर्थन करती है। व्यक्ति इनका उल्लंघन नहीं कर सकता। समाज के सदस्य इन्हीं सामूहिक प्रतिनिधानों के अनुसार समाज में व्यवहार और क्रिया करते हैं। मूल्य, धर्म, आचार, कानून, प्रथा आदि इसके विभिन्न रूप हैं। दुर्खीम का कहना है कि अगर समाज को समझना चाहते हैं तो हमें इन्हीं सामूहिक

प्रतिनिधानों का अध्ययन, अवलोकन, विश्लेषण और व्याख्या करनी चाहिए। समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र सामूहिक प्रतिनिधान ही होना चाहिए।

(3) सोरोकिन के विचार (Views of Sorokin)—सोरोकिन रूस मे जन्मे अमेरिकी समाजशास्त्री हैं। आपने समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध मे अनेक समाजशास्त्रियों के विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया उसके बाद आपने समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र के सम्बन्ध मे स्वय के विचार व्यक्त किये हैं। आपने समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र की समन्वयात्मक आधार पर व्याख्या की है। आपने अपनी पुस्तक *'सोसायटी, कल्चर एण्ड पर्सनैल्टी'* मे लिखा है कि सभी सामाजिक विज्ञान एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। विभिन्न सामाजिक विज्ञान समाज के विशिष्ट क्षेत्र का अध्ययन करते हैं परन्तु उस क्षेत्र का कोई भी विज्ञान अध्ययन नहीं करता है जो सभी सामाजिक विज्ञानो मे समान रूप से विद्यमान है। इन्होने उदाहरण देकर इस तथ्य को निम्न उदाहरण देकर समझाया है—

आर्थिक	a, b, c, d, e, f
राजनीतिक	a, b, c, g, h, i
धार्मिक	a, b, c, j, k, l
वैधानिक	a, b, c, m, n, o
मनोरजनात्मक	a, b, c, p, q, r

उपर्युक्त सारणी में a, b, c सभी विज्ञानों के विषय के अध्ययन में आते हैं परन्तु वे उनका विशेष अध्ययन नहीं करते। अर्थशास्त्र d, e, f का अध्ययन करता है। राजनीतिशास्त्र g, h, i का अध्ययन करता है। धर्मशास्त्र j, k, l का अध्ययन करता है। इसी प्रकार अन्य विज्ञान समाज के किसी विशेष पक्ष का अध्ययन करते हैं। लेकिन सभी सामाजिक विज्ञानो मे जो सामान्य लक्षण (a, b, c) विद्यमान हैं उनका अध्ययन कोई भी विज्ञान नहीं करता है। सोरोकिन का कहना है कि समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र यही सामान्य लक्षण (a, b, c) है। ये स लक्षण मिलकर समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र बनाते हैं। सामान्य तत्वो का वर्णन, विश्लेषण और वर्गीकरण तथा सम्बन्ध ही समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र है।

सोरोकिन ने अपनी दूसरी पुस्तक *'कॉन्टेम्पोरेरी सोशियोलॉजीकल थ्योरीज'* के अन्तिम पृष्ठ पर इसी बात को निम्नलिखित उदाहरण देकर समझाया है—

मान लीजिए हमारे सामने चार घटनाएँ हैं और उनका हम विज्ञानो द्वारा अध्ययन करवाना चाहते हैं, तो हमें 4 + 1 = 5 वे विशिष्ट विज्ञानो की आवश्यकता पडेगी। चार विशिष्ट विज्ञान तो चारो घटनाओ का अध्ययन करेगे तथा पाँचवाँ विज्ञान उन चारों मे जो सामान्य लक्षण हैं उनका *अध्ययन करेगा।*

इसी प्रकार समाज की घटनाओ का अध्ययन विभिन्न सामाजिक विज्ञान (अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, कानून आदि) करते हैं लेकिन इसके अतिरिक्त एक और सामाजिक विज्ञान होना चाहिए जो उन सामान्य विशेषताओं के परस्पर सम्बन्धो का अध्ययन करेगा जो इन सभी सामाजिक घटनाओ में विद्यमान हैं—यही तार्किक आदार है जिससे कारण सामान्य सामाजिक विज्ञान समाजशास्त्र की आवश्यकता है।

सोरोकिन ने समाजशास्त्र को एक सामान्य या समन्वयात्मक विज्ञान के रूप में स्थापित करने का प्रयास किया है। इन्होंने निम्न उदाहरण अपनी पुस्तक 'कॉन्टेम्पोरेरी सोशियोलॉजीकल थ्योरीज' में दिया है जो सामाजिक विज्ञान में एक सामान्य विज्ञान समाजशास्त्र का महत्त्व स्पष्ट करता है।

जीवों के दो वर्ग हैं—(1) वनस्पति और (2) जन्तु। वनस्पति का अध्ययन वनस्पति विज्ञान करता है और जन्तुओं का अध्ययन जन्तु विज्ञान करता है। एक और विज्ञान सामान्य जीव विज्ञान है जो इन दोनों वर्गों के जीवों की सामान्य विशेषताओं और उनके परस्पर सम्बन्धों का अध्ययन करता है। इसी प्रकार अगर सामाजिक घटनाओ को a, b, c, d, n वर्गों मे बाँटा जाता है तथा प्रत्येक वर्ग का अध्ययन एक विशेष सामाजिक विज्ञान (अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, कानून आदि) करता है तो इनके अतिरिक्त एक और विज्ञान भी होना चाहिए जो विभिन्न सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओ का अध्ययन करेगा तथा विशेष विज्ञानों के परस्पर सम्बन्धों का भी अध्ययन करेगा। ये उपर्युक्त आधार समाजशास्त्र के अस्तित्व के तार्किक कारण हैं। सरोकिन के अनुसार यही समाजशास्त्र की यह विषय-सामग्री है।

सोरोकिन के इन विचारों का लुण्डबर्ग ने भी समर्थन किया है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि हॉबहाउस, सोरोकिन, लुण्डबर्ग, गिन्सबर्ग आदि के अनुसार समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र समाज की सामान्य विशेषताएँ होना चाहिए तथा उनमे समाजशास्त्र को समन्वय स्थापित करना चाहिए।

समन्वयात्मक सम्प्रदाय की आलोचना (Criticism of Synthetic School)— कई समाजशास्त्रियों ने इस सम्प्रदाय की आलोचना निम्नलिखित की है—

1 समन्वयात्मक सम्प्रदाय ने समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र बहुत व्यापक बना दिया है जिससे यह एक विषय न होकर विश्वकोष बन गया है। सोरोकिन, लुण्डबर्ग आदि के अनुसार सभी सामाजिक विज्ञानों की सामान्य विशेषताएँ भी इसमें आ जाती हैं जिनका समन्वय समाजशास्त्र करता है। इस प्रकार समाजशास्त्र का एक बड़ा कार्य उन सामान्य विशेषताओं को ज्ञात करना है जो सभी सामाजिक विज्ञानो मे विद्यमान हैं, लेकिन इसे ज्ञात करना बहुत कठिन कार्य है। समन्वय करने का कार्य निश्चित करना जितना आसान है उतना आसान समन्वय करना नहीं है।

2 समन्वयात्मक सम्प्रदाय समाजशास्त्र को विशेष विज्ञान बनाने में सफल नहीं हुआ। यह वास्तविकता है, क्योंकि सामाजिक विज्ञानों का ही नहीं बल्कि प्राकृतिक विज्ञानों का भी घटना के अध्ययन में ध्यान रखा जाता है। यह काम जो समन्वयात्मक सम्प्रदाय करने का दावा करता है उसे तो अन्तःअनुशासनीय उपागम द्वारा ज्यादा अच्छा किया जाता है।

3 समाजशास्त्र सभी सामाजिक घटनाओं तथा तथ्यों के अध्ययन करने का दावा करता है तो ऐसी स्थिति में यह अन्य सामाजिक विज्ञानों के तथ्यो में समन्वय करने का प्रयास करता रहेगा। इसका अपना कोई विशेष स्थान नहीं बन पाएगा। यह एक मिश्रित विज्ञान (hodgepodge) ही रहेगा।

4 जब तक समाजशास्त्र अन्य सामाजिक विज्ञानो से अपना विषय-क्षेत्र अलग नहीं करेगा तब तक न तो इसका अध्ययन का दृष्टिकोण तय हो पाएगा और न ही यह कोई अध्ययन की वैज्ञानिक पद्धति ही विकसित कर पाएगा।

समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र दोनों ही है—स्वरूपात्मक और समन्वयात्मक —अगर हम समाजशास्त्र का इतिहास उठाकर देखे तो उससे स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र में दोनो ही सम्प्रदायो (स्वरूपात्मक और समन्वयात्मक) द्वारा तय किए गए विषय-क्षेत्रों के अनुसार कार्य हो रहे हैं। इससे स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र स्वरूपात्मक और समन्वयात्मक दोनो ही है। समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र मे सामान्य सामाजिक सम्बन्धो तथा विशिष्ट प्रकार के सामाजिक सम्बन्धो को सम्मिलित किया गया है। दोनो ही सम्प्रदायो के समाजशास्त्रियो के दावो का अनुसरण किया जा रहा है।

समाजशास्त्र के अनेक श्रेष्ठ अध्ययन दोनो ही सम्प्रदायो द्वारा किए गए हैं। ये अनुसन्धान तथा अध्ययन समाजशास्त्र की उच्चस्तरीय कृतियाँ हैं। समाजशास्त्र के विषय-क्षेत्र मे समन्वयात्मक अध्ययन स्वरूपात्मक सम्प्रदाय के अनुयायियो द्वारा किए गए हैं और इसी प्रकार स्वरूपात्मक अध्ययन समन्वयात्मक विद्वानो द्वारा किए गए हैं। समन्वयात्मकता का समाजशास्त्र ने इतना अधिक महत्त्व बढ़ा दिया है कि अनेक उप-विषयो का विकास भी हमें देखने को मिलता है तथा समाजशास्त्र में अनेक समाजशास्त्रीय विषयों का विकास हुआ है। अन्त मे निष्कर्ष यही निकलता है कि समाजशास्त्र का विषय क्षेत्र स्वरूपात्मक तथा समन्वयात्मक दोनो ही है।

समाजशास्त्र की विषय-सामग्री
(Subject-matter of Sociology)

समाजशास्त्र की विषय-सामग्री पर अनेक समाजशास्त्रियो ने प्रकाश डाला है। कुछ समाजशास्त्रियो ने तो विषय-क्षेत्र और विषय-सामग्री दोनो को समान अर्थ मे लिया है। वास्तविकता यह है कि समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र और विषय-सामग्री परस्पर इतने अधिक सम्बन्धित हैं कि इन्हें समान अर्थों मे प्रयोग करने की भूल हो जाती है। गहराई से देखे तो इन दोनो में अन्तर स्पष्ट हो जाता है। किसी विज्ञान के विषय-क्षेत्र से तात्पर्य उन सम्भावित सीमाओ से लगाया जाता है जहाँ तक वह विज्ञान निश्चित विषय का अधिक-से-अधिक सीमा तक अध्ययन कर सकता है। उस सम्भावित सीमा के बाहर वह विज्ञान अपने विषय का अध्ययन नहीं करता है। विषयवस्तु का अर्थ स्पष्ट करते समय विज्ञान के विषय-क्षेत्र का भी ध्यान रखा जाता है। क्योंकि विषय-वस्तु सम्भावित विषय-क्षेत्र के बाहर की नहीं हो सकती है। विषय-सामग्री उन निश्चित सीमाओं से सम्बन्धित होती है जिनके अन्दर ही वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

विषय-सामग्री से तात्पर्य उन निश्चित तथ्यो या विषयो से लगाया जाता है जिनका अध्ययन विज्ञान की सीमाओं के अन्तर्गत रहकर किया जाना चाहिए। विषय-क्षेत्र और विषय-सामग्री मे निश्चितता तथा मात्रा का अन्तर है न कि गुण का अन्तर। किसी विज्ञान का विषय-क्षेत्र सम्भावित परिधि को स्पष्ट करता है कि तथा विषय-सामग्री उस विज्ञान के निश्चित विषयों, तथ्यो आदि

को स्पष्ट करती है। समाजशास्त्र का विषय-क्षेत्र हम देख चुके हैं। अब हम समाजशास्त्र की निश्चित विषय-सामग्री को समझने का प्रयास करेंगे। समाजशास्त्र की विषय-सामग्री गिन्सबर्ग, दुर्खीम, सोरोकिन, इंकल्स, जार्ज सिमैल, ट्यूटर, हार्ट आदि ने व्यक्त की है। कुछ महत्त्वपूर्ण समाजशास्त्रियों के विचार विषय-सामग्री के सम्बन्ध में नीचे प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(1) दुर्खीम के विचार

(Views of Durkheim)

दुर्खीम समाजशास्त्र को विज्ञान मानते थे। आपने समाजशास्त्र को सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करने वाला विज्ञान बताया है। दुर्खीम ने समाजशास्त्र की विषय-सामग्री को सामाजिक तथ्यों के दृष्टिकोण से निम्नलिखित तीन भागो में बाँटा है—

दुर्खीम : समाजशास्त्र की विषय सामग्री

सामाजिक आकृति विज्ञान | सामाजिक शरीर क्रिया विज्ञान | सामान्य समाजशास्त्र

1 **सामाजिक आकृति विज्ञान** (Social Morphology)—दुर्खीम ने कहा कि समाजशास्त्र में सामाजिक आकृति विज्ञान को सामाजिक जीवन पर भौगोलिक पर्यावरण के प्रभावों का अध्ययन करना चाहिये। सामाजिक संगठन के साथ उनके क्या सम्बन्ध हैं, इसका अध्ययन भी करना चाहिए। इन्होंने कुछ उदाहरण भी दिए हैं जो इसके अन्तर्गत आते हैं। जनसंख्या का घनत्व, जनसंख्या का वितरण तथा जनसंख्या का सामाजिक संगठन के साथ गुण-सम्बन्ध का अध्ययन आता है।

2. **सामाजिक शरीर क्रिया विज्ञान** (Social Physiology)—सामाजिक व्यवस्था एक जटिल समग्र है जिसकी विशेषताओं और कार्यों का अध्ययन समाजशास्त्र की इस शाखा के अन्तर्गत किया जाता है। शरीरक्रिया विज्ञान जीवों तथा उनके अंगो के कार्यों का अध्ययन करता है। इसी प्रकार सामाजिक शरीर क्रिया विज्ञान शरीर रूपी समाज का तथा समाज के विभिन्न अंगो के कार्यों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करता है, जैसे—परिवार, जाति, कानून, धर्म, ग्राम, नीति, भाषा आदि। समाजशास्त्र में इन विभिन्न अगो के अध्ययन करने के लिए धर्म का समाजशास्त्र, परिवार का समाजशास्त्र, ग्रामीण समाजशास्त्र आदि विभिन्न शाखाएँ विकसित हो गई हैं।

3. **सामान्य समाजशास्त्र** (General Sociology)—सामान्य समाजशास्त्र समाज से *सम्बन्धित सामान्य नियमों का निर्माण करता है। इसके लिए यह शाखा सामाजिक सामान्य तथ्यों* से संकलन तथा अध्ययन पर विशेष ध्यान केन्द्रित करती है। इसके द्वारा ज्ञात नियमों का अन्य सामाजिक विज्ञानो में भी विशेष महत्त्व होता है। दुर्खीम ने इस शाखा को 'समाजशास्त्र का दार्शनिक भाग' कहा है।

(2) गिन्सबर्ग के विचार

(Views of Ginsberg)

गिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र की विषय-सामग्री को निम्नलिखित चार शाखाओं में बाँटा है—

गिन्सबर्ग : समाजशास्त्र की विषय सामग्री

सामाजिक आकृति विज्ञान	सामाजिक नियंत्रण	सामाजिक प्रक्रियाएँ	सामाजिक विकृति विज्ञान

1. **सामाजिक आकृति विज्ञान** (Social Morphology)—गिन्सबर्ग के अनुसार समाजशास्त्र की शाखा सामाजिक आकृति विज्ञान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह शाखा समाज की आकृति, स्वरूप या आकार को प्रभावित और निश्चित करने वाली विशेषताओं का अध्ययन करती है। इसमे जनसंख्या के गुण और आकार, सामाजिक समूहो, सामाजिक संस्थाओ आदि का अध्ययन किया जाता है जो सामाजिक सरचना का निर्माण करती हैं।

2 **सामाजिक नियन्त्रण** (Social Control)—इस शाखा के अन्तर्गत सामाजिक नियन्त्रण एव व्यवस्था सम्बन्धी विषयो, जैसे—जनरीति, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, परम्परा, कानून, धर्म, फैशन आदि का अध्ययन किया जाता है। गिन्सबर्ग ने इस शाखा में उन प्रक्रियाओं को भी सम्मिलित किया है जो विभिन्न समूहों और व्यक्तियो मे पाई जाती हैं। गिन्सबर्ग का कहना है कि सामाजिक जीवन और व्यवस्था के लिए सामाजिक नियन्त्रण अत्यन्त आवश्यक है। इसलिये समाजशास्त्र मे इस शाखा का विशेष महत्त्व है जो सामाजिक नियन्त्रण से सम्बन्धित सभी विषयों, तत्त्वो और घटनाओ का समाजशास्त्रीय अध्ययन करती है।

3. **सामाजिक प्रक्रियाएँ** (Social Processes)—इस शाखा के अन्तर्गत उन सामाजिक अन्त:क्रियाओ और प्रतिक्रियाओ का अध्ययन किया जाता है जो विभिन्न समूहो और व्यक्तियो मे पाई जाती हैं। सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा, संघर्ष, अनुकरण, प्रभुत्व, समायोजन आदि प्रक्रियाओ के प्रकार हैं जिनका समाजशास्त्रीय अध्ययन किया जाता है।

4 **सामाजिक विकृति विज्ञान** (Social Pathology)—समाज में अनेक विघटनकारी समस्याएँ होती हैं, जैसे—बाल अपराध, अपराध, आत्महत्या, निर्धनता आदि। इनका अध्ययन करने के लिए गिन्सबर्ग ने समाजशास्त्र में एक विकृति विज्ञान की आवश्यकता पर जोर दिया तथा उसका नाम 'सामाजिक विकृति विज्ञान' रखा जो इन समस्याओ का अध्ययन करता है।

(3) सोरोकिन के विचार

(Views of Sorokin)

सोरोकिन ने विभिन्न समाजशास्त्रियो के विचारो का आलोचनात्मक अध्ययन करने के बाद समाजशास्त्र की विषय-सामग्री निम्नलिखित बताई है—

1 विभिन्न सामाजिक घटनाओं के वर्गों में परस्पर सम्बन्धो और सह-सम्बन्धो का अध्ययन है, जैसे—आर्थिकी और धर्म, परिवार और आचार, न्याय और आर्थिकी, गतिशीलता और राजनैतिक घटना, आदि।

2 विभिन्न सामाजिक और असामाजिक (भौगोलिक, जैविकीय आदि) घटनाओं में परस्पर सम्बन्धो तथा सह-सम्बन्धो का अध्ययन है। भौगोलिक परिस्थितियों का सामाजिक घटनाओ तथा प्राणिशास्त्रीय परिस्थितियों का सामाजिक घटनाओं पर प्रभावो का अध्ययन समाजशास्त्र मे करना चाहिए।

3 सभी सामाजिक घटनाओं की सामान्य विशेषताओं का अध्ययन होना चाहिए।

(4) इंकल्स के विचार

(Views of Inkeles)

इंकल्स ने समाजशास्त्र की विषय-सामग्री की रूपरेखा विषय से सम्बन्धित पुस्तको, अमेरिकन समाजशास्त्र परिषद् तथा महान् समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र की विषय-सामग्री के सम्बन्ध में जिन विषयों पर सहमति व्यक्त की उनको निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है—

समाजशास्त्र की विषय-सामग्री की सामान्य रूपरेखा

I. समाजशास्त्रीय
   1. मानव, संस्कृति और समाज
   2. समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य (दृष्टिकोण)
   3. सामाजिक विज्ञानों मे वैज्ञानिक पद्धति

II. सामाजिक जीवन की प्राथमिक इकाइयाँ
   1. सामाजिक क्रियाएँ और सामाजिक सम्बन्ध
   2. व्यक्ति का व्यक्तित्व
   3. समूह (प्रजाति और वर्ग सहित)
   4 समुदाय : नगर और ग्राम
   5. समितियाँ और संगठन
   6. जनसंख्या
   7. समाज

III. आधारभूत सामाजिक संस्थाएँ
   1 परिवार और बन्धुत्व
   2. आर्थिक
   3 राजनैतिक और वैधानिक
   4. धार्मिक
   5. शैक्षणिक और वैज्ञानिक
   6. मनोरंजनात्मक और कल्याण
   7. कलात्मक और अभिव्यक्ति सम्बन्धी संस्थाएँ

IV. मौलिक सामाजिक प्रक्रियाएँ
   1. विभेदीकरण और स्तरीकरण
   2. सहयोग, समायोजन, आत्मसातकरण
   3. सामाजिक संघर्ष (क्रान्ति और युद्ध सहित)

4 सचार (जनमत निर्माण, अभिव्यक्ति और परिवर्तन सहित)

5 सामाजीकरण और मतारोपण

6 सामाजिक मूल्याकन (सामाजिक मूल्यो का अध्ययन)

7 सामाजिक नियन्त्रण

8 सामाजिक विचलन (अपराध, आत्महत्या आदि)

9. सामाजिक एकीकरण

10. सामाजिक परिवर्तन।

इंकल्स ने उपर्युक्त सूची मे समाजशास्त्र से सम्बन्धित सभी विषय-सामग्री को रखने का प्रयास किया है। इनका कहना है कि कुछ समाजशास्त्री ये आपत्ति उठा सकते हैं कि एक या दो बाते रह गई हैं। इकल्स का मानना है कि वे भी किसी-न-किसी रूप मे उपर्युक्त सूची मे कहीं-ना-कहीं आ गई हैं। वैसे किसी विषय की पूर्ण सूची बनाना सरल कार्य नहीं है। समाजशास्त्र की प्रकृति ऐसी है कि इसमे विषयो की विशिष्टता का विकास हो रहा है। इसलिए सूची का विस्तार भी होता रहेगा।

❐

अध्याय-3

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, समाजशास्त्र और सामाजिक विज्ञान

(Sociological Perspective, Sociology and Social Sceiences)

मानव के चारों ओर घटनाएँ घटती रहती हैं। इन घटनाओं से प्रभावित होकर समाज ने इनका अध्ययन करना प्रारम्भ किया। अलग-अलग घटनाओं के लिए भिन्न-भिन्न विज्ञानों का विकास किया। लेकिन आगे चल कर वैज्ञानिकों ने देखा कि एक ही घटना का अध्ययन विभिन्न विज्ञान करते हैं तो वैज्ञानिकों के सामने यह प्रश्न उठा कि जब एक ही घटना का अध्ययन विभिन्न विज्ञान करते हैं तो उनमें अन्तर क्या है? कौन-सी ऐसी विशेषताएँ हैं जो एक विषय को दूसरे विषय से भिन्न तथा विशिष्ट बनाती हैं? कौन-से ऐसे लक्षण हैं जो किसी विषय को विशिष्ट विज्ञान बनाते हैं? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर है और वह है कि विभिन्न विज्ञानों के अध्ययन की दृष्टि, परिप्रेक्ष्य तथा सन्दर्भ-परिधि विशिष्ट होती है। एक ही तथ्य का अध्ययन विभिन्न विज्ञान करते हैं उस समय उनके देखने की विधि भिन्न होती है। एक ही घटना का अलग-अलग अध्ययन करते समय विभिन्न विज्ञान भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से घटना को देखते हैं।

समाज से सम्बन्धित अनेक बातों का अध्ययन करने के लिए विभिन्न विज्ञानों और विषयो का विकास हुआ है। आर्थिक बातों, तथ्यो तथा घटनाओं के अध्ययन के लिए अर्थशास्त्र विषय की व्यवस्था की गई है। राजनैतिक बातो, तथ्यों तथा घटनाओं का अध्ययन करने के लिए राजनीतिशास्त्र; प्रशासनिक घटनाओं के लिए प्रशासनशास्त्र; सामाजिक व्यवस्था, अव्यवस्था और उसमे होने वाले परिवर्तनो का अध्ययन करने के लिए समाजशास्त्र आदि विषयो का समय-समय पर विकास हुआ है। इन विभिन्न विज्ञानों का परिप्रेक्ष्य अलग-अलग है जो इन्हे एक-दूसरे से भिन्न तथा विशिष्ट विज्ञान बनाता है। हमारे सामने मुख्य उद्देश्य *समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को विस्तार से समझना है।* इसकी व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण की विस्तार से विवेचना करने में पहिले हम परिप्रेक्ष्य का अर्थ समझने का प्रयास करेंगे, जो निम्नलिखित प्रकार से है—

परिप्रेक्ष्य का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of Perspective)—परिप्रेक्ष्य अंग्रेजी के शब्द 'पर्सपेक्टिव' (Perspective) का हिन्दी रूपान्तर है, जो लेटिन भाषा के 'पर्सपैक्ट' (Perspect) से व्युत्पन्न है। जिसका अर्थ है 'सीन थ्रू' (Seen through) अर्थात् आद्योपान्त (देखा गया)। सरल भाषा मे परिप्रेक्ष्य का अर्थ 'एक ओर से दूसरी ओर तक देखना' अथवा 'द्वारा निरीक्षण' करना है। सामाजिक विज्ञानों मे परिप्रेक्ष्य का अर्थ आदि से अन्त तक अन्वेषण या परीक्षण करना है। जब वैज्ञानिक अपने विषय को ध्यान में रखते हुए तथा विशिष्ट उद्देश्य के अनुसार किसी तथ्य अथवा घटना का निरीक्षण, अन्वेषण, परीक्षण या अध्ययन करता है तो वह उस विषय तथा वैज्ञानिक का परिप्रेक्ष्य कहलाता है।

सभी विषयो तथा विज्ञानो के घटना का अध्ययन करने का विशिष्ट ढग या तरीका होता है। उस विशिष्ट ढंग, तरीके या विधि को ही परिप्रेक्ष्य कहते हैं। सामान्यतया परिप्रेक्ष्य और अध्ययन का दृष्टिकोण का अर्थ समान ही है। परिप्रेक्ष्य क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित अध्ययन का दृष्टिकोण है जो किसी विज्ञान को अन्य विज्ञानो से विशिष्ट बनाता है। परिप्रेक्ष्य विचार करने या घटना को समझने तथा व्याख्या करने की दृष्टि है इसलिए इसे अध्ययन का दृष्टिकोण भी कहते हैं।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Sociological Perspective)—विभिन्न विद्वानों ने समाजशास्त्र मे विभिन्न शब्दो का प्रयोग किया है। कुछ ने परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण शब्द का प्रयोग किया है तो कुछ ने सन्दर्भ-परिधि (Frame of reference) शब्द का प्रयोग किया है। समाजशास्त्रियो ने परिप्रेक्ष्य की कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ दी है, जो निम्नलिखित हैं—

1. **थियोडोरसन तथा थियोडोरसन** के अनुसार, *"मूल्य, विश्वास, अभिवृति तथा अर्थ व्यक्ति को सन्दर्भ और दृष्टिकोण प्रदान करते हैं जिनके अनुसार वह परिस्थिति का अवलोकन करता है, परिप्रेक्ष्य कहलाता है।"* इनके अनुसार व्यक्ति का परिप्रेक्ष्य उसके सन्दर्भ पर आधारित होता है। इन्होने परिप्रेक्ष्य को और स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है, "परिप्रेक्ष्य में अभिग्रह (कल्पना) होते हैं तो सामान्यतया जान-बूझकर परिभाषित नहीं किये जाते हैं, लेकिन जो व्यक्ति समझता है और अपने अनुभवों की जिस प्रकार व्याख्या करता है उसे प्रभावित करते हैं।"

थियोडोरसन तथा थियोडोरसन का मानना है कि परिप्रेक्ष्य और सन्दर्भ-परिधि परस्पर घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं तथा परिप्रेक्ष्य का अर्थ जानने के लिए सन्दर्भ-परिधि की जानकारी भी आवश्यक है। इन्होने सन्दर्भ-परिधि की परिभाषा निम्नलिखित दी है—"किसी बिन्दु के दृष्टिकोण, मानदण्ड अथवा अवधारणाओ की व्यवस्था को लेकर कोई व्यक्ति (अथवा समूह) अपने अनुभव, ज्ञान और व्याख्याओं को सगठित करता है वह सन्दर्भ-परिधि (Frame of reference) कहलाती है।" किसी के मूल्य और सामाजिक प्रतिमान सामाजिक परिस्थिति में उसके अवलोकनो, व्याख्याओ और निर्णयों को प्रभावित करते हैं, सन्दर्भ-परिधि कहलाते हैं।

2. जी. ए. लुण्डबर्ग (G A Lundberg)) ने *'फाउण्डेशन्स ऑफ सोशियोलॉजी'* में सन्दर्भ-परिधि का वर्णन किया है। इन्होंने लिखा है कि विज्ञानो के वर्गीकरण का आधार वे समस्याएँ हैं जिनके अध्ययन में वे समर्पित हैं। हमारी स्थापित आदतो की व्यवस्था ही सन्दर्भ-परिधि का निर्माण करती है। इन्होने आदतो की व्यवस्था को समझाते हुए लिखा है कि ये आदतों की व्यवस्थाएँ लोक-भाषा मे होती हैं जिन्हें विश्वास, सिद्धान्त अथवा जीवन-दर्शन कहते हैं।

परिप्रेक्ष्य अथवा सन्दर्भ-परिधि प्रकृति की देन नहीं है। ये मानव द्वारा निर्मित दृष्टिकोण हैं। मानव ने इनका निर्माण अपनी सुविधा के लिए किया है। सन्दर्भ परिधि, दर्शन, परिप्रेक्ष्य अथवा और कोई व्यवस्था हो उसमे प्रतीकात्मक व्यवहार होता है जो उस जगत् की व्याख्या करती है जिसमे मानव रहता है। संसार बहुत बड़ा है। इसमे अनेक वस्तुएँ हैं। अनेक व्यक्ति और समूह इसके सम्पर्क मे आते हैं। इससे प्रभावित होकर भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य बनाते हैं। ये परिप्रेक्ष्य अथवा दृष्टिकोण इसलिए भिन्न होते हैं क्योंकि उनके अनुभव भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

3. इ. चिनोय (E Chinoy) ने अपनी पुस्तक **'सोशियोलॉजीकल पर्सपैक्टिव'** मे लिखा है कि किसी भी विषय का परिप्रेक्ष्य उसमे प्रयोग किये जाने वाली अवधारणाओ से मालूम किया जा सकता है। आपका यह भी कथन है कि कोई विषय या विज्ञान क्या है? इसे समझना है तो उस विषय अथवा विज्ञान के मौलिक प्रत्ययों या अवधारणाओ के आधार पर समझा जा सकता है। इनके अनुसार अगर हम किसी विज्ञान की अवधारणाओं की परिभाषा करते हैं तो उसका अर्थ यह है कि हम उस विज्ञान की प्रकृति तथा परिप्रेक्ष्य की सीमाओं की परिभाषा कर रहे हैं। चिनोय ने निम्नलिखित उदाहरण द्वारा इस कथन को स्पष्ट किया है—डबलरोटी का अध्ययन और विश्लेषण विभिन्न परिप्रेक्ष्य के द्वारा किया जा सकता है। चिनोय का कहना है कि प्रत्येक विज्ञान डबलरोटी के किसी एक पक्ष का अध्ययन करने के लिए विशिष्ट एवं सुनिश्चित अवधारणाओं का प्रयोग करेगा। अर्थशास्त्री डबलरोटी का अध्ययन एक उद्योग के रूप में करेगा। डबलरोटी का उत्पादन, बाजार मे माँग, उत्पादन लागत, थोक भाव, क्रय मूल्य, विक्रय मूल्य आदि का अध्ययन करेगा। एक पोषाहार वैज्ञानिक डबलरोटी का अध्ययन पोषाहार के महत्त्व को ध्यान में रख कर करेगा। वह डबलरोटी का विश्लेषण करके यह जानने का प्रयास करेगा कि उसमें वसा, विटामिन, प्रोटीन आदि कितनी मात्रा में है। मनोवैज्ञानिक डबलरोटी से सम्बन्धित व्यक्तियों की आदतों का अध्ययन करेगा। एक समाजशास्त्री डबलरोटी का अध्ययन करते समय यह पता लगाने का प्रयास करेगा कि पति-पत्नी के सम्बन्धों पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है। अगर पत्नी डबलरोटी पति के मनपसन्द स्वाद के अनुसार नहीं सेक पाती है तथा पति नाराज हो जाता है, पति-पत्नी में झगड़ा हो जाता है, कहा-सुनी हो जाती है तो इससे परिवार की सामाजिक व्यवस्था बिगड़ जाती है। यह सब अन्वेषण करने का दृष्टिकोण समाजशास्त्री का होगा।

समाजशास्त्री किसी भी घटना, वस्तु, तथ्य, क्रिया आदि का अध्ययन करते समय एक ही लक्ष्य को ध्यान मे रखता है कि उसमे सामाजिक व्यवस्था संगठित रहती है अथवा सामाजिक अव्यवस्था बढ़ती है। समाजशास्त्री का परिप्रेक्ष्य सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक अव्यवस्था तथा इनमें होने वाले परिवर्तनो का अध्ययन करना है। चिनोय का कहना है कि विभिन्न विज्ञानो का परिप्रेक्ष्य विशिष्ट होता है। उनकी भाषा, विशेष रूप से वैज्ञानिक शब्दावली या अवधारणा जो प्रयुक्त होती है वह भी विशिष्ट होती है। इसलिए अवधारणाओं के द्वारा भी विज्ञान का परिप्रेक्ष्य निश्चित होता है। एक ही घटना का अध्ययन विभिन्न विज्ञान करते हैं उनकी अवधारणाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं जो उनके विशिष्ट परिप्रेक्ष्य, दृष्टिकोण या सन्दर्भ-परिधि में सम्बन्धित होती हैं।

4. डब्लू. जे. गुडे तथा पी. के. हॉट (W J. Goode and P. K Hatt) ने परिप्रेक्ष्य के सम्बन्ध में चिनोय जैसे मिलते-जुलते विचार *'मेथड्स इन सोशियल रिसर्च'* में व्यक्त किये हैं। इन्होने फुटबॉल का उदाहरण देकर विभिन्न विषयों के परिप्रेक्ष्य की व्याख्या की है। उनका कहना है कि किसी भी घटना या वस्तु का भिन्न-भिन्न तरह से अध्ययन किया जा सकता है। एक फुटबाल का अध्ययन आर्थिक परिधि मे किया जा सकता है कि इस खेल की वस्तु की माँग और पूर्ति के प्रतिमान क्या हैं? यह रसायनशास्त्र के अनुसन्धान की वस्तु हो सकती है कि यह किन कार्बनिक रसायनो की बनी है। इसका भार होता है इसलिए इसे एक भौतिक वस्तु के रूप मे अध्ययन करते समय यह देखा जा सकता है कि विभिन्न स्थितियों में, दबाव की भिन्नता से इसकी गति में क्या अन्तर आता है। इस फुटबॉल का अध्ययन समाजशास्त्र में रुचिशील क्रियाओं; जैसे—खेल, सचार, समूह सगठन, दो दलों मे प्रतिस्पर्धा, जीतने के लिए प्रयास, मनोरजन, व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति-समूह तथा समूहो में परस्पर सम्बन्ध आदि के सन्दर्भ में कर सकते हैं। गुडे और हॉट लिखते हैं कि प्रत्येक विज्ञान और प्रत्येक विशेषीकरण वृहद् क्षेत्र में घटना के केवल एक पक्ष पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं न कि उसके सभी पक्षों तथा पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित करते हैं।

गुडे एवं हॉट ने दृष्टिकोण या अध्ययन-परिधि की विवेचना उपर्युक्त उद्धरित पुस्तक में अनेक स्थानो पर की है। इनका मानना है कि विज्ञान के दृष्टिकोण को उसके सिद्धान्त, तथ्य, अध्ययन पद्धति, अवधारणाएँ, प्राक्कल्पनाएँ आदि निश्चित करते हैं। परिप्रेक्ष्य को विज्ञान की परिभाषा, अध्ययन का क्षेत्र, प्रकृति, सिद्धान्त, तथ्य, अवधारणाएँ आदि निश्चित करती हैं। यही वैज्ञानिक सत्य है कि एक ही तथ्य, घटना अथवा विषय का अध्ययन एव अनुसंधान विभिन्न विज्ञान उनके विशिष्ट परिप्रेक्ष्य के आधार पर करते हैं तथा ज्ञान की वृद्धि करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—

(1) प्रथम भाग के अन्तर्गत समाजशास्त्री समाज, समूह, सामाजिक अन्त:क्रियाएँ, सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक व्यवहार, सामाजिक संरचना, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक

अव्यवस्था और उनमे होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करता है। इस प्रथम पक्ष मे समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य अपने को पारस्परिक सम्बन्धों, प्रक्रियाओं अथवा इनके विभिन्न स्वरूपो या उनमे होने वाले परिवर्तनो का अध्ययन इस वास्तविकता से सम्बन्धित करते हुए करता है कि उसमे सामाजिक व्यवस्था, सहयोग, एकीकरण, संगठन आदि बढ़ते हैं अथवा घटते हैं। *वह यह भी ध्यान में रखता है कि उनमें अव्यवस्था, असहयोग,* संघर्ष, विघटन आदि तो नही बढ़ रहा है।

(2) समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का दूसरा पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसके अन्तर्गत समाजशास्त्री सामाजिक प्रघटनाओ के अतिरिक्त अन्य सभी घटनाओं, वस्तुओं, तथ्यों आदि का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करते हैं। तात्पर्य यह है कि ये अन्य घटनाएँ, वस्तुएँ, तथ्य आदि गानव समाज, मानव समूह, सामाजिक व्यवहार, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संगठन, आदि को कैसे प्रभावित करते हैं, इसे देखता है। अनेक समाजशास्त्रियों-विनोय, गुडे और हॉट, लुण्डबर्ग, स्पाईसर आदि ने इस पक्ष पर अधिक जोर दिया है। सत्य तो यही है कि किसी भी समाजशास्त्रीय तथ्य का अध्ययन करते समय अन्य वस्तुओं का सन्दर्भ आ ही जाता है। सभी सामाजिक और प्राकृतिक विज्ञान अनेक प्रघटनाओं, वस्तुओं आदि का अध्ययन करते हैं उनमें अन्तर परिप्रेक्ष्य का ही होता है। समाजशास्त्री, अर्थशास्त्री, राजनीतिशास्त्री आदि सभी अपने-अपने परिप्रेक्ष्य से घटना का अध्ययन करते हैं।

समाजशास्त्र एवं अन्य विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य

(Perspectives of Sociology and other Sciences)

इंकल्स ने समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान, इतिहास, मनोविज्ञान और मानवशास्त्र के सन्दर्भ में विवेचना **'व्हॉट इज सोशियोलॉजी?'** में की है, जो निम्नलिखित प्रकार से है—

1. अर्थशास्त्र (Economics)—अर्थशास्त्र कुछ विशेष चरों के आधार पर वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन और वितरण का अध्ययन करता है जो इसे अन्य विज्ञानों के परिप्रेक्ष्य से विशिष्ट *बनाता है। ये अर्थशास्त्रीय चर मूल्य और वितरण, मुद्रा लेन-देन का अनुपात, माँग* और मूल्य आदि हैं। अर्थशास्त्री के अध्ययन का दृष्टिकोण आर्थिक होता है। जब वह कुर्सी का अध्ययन करता है तो देखता है कि कुर्सी कितने में बन कर तैयार हुई तथा कितने में बिकी। उससे विक्रेता को लाभ हुआ अथवा हानि। उसी प्रकार अर्थशास्त्री, डबलरोटी, फुटबाल, पैन, घड़ी, टेलीविजन, केमरा, स्कूटर या अन्य किसी भी वस्तु का अध्ययन इसी दृष्टिकोण से करेगा कि उत्पादन लागत कितनी है तथा कितने में वस्तु बिकी लाभ हुआ या हानि आदि-आदि।

अध्ययन का वह दृष्टिकोण जिसमें संगठित प्रयास से सीमिततम साधनों द्वारा असीमित लक्ष्यों (आवश्यकताओं) का अधिकतम परितोष प्राप्त करने का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता हो, आर्थिक परिप्रेक्ष्य कहलाता है। यह आर्थिक दृष्टिकोण प्रागैतिहासिक, आदिम या आधुनिक, किसी भी समाज के अध्ययन पर लागू होता है। अर्थशास्त्री हर बात आर्थिक

परिप्रेक्ष्य से देखता है। जैसे 'समय ही धन है', 'धन बचाओ', 'धन उत्पादन में लगाओ', 'फैशन धन है'। आर्थिक क्रिया ही अर्थशास्त्र की अध्ययन की इकाई होती है। अनेक महत्त्वपूर्ण समस्याएँ, जो अर्थशास्त्र से सम्बन्धित है, अभी तक अर्थशास्त्रीय अनुसंधान का विषय नहीं बन पाई हैं। वस्तुओ की माँग, पूर्ति और कीमत पर प्रतिष्ठा, परम्परा, मूल्यों आदि का क्या प्रभाव पडता है। उत्पादन और प्रोत्साहन में परस्पर क्या सम्बन्ध है? इन सब का अध्ययन समाजशास्त्र करता है। शिक्षा का उत्पादन पर जो प्रभाव पड़ता है उसका समाजशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते हैं। इकल्स का कहना है कि इस प्रकार के अध्ययन अनुसंधान के लिए समाजशास्त्री अधिक योग्य और उपयुक्त हैं।

2. राजनीति विज्ञान (Political Science)—इकल्स लिखते हैं कि राजनीति विज्ञान अथवा 'सरकार', जैसा कि अधिकतर अमेरिका के विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है के दो महत्त्वपूर्ण तत्त्व होते हैं—राजनैतिक सिद्धान्त और सरकारी प्रशासन। ये दोनों ही राजनैतिक व्यवहार का विस्तार से अध्ययन नहीं करते हैं। राजनैतिक सिद्धान्त मे प्लेटो से लेकर मार्क्स के सरकार के प्रति विचारो का अध्ययन किया जाता है। प्रशासन मे सामान्यतया सरकारी एजेन्सियो के औपचारिक ढाँचे तथा कार्यों की विवेचना की जाती है। यही राजनीति विज्ञान का प्ररिप्रेक्ष्य है। राजनीति विज्ञान जब किसी वस्तु, तत्त्व, घटना या कारक का अध्ययन करता है तो वह यह पता लगाने का प्रयास करता है कि उसका सत्ता, सरकार, प्रशासन या विभिन्न दलों पर क्या प्रभाव पडता है। शक्ति सम्बन्ध और सरकार इसके अध्ययन के विषय होते हैं। राजनीति विज्ञान मानवीय सामाजिक सम्बन्धो के एक विशेष प्रकार राजनैतिक सम्बन्धो का व्यवस्थित अध्ययन और व्याख्या करता है। राजनीति विज्ञान मानव को केवल उन क्रियाओ का अध्ययन करता है जो राज्य, सरकार, शक्ति-संरचना, प्रशासन आदि से सम्बन्धित होती हैं। जबकि समाजशास्त्री मानव की सभी प्रकार की सामाजिक क्रियाओ, सम्बन्धो तथा व्यवहारो का अध्ययन करता है। समाजशास्त्री तो राजनैतिक व्यवहार, मतदान सम्बन्धी क्रियाओ, राजनीतिक आन्दोलनों, निर्णय की प्रक्रिया आदि का भी अध्ययन करता है। मानव समाज से सम्बन्धित अनेक ऐसे विषय हैं जिनका अध्ययन समाजशास्त्र और राजनीति विज्ञान दोनों करते हैं। अन्तर उनके परिप्रेक्ष्य मे होता है। शक्ति सरचना, निर्णय की प्रक्रिया, सरकार, प्रशासन आदि का अध्ययन राजनीति विज्ञान जब करता है तो वह केवल मात्र सरकारी व्यवस्था, प्रशासनिक व्यवस्था आदि के सन्दर्भ मे अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्री इन्हीं का अध्ययन सामाजिक व्यवस्था, संगठन, सरचना आदि को ध्यान में रख कर करता है। राजनीति विज्ञान का चर सत्ता है तो समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित चरो का ध्यान रखता है।

3. इतिहास (History)—इतिहास उस क्रम को मालूम करने का प्रयास करता है जिस क्रम में घटनाएँ घटित हुई थीं। यह व्यवहार को समय के अनुसार क्रमबद्ध और व्यवस्थित करता है। इतिहास अपने को भूतकाल के अध्ययन तक सीमित रखता है। इतिहास के लिए अध्ययन जितना अधिक प्राचीन हो उतना ही अच्छा है। इतिहास का सम्बन्ध अतीत की घटनाओ से होता है। जब समाज का अध्ययन समय सापेक्ष होता है तथा मानव जब से नगरो में

रह रहा है और सभ्यता का विकास हुआ है इतिहास तब से इनका सही-सही वर्णन करने का प्रयास करता है। जब अतीत को समझने के लिए समाज की घटनाओं का वर्णन कारणों के साथ किया जाता है तो यह परिप्रेक्ष्य ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य कहलाता है। इतिहास का ध्यान अद्वितीय, विशिष्ट घटनाओ तथा व्यक्तियों पर केन्द्रित होता है। इतिहास अपने को मानव समाज के भूतकाल तक सीमित रखता है तथा भूतकाल में विभिन्न विशिष्ट घटनाओ के क्रम को क्रमबद्ध, व्यवस्थित तथा कारण-प्रभाव व्याख्या और वर्णन करता है। समाजशास्त्र समकालीन घटनाओं का अध्ययन सामाजिक प्रतिमान, स्वरूप तथा व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए करता है। समाजशास्त्र एक ही समय में घटने वाली विभिन्न घटनाओं में परस्पर सम्बन्धो की व्याख्या करता है। मानव का इतिहास अधिकतर राजाओं और युद्धों के इतिहास के रूपो में लिखा गया है। इंकल्स का कहना है कि इतिहासकार की रुचि, विभिन्न कालो में संस्थाओं के परिवर्तन, जैसे—भूस्वामित्व अथवा सामाजिक सम्बन्धों, परिवार के स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धो के परिवर्तन में नहीं होती है। इस प्रकार के सम्बन्धों के अध्ययन में रुचि समाजशास्त्री की होती है।

इंकल्स ने स्पष्ट किया है कि समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य और उपर्युक्त वर्णित विज्ञानों—अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान और इतिहास के परिप्रेक्ष्यों में तो स्पष्ट अन्तर है। परन्तु समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और मानवशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में अन्तर उनकी तुलना में कम स्पष्ट है। अब हम मनोविज्ञान और मानवशास्त्र के परिप्रेक्ष्य की विवेचना करेंगे।

4. मनोविज्ञान (Psychology)—इंकल्स के अनुसार, **"मनोविज्ञान को प्रायः मस्तिष्क अथवा मानसिक प्रक्रियाओं का विज्ञान कहा जाता है।"** *पारसन्स* के अनुसार समाजशास्त्र सामाजिक व्यवस्था का तथा मनोविज्ञान व्यक्तित्व व्यवस्था का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। पारसन्स के अनुसार मनोविज्ञान व्यक्तित्व अवस्था का अध्ययन, आवश्यकता पूर्ति के परिप्रेक्ष्य के अनुसार करते हैं। मनोविज्ञान के अध्ययन का केन्द्र व्यक्तित्व है जिस प्रकार से समाजशास्त्र के अध्ययन का केन्द्र समाज और सामाजिक व्यवस्था है। इंकल्स ने लिखा है कि मनोविज्ञान मानसिक प्रक्रियाओं, जैसे—प्रत्यक्षीकरण, संज्ञान, सीखने आदि का अध्ययन करता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व का अध्ययन करते समय अनुभवों, संवेगों, प्रेरको, अन्तर्नोद तथा इनके संगठन आदि पर भी अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं। इन्होंने यह भी लिखा है कि मनोविज्ञान का प्ररिप्रेक्ष्य उस व्यवहार की व्याख्या करने का प्रयास करता है जो किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व में संगठित है जबकि समाजशास्त्र समाज में व्यवस्थित व्यवहार की व्याख्या करता है जिसके निर्णायक कारक लोगों की संख्या, उनकी संस्कृति, लक्ष्य की परिस्थिति तथा उनका सामाजिक संगठन आदि हैं।

5. मानवशास्त्र (Anthropology)—मानवशास्त्र बहुत व्यापक विज्ञान है। **"मानवशास्त्र मानव और उसके समस्त कार्यों का विज्ञान है।"** मानवशास्त्र प्राकृतिक और सामाजिक दोनों ही विज्ञान है। *हॉबल* के अनुसार मानवशास्त्र, मानव और संस्कृति की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करते हैं तथा उनकी संरचना तथा कार्यों का अध्ययन भी करते हैं। अनेक मानवशास्त्रियों के अनुसार मानवशास्त्र की शाखा सांस्कृतिक मानवशास्त्र तथा इसकी

उप-शाखा सामाजिक मानवशास्त्र आदिम समाजों का अध्ययन करती है। वास्तव मे तो मानवशास्त्र के स्थान पर सामाजिक मानवशास्त्र के अध्ययन के दृष्टिकोण की तुलना समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करनी चाहिए। यहाँ हम मानवशास्त्र (सामाजिक मानवशास्त्र के सन्दर्भ मे) के परिप्रेक्ष्य का अध्ययन करेंगे। मानवशास्त्र आदिम समाजों, गिरि समाजो, जनजातियों आदि की सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करता है। समाजशास्त्र सभ्य समाजो की सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करता है। कुछ विद्वान् सामाजिक मानवशास्त्र को समाजशास्त्र की शाखा मानते हैं। रेडक्लिफ-ब्राउन (Radcliffe-Brown) के अनुसार सामाजिक मानवशास्त्र समाजशास्त्र की वह शाखा है जो अशिक्षित समाजों की सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करती है। इस प्रकार समाजशास्त्र और मानवशास्त्र (सामाजिक मानवशास्त्र) एक-दूसरे के बहुत निकट आ जाते हैं।

मानवशास्त्र आदिम समाजो को पूर्ण मान कर उसके सभी पक्षो का अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्री समाज के किसी एक भाग का अध्ययन करता है, सामान्यतया किसी एक सस्था मे विशेषीकरण करता है, जैसे—*परिवार, सामाजिक गतिशीलता, सस्तरण, सामाजीकरण* आदि। मानवशास्त्री आदिम समाजों का अध्ययन उनमे रह कर करते हैं। तथ्य सकलन की विधि अवलोकन होती है तथा उनके विश्लेषण की विधि गुणात्मक होती है। समाजशास्त्री प्रश्नावली विधि तथा सांख्यिकी का सहारा लेते हैं। इनके विश्लेषण सख्यात्मक तथा औपचारिक भी होते हैं। यही कुछ बाते हैं जिनके आधार पर इकल्स ने ये भविष्यवाणी की है कि मानवशास्त्र एक विशिष्ट विज्ञान के रूप मे शायद ही बना रहे। सम्भवत: यह समाजशास्त्र की एक शाखा बन जाएगा। कुछ समाजशास्त्री मानवशास्त्र की शाखा सामाजिक मानवशास्त्र को समाजशास्त्र की एक ऐसी ही शाखा मानते हैं, जैसे—ग्रामीण समाजशास्त्र, नगरीय समाजशास्त्र, औद्योगिक समाजशास्त्र आदि। इसके दृष्टिकोण मे अन्तर का मुख्य आधार अध्ययन का क्षेत्र ही है। अन्य भिन्नताएँ इसी मूल आधार के कारण हैं।

समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की विशेषताए

(Characteristics of Sociological Perspective)

(1) समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य वैज्ञानिक है। यह मानव समाज के निम्नलिखित पक्षों का अध्ययन करता है—(i) क्या है? (ii) क्यों है? (iii) कैसे है? और (iv) क्या होगा? कुछ विद्वान् समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को मानविकी भी मानते हैं तथा उनका कहना है कि 'क्या होना चाहिए?' का अध्ययन भी समाजशास्त्र को करना चाहिए। समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य कारण-प्रभाव, प्रायोगिक आनुभविकता और सार्वभौमिकता पर आधारित होता है इसलिए यह वैज्ञानिक है।

(2) समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के दो पक्ष हैं। प्रथम पक्ष सामाजिक अन्त:क्रिया, सामाजिक प्रक्रिया, सामाजिक समूह व मानव समाज है। इनकी व्यवस्था, अव्यवस्था, सहयोग, संघर्ष, एकीकरण, विघटन एवं सामाजिक परिस्थितियों के परिवर्तनो का अध्ययन प्रथम पक्ष

करता है। समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य का दूसरा पक्ष उन सभी वस्तुओं, घटनाओं और कारकों का सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक अव्यवस्था तथा उनके विभिन्न अंगो पर क्या प्रभाव पड़ता है, का अध्ययन करता है।

(3) समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य सामाजिक प्रघटनाओं, कारकों, आँकडों, तथ्यों आदि की विवेचना सामाजिक व्यवस्था के सन्दर्भ मे वेज्ञानिक आधार पर करता है।

(4) समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य, अन्त:क्रियाओं, प्रक्रियाओं, सामाजिक सम्बन्धों, व्यवहारों, समूहों तथा समाज आदि का वर्णन तथा व्याख्या करता है।

(5) समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य सामाजिक तथ्यो पर आधारित होता है।

(6) समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य का नियन्त्रण, निर्देशन तथा सचालन समाजशास्त्रीय सिद्धान्त करते हैं। सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि घटना से सम्बन्धित कौन-कौनसे तथ्य समाजशास्त्रीय अध्ययन से सम्बन्धित हैं तथा कौन-कौनसे नहीं हैं।

(7) अवधारणाओं के द्वारा समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को मालूम किया जा सकता है। अगर किसी प्रघटना अथवा तथ्य की विवेचना मे प्रस्थिति, भूमिका, समूह, स्तरीकरण, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक परिवर्तन, सामाजीकरण, सामाजिक संरचना, सामाजिक प्रकार्य आदि-आदि अवधारणाओं का प्रयोग किया गया है तो उस अध्ययन का परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्रीय है। प्रत्येक विज्ञान की विशिष्ट भाषा होती है। समाजशास्त्र की भी विशिष्ट भाषा है। इसमे अनेक शब्द सामान्य बोलचाल के काम में लिए जाते हैं तो उनका स्पष्ट और सुनिश्चित अर्थ स्पष्ट कर दिया गया होता है जो समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के आधार पर होता है।

(8) निष्कर्ष में हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य समाजशास्त्र की परिभाषा, अध्ययन पद्धति, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, समाजशास्त्रीय तथ्यों, पथों आदि को निश्चित करता है।

❒

अध्याय-4

समाजशास्त्रीय अध्ययनों का वैज्ञानिक और मानविकी अभिमुखन

(Scientific and Humanistic Orientation to Sociological Studies)

समाजशास्त्र के परिचय सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षो समाजशास्त्र की प्रकृति, समाजशास्त्र का अर्थ एवं परिभाषा, विषय-क्षेत्र एव विषय-सामग्री, समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य आदि का गहन अध्ययन करने के उपरान्त यह प्रश्न उठता है कि एक समाजशास्त्र का विद्यार्थी किसी घटना का समाजशास्त्रीय अध्ययन किस प्रकार से सम्पन्न करे। समाजशास्त्र के विद्यार्थी, शोधकर्त्ता या वैज्ञानिक के लिए आवश्यक है कि घटना का अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व उसका समाजशास्त्रीय पूर्व प्रशिक्षण या अभिमुखीकरण होना चाहिए। जब तक अध्ययनकर्त्ता का समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य सम्बन्धी अभिमुखन या पूर्वाभिमुखीकरण नहीं होगा तब तक वह समाजशास्त्रीय अध्ययन करने के लिए सक्षम नहीं हो पाएगा। वैज्ञानिको की मान्यता है कि अध्ययनो को करने के लिए अध्ययनकर्त्ता का वैज्ञानिक या मानविकी एव समाजशास्त्रीय अभिमुखन होना आवश्यक है। समाजशास्त्रीय अभिमुखन के अभाव मे सत्य प्रमाणित और विश्वसनीय निष्कर्ष और सिद्धान्तो का निर्माण नहीं हो सकता है। अभिमुखन के इसी महत्त्व के कारण समय-समय पर समाजशास्त्र के प्रतिपादकों और समर्थको ने समाजशास्त्रीय अभिमुखन की प्रक्रिया विभिन्न पक्षो पर प्रकाश डाला है। इसी पृष्ठभूमि को ध्यान मे रखते हुए इस अध्याय में समाजशास्त्रीय अध्ययनों के वैज्ञानिक और मानविकी अभिमुखन या पूर्वाभिमुखीकरण के महत्त्वपूर्ण पक्षो पर प्रकाश डाला जाएगा जैसे पूर्वाभिमुखीकरण के अर्थ, क्या हैं? समाजशास्त्रीय अभिमुखन किसे कहते हैं? समाजशास्त्र मे इसके प्रमुख प्रकार कौन-कौनसे हैं? समाजशास्त्रीय पूर्वाभिमुखीकरण के प्रकारो का विकास का इतिहास क्या है? आदि-आदि।

अभिमुखन का अर्थ (Meaning of Orientation)—अभिमुखन अंग्रेजी शब्द ऑरियन्टेशन का हिन्दी अनुवाद है। हिन्दी भाषा में अभिमुखन के प्रचलित पर्याय पूर्वाभिमुखीकरण अनुस्थापना दिक् विन्यास, दिशा और अभिविन्यास आदि हैं। शब्दकोश और

विश्वदार्शनिक अभिमुखन के भिन्न-भिन्न विषयों के अनुसार अनेक अर्थ देखे जा सकते हैं। यहाँ पर अभिमुखन का मात्र उन अर्थों का विवेचन प्रस्तुत है, जो इस अध्याय के शीर्षक मे सम्बन्धित है। जो अग्रलिखित हैं—

अंग्रेजी शब्दकोशों के अनुसार अभिमुखन या पूर्वाभिमुखीकरण एक क्रिया या प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति का अभिमुखन किया जाता है। अर्थात् अभिमुखन स्थिति, वस्तु या विषय से परिचय कराने की प्रक्रिया है। पूर्वाभिमुखीकरण का शाब्दिक अर्थ पूर्व या पहिले से ही जानकारी प्रदान करना है। पूर्वाभिमुखीकरण एक मार्गदर्शक या पथ-प्रदर्शक है जो व्यक्ति का नवीन परिस्थिति या वातावरण से अनुकूलन करता है। अभिमुखन दिशा प्रदान करता है। इसे पथ-प्रदर्शिका या मार्ग-दर्शिका भी कह सकते हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति को निश्चित विषय, अध्ययन या कार्य से पूर्व मे परिचित करवाया जाता है, जैसे—नये कर्मचारी का दो दिन तक पूर्वाभिमुखीकरण किया गया।

समाजशास्त्रीय अभिमुखन (Sociological Orientation)—समाजशास्त्रीय अभिमुखन से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा व्यक्ति को समाजशास्त्र के विभिन्न लेकिन महत्त्वपूर्ण पक्षो से अवगत कराया जाता है तथा समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य के अनुसार अध्ययन करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। समाजशास्त्रीय पूर्वाभिमुखीकरण एक प्रकार से पूर्व-प्रशिक्षण की एक विशिष्ट प्रकार की प्रक्रिया है जिसके द्वारा वैज्ञानिक को समाजशास्त्रीय अध्ययन के करने से पूर्व ज्ञान या जानकारी दी जाती हे जिससे कि आगे चलकर वह समाजशास्त्रीय अध्ययन करने में सक्षम सिद्ध हो सके। समाजशास्त्र मे अभिमुखन एक प्रक्रिया है जो वैज्ञानिक या अध्ययनकर्ता को शोधकार्य के विभिन्न चरणों से परिचित कराती है। यह प्रक्रिया अनुसन्धानकर्ता का मार्गदर्शन करती है कि अध्ययन की समस्या का चयन, तथ्यो का *संकलन, वर्गीकरण, विश्लेषण, व्याख्या एवं सिद्धान्तो का निर्माण किस प्रकार से करना है।*

समाजशास्त्रीय अभिमुखन या पूर्वाभिमुखीकरण एक प्रक्रिया है जिसका कार्य, अध्ययन से सम्बन्धित पूर्व मे वस्तुस्थिति का ज्ञान कराना है तथा शोध की दिशा निर्धारित करना है। निष्कर्ष यह कहा जा सकता है कि यह वह प्रक्रिया हे जो वास्तविक अध्ययन प्रारम्भ करने से पहले (पूर्व में) अध्ययनकर्त्ता का अभिमुखन एवं मार्गदर्शन करती है कि समाजशास्त्रीय अध्ययन किसे कहते हैं। समाजशास्त्रीय अध्ययनो का परिप्रेक्ष्य क्या हे? अध्ययन के उपागम (दिशाएँ) कौन-कौनसे हैं? अध्ययन की पद्धतियाँ कौन-कौनसी है? समाजशास्त्रीय तथ्य कौन-कौनसे हैं तथा तथ्यो का वर्गीकरण, सारणीयन, विश्लेषण के बाद निष्कर्ष कैसे निकाले जाते हैं?

समाजशास्त्रीय अभिमुखन के प्रकार (Types of Sociological Orientation)—समाजशास्त्र विषय की स्थापना 1838 हुई। इसकी स्थापना से लेकर आज तक सभी गुरु-शिष्य समाजशास्त्रियो की परम्पराओं ने अभिमुखन के द्वारा ऐसे अध्ययनकर्त्ता निर्मित करने का प्रयास किया जो समाज से सम्बन्धित वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निर्माण कर सकें जैसे न्यूटन का समाजशास्त्रीय अध्ययन करने के लिए जो मार्गदर्शन, दिशा-निर्देश, पूर्व-प्रशिक्षण करने के लिए

जो पूर्वाभिमुखीकरण करने के लिए प्रयास किए गए हैं, उन्हें निम्न दो वर्गों में वर्गीकृत करके देखा जा सकता है—वैज्ञानिक अभिमुखन और मानविकी अभिमुखन।

समाजशास्त्रीय अभिमुखन के प्रकार

वैज्ञानिक अभिमुखन | मानविकी अभिमुखन

(1) वैज्ञानिक अभिमुखन (Scientific Orientation)—अध्ययनकर्त्ता का जैसा अभिमुखन या शिक्षा होगी उसी के अनुसार वह आगे चलकर अध्ययन प्रस्तुत करेगा। अगर अध्ययनकर्त्ता का अभिमुखन वैज्ञानिक हुआ है तो वह अध्ययन भी ऐसा करेगा जो वैज्ञानिकता के गुणो पर आधारित होगा। जिन अध्ययनकर्त्ताओ को वैज्ञानिक अभिमुखन किया जाता है, उन्हे वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति और पद्धति की वैज्ञानिक विशेषताओ की शिक्षा दी जाती है। वैज्ञानिक अभिमुखन की प्रक्रिया के समय अध्ययनकर्त्ता को वैज्ञानिक अध्ययन की पद्धति के निम्न चरणो से परिचित कराया है। उसे सिखाया जाता है कि सर्वप्रथम वह अध्ययन की समस्या की व्याख्या करे। दूसरे चरण में प्रमाणित तथ्यो एव आँकड़ों को एकत्र करे। अध्ययन के तीसरे चरण में तथ्यो का वर्गीकरण करे तथा उन्हे तालिका मे व्यवस्थित करके तथ्यो का पारस्परिक गुण-प्रभाव सम्बन्ध देखे। अन्तिम एव चौथे चरण में निष्कर्ष निकाले या सिद्धान्तो का निर्माण करे। अभिमुखन की प्रक्रिया के समय अध्ययनकर्त्ता को यह भी सिखाया जाता है कि वह निष्कर्षों को कारण-प्रभाव, प्रयोग-सिद्धता एव सार्वभौमिकता के आधार पर प्रस्तुत करे। इन विशेषताओं पर अग्र पृष्ठो मे सविस्तार प्रकाश डाला गया है। अनेक समाजशास्त्रियो ने समय-समय पर इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि अध्ययनकर्त्ता को अभिमुखन की प्रक्रिया के द्वारा वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य वैज्ञानिक अध्ययन की पद्धति, वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निर्माण करना कैसे सिखाया जाए।

वैज्ञानिक अभिमुखन का विकास (Development of Scientific Orientation)—समाजशास्त्र की घटनाओ का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार अध्ययन करने के लिए अध्ययनकर्त्ता का अभिमुखन या प्रशिक्षित करने के लिए अनेक प्रयास किए गए हैं। ऐसे प्रयास समाजशास्त्र के प्रवर्त्तको—कॉम्ट, स्पेन्सर, दुर्खीम और वेबर से लेकर इनके शिष्यों एवं अनुयायियो—पैरेटो, पारसन्स, मर्टन आदि के विचार उल्लेखनीय हैं, जो निम्नलिखित हैं—

वैज्ञानिक अभिमुखन के विकासकर्त्ता

ऑगस्ट कॉम्ट | हर्बर्ट स्पेन्सर | इमाइल दुर्खीम | मैक्स वेबर | विलफ्रेडो पेरेटो | टलाक्रट पारसन्स | राबर्ट के. मर्टन

1. ऑगस्ट कॉम्ट (Auguste Comte)—सर्वप्रथम समाजशास्त्र के जनक कॉम्ट ने समाजशास्त्रीय अध्ययन करने के लिए वैज्ञानिक अभिमुखन पर प्रकाश डाला। आपने कहा कि

समाज को एक पूर्ण इकाई मानकर अध्ययन करना चाहिए। आपने ज्ञान के विकास के निम्न तीन चरण बताए हैं—धार्मिक, तात्त्विक और वैज्ञानिक। प्रथम चरण में अध्ययनकर्त्ता का अभिमुखन करते समय उसे यह सिखाया जाता था कि समाज या किसी घटना का अध्ययन, वर्णन एवं व्याख्या धार्मिक मान्यताओं के आधार पर करनी चाहिए। ज्ञान के विकास के दूसरे चरण में अभिमुखन में यह शिक्षा दी जाती थी कि सत्य की खोज तर्क के आधार पर करनी चाहिए। इसे तात्त्विक अवस्था या तात्त्विक अभिमुखन की अवस्था कह सकते हैं। कॉम्ट ने ज्ञान के विकास का तीसरा और अन्तिम चरण प्रत्यक्षवादी बताया है। इस अवस्था में अध्ययनकर्त्ता का पूर्वाभिमुखन करते समय यह सिखाया जाता है कि ज्ञान का आधार विज्ञान है। कॉम्ट के अनुसार इस वैज्ञानिक अवस्था में व्यक्ति का अभिमुखन करते समय उसे यह शिक्षा दी जाती है कि वह सभी क्षेत्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित सत्य की खोज प्रत्यक्ष अवलोकन, परीक्षण, कारणता आदि अर्थात् वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार करे।

वैज्ञानिक अवस्था

↑

तात्त्विक अवस्था

↑

धार्मिक अवस्था

कॉम्ट के अनुसार अभिमुखन के विकास की अवस्थाएँ

2. हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer)—स्पेन्सर ने कॉम्ट के उत्तराधिकारी के रूप में वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अभिमुखन की विचारधारा को आगे बढ़ाया। आपने अभिमुखन को स्पष्ट करते हुए लिखा, संसार में वस्तुएँ ज्ञातव्य और अज्ञातव्य दो प्रकार की होती हैं। ज्ञातव्य वस्तुएँ आनुभाविक तथ्य होते हैं जिन्हें व्यक्ति देख सकता है एवं समझ सकता है। अज्ञातव्य वस्तुएँ मानवीय ज्ञान, अनुभव एवं समझ की सीमा से बाहर होती हैं, जिनकी व्याख्या एवं प्रभाव धर्म के आधार पर देखे जाते हैं। इस प्रकार से आपने धार्मिक अभिमुखन और वैज्ञानिक अभिमुखन के अन्तर को स्पष्ट किया।

स्पेन्सर ने समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक अभिमुखन में प्राणीशास्त्र के वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर जोर दिया। आपने समाज की व्याख्या एवं विश्लेषण सावयवी उद्‌विकास के आधार पर करने का सुझाव दिया। आपने स्पष्ट भी किया कि समाज और सावयव में अनेक समानताएँ हैं। इन दोनों के उद्‌विकास की प्रक्रिया के चरण भी सरल से जटिल तथा न्यून विभेदीकरण से अधिकतम विभेदीकरण की ओर देखे जा सकते हैं। आपने समाज एवं धर्म के उद्‌विकासीय सिद्धान्त प्रतिपादित करके समाजशास्त्रीय अध्ययनों को वैज्ञानिक अभिमुखन का विकास करने में उल्लेखनीय योगदान दिया। स्पेन्सर ने प्राकृतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों, विशेष रूप से जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों एवं विचारों को समाज एवं इसके पक्षों के अध्ययनों पर उपमा के रूप में लागू करके समाजशास्त्र के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का विकास किया। इस प्रकार से आपने समाजशास्त्रियों का वैज्ञानिक अभिमुखन किया।

3. इमाइल दुर्खीम (Emile Duerkheim)—दुर्खीम ने समाजशास्त्रीय अध्ययनों के वैज्ञानिक अभिमुखन की प्रक्रिया का अनेक प्रकार से विकास किया है। आपने लिखा है कि समाजशास्त्री को समाजशास्त्र के अध्ययन की वस्तुओं को 'सामाजिक तथ्य' (Sociol Fact) मानकर अध्ययन करना चाहिए। आप समाजशास्त्रियो का अभिमुखन करके उन्हे यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि समाजशास्त्र एक प्रत्यक्ष, यथार्थ और आनुभविक विज्ञान है। उन्होने लिखा है कि अगर समाजशास्त्री वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार सामाजिक घटनाओं का अध्ययन करना चाहता है तो उसे निम्नलिखित नियमो का ध्यान रखना होगा—

1 सामाजिक नियमो को वस्तु माना जाए,

2 समस्त पूर्व-धारणाओ को उखाड फेका जाए, और

3 सामाजिक तथ्यो को वैयक्तिक अभिव्यक्तियो से स्वतत्र रखकर अनुसन्धान किया जाए।

दुर्खीम के अनुसार समाजशास्त्री का वैज्ञानिक अभिमुखन करने के लिए इसे उपर्युक्त नियमो को सीखना होगा। आपने निम्न समाजशास्त्रीय अध्ययन वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार किया है—(1) 'दा सुसाइड' (The Suicide), (2) 'दा डिविजन ऑफ लेबर इन सोसायटी' (The Division of Labour in Society), और (3) 'दा एलीमेन्ट्री फार्म्स ऑफ दा रिलिजियस लाइफ' (The Elowentary Forms of the Religions Life)। इसके अतिरिक्त आपकी पुस्तक 'दा रूल्स ऑफ सोशियोलॉजिकल मेथड्स (The Rules of Sociological Method) समाजशास्त्रियों के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य सम्बन्धी अभिमुखन के लिए उत्तम पुस्तक है। दुर्खीम ने 'यान्त्रिक एकता', 'सावयवी एकता', 'सामूहिक प्रतिनिधान' आदि अवधारणाओं का निर्माण करके समाजशास्त्र के अध्ययनो के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य सम्बन्धी अभिमुखन करने के लिए आधार प्रदान किए है।

4 **मैक्स वेबर**—वेबर ने समाजशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञानों—अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के विकास करने में विशेष योगदान किया है। आपने सुझाव दिया कि समाजशास्त्री को केवल वैज्ञानिक विश्लेषण अर्थात् "क्या है?" (What is?) का अध्ययन करना चाहिए तथा मूल्यांकनात्मक निर्णयो अर्थात् 'क्या होना चाहिए?' (What should be?) से दूर रहना चाहिए। आपका कहना था कि एक घटना जिस रूप में है उसी रूप मे उसका यथार्थ अवलोकन एवं विश्लेषण करना चाहिए। वैज्ञानिक को घटना से सम्बन्धित अच्छा-बुरा, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित आदि का मूल्यांकन नहीं करना चाहिए। आपने समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अभिमुखन करने के सम्बन्ध में यह भी कहा कि सामाजिक घटनाओ के अध्ययन में प्राकृतिक विज्ञानों की विधियों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। मानवीय सम्बन्धों के अध्ययन को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के विकास करने के लिए आपने एक विशेष अध्ययन पद्धति 'वरस्तेहन' (Verstehen) का विकास किया। इस पद्धति के अनुसार सामाजिक क्रियाओं के व्याख्यात्मक विश्लेषण करने के लिए क्रिया में भाग लेने वालो की स्थिति में समाजशास्त्री अपने आपको रखकर क्रियाओं व उनके प्रभावों का अध्ययन करता

है। इस वरस्तेहन पद्धति का महत्त्व स्पष्ट करते हुए आपने लिखा कि प्राकृतिक घटनाओं और सामाजिक घटनाओ में अन्तर है। प्राकृतिक वस्तुओं का वस्तुपरक अध्ययन किया जा सकता है क्योकि उनके अध्ययन की वस्तु के पास बुद्धि नहीं है। मानव के पास बुद्धि है। तर्क शक्ति है। वह सामाजिक क्रियाओं को समझने के बाद प्रतिक्रिया करता है। इस प्रकार से सामाजिक क्रिया के अध्ययन के दो दृष्टिकोण होते हैं—(1) एक वह जो दिख रहा है, इसे वेबर ने वस्तुपरक बताया है और दूसरी वह जो क्रिया में भाग लेने वाले सहभागियों के अनुसार हो रहा है जिसे ज्ञात करने के लिए आपने 'वरस्तेहन' पद्धति का सुझाव दिया। आपके अनुसार सामाजिक घटना में जो कुछ दिख रहा है वह वैज्ञानिक नहीं है बल्कि जो कुछ सहभागी समझ रहे हैं, कर रहे हैं, निर्णय ले रहे हैं, वह वैज्ञानिक है, जिसे ज्ञात करने के लिए सहभागियों के व्यक्तिपरक या विषयपरक दृष्टिकोण से अध्ययन करके ही समझा, देखा, परखा एवं विश्लेषित किया जा सकता है। आप मूल्य-युक्त अध्ययन के समर्थक रहे हैं। वेबर के अनुसार समाजशास्त्र में यही वैज्ञानिक अभिविन्यास है। इसे आपने समाजशास्त्र की परिभाषा में भी स्पष्ट किया है। आपके अनुसार समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो कि सामाजिक क्रियाओं के व्याख्यात्मक बोध को प्रस्तुत करने का प्रयास करता है जिससे उसकी प्रक्रिया एवं प्रभावों की बुद्धिसंगत व्याख्या की जा सके।"

वेबर के समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक अभिविन्यास को आपके द्वारा प्रतिपादित निम्न अवधारणाओं, प्रारूपों एवं सिद्धान्तों में देखा जा सकता है—सामाजिक क्रिया, आदर्श प्रारूप, सत्ता, नौकरशाही, सामाजिक वर्ग और प्रस्थिति, धर्म का समाजशास्त्र, पूँजीवाद आदि। आपके द्वारा प्रदान किए गए ज्ञान के अध्ययन के द्वारा अध्ययनकर्त्ता का वैज्ञानिक अभिमुखन होता है।

5. **विलफ्रेडो परेटो**—आप समाजशास्त्र के दृष्टिकोण एवं अध्ययन पद्धति को वैज्ञानिक दिशा प्रदान करना चाहते थे। आपने कहा कि समाजशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानों के समान समाज के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग किया जाना चाहिए। इन्होने समाजशास्त्र में तार्किक-प्रयोगात्मक पद्धति का अनुसरण करने के लिए निम्न स्तरों का सुझाव दिया—(1) निरीक्षण, (2) तथ्ययुक्त या वैषयिक अनुभव, और (3) तर्कसंगत निष्कर्ष।

परेटो ने वैज्ञानिक अभिमुखन की प्रक्रिया के सम्बन्ध में लिखा है कि समाजशास्त्री सामाजिक घटनाओं का अध्ययन अनुभवों के आधार पर करे। सामाजिक घटनाओं को वास्तविक निरीक्षण एवं प्रयोग की कसौटी पर जाँच करे; इसके बाद विभिन्न घटनाओं के समान तत्त्वों की खोज करे; समानताओं के आधार पर समाजशास्त्रीय सामान्यीकरण करे अथवा नियमों एवं सिद्धान्तों को प्रतिपादित करे। इस प्रकार से परेटो ने समाजशास्त्रीय पद्धति एवं परिप्रेक्ष्य की नींव को वास्तविक, यथार्थ एवं वैज्ञानिक बनाने एवं वैज्ञानिक अभिमुखन के लिए प्रयास किया।

6. **टालकॉट पारसन्स**—आपने समाजशास्त्रीय अध्ययनों के परिप्रेक्ष्य को वैज्ञानिकता प्रदान करने एवं अभिमुखन करने के लिए निम्न मानदण्डों एवं विशेषताओं को आवश्यक बताया है—

पारसन्स : समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक अभिमुखन की विशेषताएँ

आनुभविकता | तार्किक स्पष्टता | तार्किक सुसंगतता | सिद्धान्तों की सामान्यता

(i) **आनुभविकता** (Empiricism)—समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में सिद्धान्त, प्रयोग-सिद्ध तथ्यों पर आधारित होने चाहिए। इनका संकलन मानव की पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा अनुभव-जन्य होना चाहिए।

(ii) **तार्किक स्पष्टता** (Logical Clarity)—विभिन्न सिद्धान्तो, उनमें वर्णित तथ्यो, वैज्ञानिक प्रस्थापनाओं आदि मे तार्किक स्पष्टता होनी चाहिए।

(iii) **तार्किक सुसंगतता** (Logical Consistency)—किसी भी सिद्धान्त की समस्त परिस्थितियों में पारस्परिक तार्किक सुसंगतता भी आवश्यक है।

(iv) **सिद्धान्तों की सामान्यता** (Generality of Principles)—सिद्धान्त ऐसे होने चाहिएँ जो सभी स्थानों एवं कालों मे सत्य एवं प्रमाणित सिद्ध हों। सिद्धान्तो में सार्वभौमिकता का गुण होना चाहिए।

7. **रॉबर्ट के. मर्टन**—मर्टन ने भी समाजशास्त्रीय अध्ययनों का वैज्ञानिक अभिमुखन करने के लिए निम्न पाँच आधारो को महत्त्वपूर्ण बताया है—

मर्टन : समाजशास्त्रीय अध्ययनों के वैज्ञानिक अभिविन्यास के आधार

(i) **सार्वभौमिकता** (Universality)—वैज्ञानिक सिद्धान्त, तथ्य एवं नियम सभी स्थानों एवं कालों मे समान रूप से सत्य, प्रमाणित एव विश्वसनीय होने चाहिएँ। जिस प्रकार से न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का नियम सभी स्थानों एवं कालों में लागू होता है।

(ii) **संगठित सन्देहवाद** (Organized Scepticism)—विज्ञान परम्पराओ के विश्वास पर आधारित नहीं होते हैं। ये संगठित संदेह की खोज और अन्वेषण पर आधारित होते हैं। मर्टन का कहना है कि वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य तथ्यो को प्रामाणिकता प्रदान करने से पूर्व उनकी सत्यता का परीक्षण एव प्रभाविकता की जाँच करता है।

(Communicability)—वैज्ञानिक अनुसन्धान के परिणामो को वैज्ञानिक समुदाय मे समान रूप से संचारित एवं प्रसारित किया जाता है। इनका वैज्ञानिक जगत में आलोचनात्मक मूल्यांकन किया जाता है। खोज, परिणाम, प्रतिक्रियाएँ, मूल्याकन आदि शोध-पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करके सम्प्रेषित किए जाते हैं।

(iv) **नैतिक तटस्थता** (Ethical Neutrality)—वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के लिए आवश्यक है कि घटनाओं का अध्ययन नैतिक रूप में तटस्थ, मूल्य-मुक्त तथा पक्षपात-रहित हो। अच्छा-बुरा, सही, सुन्दर, उचित आदि से समाजशास्त्रीय अध्ययनों का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।

(v) **रुचिहीनता** (Disinterestedness)—वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य सभी प्रकार के पक्षपातों, भावनाओं, पसन्द-नापसन्द आदि अभिरुचियों से स्वतंत्र होना चाहिए। यह मूल्य-मुक्त (Value-Free) होता है न कि मूल्यबद्ध (Value-loaded)

मर्टन ने समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयों के कार्यों को निम्न तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया है—(1) प्रकार्य, (2) अकार्य, और (3) दुष्कार्य। प्रकार्य जो सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने एवं समायोजन लाने में सहायक होते हैं। दुष्कार्य अव्यवस्था में वृद्धि करते हैं। अकार्य तटस्थ एवं निष्क्रिय कार्य होते हैं। मर्टन ने प्रकार्य और दुष्कार्य को निम्न दो उप-भागों में विभाजित किया है— 1 प्रत्यक्ष, और (2) अप्रत्यक्ष कार्य। आपके अनुसार प्रत्यक्ष कार्य वस्तुपरक परिणाम हैं जो व्यवस्था में अनुकूलन और समायोजन में योगदान देते हैं तथा व्यवस्था में भाग लेने वालों द्वारा मान्य एवं चाहे जाते हैं। अप्रत्यक्ष कार्य न तो चाहे जाते हैं और न ही मान्यता-प्राप्त होते हैं। क्रिया के अनचाहे परिणाम तीन प्रकार के हैं—

(1) वे जो निर्दिष्ट व्यवस्था के लिए प्रकार्यात्मक हैं और वे अप्रत्यक्ष हैं,
(2) वे जो निर्दिष्ट व्यवस्था के लिए दुष्कार्यात्मक हैं और वे अप्रत्यक्ष हैं, और
(3) वे जो निर्दिष्ट व्यवस्था से सम्बन्धित नहीं हैं और उनका कैसा भी प्रकार्यात्मक एवं दुष्कार्यात्मक प्रभाव नहीं पड़ता है।

इस प्रकार से मर्टन ने समाज के सभी पक्षों को अध्ययन की योजना प्रदान करके समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य और अभिमुखन को वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए कॉम्ट द्वारा प्रारम्भ किये गए कार्य को पूरा किया। कॉम्ट ने समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य को वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए ज्ञान का वैज्ञानिक अवस्था में विकसित हो जाना बताया तथा लिखा कि आज समाज के अध्ययन करने वाले विषय समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य का आधार स्वतः ही वैज्ञानिक है। इसलिए अध्ययनकर्त्ता का अभिमुखन भी वैज्ञानिक होना हिए। स्पेंसर ने समाजशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानों के सिद्धान्तों को समाज पर लागू करके समाजशास्त्र की वैज्ञानिकता के परिप्रेक्ष्य को आगे बढ़ाया है। दुर्खीम ने 'सामाजिक तथ्यों को वस्तु माना जाए' का विचार देकर प्राकृतिक विज्ञान के समकक्ष खड़ा करने का प्रयास किया। वेबर ने सामाजिक विज्ञानों, विशेष रूप से समाजशास्त्र के परिप्रेक्ष्य को वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए 'वरस्तहेन' (व्यक्ति-परक) अध्ययन पद्धति प्रदान की। समकालीन समाजशास्त्रियों में किंग्स्ले डेविस ने प्रारम्भ में तो वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य का समर्थन किया था परन्तु बाद मे आपने मानवतावादी परिप्रेक्ष्य को भी महत्त्व दिया।

समाजशास्त्रियों के उपरोक्त प्रयासों से स्पष्ट हो जाता है कि जैसा समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य होगा उसी के अनुसार अध्ययनकर्त्ता का अभिमुखन करना होगा। अगर हम

अध्ययनकर्त्ता से यह अपेक्षा करते हैं कि वह वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान मे रखकर समाजशास्त्रीय अध्ययन करें तो हमे उसका पूर्व प्रशिक्षण, पूर्वाभिमुकीकरण या अभिमुखन भी वैज्ञानिक करना होगा। जैसा कि उपरोक्त पृष्ठो मे वर्णित किया जा चुका है। कुछ समाजशास्त्रीयो के अनुसार समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य की प्रवृत्ति मानवतावादी होनी चाहिए। यह स्पष्ट है कि मानवतावादी दृष्टिकोण से अध्ययन करने के लिए अध्ययनकर्त्ता का मानवतावादी अभिमुखन करना होगा, जिसकी विवेचना अग्रलिखित है।

मानवतावादी अभिमुखन (Humantific Oreentation)—कुछ समाजशास्त्रियों के अनुसार समाजशास्त्रीय अध्ययनो का परिप्रेक्ष्य मानवतावादी है। इसलिए मानवतावादी दृष्टिकोण से अध्ययन करने वाले समाजशास्त्रियो का प्रशिक्षण या अभिमुखन मानवतावादी होना चाहिए। किम्स्ले डेविस ने लिखा है कि भौतिक विज्ञानो की घटनाएँ एवं तथ्य बुद्धिहीन होते हैं। उनमे विचार शक्ति नहीं होती है। उनके पास सस्कृति नहीं होती है। लेकिन समाजशास्त्र की विषय-सामग्री मानव-समाज है। मानव की सामाजिक क्रियाएँ हैं। जिनकी विशेषताएँ नैतिकता, भावुकता, कानून, आदर्शात्मक, सामाजिक समानता, मूल्य, आदर्श आदि विशेषताएँ होती हैं। मानव समाज तथ्यात्मक व्यवस्था ही नहीं है बल्कि एक आचार-व्यवस्था भी है। इन दोनो मे परस्पर कारणता और आत्मनिर्भरता भी होती है। मानव समाज का अध्ययन करते समय मानवीय अभिवृत्ति का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है। निष्कर्ष यही निकलता है कि अगर मानव समाज को समझना है तो अध्ययनकर्त्ता का मानवतावादी अभिमुखन होना आवश्यक है।

मानवतावादी अभिमुखन का अर्थ (Meaning of Humanistic Orientation)—मानवतावादी अभिमुखन या पूर्व प्रशिक्षण वह है जो अध्ययनकर्त्ता को समाज का मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के अनुसार अध्ययन करने के लिए तैयार और सक्षम करता है। इस अभिमुखन के द्वारा समाजशास्त्री मानव-हितों को ध्यान मे रखकर अध्ययन करने मे समर्थ होता है। उसे सिखाया जाता है कि वह अपने अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य मानव-हितो का अध्ययन करना ही रखे। मानव-जाति के कल्याण के लिए अध्ययन करना ही मानवतावादी अभिमुखन है।

मानवतावादी अभिमुखन के द्वारा समाजशास्त्री मे मानव-जाति के कल्याण के लिए एक दार्शनिक अभिनति और उत्तरदायित्व की भावना पैदा करना है। उसमे मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का विकास करना है। मानवतावादी अभिमुखन के द्वारा अध्ययनकर्त्ता को सिखाया जाता है कि वह अपना दृष्टिकोण और असमानता के कारणो की खोज करना अपना प्रमुख लक्ष्य रखे। उसे असह्य, असमर्थ, दीन-हीन मनुष्यो की परिस्थितियों का अध्ययन करना सिखाया जाता है। कल्याणकारी योग्यताएँ तैयार करना सिखाया जाता है।

वह अभिमुखन जो 'क्या होना चाहिए' और 'क्या नहीं होना चाहिए' के अध्ययन पर जोर देता है मानवतावादी अभिमुखन कहलाता है। वह अभिमुखन जो अध्ययनकर्त्ता मे मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का विकास करे, मानवतावादी दृष्टिकोण को नियंत्रित, निर्देशित और

संचालित को वह मानवतावादी अभिमुखन है। इस अभिमुखन की विशेषताओं का अध्ययन करके इसे और स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

मानवतावादी अभिमुखन की विशेषताएँ (Characteristics of Human Orientation)—इस अभिमुखन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(1) इस अभिमुखन का उद्देश्य मूल्यबद्ध अध्ययन करना होता है। (2) यह अभिमुखन 'क्या होना चाहिए?' और 'क्या नहीं होना चाहिए?' को प्राथमिकता देता है। (3) यह मानव से सम्बन्धित सभी सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक आदि समस्याओं के प्रति चिन्तित एवं वचनबद्ध होता है। (4) इस अभिमुखन का उद्देश्य ज्ञान को मात्र-प्राप्ति के लिए अर्जित करना नहीं होता है बल्कि मानव-कल्याण के उपयोग के लिए प्राप्त करना होता है। (5) यह अभिमुखन अध्ययनकर्ता को राजनीतिक रूप से मानवीय वामपंथी विचारधारा का समर्थक बनाता है, और (6) यह अध्ययनकर्ता को अवधारणाओ, भाषा, अध्ययन-पद्धति आदि की सरलता को प्रोत्साहित करना सिखाता है।

मानवतावादी अभिमुखन का विकास (Development of Humanistic Orientation)—मानवतावादी अभिमुखन का विकास वेबर की वरस्तहेन अध्ययन-पद्धति से देखा जा सकता है। इस पद्धति के द्वारा वेबर ने समाज को समझने के लिए लोगों के कार्यों तथा अभिप्रेरणाओ की आन्तरिक समझ के आधार पर व्याख्या करने पर जोर दिया था। इस विचार को अल्फ्रेड शूट्ज (Alfred Schutz) ने आगे बढ़ाया है। आपने वेबर को निगमनात्मक विधि को एडमण्ड हसरल (Edmund Husseral) के घटना क्रियावाद से जोड़ा और लिखा कि मानव प्रतिबिम्ब और व्याख्या की प्रक्रियाओं के द्वारा अपने अनुभवों को अर्थ प्रदान करता है। शूट्ज ने इस वास्तविकता पर जोर दिया कि समाजशास्त्र का प्रमुख कर्त्तव्य पहिले उन कार्यों को समझना है जो व्यक्तियों ने अपने अनुभवो के आधार पर किए हैं। इसके बाद अनुभवों और उनके अर्थों की व्याख्या करनी चाहिए।

लाइण्ड (Lyand) ने 'ज्ञान किस लिए?' (Knowledge for What?) मे मानवतावादी विचारधारा की विवेचना की है। लेकिन मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के समर्थकों ने इस शीर्षक 'ज्ञान किस लिए?' को संशोधन करके नया शीर्षक प्रदान किया 'ज्ञान किसके लिए?' ('Knowledge for Whom?') मानवतावादी विचारधारा ने इस पर भी बल दिया कि समाजशास्त्रियों को अपने ज्ञान का उपयोग गरीब एवं शोषित वर्ग के लाभ के लिए करना चाहिए। इसके प्रमुख समर्थक उग्र-समाजशास्त्री (रेडीकल सोशियोलॉजिस्ट्स) हैं।

समाजशास्त्र में मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का उदय वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य की आलोचना एवं विरोध के फलस्वरूप हुआ है। मानवतावादी अभिमुखन एवं अभिमुखन परिप्रेक्ष्य के समर्थक परम्परागत समाजशास्त्र के विरोधी हैं। विज्ञानवाद के विरोधियों ने ही मानवतावादी अभिमुखन और परिप्रेक्ष्य का विकास किया है। इसके विकास में 'ज्ञान के समाजशास्त्र' का भी योगदान रहा है। इसके समर्थकों की मान्यता है कि ज्ञान का आधार समाज है—जैसा समाज होगा वैसा ही ज्ञान होगा। विगत वर्षों में जैसा समाज का वातावरण रहा है उसी ने मानवतावादी अभिमुखन

का विकास किया है। विज्ञान के विघटनकारी प्रभावो के कारण नवीन वामपक्ष, हिप्पीवाद, काले लोगो का आन्दोलन, स्त्रियो को समानता का आन्दोलन आदि का जन्म हुआ। इन्हीं घटनाओ के कारण मानवतावादी समाजशास्त्री और विशेष रूप से उग्र समाजशास्त्र का जन्म हुआ है। आज अनेक समकालीन समाजशास्त्री इसके समर्थक हैं।

मानवतावादी अभिमुखन का विकास (Development of Humanistic Orientation)—समाजशास्त्रीय मानवतावादी अभिमुखन एवं विकासकर्त्ता के प्रमुख समर्थक अल्फ्रेड शट्ज, हेराल्ड गार्फिन्केल, सी राईट मिल्स, गाउल्डनर, टर्नर, सिसोरल, सैक्स आदि हैं : इनमें से कुछ के विचार इस प्रकार हैं—

मानवतावादी अभिमुखन के विकासकर्त्ता

अल्फ्रे ड शुट्ज	हेराल्ड गार्फिन्केल	एलविन गाउल्डनर	सी राइट मिल्स	टर्नर	सिसोरल	सैक्स	पीटर-बर्गर
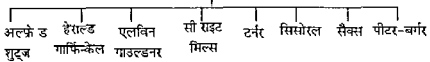
1 **अल्फ्रेड शुट्ज** (Alfred Schutz)—आस्ट्रिया के दार्शनिक एवं समाजशास्त्री शुट्ज ने घटना क्रियावादी (Phenomenological) उपागम को मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के द्वारा लागू किया। इन्होने अनेक केसो का अध्ययन किया तथा उसमे यह ज्ञात करने का प्रयास किया कि विशिष्ट सामाजिक स्थितियो का सहभागियों के लिए क्या अर्थ होता है। आपने इस बात पर जोर दिया कि समाजशास्त्री का अभिमुखन किया जाए कि वो प्रतिदिन के जीवन को सम्भव बनाने वाले नियमो और मान्यताओ का अध्ययन करे। आपके अनुसार मानवतावादी परिप्रेक्ष्य को सर्वदा सामाजिक जीवन के अर्थ पर प्रकाश डालना चाहिए। आपके विचारो का प्रभाव अमेरिका के समाजशास्त्र पर विशेष पड़ा। पीटर बर्गर इनसे विशेष प्रभावित हुए तथा आपने मानवतावादी उपागम की रूपरेखा अपनी कृति में दी है।

2 **हेराल्ड गार्फिन्केल**—शुट्ज के विचारों का प्रभाव गार्फिन्केल पर पड़ा और उनका मानवतावादी अभिमुखन हुआ। आपके प्रभाव एवं निर्देशन मे कार्यरत शोधकर्त्ताओं ने एक नवीन उपागम—नृजाति-पद्धति (Ethnomethodology) को विकसित किया। यहाँ से यह अमेरिका और यूरोप के अन्य भागों में फैला। ये लोग अनुसन्धान की गुणात्मक प्रणाली पर जोर देते हैं तथा गणनात्मक प्रणाली का विरोध करते हैं। ये लोग सहभागिक अवलोकन पद्धति को अधिक उपयुक्त मानते हैं। गार्फिन्केल के प्रभाव से विकसित नृजाति-पद्धति नए समाजशास्त्रियो के मध्य अधिक लोकप्रिय हुई जो वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य और अभिमुखन के विरोधी रहे हैं।

3. **एलविन गाउल्डनर**—गाउल्डनर ने 'दा कमिंग क्राइसेस ऑफ वेस्टर्न सोशियोलॉजी' में मानवतावादी परिप्रेक्ष्य प्रस्तुत किया है। इसमें आपने पहिले पारसन्स और अन्य अमेरिका के उन समाजशास्त्रियो का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है जो वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के समर्थक हैं। आपने संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य की आलोचना की है। इन्होने

मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत समाजशास्त्र को राजनैतिक प्रतिबद्धता से मुक्त एक विषय के रूप मे स्थापित करने का प्रयास किया है। आपने 'प्रतिवर्त्तात्मक समाजशास्त्र' (Reflexive Sociology) जो कि मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का एक प्रकार है—की भी स्थापना की है। गाउल्डनर एक वामपंथी विचारक माने जाते हैं, जिन्होने मानवतावादी परिप्रेक्ष्य और अभिमुखन का विकास किया है। आपके साहित्य ने अनेक समाजशास्त्रियों का मानवतावादी अभिमुखन किया है।

4 **सी. राईट मिल्स**—मिल्स ने मानवतावादी परिप्रेक्ष्य का समर्थन किया है। आपका बहुजन समाज (Mass Society) का विचार सामाजिक मनोविज्ञान की मान्यताओं पर आधारित है। आपके अनुसार व्यक्ति बहुजन समाज का एक भाग होने के कारण उसका सामाजिक परिवर्तन होगा और व्यक्ति की मनःस्थिति भी उसके अनुसार बदलेगी। मिल्स अन्धाधुन्ध आनुभविक तथ्यों के सकलन और अनुसन्धान के कट्टर विरोधी हैं। आपके अनुसार पिछले 50 वर्षों में बहुत अधिक आँकड़े एकत्र किए गए। लेकिन उनके निष्कर्ष परस्पर विरोधी हैं। मिल्स के अनुसार आँकड़े दिशा प्रदान करने में असमर्थ हैं। आप वृहद् सिद्धान्तों के विरोधी हैं। आपने वृहद् सिद्धान्तो—प्रकार्यात्मक सिद्धान्त एवं पारसन्स के क्रिया सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। मिल्स अतार्किक एवं असगत अवधारणाओ के घोर विरोधी हैं। आपने सर्वदा पद्धति-शास्त्रीय आडम्बर का विरोध किया। आपने बुद्धिजीवियों के उत्तरदायित्व की ओर ध्यान आकर्षित किया है। आपका सुझाव था कि बुद्धिजीवियों को सत्य का वर्णन इस आशा से करना चाहिए कि कैसे भी, कोई-न-कोई, कभी-न-कभी तो सत्य की ओर ध्यान देगा। इनके द्वारा किया गया लैटिन अमेरिका के देशों का सामाजिक वैज्ञानिक अध्ययन 'दा सोशियोलॉजिकल इमेजिनेशस' 1970 विश्व विख्यात है। यह अध्ययन प्रोजेक्ट केमलोट के नाम से विश्व विख्यात है। आप द्वितीय विश्व युद्ध के बाद के कुछ ही समाजशास्त्रियो में से एक हैं जिनको समाजशास्त्र के बाहर भी जनसामान्य लोग जानते हैं। आपका मानवतावादी परिप्रेक्ष्य के विकास और अभिमुखन करने में विशेष योगदान रहा है।

निष्कर्ष (Conclusion)—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र के दोनों परिप्रेक्ष्य—वैज्ञानिक और मानवतावादी—का उद्देश्य समाज को गहनता से समझना है। दोनो ही सामाजिक यथार्थता को जानना चाहते हैं। दोनों ही परिप्रेक्ष्य और अभिमुखन यथार्थ के अलग-अलग वैज्ञानिक और मानविकी मूल्यों को महत्त्व देते हैं।

गुडे एवं हॉट ने सरल भाषा में इस विवाद को समाप्त करने का प्रयास किया है। आपने अनेक उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि भौतिक विज्ञानों के मूल्य प्रभावशाली होते हैं। सामाजिक विज्ञानों में तो अधिकतर अध्ययन सामग्री मूल्य-प्रधान होती है, वहाँ मूल्यों का होना अवश्यम्भावी है। आप लिखते हैं कि वैज्ञानिक जब भी किसी विषय का अध्ययन करता है तो उसके सम्मुख कुछ प्रश्न आते हैं, जैसे—

(i) इस अध्ययन का वैज्ञानिक महत्त्व क्या है?

(ii) इस अध्ययन की व्यावहारिक उपयोगिता क्या है?

जब वैज्ञानिक दूसरे प्रश्न का उत्तर देता है तो मूल्य का प्रवेश हो जाता है अर्थात् मानवतावादी अभिमुखन ही इस प्रश्न का उपयुक्त उत्तर दे सकता है। गुडे एवं हॉट ने लिखा है कि अनेक क्षेत्र ऐसे हैं जिनमे विज्ञान और मूल्य परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। यह धारणा बिल्कुल त्रुटिपूर्ण है कि विज्ञान और मूल्यो के जगत बिल्कुल भिन्न हैं। विज्ञान ऐसी मान्यताओ पर आधारित है जो सिद्ध नहीं किए जा सकते हैं और वह आवश्यक रूप से मूल्यों पर आधारित निर्णय है।

विज्ञान स्वय ने वह आचार-सहिता विकसित की है जो इस मान्यता पर आधारित है कि 'ज्ञान अज्ञान से श्रेष्ठ है।' (Knowledge is superior to Ignorance) । आपने बार-बार स्पष्ट एव सिद्ध किया है कि विज्ञान और मानवतावादी परिप्रेक्ष्य और अभिमुखन परस्पर एक-दूसरे से गुम्फित हैं। आपने उदाहरण दिया कि समस्या का मूल्यांकन, समीक्षा और चयन तथा विज्ञान का एक व्यवसाय के रूप मे चयन की प्रेरणा--मूल्यो से सम्बन्धित है। ये विज्ञान के पक्षों से सम्बन्धित मूल्य हैं। इनमे पक्षपात आ सकता है जिसके प्रति जागरूक रहना चाहिए।

इसी प्रकार से विज्ञान उन समस्याओ का अध्ययन करता है जिसकी विषय-वस्तु मूल्यात्मक है। यहाँ तक कि मूल्यो का अध्ययन भी विज्ञान करता है। वैज्ञानिक भी मूल्यो म सहभागिक होता है हालाँकि समाजशास्त्र के एक विज्ञान के रूप मे विकास को वह प्रभावित नहीं करता है। मूल्य और विज्ञान का परस्पर सम्बन्ध विज्ञान को परिष्कृत तथा सुधार करने मे सहायता करता है तथा अन्य मूल्यों को और अधिक सूक्ष्मता से देखने मे सहायता करता है। अब समय आ गया है कि वैज्ञानिक और मानवतावादी परिप्रेक्ष्य और अभिमुखन के विवाद को हमेशा-हमेशा के लिए समाप्त कर देना चाहिए। ये दोनो एक-दूसरे के पूरक हैं। इन दोनो के परस्पर सम्बन्धो को समाजशास्त्रीय अध्ययनो, उपागमों, सिद्धान्तो एवं अध्ययनों मे भी स्पष्टतः देखा जा सकता है।

❒

अध्याय-5

मौलिक अवधारणाएँ : समाज

(Basic Concepts : Society)

समाजशास्त्र की भाषा

(The Language of Sociology)

वैज्ञानिक भाषा के माध्यम से अन्य वैज्ञानिकों के विचारों और ज्ञान को समझना चाहता है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब सभी वैज्ञानिक उपयोग की जाने वाली भाषा, विशेष रूप से शब्दावली का प्रयोग एक सुनिश्चित, स्पष्ट और सीमित अर्थ मे करे। इसके लिए आवश्यक है कि वे अवधारणाएँ जो सामान्य बोलचाल मे काम मे ली जाती हैं उनके अर्थ को सम्बन्धित विज्ञान के सन्दर्भ में समझें। समाजशास्त्र की पुस्तको को पढते समय ऐसे अनेक शब्दो को हम पाएँगे जो सामान्य बोलचाल के हैं, जैसे—'समाज', 'समूह', 'समुदाय', ' परिवार', 'विवाह' आदि। समाजशास्त्र विषय को समझने के लिए आवश्यक है कि हमे इस विषय से सम्बन्धित मूल अवधारणाओं का पूर्ण ज्ञान हो। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए समाजशास्त्र की कुछ प्रमुख मौलिक अवधारणाओं—समाज, सामाजिक सरचना, समुदाय, संस्कृति, प्रस्थिति, भूमिका और सामाजिक समूह आदि का क्रम से अग्रलिखित अध्यायो में अर्थ, परिभाषा, विशेषताएँ आदि की विवेचना प्रस्तुत है।

समाज

(Society)

समाज का सामान्य अर्थ (General Meaning of Society)—'समाज' शब्द का प्रयोग साधारण बोलचाल की भाषा में खूब किया जाता है। सामान्य बोलचाल तथा समाजशास्त्र मे इसका अर्थ भिन्न-भिन्न है। 'समाज' शब्द का प्रयोग साधारणतया व्यक्तियों के समूह के रूपो मे किया जाता है। ब्रह्म समाज, आर्य समाज, हिन्दू समाज, जैन समाज, महिला समाज आदि रूप मे भी इस शब्द का प्रयोग होता है। 'समाज' शब्द का प्रयोग विभिन्न सामाजिक विज्ञानो, सामाजिक मानवशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति विज्ञान आदि मे अलग-अलग अर्थो मे किया जाता है। सामाजिक मानवशास्त्र में जनजातियों को आदिम समाज से सम्बोधित किया गया है। राजनीति विज्ञान में समाज से तात्पर्य व्यक्तियों के समूह से है तो अर्थशास्त्र मे समाज का अर्थ व्यक्तियों का वह समूह है जिसमें परस्पर आर्थिक प्रक्रियाएँ होती हैं। एक शब्द के अनेक अर्थ होने के कारण सामाजिक विज्ञानों मे मूल अवधारणाओ का विशेष अध्ययन किया जाता है। क्योकि समाजशास्त्र समाज का ही विज्ञान है इसलिए इसके अर्थ का ज्ञान होना आवश्यक है।

समाजशास्त्र में समाज का अर्थ
(Meaning of Society in Sociology)

समाजशास्त्र मे 'समाज' एक मूल प्रारम्भिक और प्राथमिक अवधारणा है, जिसका प्रयोग निम्नलिखित दो रूपो में किया जाता है—

1. समाज (Society) (अमूर्त रूप मे)।

2 एक समाज (A Society) (मूर्त रूप मे)।

पहिले हम 'समाज' अवधारणा की विवेचना करेगे तथा बाद में 'एक समाज' अवधारणा का विवेचन करेगे। अन्त मे दोनों अवधारणाओ की तुलना करेगे।

समाज का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Society)— समाज की अवधारणा को परिभाषा अनेक समाजशास्त्रियो ने दी है। इनमे प्रमुख समाजशास्त्री मैकाइवर और पेज, पारसन्स, र्‍यूटर और कूले हैं।

1 कूले (Cooley) के अनुसार, "समाज स्वरूपो या प्रतिक्रियाओ की जटिलता है ...।"

2 र्‍यूटर (Reuter) ने लिखा है, "समाज एक 'अमूर्त' शब्द है जो समूह के सदस्यो में तथा उनके बीच पारस्परिक सम्बन्धो की जटिलता का बोध कराता है।"

3 पारसन्स (Parsons) का कहना है, "समाज को उन सम्पूर्ण मानव-सम्बन्धो की जटिलता के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है जो यथार्थ अथवा प्रतीकात्मक साधन-साध्य की क्रिया से उत्पन्न होते हैं।"

4 मैकाइवर और पेज (MacIver and Page) ने समाज की परिभाषा में उसे एक व्यवस्था बताया है और उन विशेषताओं का भी उल्लेख किया है जो इस व्यवस्था का निर्माण करती हैं। इन्होने निम्नलिखित परिभाषा दी है—

"समाज रीतियों तथा कार्य प्रणालियो की, सत्ता तथा पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहो तथा विभाजनो की, मानव व्यवहार के नियत्रणों तथा स्वतन्त्रताओ की एक व्यवस्था है।"

इनके अनुसार रीतियाँ, कार्य प्रणालियाँ आदि का पारस्परिक सहयोग, समूह, विभाजन, नियन्त्रण और स्वतन्त्रताएँ समाज की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इन्होने कहा है कि समाज कोई वस्तु नहीं है, यह जड नहीं है। समाज कभी स्थिर नहीं रहता। इन्होने परिभाषा में आगे लिखा है, "इस सदैव परिवर्तनशील जटिल व्यवस्था को हम समाज कहते हैं। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और यह हमेशा बदलता रहता है।"

उपर्युक्त समाजशास्त्रियो—कूले, र्‍यूटर, पारसन्स, मैकाइवर और पेज की समाज की परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि समाज एक अमूर्त यथार्थ अथवा प्रतीकात्मक साधन-साध्य क्रिया से उत्पन्न सम्पूर्ण मानव सम्बन्धों की जटिल व्यवस्था है जो रीतियो, कार्य प्रणालियों, अधिकार, पारस्परिक सहयोग, अनेक समूहो, विभाजनों, नियन्त्रणों तथा स्वतन्त्रताओ से निर्मित होती है।

समाज की विशेषताएँ (Characteristics of Society)—मैकाइवर और पेज की परिभाषा के अनुसार समाज की निम्नलिखित विशेषताएँ उभर कर सामने आती हैं—

मैकाइवर व पेज : समाज की विशेषताएँ हैं

रीतियाँ	कार्य-प्रणालियाँ	सत्ता	पारस्परिक सहायता	समूह और विभाजन	मानव व्यवहार का नियन्त्रण	स्वतन्त्रता

स्रोत : आर.एम. मैकाइवर और सी. एच. पेज—समाज, पृ. 6।

(1) **रीतियाँ** (Usages)—प्रत्येक समाज में मान्यता-प्राप्त रीतियाँ होती हैं। रीतियों के अनुसार प्रत्येक सदस्य अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए क्रिया करते हैं। इनके द्वारा ही समाज में व्यवस्था में निरन्तरता बनी रहती है। व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इन्हीं रीतियों के अनुसार सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता है। पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहिन, पिता-पुत्र, मित्र, पड़ोसी आदि रीतियों के अनुसार परस्पर अन्तःक्रिया करते हैं और सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। जैसे-जैसे समाज का रूप जटिल होता जाता है, रीतियाँ भी स्पष्ट और सुनिश्चित होती जाती हैं। रीतियों का उल्लंघन करने पर दण्ड भी दिया जाता है।

(2) **कार्य-प्रणालियाँ** (Procedures)—मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति समाज द्वारा निश्चित विधियों से करता है जिसे समाजशास्त्री संस्थागत साधन कहते हैं। **मैकाइवर** और पेज ने इन्हीं को कार्य-प्रणाली कहा है। समाज जटिल व्यवस्था है जिसमें मानव कार्य करने की प्रणालियो (कार्य-प्रणालियों) के अनुसार अन्य व्यक्तियों के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करके आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। मैकाइवर और पेज कहते हैं कि व्यक्ति समाज में रह कर अपनी आवश्यकताओं की सरलता से पूर्ण करता है जिसकी व्यवस्था निश्चित कार्य-प्रणालियों द्वारा की जाती है। ये कार्य-प्रणालियाँ विभिन्न प्रकार की हो सकती हैं। लेकिन कोई भी समाज कार्य-प्रणालियों के बिना अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकता। कार्य-प्रणालियाँ समाज को संगठित, व्यवस्थित, नियन्त्रित और सन्तुलित रखती हैं। अगर समाज के सदस्य अपने मनमाने ढंग से उद्देश्यों की पूर्ति करेंगे तो समाज असन्तुलन तथा अन्त में विघटन की स्थिति में पहुँच जाएगा।

(3) **सत्ता** (Authority)—*मैकाइवर और पेज* ने कार्य-प्रणालियों के बाद सत्ता को रखा है, उनका तात्पर्य यह है कि समाज के सदस्यों द्वारा अगर कार्य-प्रणालियों का उल्लंघन किया जाता है तो उन्हें रोकने तथा दण्ड देने के लिए सत्ता होना आवश्यक है। सभी प्रकार के सामाजिक सगठनों में सत्ता होती है जो व्यक्तियों की क्रियाओं को नियन्त्रित रखती है। परिवार में यह सत्ता परिवार के सबसे बड़े पुरुष के पास होती है, वार्ड में वार्ड पंच, ग्राम में ग्राम पंच, जाति में जाति पंच, पचायत में सरपंच, जिले में जिला अधिकारी तथा भारत के स्तर पर राष्ट्रपति के पास सर्वोच्च सत्ता होती है। सत्ता सभी समाजों में होती है। सामाजिक व्यवस्था के लिए सत्ता का होना आवश्यक है।

(4) **पारस्परिक सहायता** (Mutual Aid)—समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है। यह जाल तभी बनता है जब अनेक सदस्य परस्पर एक-दूसरे की मदद करते हैं। व्यक्ति परस्पर

आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए एक-दूसरे की सहायता करते हैं। अगर वे एक-दूसरे की सहायता नहीं करेगे तो अन्त:क्रिया नहीं होगी। सामाजिक सम्बन्ध और सामाजिक व्यवहार स्थापित नहीं होगे। समाज का निर्माण भी नहीं होगा। इसलिए समाज की मौलिक विशेषता पारस्परिक सहायता और सहयोग है, इसके बिना समाज का अस्तित्व खतरे मे पड जाता है।

(5) समूह और विभाजन (Group and Division)— सामाजिक संरचनाओ मे अनेक छोटे-बड़े समूह होते हैं जिनको अनेक आधार पर देख सकते हैं। सामाजिक संरचना का विभाजन खण्डो, श्रेणियो और वर्गों मे किया जाता है। प्रत्येक वर्ग मे अनेक समूह होते हैं। इनका सबसे छोटा आकार एकाकी परिवार (समूह) है। अनेक एकाकी परिवार मिलकर परम्परागत संयुक्त परिवार बन जाते हैं। ऐसे कई संयुक्त परिवार मिल कर बडा समूह, वश-समूह फिर गोत्र-समूह, उप-जाति तथा जाति के बडे समूह के आकार बन जाते हैं। इनमे परस्पर अन्त:क्रिया और प्रक्रियाएँ समाज का निर्माण करती हैं। इसलिए यह समूह और विभाजन की विशेषता समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

(6) मानव व्यवहार का नियन्त्रण (Control of Human Behaviour)—समाज को व्यवस्थित बने रहने के लिए सामाजिक नियन्त्रण एक सन्तुलन-शक्ति की भूमिका निभाता है। अगर व्यवहार पर नियन्त्रण नहीं रखा जाए तो प्रत्येक सदस्य मनमाने तरीके से व्यवहार करेगा। सारे समाज मे अनियमितता और अव्यवस्था फैल जाएगी जो समाज के अस्तित्व को ही मिटा देगी। समाज मे सभी सदस्य एक-दूसरे से व्यवहारो की अपेक्षा रखते हैं। सभी पूर्ण रूप से अपेक्षित व्यवहार नहीं कर पाते। वास्तविक व्यवहार और अपेक्षित व्यवहार का अन्तर कम होना चाहिए तब तो समाज बना रह सकता है। अगर यह अन्तर अधिक होगा तो सामाजिक सम्बन्ध विघटित हो जाएँगे। इस अन्तर को कम करने के लिए आवश्यक है कि व्यवस्था मानव के व्यवहारो पर नियन्त्रण रखे। जनरीति, प्रथा, परम्परा, जनमत, कानून, धर्म, शिक्षा, नैतिकता आदि मानव व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। इसके अभाव मे समाज का अस्तित्व अधिक समय तक बना नहीं रह सकता।

(7) स्वतन्त्रता (Liberty)—मैकाइवर और पेज के अनुसार समाज मे नियन्त्रण के साथ-साथ सदस्यो के व्यवहारो मे स्वतन्त्रता का प्रावधान भी होता है। व्यक्ति के व्यवहार को उस सीमा तक नियन्त्रित किया जाता है जिस सीमा तक वह अन्य व्यक्तियो को किसी प्रकार की हानि न पहुँचा सकता हो। व्यक्ति अपनी सीमा मे स्वतन्त्र है। वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए स्वतन्त्र है। सामाजिक व्यवस्था मे—स्वतन्त्रता तथा नियन्त्रण—दोनो एक सीमा तक ही होते हैं। अगर अधिक स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाएगी तो उससे भी समाज मे अव्यवस्था फैल जाएगी। इसी प्रकार आवश्यकता से अधिक नियन्त्रण भी अधिक समय तक सदस्यो पर नहीं रखा जा सकता है, वह भी समाज के सन्तुलन, सगठन और निरन्तरता के लिए हानिकारक होता है। समाज के लिए स्वतन्त्रता और नियन्त्रण दोनो ही एक सीमा तक महत्त्वपूर्ण हैं।

मैकाइवर और पेज ने समाज से सम्बन्धित निम्नलिखित विशेषताओ का भी उल्लेख किया है—(1) मनोवैज्ञानिक स्थिति, (2 जटिलता, (3) सभी जीवो मे समाज, (4) समानता-भिन्नता, तथा मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।

(1) सामाजिक सम्बन्धों की मनोवैज्ञानिक स्थिति (The psychological condition of social relationship)— *मैकाइवर और पेज* ने सामाजिक सम्बन्ध और भौतिक सम्बन्ध को उदाहरण देकर समझाया है। मेज पर टंकण यंत्र रखा है। इन दोनों को एक-दूसरे के अस्तित्व का ज्ञान नहीं है। दो या अधिक मनुष्य जब एक-दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं तो उन्हें परस्पर एक-दूसरे के अस्तित्व का ज्ञान होता है। एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं, उससे सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं जिससे समाज का अस्तित्व सम्भव हो पाता है। इसको *मैकाइवर और पेज* ने सामाजिक सम्बन्धों का मनोवैज्ञानिक लक्षण बताया है, जो समाज का निर्माण करते हैं।

(2) सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार (The range of social relationship)— समाज जितना छोटा, सरल और सीमित होगा उसके सदस्यों के परस्पर सम्बन्ध के प्रकार भी सीमित तथा कम होंगे। जैसे-जैसे समाज जटिल होता जाएगा वैसे-वैसे सामाजिक सम्बन्धों के प्रकार भी बढते जाएँगे। ग्रामीण समाज में सम्बन्ध कम जटिल तथा सीमित होते हैं। महानगरीय समाज में व्यक्ति के सामाजिक सम्बन्ध अनेक लोगों से होते हैं। सम्बन्धों के प्रकार असंख्य हो जाते हैं। सरल और छोटे समाज की तुलना में बड़े और जटिल समाज में सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार व्यापक होता है।

(3) समाज मनुष्य तक ही सीमित नहीं है (Society not confined to man)— *मैकाइवर और पेज* का कथन है कि समाज तो अन्य जीवों मे भी पाये जाते हैं। अन्य जीव— चींटी, मधुमक्खी, कीड़े-मकोड़े, घोड़े, कुत्ते आदि में उल्लेखनीय सामाजिक संगठन मिलते हैं। परन्तु इनके पास संस्कृति नहीं है। *डेविस* का कहना है कि मानवसमाज के पास संस्कृति है। अन्य जीवों के समाजों के पास संस्कृति नहीं है। अन्य जीव जन्म से सामाजिक प्राणी हैं, मानव जन्म के बाद सामाजिकता को सीखता है। समाजशास्त्र केवल मानव-समाज का अध्ययन करता है।

(4) समाज में समानता और भेद दोनों ही सन्निहित हैं (Society involves both likeness and difference)—जब मानव आवश्यकता की पूर्ति के लिए दूसरों के साथ अन्तःक्रिया करता है तो उसका आधार परस्पर—समानता और भिन्नता—दोनों होती है। अनेक बातो में उनमें समानता होती है, जैसे—उनके लक्ष्य समान हैं। भिन्नता भी उनमें पाई जाती है, जैसे—साधनों मे भिन्नता का होना। शिक्षक और छात्र परस्पर क्रिया करते हैं। उनमे—समानता और भिन्नता—दोनो होती है। समानता इस आधार पर है कि एक ज्ञान देता है दूसरा ज्ञान लेता है। आयु और पद के आधार पर भिन्नता मिलती है। परिवार में पति-पत्नी को देखें तो उनमें भिन्नता लिंग-भेद के आधार पर है। दोनों परिवार को बनाए रखना चाहते हैं, यह समानता है। दोनों का लक्ष्य बच्चों का पालन-पोषण करना है। उनकी भूमिका, पद, कर्त्तव्य, अधिकार के आधार पर अनेक भिन्नताएँ हैं। अगर समानता हो और भिन्नता न हो तो वह चींटियों जैसा समाज बन जाएगा। मानव-समाज में दोनों लक्षण—समानता और भिन्नता—होते हैं।

(5) मनुष्य एक सामाजिक प्राणी के रूप में (Man as a social animal)— **मैकाइवर और पेज** ने लिखा है कि मनुष्य अपनी सुरक्षा, सुविधा, पालन-पोषण, शिक्षा, साज-सज्जा, आवास और समाज द्वारा प्रदत्त अन्य अनेक निश्चित सेवाओ के लिए समाज पर निर्भर

करता है। अरस्तू ने इन बातो को 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है' कह कर व्यक्त किया है। अनेक विद्वानो ने लिखा है कि अकेले रहने मे मनुष्य की भलाई नहीं है। दण्डो मे एकान्त कारावास सबसे कठोर दण्ड है, क्योकि यह सबसे अधिक असहनीय होता है। कोई भी व्यक्ति समाज की आवश्यकता से स्वतन्त्र नहीं है। व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक समाज की आवश्यकता है।

समाज की कुछ अन्य विशेषताएँ
(Some Other Characteristics of Society)

मैकाइवर और पेज ने समाज की अनेक विशेषताओ का वर्णन किया है जिन्हें उपर्युक्त पृष्ठो मे देख चुके हैं। अब हम समाज की कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताओ की विवेचना करेंगे जो अग्रलिखित हैं—
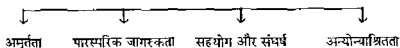
(1) अमूर्तता (Abstractness)—राइट ने लिखा है, "समाज व्यक्तियो का समूह नहीं है। यह समूह के सदस्यो के बीच स्थापित सम्बन्धो की एक व्यवस्था है।" इस व्यवस्था का अनुभव कर सकते हैं। सामाजिक सम्बन्धो का कोई आकार नहीं होता है। इसीलिए सभी ने कहा है कि समाज अमूर्त है। मैकाइवर और पेज ने कहा है कि समाज सामाजिक सम्बन्धो का परिवर्तनशील रूप है। व्यक्तियो की पारस्परिक अनुभूति का परिणाम है। उसे उन्होने सामाजिक सम्बन्धो की मनोवैज्ञानिक स्थिति कहा है। मानवीय व्यवस्था, सामाजिक सम्बन्ध, अन्तःक्रिया और प्रक्रियाएँ आदि अर्मूत हैं जो समाज का निर्माण करती हैं। र्‌यूटर का कथन है कि समाज एक वस्तु नहीं है बल्कि सम्बन्ध स्थापित करने की एक प्रक्रिया है। इन उपर्युक्त कथनो, विशेषताओ तथा लक्षणों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि समाज अमूर्त है।

(2) पारस्परिक जागरूकता (Mutual Awareness)—दो या अधिक व्यक्तियो मे अन्तःक्रिया के लिए आवश्यक है कि उनको एक-दूसरे की प्रस्थिति का पूरा ज्ञान होना चाहिए। दूसरे लोग भी उनकी प्रस्थिति से अवगत होने चाहिएँ। लोग एक-दूसरे की स्थिति तथा भूमिका से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से परिचित होने चाहिएँ। अगर उनमें एक-दूसरे के प्रति जागरूकता नहीं होगी तो अन्तःक्रिया भी नहीं हो सकती। यही अन्तःक्रिया समाज का निर्माण करती है। ब्लूमर ने कहा है कि सामाजिक अन्तःक्रिया मे हिस्सा लेने वाले व्यक्ति दूसरे व्यक्तियो की निरन्तर क्रियाओ की दिशा को समझकर स्वय की अन्तःक्रिया की दिशा निर्धारित करते हैं। मैकाइवर और पेज ने मेज और टाईपराइटर का उदाहरण दिया था कि उनमें परस्पर एक-दूसरे की उपस्थिति के प्रति जागरूकता नहीं है। लेकिन दो या अधिक व्यक्ति जब एक-दूसरे की उपस्थिति, प्रस्थिति तथा भूमिका के प्रति जागरूक होते हैं तब उनमे अन्तःक्रिया होती है। यही अन्तःक्रियाएँ आगे चल कर समाज का निर्माण करती हैं। परिवार में पिता-पुत्र, भाई-बहिन आदि इसके उदाहरण हैं। पिता

जानता है कि वह उसका पुत्र है। पुत्र भी जानता है कि वह उसका पिता है। दूसरे लोग भी जानते हैं कि वे पिता-पुत्र हैं। यही जागरूकता व सामाजिक सम्बन्धो की जटिल व्यवस्था समाज का निर्माण करती है।

(3) सहयोग और संघर्ष (Co-operation and Conflict)—*मैकाइवर* और *पेज* का कथन है, "समाज सहयोग है जो संघर्ष में से गुजरता है।" इस कथन से यह बात सामने आती है कि लोग परस्पर एक-दूसरे से सहयोग करते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। एक-दूसरे के प्रति 'हम' की भावना रखते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि लोग परस्पर एक-दूसरे से संघर्ष नहीं करते। जो लोग खुशहाल हैं, जिनके पास सुख-सुविधाएँ हैं उनसे वे लोग संघर्ष करते हैं जिनके पास इन सब का अभाव है। मार्क्स का सिद्धान्त है कि समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। *चार्ल्स कूले* और *मैकाइवर* तथा *पेज* का कहना है कि समाज में—सहयोग और संघर्ष—दोनों होते हैं, इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। सामाजिक प्रक्रिया के दोनों प्रकार सहयोग और संघर्ष की अब हम अलग-अलग व्याख्या करेंगे।

समाज का संगठन, संतुलन, एकता, प्रगति, परिवर्तन आदि इस तथ्य पर निर्भर करते हैं कि सहयोग और संघर्ष की मात्रा समाज में कितनी है? सहयोग अधिक होगा तो समाज में खुशहाली अधिक होगी। संघर्ष अधिक होगा तो समाज का संतुलन बिगड़ जाएगा। जो बाद में समाज को संतुलन की ओर ले जा सकता है। सहयोग और संतुलन—दोनों ही समाज की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

(4) अन्योन्याश्रितता (Inter-dependence)—अन्योन्याश्रितता का शाब्दिक अर्थ—एक-दूसरे पर (परस्पर) निर्भर रहना—है। समाज की सम्पूर्ण विशेषताओं में अन्योन्याश्रितता का अपना विशेष महत्त्व है। समाज की उत्पत्ति और विकास, संतुलन और संगठन तथा निरन्तरता और परिवर्तन आदि समाज के सदस्यों की अन्योन्याश्रितता पर निर्भर करते हैं। समाज के संगठन की प्रकृति तथा अन्योन्याश्रितता का परस्पर सीधा सम्बन्ध है।

व्यक्ति-व्यक्ति पर, व्यक्ति समूह पर, समूह समाज पर तथा समाज समूह पर विभिन्न क्षेत्रों में परस्पर निर्भर रहते हैं। उदाहरण के लिए श्रम का विभाजन जितना न्यून होगा, समाज की जनसंख्या जितनी न्यून होगी, पारस्परिक सम्बन्ध जितने कम होंगे, भौगोलिक क्षेत्र जितना छोटा होगा उस समाज के सदस्यों में पारस्परिक निर्भरता उतनी ही कम होगी। अर्थात् समाज का आकार जितना छोटा होगा उस समाज के सदस्यों में अन्योन्याश्रितता उतनी ही कम होगी। दूसरी ओर समाज की जनसंख्या जितनी अधिक होगी, पारस्परिक सम्बन्ध जितने ज्यादा होंगे, श्रम का विभाजन तथा विशेषीकरण जितना अधिक होगा, उस समाज के सदस्यों मे अन्योन्याश्रितता उतनी ही अधिक होगी।

'एक समाज'
(A Society)

'समाज' शब्द का प्रयोग समाजशास्त्र में दो रूपों में किया जाता है—(1) समाज तथा (2) एक समाज। 'समाज' शब्द के रूप में इसके प्रयोग का अध्ययन हम कर चुके हैं। 'एक समाज' से समाजशास्त्र में जो अर्थ लगाया जाता है उसका विवेचन प्रस्तुत है।

जब 'समाज' शब्द का प्रयोग व्यक्तियो के किसी समूह, सगठन, समिति आदि के रूप मे किया जाता है तब उसका अर्थ समाजशास्त्र में किसी विशेष 'एक समाज' से होता है; जैसे—आदिम समाज, ब्रह्म समाज, जैन समाज आदि। कुछ समाजशास्त्रियो, जैसे—रयूटर, जिन्सवर्ग, मेन्चर, फ्रीमेन आदि ने इसी रूप में समाज की परिभाषा दी है। इन समाजशास्त्रियो की परिभाषाओं का अध्ययन करके 'एक समाज' अवधारणा को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया जायेगा।

1. मेन्जर के अनुसार 'एक समाज' की परिभाषा, " 'एक समाज' व्यक्तियों का एक ऐसा समूह समझा जाता है जिसमे सामान्य क्रियाओ के कुछ प्रकारो मे सचेतन भागिता होती है।"

2. रयूटर के अनुसार, "'एक समाज', समाज से भिन्न एक ऐसा संगठन है जिसमे लोग अपना जीवन व्यतीत करते हैं।"

3. जिन्सबर्ग के अनुसार, "'एक समाज' व्यक्तियो का वह संग्रह है जो किन्हीं सम्बन्धो अथवा व्यवहारो के तरीकों से सम्बन्धित है जो उनको दूसरों से पृथक् करते हैं, जो उनके सम्बन्धों में नहीं आते हैं या जो उनसे व्यवहार में भिन्न हैं।"

जिन्सबर्ग ने 'एक समाज' को 'समाज' से अलग बताया है। इनका कहना है कि 'एक समाज' मूर्त है जो व्यक्तियों के संग्रह या समूह को सम्बोधित करता है और इनके व्यवहार अन्यों से अलग हैं।

4. फ्रीमेन के अनुसार, "विस्तृत अर्थो मे 'एक समाज' वह संगठन है जिसके कार्यात्मक और सास्कृतिक क्षेत्रों में स्वतन्त्र अधिकार है और जो कुछ दूसरे संगठनो पर भी प्रभुत्व रखता है।"

5. ग्रीन के अनुसार, "'एक समाज' वह सबसे बड़ा समूह है जिसका कोई भी व्यक्ति सदस्य हो सकता है।" ग्रीन ने 'एक समाज' को बड़ा समूह बताया है तथा यह भी कहा है कि यह समय, स्थान, रुचि तथा जनसख्या के संगठन से बनता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर 'एक समाज' की निम्नलिखित विशेषताएँ उभर कर सामने आती हैं—(1) 'एक समाज' व्यक्तियों का बड़ा समूह है। (2) 'एक समाज' मूर्त है क्योंकि यह व्यक्तियों के सगठन से बनता है। (3) 'एक समाज' का क्षेत्र सीमित होता है। (4) 'एक समाज' के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों, व्यवहारो तथा क्रियाओ मे समानता होती है। (5) 'एक समाज' के सदस्यो के उत्तरदायित्व सीमित होते हैं।

'समाज' और 'एक समाज' में अन्तर

(Difference between 'Society' and 'A Society')

(1) *सामाजिक सम्बन्ध (Social Relation)—सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर* 'समाज' और 'एक समाज' मे मौलिक अन्तर है। समाज सामाजिक सम्बन्धो का जाल है। यह जटिल व्यवस्था है। 'एक समाज' इसकी तुलना में व्यक्तियों का समूह है।

(2) **मूर्तता** (Abstraction)—सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं। 'समाज' सामाजिक सम्बन्धों के जाल को कहते हैं। इसलिए समाज अमूर्त है। उसे देखा नहीं जा सकता। 'एक समाज' व्यक्तियों का समूह है। यह एक संगठन है। इसे देखा जा सकता है। व्यक्ति इसके सदस्य होते हैं। इसलिए 'एक समाज' की प्रकृति मूर्त है।

(3) **जटिलता** (Complexity)—मैकाइवर और पेज ने परिभाषा में 'समाज' की विशेषता जटिल बताई है। इनका कहना है कि समाज जटिल सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था है जो हमेशा बदलती रहती है। समाज की तुलना में 'एक समाज' सरल व्यवस्था है। समाज की तुलना में 'एक समाज' का संगठन सरल है।

(4) **भौगोलिक क्षेत्र** (Geographical Area)—समाज विस्तृत क्षेत्र में फैला होता है। इसका कोई निश्चित भौगोलिक क्षेत्र नहीं होता है। 'एक समाज' के व्यक्ति सदस्य होते हैं जो साधारणतया एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र के होते हैं। कभी-कभी 'एक समाज' की शर्त होती है जिसके अनुसार अन्य क्षेत्र के व्यक्ति उसके सदस्य नहीं बन सकते हैं।

(5) **उत्तरदायित्व** (Responsibility)—समाज का क्षेत्र विस्तृत होने के कारण व्यक्तियों के उत्तरदायित्व भी असीमित होते हैं। 'एक समाज' के व्यक्ति सदस्य होते हैं। इसलिए उनका 'एक समाज' के प्रति निश्चित और सीमित लेकिन स्पष्ट उत्तरदायित्व होते हैं।

(6) **समरूपता** (Homogeneity)—समाज विभिन्न व्यक्तियों के व्यवहारों से बनता है। इसलिए समाज में व्यवहारों तथा मनोवृत्तियो में बहुत अधिक भिन्नता होती है। इसकी तुलना में 'एक समाज' का क्षेत्र, सदस्यता, उत्तरदायित्व आदि सीमित होने के कारण इनके व्यवहारों तथा मनोवृत्तियों में भी काफी समानता पाई जाती है। समाज की तुलना में 'एक समाज' में सफलता अधिक होती है।

समाजशास्त्र में 'एक समाज' की अवधारणा का विशेष अध्ययन नहीं किया जाता है। समाजशास्त्र समाज का अध्ययन, अवलोकन, विश्लेषण तथा सामान्यीकरण करता है। किसी विशेष समाज या 'एक समाज' का उस प्रकार से अध्ययन नहीं करता है। समाज को समझने के लिए इस अन्तर का ध्यान रखना आवश्यक है कि 'एक समाज' से यह किस प्रकार भिन्न है। समाजशास्त्र समाज अर्थात् सामाजिक सम्बन्धों के जाल या जटिल व्यवस्था का वैज्ञानिक अध्ययन करता है।

❑

अध्याय-6

समुदाय
(Community)

मानव अपनी अनेक आवश्यकताओ की पूर्ति करने के लिए समूह के रूप मे निश्चित भू-भाग पर स्थाई रूप से रहता है। इन प्रादेशिक समूहो के अनेक छोटे-बड़े आकार-प्रकार होते हैं जिनको सरल भाषा में समुदाय कहते हैं। समाज को समझने के लिए इन समुदायो का अध्ययन अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। इसी महत्त्व को स्पष्ट करते हुए मेकाइवर और पेज ने समाजशास्त्र मे समुदाय को महत्त्वपूर्ण मूल अवधारणा बताया है। अग्रलिखित पृष्ठो में समुदाय की परिभाषा और अर्थ, समुदाय के तत्त्व, छोटे-बड़े समुदाय, इनसे सम्बन्धित अवधारणाएँ--समिति, सस्था आदि की विवेचना प्रस्तुत है।

समुदाय की परिभाषा और अर्थ
(Meaning and Definition of Community)

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अनेक विद्वानो ने समुदाय की परिभाषा दी है। इनमे उल्लेखनीय समाजशास्त्री डेविस, बोगार्डस, ऑगबर्न, निमकॉफ, ऑसबर्न, न्यूमियर, यंग, सदरलैंड, वुडवर्ड, मेक्सवेल, राइट, बर्न, एल्मर, मेजर, गिन्सबर्ग, डासन, गेटिस और ग्रीन आदि हैं। इनकी परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

1. ग्रीन (Green)—ग्रीन ने अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी' में कहा है, "एक समुदाय लोगों का समूह है जो सकीर्ण प्रादेशिक परिधि मे रहते हैं, जो सामान्य जीवन के तरीके में हिस्सा लेते हैं।" इन्होने सक्षिप्त में समुदाय को इस प्रकार बताया है, "एक समुदाय एक स्थानीय प्रादेशिक समूह है।" ग्रीन ने समुदाय की प्रमुख तीन विशेषताएँ बताई हैं—पहली, यह लोगों का समूह होता है, दूसरी, इसकी संकीर्ण भौगोलिक परिधि होती है, तथा तीसरी, इसका सामान्य जीवन का तरीका होता है।

2. डासन और गेटिस (Dawson and Gettys)—इन्होने समुदाय की परिभाषा में ग्रीन से मिलती-जुलती विशेषताएँ बताई हैं। डासन और गेटिस ने 'ह्यूमन सोसायटी' में लिखा है, "समुदाय से तात्पर्य एक भू-भाग की इकाई से है जिसमे एक जनसख्या वितरित होती है,

जिसके पास मौलिक संस्थाएँ (जो साधारण या अधिक विशिष्ट रूप में) होती हैं जिनके द्वारा एक सामान्य जीवन सम्भव किया जाता है।"

3. ऑगबर्न तथा निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff)—"समुदाय, एक सीमित क्षेत्र में सामाजिक जीवन के पूर्ण संगठन को कहते हैं।"

4. मैकाइवर और पेज (MacIver and Page)—"जब कभी कोई समूह छोटा या बड़ा, इस प्रकार साथ-साथ रहते हैं कि वो इस या उस हित में हिस्सेदार न होकर सामान्य जीवन की मूल परिस्थितियों में भाग लेते हैं, उस समूह को समुदाय कहते हैं।"

5. गिन्सबर्ग (Ginsberg)—गिन्सबर्ग ने अपनी कृति 'सोशियोलॉजी' में समुदाय को निम्नलिखित शब्दों में परिभाषित किया है, "समुदाय को उस सम्पूर्ण जनसंख्या के रूप में वर्णित किया जा सकता है जो एक निश्चित भू-भाग में रहती है (अथवा, घुमन्तुओं के मामले में, आदतन साथ-साथ भ्रमण करते हैं) जो जीवन की अन्तःक्रिया के सामान्य नियमों की व्यवस्था से बँधे होते हैं।

6. डेविस (Davis)—किंग्सले डेविस ने 'ह्यूमन सोसायटी' में कहा है, "समुदाय सबसे लघु क्षेत्रीय समूह है जिसमें सामाजिक जीवन के सभी पहलू आ सकते हैं।"

7. मेन्जर (Manzer)—"वह समाज, जो एक निश्चित भू-भाग में रहता है, वह समुदाय कहलाता है।"

8. बोगार्डस (Bogardus)—इन्होने अपनी कृति में कहा, "समुदाय कुछ अंशों में 'हम की भावना' वाला सामाजिक समूह है और एक निश्चित क्षेत्र में रहता है।"

9. ऑसबर्न और न्यूमियर (Ogburn and Neumeyer)—"मनुष्यों का एक समूह है, जो एक निकटवर्ती भौगोलिक क्षेत्र में निवास करता है, जिसमें रुचियों और क्रियाओ के समान केन्द्र होते हैं और जीवन की प्रमुख बातों में मिलकर कार्य करते हैं।"

उपर्युक्त समाजशास्त्रियों की परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि समुदाय मनुष्यों का लघु समूह है जो निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में निवास करता है। जिनमें 'हम की भावना' होती है। जिनकी समान रुचियाँ और क्रियाएँ होती हैं, और वे सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं से सम्बन्धित होते हैं।

समुदाय के तत्त्व

(Elements of Community)

मानव समाज में समुदाय सार्वभौमिक रूप में महत्त्वपूर्ण है। इसके अनेक प्रकार हैं। सामाजिक संगठन के अनेक प्रकार होते हैं। समुदाय उनमें से एक है। सामाजिक जीवन के लगभग सभी तत्त्व समुदाय से सम्बन्धित हैं। समुदाय के बिना उनका विवेचन नहीं किया जा सकता है। निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण समुदाय के तत्त्व हैं जो समुदाय का अर्थ और स्पष्ट कर देते हैं।

(1) निश्चित भू-भाग (Definite Territory)—लगभग सभी समाजशास्त्रियों ने समुदाय की परिभाषाओ में निश्चित भू-भाग का वर्णन किया है। डेविस ने लिखा है कि प्रादेशिक समूह 'समुदाय' की सदस्यता एक निश्चित स्थान पर रहने के कारण होती है। इन्होंने समुदाय की विशेषता 'प्रादेशिक निकटता' पर विशेष बल दिया है। घुमन्तु समुदायों को छोड़ कर सभी समुदायो का निश्चित भौगोलिक क्षेत्र होता है। घुमन्तु समुदाय भी निश्चित प्रादेशिक क्षेत्र मे ही भ्रमण करते हैं। एक स्थान पर रहने के कारण समुदाय बन पाता है। समुदाय की भौतिक विशेषता इसे मूर्त रूप प्रदान करती है। समुदाय अमूर्त नहीं है। इसे देखा जा सकता है। व्यक्ति इसके सदस्य होते हैं।
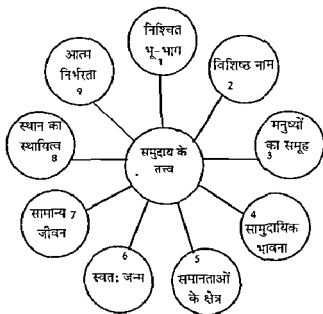
संचार और यातायात के साधन जितने कम होंगे, वहाँ व्यक्तियो की सख्या उतनी ही कम होगी। उनमे प्राथमिक सम्बन्ध उतने ही अधिक घनिष्ठ होगे। समुदाय का आकार छोटा होगा। सचार के साधन तथा यातायात के साधन जितने अच्छे और द्रुतगामी होगे, समुदाय का आकार अर्थात् भौगोलिक क्षेत्र उतना ही विस्तृत होगा। सामाजिक सरचना उतनी ही द्वितीयक होगी। मनुष्यों का अपने समुदाय तथा जन्म स्थान से विशेष लगाव होता है। इसी भावना के कारण समुदाय का अस्तित्व बनता है तथा उसमे निरन्तरता होती है।

(2) विशिष्ट नाम (Particular Name)—संसार में जितने भी समुदाय हैं उनका एक नाम होता है। लम्ले ने कहा है कि जिस प्रकार से व्यक्तित्व का नाम होता है तथा नाम से व्यक्ति को पहिचाना जाता है उसी प्रकार से समुदाय भी एक प्रकार से व्यक्तित्व के जैसा

है तथा उसका विशिष्ट नाम भी होता है। भाषा के माध्यम से मानव ने संसार की प्रत्येक वस्तु, घटना, पदार्थ, मूर्त, अमूर्त आदि का नाम रख रखा है। समुदाय भी उसमे से एक है। समुदाय के सदस्य स्वयं के समुदाय को नाम से पहिचानते हैं। विशिष्ट नाम के द्वारा अन्य समुदाय के सदस्य भी उन्हें पहिचानते हैं कि कौन किस समुदाय का सदस्य है? समुदाय कहाँ स्थित है? कौन-कौन उसके सदस्य हैं? उसकी क्या-क्या विशेषताएँ हैं? वह समुदाय अच्छा है या बुरा? आदि लक्षण और गुण समुदाय के नाम के साथ जुड़े होते हैं। समुदाय के नाम का महत्त्व वैसा ही होता है जैसा किसी व्यक्ति, समाज, ग्राम, देश, राज्य, राष्ट्र आदि के नामो का होता है।

(3) मनुष्यों का समूह (Human Group)—समुदाय व्यक्तियो का एक समूह होता है। हम ऐसे समुदाय की कल्पना नहीं कर सकते जिसमें कोई मनुष्य ही न हो। सभी समाजशास्त्रियों ने समुदाय की परिभाषा में कहा है कि समुदाय लोगों का समूह है। डासन और गेटिस ने बताया कि समुदाय एक निश्चित भू-भाग है जिसमें एक जनसंख्या वितरित होती है। डेविस ने इसे लघु क्षेत्रीय समूह कहा है। ग्रीन, गिन्सबर्ग, ऑसबर्न और न्यूमियर आदि सब ने इस तथ्य पर प्रकाश डाला है कि समुदाय बिना मनुष्यों के नहीं बन सकता। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य का समूह समुदाय में रहकर अपनी सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करता है।

(4) सामुदायिक भावना (Community Sentiment)—जब व्यक्ति अपने स्वार्थ को समूह के लिए त्याग देता है या अपने स्वार्थ को कम महत्त्व देता है तथा समूह के स्वार्थ को सर्वोपरि मानता है तो ऐसी भावना को सामुदायिक भावना कहते हैं। अपनेपन की भावना के रूप मे देखना ही सामुदायिक भावना कहलाती है। समुदाय में अनेक लोग साथ-साथ रहते हैं। वे साथ-साथ तभी रह पाते हैं जब उनमें परस्पर 'हम की भावना' पैदा हो जाती है। एक-दूसरे के सुख-दुःख के भागीदार हो जाते हैं। साथ-साथ रहना, आवश्यकताओं की पूर्ति करना, और श्रम का विभाजन करके कार्यों को पूरा करना जीवन के लिए आवश्यक है। समूह में जब इस प्रकार के गुण विकसित हो जाते हैं तब वह समुदाय बन जाता है। कोई किसी के साथ 'हम की भावना' और सामुदायिक भावना तब रखता है जब वे सामुदायिक जीवन व्यतीत करते हैं तथा उनके अनेक समानताओं के क्षेत्र होते हैं।

(5) समानताओं के क्षेत्र (Areas of Likeness)—दुर्खीम ने अपने शोधकार्य के आधार पर निष्कर्ष निकाला हैं कि समुदाय में अनेक समानताओं के क्षेत्र होते हैं। आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक, धर्म, विचार, कानून, न्याय, सम्पत्ति, आदतें आदि क्षेत्रो में समुदाय के सदस्य एक-से होते हैं। इसीलिए उनमें एकता भी यांत्रिक होती है। समुदाय में अनेक समानता के क्षेत्र हो उसे *व्यवस्थित रखते हैं। समुदाय के संगठित बने रहने के लिए आवश्यक है कि* रीति-रिवाज, भाषा, स्थानीय कथाएँ, रूढ़िवादी विचार आदि क्षेत्रों में समुदाय के लोग समानताएँ रखें।ये समानताएँ एक समुदाय को अन्य समुदायों से विशिष्ट और भिन्न भी बनाती हैं।

(6) स्वत: जन्म (Spontaneous Birth)—जब अनेक स्त्री, पुरुष, लड़के और लड़कियाँ किसी एक स्थान पर कुछ समय तक रहते हैं अथवा जीवनयापन करते हैं तो वह स्वतः ही समुदाय का रूप ग्रहण कर लेता है। समुदाय की उत्पत्ति या विकास योजनाबद्ध तरीके से नहीं होता है। मानव समुदाय तो स्वत: बन जाता है। इसका जन्म स्वत: होता है। समाज में दो प्रकार के सगठन होते हैं। एक की सदस्यता जन्म से निश्चित होती है और सदस्यता अनिवार्य होती है। दूसरे की सदस्यता ऐच्छिक होती है। परिवार, समुदाय, जाति, राष्ट्र आदि प्रथम प्रकार के संगठन होते हैं। इनकी सदस्यता जन्म से तय होती है। समुदाय में व्यक्ति जन्म लेता है और उसका सदस्य स्वत: ही बन जाता है।

(7) सामान्य जीवन (Common Life)—व्यक्ति समुदाय में जन्म लेता है। उसका उसमें पालन-पोषण होता है, बड़ा होता है, विवाह होता है, एक प्रकार से समुदाय मे व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक अपना जीवन व्यतीत करता है। व्यक्ति अपना पूर्ण जीवन समुदाय में रह कर व्यतीत करता है। समुदाय मे रह कर व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करे, सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करे, समुदाय के अन्य सदस्यों के साथ सहयोग करे तथा स्वयं की क्षमता के अनुसार दूसरों की आवश्यकताओ की पूर्ति में योगदान करे अर्थात् समुदाय का यही उद्देश्य होता है कि लोग उसमें अपना सामान्य जीवन व्यतीत करें।

(8) स्थान का स्थायित्व (Permanency of Locality)—समाज में अनेक प्रकार के सगठन होते हैं। इनमे से कुछ तो अस्थाई होते हैं और कुछ स्थाई। भीड़ और श्रोता-समूह अस्थाई होते हैं। समुदाय का निश्चित भू-भाग होता है। समुदाय कोई अस्थाई सामाजिक संगठन नहीं है। यह मनुष्यों का ऐसा समूह होता है जो एक भू-भाग की इकाई से जुड़ा होता है। उसका एक नाम होता है। समुदाय अन्य सामाजिक संगठनों की तुलना में स्थान के आधार पर अधिक स्थाई होता है। जहाँ एक बार मानव बस जाता है तो समुदाय में स्वत: विकसित होने के बाद वहाँ स्थाई संगठन बन जाता है।

(9) आत्म-निर्भरता (Self-sufficiency)—प्राचीन काल में समुदाय अपने सदस्यों की लगभग सभी आवश्यकताओं की पूर्ति किया करता था। पहिले यातायात और संचार के साधन नहीं थे तब व्यक्ति अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपने समुदाय पर निर्भर रहता था। उसके पास दूसरा कोई विकल्प नहीं था। जो समुदाय जन-सख्या और भौगोलिक क्षेत्र के दृष्टिकोण से जितना छोटा होता था वह उतना ही अधिक आत्मनिर्भर होता था। लेकिन आज जब औद्योगीकरण हो गया है, यातायात के साधन विकसित हो गए हैं तथा समुदाय की आत्म-निर्भरता के लक्षण का प्रभाव कम हो गया है तो आज अधिकतर समुदाय अन्य समाजो पर अपनी अन्य आवश्यकताओ के लिए निर्भर हैं।

छोटे-बड़े समुदाय

(Small-Great Communities)

जनसंख्या, भौगोलिक क्षेत्र और सम्बन्धों की परिधि के आधार पर समुदाय के लघु और वृहद् प्रकार हैं। आदिम समाज और ग्राम छोटे समुदाय के उदाहरण हैं। राष्ट्र और महाद्वीप बड़े समुदाय हैं। अनेक लक्षण हैं जिनके आधार पर छोटे और बड़े समुदायों में अन्तर किया जा सकता है। बड़े समुदाय कई क्षेत्रों में छोटे समुदायों को संरक्षण प्रदान करते हैं। ग्राम, कस्बा, नगर, प्रदेश, देश, राष्ट्र आदि समुदाय के विभिन्न प्रकार हैं। *इन विभिन्न समुदायों के प्रकारों में* उपर्युक्त वर्णित समुदाय की विशेषताएँ विद्यमान हैं। एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि क्या विश्व के स्तर पर अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय सम्भव है। इस दिशा मे प्रयास किये जा रहे हैं। समुदाय प्रादेशिक या भौगोलिक विशेषता के अतिरिक्त कुछ और भी है। जिस दिन मानव में विश्व के स्तर पर 'हम की भावना' विकसित हो जाएगी उस दिन अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय की सम्भावना हो सकेगी।

मानव की अनेक आवश्यकताएँ हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति लघु तथा वृहद् दोनों प्रकार के समुदाय करते हैं। मित्र और मित्रमण्डली, रोजमर्रा की आवश्यकताएँ, रोजगार, भजन-पूजन, मनोरंजन के स्थानीय प्रकार सभी लघु समुदाय प्रदान करते हैं। शान्ति, सुरक्षा, दासता या गुलामी, युद्ध आदि बड़े समुदाय के स्तर पर होते हैं।

क्या जाति एक समुदाय है? (Is Caste a Community ?)—हम जाति के लक्षणों का अध्ययन एवं तुलना समुदाय के तत्त्वों से करेंगे तथा देखेंगे कि क्या जाति एक समुदाय है अथवा नहीं? जाति व्यक्तियों का समूह है। जाति मे 'हम की भावना' होती है। लेकिन जाति का निश्चित भू-भाग नहीं होता है। जाति के सदस्य बड़े भौगोलिक क्षेत्र में फैले होते हैं। जाति के सदस्यों के जीवन का तरीका सामान्य नहीं होता है। इस प्रकार जाति में समुदाय की आधारभूत विशेषता—निश्चित भू-भाग तथा सामान्य जीवन का तरीका—नहीं होने के कारण उसे समुदाय नहीं कहा जा सकता है। जाति में 'हम की भावना' तो होती है परन्तु वह इतनी प्रभावशाली और बलवती नहीं होती है जितनी एक समुदाय के सदस्यों में परस्पर होती है। बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तर प्रदेश, आदि के ब्राह्मण एक-दूसरे से खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, विवाह आदि में भिन्न होते हैं। इनमें अपने प्रान्त के अन्य जाति के सदस्यों के प्रति 'हम की भावना' अधिक होती है। अत: निष्कर्ष यही निकलता है कि जाति एक *समुदाय नहीं है।*

क्या आश्रम अथवा बंदीगृह एक समुदाय है? (Is Monastery or Prison a Community)—मैकाइवर व पेज ने इन सामाजिक घटकों पर टिप्पणी की है। इनके अनुसार समाजशास्त्रीय आधार पर इन्हें समुदाय कहा जा सकता है। आश्रम, बन्दीगृह तथा विहार प्रादेशिक इकाइयाँ हैं। इनमें व्यक्ति सामाजिक जीवनयापन करता है। इनका जीवन का तरीका परस्पर एक-सा होता है। मैकाइवर और पेज जैसे समाजशास्त्रियों ने इन्हें समुदाय माना है। परन्तु कुछ अन्य समाजशास्त्रियों ने इन्हें सीमान्त संगठन बताया है। कुछ लक्षणों के आधार पर ये समुदाय कहे

जा सकते हैं। पूर्णतः ये समुदाय नहीं है, क्योंकि इनकी सदस्यता की कुछ शर्ते हैं। ये समुदाय जन्म से लेकर मृत्यु तक की व्यवस्था नहीं है। इनकी उत्पत्ति स्वतः नहीं होती है। इन्हे समुदाय कह भी सकते हे और नहीं भी।

समाज और समुदाय में अन्तर

आधार	समुदाय	समाज
1 मूर्तता	समुदाय व्यक्तियो का समूह होने के कारण मूर्त है।	समाज सामाजिक सम्बन्धो का जाल होने के कारण अमूर्त होता है।
2. सामुदायिक भावना	समुदाय के सदस्यो मे परस्पर सामुदायिक भावना होती है। उनमे 'हम की भावना' होना आवश्यक है।	समाज मे सामुदायिक भावना का होना आवश्यक नहीं है। समाज मे सगठनात्मक और विघटनात्मक दोनो ही प्रकार के सम्बन्ध मिलते हैं।
3 विशिष्ट नाम	समुदाय का विशिष्ट नाम होता है जिससे वह पहिचाना जाता है।	समाज का कोई विशिष्ट नाम नहीं होता है। यह तो सामाजिक सम्बन्धों का जाल होता है।
4 वृहदता	समुदाय समाज की तुलना मे लघु होता है। एक समाज मे एक से अधिक समुदाय होते हैं।	समाज समुदाय की तुलना मे वृहद् होता है। अनेक समुदाय मिलकर एक समाज बना सकते हैं।
5 विभाजन	समुदाय को अनेक भागो मे विभाजित किया जा सकता है। इसका भौगोलिक क्षेत्र होता है। इसमे छोटे-छोटे अनेक समूह होते हैं जिनका अलग-अलग अध्ययन और विश्लेपण किया जा सकता है।	समाज एक व्यवस्था है। एक संगठन है। यह एक पूर्ण समग्र है। इसे अलग-अलग खण्डो मे विभाजित नहीं किया जा सकता है। इसे एक पूर्ण इकाई के रूप मे ही अध्ययन करना होता है।
6 निश्चित भू-भाग	समुदाय एक निश्चित भू-भाग मे स्थित होता है। इसकी भौगोलिक सीमाएँ होती हैं जिसमे ये बसा तथा स्थित होता है।	समाज का कोई निश्चित भू-भाग नहीं होता है। यह तो सामाजिक अन्तःक्रियाओ की जटिल व्यवस्था है जो व्यक्तियों के बीच होती है। ये व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रो मे वितरित हो सकते हैं।
7 सामाजिक सम्बन्ध	समुदाय की विशिष्टता मनुष्यों का समूह है।	समाज की विशिष्टता सामाजिक सम्बन्धो की जटिलता है।

□

अध्याय-7

संस्थाएँ

(Institutions)

व्यक्ति समाज मे रहकर अपनी सभी आवश्यकताएँ पूरी करता है। आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए मानव ने समितियो का निर्माण किया है। ये समितियाँ समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त-कार्य-प्रणाली के आधार पर कार्य करती हैं। समिति व्यक्तियो का समूह है। व्यक्ति समिति की सहायता से अपने लक्ष्यो की प्राप्ति नियमानुसार करता है। समाज में व्यवस्था बनी रहे इसके लिए मानव ने कार्य-प्रणालियों, नियमों, पद्धतियो आदि का निर्माण किया है। मर्टन का कहना है कि जब लोग सास्कृतिक लक्ष्य और संस्थागत साधन के अनुसार समाज मे कार्य करते हैं तो समाज में आदर्श सन्तुलन होता है। समाज मे व्यवहार करने के तरीके, समिति की कार्य-प्रणालियाँ, समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त तरीके ही संस्था कहलाती है। इनके द्वारा समाज मे सतुलन बना रहता है। समाज की व्यवस्था, संतुलन, नियन्त्रण आदि के लिए सामाजिक सस्थाओं का होना अत्यन्त आवश्यक होता है। अगर समाज मे व्यक्ति और समूह अपने-अपने सोच के अनुसार कार्य करेंगे तो अव्यवस्था बढ़ेगी। सभी व्यवस्थित तरीको से व्यवहार करें, कार्य करें, इसके लिए सामाजिक संस्थाओं का होना अत्यन्त आवश्यक है। समिति मे मानव की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए स्थापित कार्य-प्रणालियाँ ही सामाजिक संस्थाएँ कहलाती हैं। परिवार एक संस्था है। इसका निर्माण करने के तरीके को विवाह संस्था कहते हैं। सस्था के सम्बन्ध में अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। इसको समझने के लिए उनके विचारों, कथनो तथा वक्तव्यो का अध्ययन करना आवश्यक है।

संस्था का अर्थ और परिभाषा

(Meaning and Definition of Institution)

संस्था की परिभाषाएँ अनेक समाजशास्त्रियो—समनर, मैकाइवर और पेज, रॉस बोगार्डस, ग्रीन, गिलिन और गिलिन, ऑगबर्न और निमकॉफ आदि ने दी हैं। हम इन समाजशास्त्रियों की परिभाषाओं का विवेचन करेंगे तथा निष्कर्ष निकालेंगे कि सस्था का समाजशास्त्र मे क्या अर्थ है? इनकी परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

समनर ने लिखा है, "एक संस्था अवधारणा (विचार, मत, सिद्धान्त या रुचि) एवम् सरचना का योग है।"

1. *मैकाइवर* ने सस्था की परिभाषा देते हुए कहा है, "संस्था एक निश्चित संगठन है जो विशिष्ट हित अथवा सामान्य हितो को सुनिश्चित तरीके से पूर्ण करती है।"

2. *मैकाइवर और पेज*—आपने सस्थाओं को स्थापित कार्य-प्रणालियों के स्वरूपों के रूप में परिभाषित किया है। इन्हीं के शब्दो मे, "संस्थाओ से हमारा तात्पर्य स्थापित स्वरूप की कार्य-प्रणाली की उन परिस्थितियों से है जो सामूहिक क्रिया की विशेषता है।"

रॉस के अनुसार, "सामाजिक सस्थाएँ सगठित मानव सम्बन्धों के संग्रह हैं जो सर्वजन-इच्छा द्वारा स्थापित अथवा मान्य हैं।"

3 *बोगार्डस*—इनके अनुसार, "एक सामाजिक संस्था समाज की वह संरचना है जो मुख्यत: सुस्थापित प्रणालियो द्वारा लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए संगठित होती है।"

4 *ऑगबर्न तथा निमकॉक* ने संस्था की व्याख्या करते हुए लिखा है, "सामाजिक सस्थाएँ कुछ मौलिक मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए सगठित और स्थापित प्रणालियाँ हैं।"

5 *गिलिन और गिलिन* का कथन है, "सामाजिक सस्थाएँ कुछ सांस्कृतिक विशिष्टताएँ को व्यक्त करने वाले वे नियम हैं जिनमे काफी स्थायित्व होता है।"

6 *ग्रीन* के अनुसार, "एक संस्था अनेक जनरीतियों और रूढ़ियो (और प्राय:, परन्तु आवश्यक नहीं, कानूनो) का एक इकाई के रूप मे सगठन है जो अनेक सामाजिक कार्यों को करता है।"

7 *सरदलैंड* और *साथियो* के अनुसार, "समाजशास्त्रीय भाषा में, एक सस्था उन जनरीतियो तथा रूढ़ियों का सग्रह है जो कुछ मानवीय लक्ष्यों या उद्देश्यों की पूर्ति का केन्द है।

पूर्वोक्त परिभाषाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामाजिक सस्थाएँ समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त व्यक्तियो की मौलिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के साधन और कार्य-प्रणालियो की सरचना है।

संस्था की उत्पत्ति और विकास
(Origin and Evolution of Institution)

डब्ल्यू जी समनर ने अपनी कृति 'फोकवेज' में संस्था की उत्पत्ति और विकास को विस्तार से स्पष्ट किया है। इनका कहना है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति सरल, सादा और सीधे तरीके से पूर्ण करना चाहता है। वह आवश्यकता को कम श्रम, कम समय में अधिक-से-अधिक मात्रा में पूरी करना चाहता है। इसके लिए वह विचार करता है। व्यक्ति के मस्तिष्क मे विचार आता है। उस विचार के अनुसार आवश्यकता की पूर्ति करता है। जब व्यक्ति देखता है कि यह तरीका आवश्यकता की पूर्ति का सरल, सादा, सीधा तथा अच्छा है तो वह उस तरीके को बार-बार काम में लाता है। धीरे-धीरे यह तरीका उसकी आदत बन जाता है। दूसरे जन जब देखते हैं कि वह तरीका अच्छा है तो वे भी उसका अनुसरण करते हैं और उस व्यक्ति की आदत धीरे-धीरे समूह की आदत बन जाती है। यह आगे चलकर जनरीति बन जाती है। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है। समय व्यतीत होने के साथ-साथ जनरीति के

साथ पूर्वजों का प्रभाव जुड़ जाता है। लोग समझने लगते हैं कि पूर्वजों ने ये तरीके बनाए हैं इनका हमें पालन करना चाहिए। जब पूर्वजों की भावना का तत्त्व जनरीति के साथ जुड़ जाता हैं तथा जनरीति प्रथा के रूप में विकसित हो जाती है। उसे समाज की मान्यता मिल जाती है। जनरीति और प्रथा में मात्रा और समय का अन्तर है। गुण का विशेष अन्तर नहीं है। जनरीति का विकसित रूप ही प्रथा है, ऐसा समनर का मानना है।

प्रथा ही आगे चलकर रूढ़ि बनती है। समनर ने बताया कि जब प्रथा के साथ समाज की अभिमति और जुड़ जाती है, प्रथा के दो प्रकार बन जाते हैं—सकारात्मक और नकारात्मक। सकारात्मक वे तरीके हैं जिनका पालन करने के लिए समाज बाध्य करता है। नकारात्मक तरीके वे हैं जिनके लिए समाज अपने सदस्यो को नहीं करने के लिए बाध्य करता है। उल्लंघन करने पर समाज दण्ड देता है। इस सकारात्मक, नकारात्मक और दण्ड की विशेषताएँ ही प्रथा को रूढ़ि में विकसित कर देती हैं।

जब रूढ़ियाँ मिल कर एक संरचना में व्यवस्थित हो जाती हैं, रूढ़ियों का संग्रह व्यवस्थित, क्रमबद्ध और एक संगठन में विकसित हो जाता है तो समाजशास्त्री इसे संस्था के नाम से पुकारते हैं। संस्था रूढ़ियों का व्यवस्थित ढाँचा है। विकसित समाजों में; जैसे—नगर, महानगर या राष्ट्र के स्तर पर समाज के चुने हुए प्रतिनिधि जब बहुमत से इन्हीं संस्थाओं को पारित कर देते हैं तो वह कानून बन जाते हैं। कानून औपचारिक और राजनैतिक होते हैं। संस्था समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त आवश्यकताओं को पूर्ण करने की संरचना होती है। इसे चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है।

संस्था
या
रूढ़ियों का ढाँचा
↑
रूढ़ि
↑
प्रथा
↑
जनरीति
↑
समूह की आदत
↑
व्यक्ति की आदत
↑
व्यक्ति के विचार

संस्था के विकास के चरण

स्रोत: डब्ल्यू. जी. समनर : फोकवेज़ पृ. 53
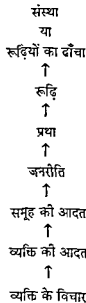
सस्था की विशेषताएँ (Characteristics of Institution)—सामाजिक संस्थाओं की विशेषताओ का अनेक समाजशास्त्रियो ने विवेचन किया है। इनमे प्रमुख समाजशास्त्री मैकाइवर और पेज, समनर, गिलिन और गिलिन, बोगार्डस आदि हैं। मुख्य रूप से संस्था की निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।
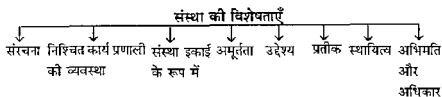
(1) संरचना (Structure)—समनर, बोगार्डस आदि ने स्पष्ट किया है कि सामाजिक सस्थाएँ समाज की वह सरचना है जो लोगो की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। संस्थाएँ मुख्यत: सुस्थापित प्रणालियाँ हैं। जब जनरीतियाँ, प्रथाएँ और रूढियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं, समाज द्वारा मान्य होती हैं तथा एक ढाँचा या सरचना के रूप मे जटिल संगठन बन जाती हैं तभी समाजशास्त्री (समनर) उसे संस्था कहते हैं। सस्था की प्रमुख विशेषता अनेक कार्य-प्रणालियो से भिन्नता मे है कि इनकी एक सरचना होती है। समनर ने लिखा है, "सस्था सरचना का योग है।"

(2) निश्चित कार्य-प्रणालियों की व्यवस्था (Definite system of usages and procedures)—मैकाइवर और पेज के अनुसार सस्थाएँ स्थापित कार्य-प्रणालियो के रूप हैं। मानव समाज मे रह कर अपनी अनन्य आवश्यकताओ, हितो, उद्देश्यो आदि को पूरा करना चाहता है। इसके लिए समाज मे निश्चित, स्पष्ट और स्थापित, समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त कार्य-प्रणालियो का होना आवश्यक है। जब समाज मे ये स्पष्ट रूप से विकसित हो जाती हैं तभी समाज के सदस्य व्यवस्थित रूप से अपनी इच्छाओं को पूर्ण कर पाते हैं। इन्हीं को मैकाइवर ने सस्था या कार्य-प्रणालियाँ कहा है। ऑगबर्न, निमकॉफ, बोगार्डस आदि ने भी कहा है कि सस्थाएँ कुछ मौलिक मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए संगठित और स्थापित प्रणालियाँ हैं। सस्था की यह प्रमुख विशेषता है जो इसे जनरीतियो, प्रथाओ तथा रूढियो से विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है।

(3) संस्था इकाई के रूप में (Institutions are forms of unit)—सम्पूर्ण सास्कृतिक सरचना मे संस्था का विशेष स्थान है। सस्था सामाजिक, सांस्कृतिक और व्यक्तित्व व्यवस्थाओ मे एक इकाई के रूप मे कार्य करती है, ऐसा पारसन्स ने अपनी विश्वविख्यात पुस्तक 'दी सोशियल सिस्टम' में कहा है। हैमिल्टन का भी ऐसा ही कथन है कि सामाजिक सस्थाएँ समाज मे रीति-रिवाजो का एक पुँज है। सस्था अनेक जनरीतियो, प्रथाओ और रूढ़ियों का सगठित, व्यवस्थित और सुनिश्चित प्रतिमान है, एक ऐसी इकाई है जो समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त है तथा व्यक्तियों को कार्य-प्रणालियो के रूप मे सुविधा प्रदान करती है। संस्था एक इकाई के रूप मे अनेक जनरीतियो, प्रथाओ तथा रूढ़ियों का विकसित रूप है। यह लिखित, अलिखित तथा किसी भी रूप में समाज में हर काल मे विद्यमान होती है।

(4) अमूर्तता (Abstractness)—संस्था मानव समाज की कार्य-प्रणालियाँ है, नियमों की संरचना है, जिसे हम देख नहीं सकते। इसलिए संस्था अमूर्त है। मूर्त नहीं है। संस्था नियमों, रीति-रिवाजों का व्यवस्थित संग्रह है। संस्था सामाजिक व्यवस्था तथा संगठन को बनाए रखती है। व्यक्तियों पर नियंत्रण की व्यवस्था है। संस्था की यह विशेषता स्पष्ट करती हे कि यह व्यक्ति के बाहर होती है तथा व्यक्ति पर दबाव रखती है।

(5) उद्देश्य (Aim)—मर्टन ने कहा है कि मानव के सामाजिक सरचना में उद्देश्य महत्त्वपूर्ण होते हैं। इनकी पूर्ति व्यक्ति को संस्थागत साधनों से करनी चाहिए। प्रत्येक समाज में उद्देश्यों को पूरा करने के लिए निश्चित समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त संस्थाएँ हे। पारसन्स का भी यही निष्कर्ष है कि संस्थाओं के निश्चित उद्देश्य होते हैं। मैलिनोव्स्की का कहना है कि प्रत्येक संस्कृति में प्रत्येक संस्था कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति करती है। संस्था की उत्पत्ति और विकास का इतिहास भी इसी तथ्य को सिद्ध करता है कि प्रत्येक संस्था का कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होता है। विवाह, परिवार, जाति आदि सस्थाएँ समाज में एक या अनेक उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाए हुए हैं।

(6) प्रतीक (Symbol)—यह मानव स्वभाव है कि वह प्रत्येक वस्तु, पदार्थ, परम्परा, प्रथा, विचार, धारणा आदि को कोई-न-कोई नाम दे देता है। उसे पहिचानने के लिए प्रतीक प्रदान कर देता है। इसी प्रकार प्रत्येक संस्था का एक निश्चित सर्वमान्य प्रतीक होता है। यह भौतिक, अभौतिक, मानव के समान पशु, प्राकृतिक वस्तु आदि कुछ भी हो सकता है। उदाहरण के रूप में सूर्य, चन्द्रमा, 'ॐ' गाय, हँसिया, 'क्रास' आदि।

(7) स्थायित्व (Permanancy)—सस्था का विकास बहुत धीमी गति से होता है। इसके विकास में समय भी बहुत लगता है। परन्तु जब संस्था एक प्रतीक, संरचना, अवधारणा, उद्देश्य, कार्यप्रणाली आदि के रूप मे जब विकसित हो जाती है तो उसे वदलना या प्रतिबन्धित करना बहुत कठिन हो जाता है। बाल-विवाह, दहेज, वैधव्य, अस्पृश्यता, पर्दा-प्रथा आदि अनेक संस्थाएँ और प्रथाएँ बदलना कितना कठिन हो रहा है। संस्था का स्थायित्व दीर्घकालीन होता है।

(8) अभिमति और अधिकार (Opinion and Rights)—संस्थाएँ समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त होती हैं। उनका समाज के सदस्य पालन करें इसके लिए संस्था के पीछे सत्ता होती है। उल्लंघन करने वाले को दण्ड दिया जाता है। संस्था मानव समूह द्वारा मान्य होती है। अगर कोई इसका उल्लंघन करता है तो मानव समूह उसे ऐसा करने से रोकता है। व्यक्ति को यह मालूम होता है कि संस्था के पीछे जन समूह की शक्ति है इसलिए उल्लंघन करने से डरता है। संस्था के पीछे मानव समूह की शक्ति होने के कारण वह प्रभावपूर्ण होती है।

संस्था के कार्य

(Functions of Institution)

संस्था की उत्पत्ति और विकास के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक संस्थाओं के अनेक कार्य हैं। संस्थाएँ मानव की आवश्यकता-पूर्ति के साधन हैं। ये परिवर्तन में सहायक, संस्कृति की वाहक, सामाजिक नियन्त्रण के साधन, व्यवहारों में अनुरूपता तथा

प्रस्थिति और भूमिका-निर्धारण आदि अनेक कार्य करती हैं। निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य संस्थाएँ विश्व के सभी समाजों मे करती हैं—
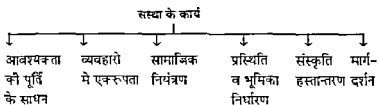
(1) आवश्यकता पूर्ति के साधन (Means of fulfilmet of Needs)—संस्थाएँ मानवीय आवश्यकताओ की पूर्ति के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। सस्थाएँ आवश्यकताओं की पूर्ति करने के समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त साधन हैं। समाज के सदस्य प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा करते हैं कि वह संस्थागत साधनो द्वारा ही अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करे तथा समाज की व्यवस्था में संतुलन बनाए रखे। अगर सस्थाओ का गहनता से अध्ययन और अवलोकन करें तो यह पाएँगे कि संस्थाएँ आवश्यकताओ की पूर्ति के सरल, सादा और अत्यन्त उपयोगी साधन हैं जो समाज में वर्षों से प्रचलित हैं।

(2) व्यवहारों में एकरूपता (Homogeneity in Behaviour)—सस्थाएँ कार्य-प्रणालियाँ हैं जिनका समाज के सदस्यों को पालन करना होता है। समान परिस्थितियों, आवश्यकताओ, समस्याओ, कठिनाइयों आदि में सस्थाएँ व्यक्ति को एक-से तरीके प्रदान करती हैं जिनके द्वारा वह व्यवहार करे। इस प्रकार संस्थाएँ एक समाज के व्यक्तियो मे समानता, एकरूपता या अनुरूपता बनाए रखती है। इससे उनमें यान्त्रिक अथवा जैविक एकता बनी रहती है।

(3) सामाजिक नियन्त्रण (Social Control)—समाज की एकता, सन्तुलन और निरन्तरता के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति के अपेक्षित व्यवहार और वास्तविक व्यवहार मे अन्तर कम-से-कम हो। सामाजिक संस्थाएँ व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करती हैं। संस्थाएँ सामाजिक नियन्त्रण का एक प्रमुख तथा प्रभावशाली साधन हैं। आदिम और ग्रामीण समाजो में तो सस्थाएँ ही सामाजिक नियन्त्रण करती हैं। धर्म, परिवार, जाति आदि सस्थाएँ समाज को नियन्त्रित, निर्देशित और सचालित करती रही हैं।

(4) प्रस्थिति और भूमिका-निर्धारण (Determines Status and Role)—समाज की आवश्यकताओ को पूर्ण करने के लिए आवश्यक है कि समाज में श्रम-विभाजन हो तथा स्तरीकरण हो। व्यक्तियों की प्रस्थिति (पद) और भूमिका (कार्य) निश्चित हो। सभी समाजो मे ये महत्त्वपूर्ण कार्य संस्थाएँ करती हैं। संस्थाएँ सामाजिक विभेदीकरण और स्तरीकरण का कार्य करती हैं। इनके द्वारा व्यक्ति स्वय का पद और कार्य दोनों स्पष्ट रूप से प्राप्त करता है तथा उनके अनुसार अपने कर्त्तव्य और अधिकारों के अनुरूप व्यवहार करता है। परिवार मे पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्र, भाई-बहिन आदि का पद और भूमिका संस्थाएँ निश्चित करती हैं। समाज के स्तर पर जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था, दास-प्रथा, जागीरदारी-प्रथा विभिन्न समूहों की प्रस्थिति और भूमिका प्रदान करती हैं। सस्था का यह कार्य सामाजिक व्यवस्था के लिये विशेष महत्त्वपूर्ण है।

(5) संस्कृति का हस्तान्तरण (Transmission of Culture)—समाज और संस्कृति के बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि इसके गुणों, ज्ञान, आविष्कार आदि का एक

व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण होना चाहिए। सामाजिक संस्थाएँ ये कार्य सदियों से करती आ रही हैं। संस्थाएँ ही संस्कृति की प्रभावशाली वाहक हैं जो संस्कृति का लेन-देन, प्रसार और प्रचार करती हैं। संस्थाएँ संस्कृति की रक्षा तथा हस्तान्तरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तथा एक समाज से दूसरे समाज को करती हैं।

(6) मार्ग-दर्शन (Guidance)—संस्थाएँ व्यक्ति, समूह और समाज का मार्गदर्शन करती हैं। व्यक्ति को कब, कहाँ, कैसे और क्या करना है? इसका संस्था कदम-कदम पर मार्गदर्शन करती है। जाति-व्यवस्था प्रत्येक जाति के व्यक्तियों को सदस्यता, व्यवसाय, खान-पान, शिक्षा, विवाह, प्रस्थिति आदि सब कुछ व्यक्ति के जन्म के साथ ही निश्चित कर दिया करती थी। उसे हर पल तथा प्रत्येक परिस्थिति में संस्थाएँ मार्गदर्शन करती रहती थीं। इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से सम्बन्धित संस्थाएँ व्यक्ति और समूह का मार्गदर्शन करती हैं। संस्था का यह विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य है।

समुदाय और संस्था में अन्तर

(Difference Between Community and Institutions)

समाजशास्त्रियों ने समुदाय और संस्था में प्रमुख अन्तर निम्न बताए हैं—

आधार	समुदाय	संस्था
1. सदस्यता	व्यक्ति समुदाय का सदस्य होता है।	व्यक्ति संस्था का सदस्य नहीं होता है।
2. समूह	यह व्यक्तियों का समूह होता है।	संस्था में ऐसा कुछ नहीं होता है।
3. निश्चित भू-भाग	समुदाय निश्चित भू-भाग में स्थित होता है।	संस्था का कोई निश्चित भू-भाग नहीं होता है।
4. मूर्तता	समुदाय में व्यक्तियों का समूह और निश्चित भू-भाग होने के कारण इसे देख सकते हैं। यह मूर्त होता है।	संस्था अमूर्त होती है।
5. कार्य-प्रणाली	समुदाय की कार्य-प्रणाली नहीं है।	संस्था कार्य-प्रणाली होती है।
6. उद्देश्य	समुदाय का कोई विशिष्ट उद्देश्य नहीं होता है।	संस्था का विशिष्ट उद्देश्य होता है।
7. साधन	समुदाय साधन नहीं है।	संस्था आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन होते हैं।
8. साध्य	समुदाय साध्य होता है।	संस्था साध्य नहीं होती है।
9. सापेक्षता	समुदाय में अनेक संस्थाएँ होती हैं।	संस्था समुदाय में एक साधन है। कार्यप्रणाली है।

□

अध्याय-8

समिति

(Association)

समाजशास्त्र के अध्ययन की सबसे छोटी इकाई समूह है। कुछ समाजशास्त्रियो ने समाजशास्त्र को समूहो का विज्ञान कहा है। समाज में समूह के कई प्रकार होते हैं। समिति को समझने के सन्दर्भ मे हम यहाँ पर कूले तथा उनके समर्थको द्वारा बताए गए प्राथमिक ओर द्वितीयक समूह पर सक्षिप्त चर्चा करेंगे। आदिम समाजो तथा ग्रामीण समाजो मे प्राथमिक समूहो के प्रकार अधिक होते हैं। एकाकी परिवार, संयुक्त परिवार या विस्तृत परिवार, वश-समूह, गोत्र-समूह आदि। व्यक्ति इन समूहो का सदस्य जन्म के द्वारा बनता है। लेकिन कुछ समूह अथवा संगठन ऐसे होते हैं जिनकी सदस्यता ऐच्छिक होती है। व्यक्ति उनका सदस्य चाहे तो बने और नहीं चाहे तो नहीं बने। इन समूहो को डेविस तथा अन्य समाजशास्त्रियो ने द्वितीयक समूह की सज्ञा दी है। नगरो मे ऐसे समूहो की सख्या अधिक होती है। ये सगठन किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित किए जाते हैं। जब उद्देश्यो की पूर्ति हो जाती है तो इन संगठनो को समाप्त कर दिया जाता है। समाजशास्त्र मे ऐसे समूहों या सगठनो को समिति या संघ कहते हैं।

मैकाइवर और पेज ने अपनी विश्वविख्यात कृति 'सोसायटी' मे निम्न उदाहरण देकर समिति की विवेचना की है। इनका कहना है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति अग्र तीन प्रकार से कर सकता है—

1. अकेला रहकर (Living Alone)—अकेला व्यक्ति स्वितन्त्र रूप से कार्य करके अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। किसी को न तो मदद करता है और न ही किसी से मदद लेता है। मानव सामाजिक प्राणी होने के कारण इस विधि को अधिक समय तक नहीं अपना सकता है।

2. संघर्ष द्वारा (Through Conflict)—परस्पर सघर्ष द्वारा लक्ष्यो की पूर्ति करना अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति दूसरे व्यक्तियों की वस्तुओ को छीन कर, लूट कर, चोरी करके या झपट कर करना। जब सभी ऐसा करने की ठान लेगे तो कौन किससे क्या छीनेगा? क्योकि किसी के पास कुछ नहीं भी होगा। ऐसी स्थिति मे यह तरीका भी व्यावहारिक नहीं रहेगा।

3. सहकारी आधार (Co-operative Basis)—सहकारी विधि से व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। इसमे व्यक्ति स्वयं की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दूसरों का सहयोग प्राप्त करता है तथा दूसरों को उनके उद्देश्यो की पूर्ति मे सहयोग करता है। यह विधि स्वत:, आकस्मिक या योजनाबद्ध कोई-सी भी हो सकती है। यह तीसरा तरीका व्यावहारिक, स्थाई तथा मानव स्वभाव के अनुरूप है। इसमें अनेक व्यक्ति मिल कर एक संगठन बना कर उद्देश्यों की पूर्ति सहयोग करके कर सकते हैं। इस प्रकार के सगठन को समिति कहते हैं।

समिति की परिभाषा एवं अर्थ

(Meaning and Definition of Association)

1. मैकाइवर और **पेज** के अनुसार, "अत: हम समिति को ऐसे सगठित समूह के रूप मे परिभाषित करते हैं जो किसी एक हित अथवा हितों के समूह की सामान्य रूप से पूर्ति के लिए संगठित होता है।"

इन्होंने समिति को मूर्त बताया है। मनुष्यो का यह सगठित समूह है। यह सगठन *किसी एक उद्देश्य अथवा अनेक उद्देश्यो के लिए स्थापित किया जाता है। समिति एक संगठन* के रूप मे होती है। यह संगठन सामान्य रूप से समूह के लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए प्रयास करता है।

2. ऑगबर्न और **निमकॉफ** का कहना है, "समिति एक ऐसा सगठन है, जो सामान्यतया विशिष्ट हितो की पूर्ति के लिए बनाया जाता है। इसका उद्देश्य अपने सदस्यों की विशिष्ट अथवा सामान्य इच्छाओं की पूर्ति के अलावा और कुछ नहीं है।"

3. फेयरचाइल्ड का कथन है, "समिति एक ऐसा सगठनात्मक समूह है, जिसकी *स्थापना सामान्य लक्ष्यों को पूर्ण करने के लिए की जाती है। इसके स्वयं के कार्यकर्त्ता और* आत्मनिर्भर प्रशासकीय संरचना होती है।"

4. गिन्सबर्ग के अनुसार, "समिति ऐसे व्यक्तियो से बनी होती है, जो किसी विशेष कार्य अथवा कार्यों को पूरा करने के लिए संगठित होते हैं।"

5. बोगार्डस का कहना है, "समिति सामान्यतया लोगों द्वारा किसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए साथ-साथ काम करना है।"

उपर्युक्त समाजशास्त्रियों ने समिति की परिभाषाओं में अनेक विशेषताओ पर प्रकाश *डाला है। इनके अनुसार समिति मनुष्यों का एक विशिष्ट संगठन है जो योजनाबद्ध विधि से* किसी एक अथवा अनेक लक्ष्यों की पूर्ति के लिए मनुष्यों द्वारा मनुष्यों के लिए स्थापित किया जाता है। मजदूर संघ, कर्मचारी संघ, व्यापारिक सघ, राजनैतिक दल आदि इसके उदाहरण हैं। समिति एक साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति अन्य व्यक्तियो के साथ सहयोग करके लक्ष्य को प्राप्त करता है। समिति की अनेक विशेषताएँ हैं जिनका अध्ययन करने से इसका अर्थ और स्पष्ट हो जाएगा।

समिति की विशेषताएँ
(Characteristics of Association)

समिति की प्रमुख विशेषताएँ मनुष्यों का समूह, सहयोग की भावना, मूर्तता, समान उद्देश्य, ऐच्छिक सदस्यता, नियम आदि हैं। अब एक-एक करके इनको विस्तार से देखेंगे।
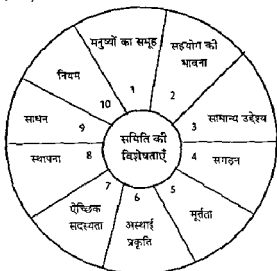
(1) मनुष्यों का समूह (Human Group)—मैकाइवर और पेज ने समिति की परिभाषा में कहा है कि यह एक संगठित समूह है। व्यक्ति इसके सदस्य होते हैं। बिना मनुष्यों के हम समिति की कल्पना नहीं कर सकते हैं। समाज में अनेक व्यक्ति मिलकर किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कार्य करते हैं उसे समिति कहते हैं। वास्तविकता तो यह है कि व्यक्तियों के बिना समिति नहीं और समिति के बिना व्यक्तियों की आवश्यकताओं, उद्देश्यों या हितों की पूर्ति सम्भव नहीं है। समिति में मनुष्यों का होना परम आवश्यक है।

(2) सहयोग की भावना (Co-operative Feeling)—मैकाइवर और पेज ने उदाहरण देकर स्पष्ट किया था कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सम्भावित तीन तरीकों—अकेला रह कर, छीन कर और सहयोग करके कर सकता है। तीसरा और अन्तिम तरीका 'सहयोग' ही व्यावहारिक और उपयुक्त है। इसके द्वारा ही समिति बनती है। समिति के निर्माण का आधार ही सहयोग की भावना है। कई व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे से समान हितों की पूर्ति के लिए सहयोग करते हैं। समिति के सदस्य परस्पर तब तक सहयोग करते हैं जब तक उनके हित पूर्ण होते रहते हैं। जब सदस्य सहयोग करना बन्द कर देते हैं तब समिति भी बिखर जाती है, छिन्न-भिन्न हो जाती है। सहयोग की भावना समिति की अत्यावश्यक विशेषता है।

(3) समान उद्देश्य (Common Aims)—व्यक्ति अन्य व्यक्तियों से पारस्परिक सम्बन्ध तब स्थापित करता है जब उनके परस्पर उद्देश्य समान होते हैं। दो या अधिक व्यक्ति

सामाजिक सम्बन्ध समान उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सहयोग करके स्थापित करते हैं और समिति का निर्माण करते हैं। एक समिति के सदस्यो के उद्देश्य समान होते हैं। समान उद्देश्य ही व्यक्तियो को परस्पर सम्पर्क में लाने के लिए बाध्य करते हैं। समिति का आधार व्यक्तियों का समान उद्देश्य है। उद्देश्यहीन समूह को हम समिति नहीं कह सकते हैं। प्रत्येक समिति का कोई-न-कोई उद्देश्य अवश्य होता है।

(4) संगठन (Organisation)—समाज मे लक्ष्यो की पूर्ति मे सम्बन्धित दो तत्त्व या विशेषताएँ महत्त्वपूर्ण होती हैं—संगठन और कार्य-प्रणालियाँ। समिति संगठन है। व्यक्ति इसके सदस्य होते हैं तथा संगठित होकर अपने स्वार्थो को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। गिन्सबर्ग ने लिखा है कि समिति मनुष्यों से बनी होती है जो कार्यो को पूरा करने के लिए संगठित होती है। संगठनात्मक लक्षण ही समिति को स्थायित्व और निरन्तरता प्रदान करता है। समिति की सफलता संगठन पर निर्भर करती है।

(5) मूर्तता (Concreteness)—समिति मनुष्यो का संगठित समूह होती है जिसका प्रत्यक्ष रूप होता है, उसे देखा जा सकता है। व्यक्ति उसके सदस्य बनते हैं। इच्छा होने तक उसके सदस्य बने रहते हैं तथा उद्देश्यों की पूर्ति के बाद सदस्यता त्याग देते हैं। समिति मनुष्यों का समूह है। यह एक संगठन है। यह अमूर्त नहीं होती है।

(6) अस्थायी प्रकृति (Temporary Nature)—समिति का स्वभाव सामान्यतया स्थाई नहीं होता है। अनेक व्यक्ति समान स्वार्थों को पूर्ति के लिए सगठित होकर समिति बनाते हैं। जब तक समिति उनके हितों की रक्षा करती रहती है तब तक वह बनी रहती है। जब समिति अपने सदस्यों का स्वार्थ पूरा नहीं करती है तब व्यक्ति निष्क्रिय हो जाते हैं। उसकी सदस्यता से त्यागपत्र दे देते हैं। इसीलिए समिति की प्रकृति को समाजशास्त्रियों ने अस्थाई बताया है। अक्सर यह भी देखने मे आता है कि समिति वर्षों तक अपने सदस्यों के हितों की रक्षा तथा पूर्ति करती है परन्तु उसकी प्रकृति अस्थिर ही होती है।

(7) ऐच्छिक सदस्यता (Voluntary Membership)—समिति निश्चित और विशिष्ट उद्देश्यो की पूर्ति के लिए बनाई जाती है। समिति के वे लोग सदस्य बनते हैं जिनके हित इसके द्वारा पूर्ण होते हैं। समिति की सदस्यता अनिवार्य नहीं होती है, जैसे—परिवार या समुदाय की होती है। समिति की सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर करती है। वह चाहे तब उसका सदस्य बन सकता है तथा जब चाहे सदस्यता से त्यागपत्र दे सकता है। यह सब समिति के नियमों के अनुसार करना आवश्यक होता है। सामान्यतया व्यक्ति समिति का सदस्य स्वयं के स्वार्थ या हितों की पूर्ति के लिए बनता है तथा स्वार्थ-पूर्ति के बाद सदस्यता छोड़ देता है। समिति की सदस्यता ऐच्छिक है अनिवार्य नहीं।

(8) स्थापना (Establishment)—समाज में दो प्रकार के संगठन होते हैं। एक वे जिनकी स्वत: उत्पत्ति और विकास होता है, जैसे—समाज, समुदाय, परिवार, कस्बा आदि। दूसरे वे संगठन जिनकी स्थापना योजनाबद्ध विधि से निश्चित लक्ष्य के लिए की जाती है। समिति समाज के संगठन का दूसरा प्रकार है। कुछ व्यक्ति मिलकर समिति की स्थापना या निर्माण करते हैं। समिति का विकास स्वत: नहीं होता है। यही कारण है कि समिति की प्रकृति अस्थाई है। लोग समिति के कार्य, नियम, उद्देश्य आदि निश्चित करके समिति की स्थापना करते हैं तथा घोषणा करते हैं। समिति मनुष्यो द्वारा स्थापित की जाती है।

(9) साधन (Means)—मानव अपना जीवनयापन समाज मे करता है। उसकी अनेक आवश्यकताएँ होती हैं जिन्हे वह समाज मे रहकर ही पूरी करता है। व्यक्ति दूसरे व्यक्तियो या समाज के सदस्यो से सम्बन्ध स्थापित करता है, उसके दो प्रमुख कारण या आधार होते है—(1) लक्ष्य और (2) साधन। समिति लक्ष्य नही है। समिति एक साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति सगठित होकर लक्ष्य की प्राप्ति करते हैं। समाज मे साधन समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त होने चाहिएँ। इसीलिए समिति मनुष्यो का ऐसा सगठनात्मक साधन है जो समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त होता है जिसका प्रयोग व्यक्ति अपने हितो की पूर्ति के लिए करता है।

(10) नियम (Rules)—समिति एक सगठन है जिसकी स्थापना नियमानुसार की जाती है। समिति निश्चित कार्य प्रणालियो के अन्तर्गत सदस्यो के हितो की रक्षा करती है। समिति की कुछ शर्तें होती हैं। समिति के सदस्य वही बन सकते हैं जो उसकी न्यूनतम योग्यता नियमानुसार पूरी करते हैं। जो उन नियमो का उल्लघन करता है उसकी सदस्यता समाप्त कर दी जाती है। समिति की अनेक प्रमुख विशेषताओ में एक उसके नियम हैं। समिति नियमो पर आधारित होती है। नियम नहीं तो समिति नही। समिति के सगठन, व्यवस्था और निरन्तरता के लिए नियमो का होना आवश्यक है।

समिति के कुछ उदाहरण

(Some Examples of Association)

मानव समाज मे अनेक प्रकार की समितियाँ होती हैं। जितने मानव के उद्देश्यो के प्रकार हैं, उतने ही प्रकार की समितियाँ हैं। भिन्न-भिन्न समाजो मे तथा भिन्न-भिन्न कालो मे समितियो के प्रकार, आकार तथा लक्ष्य भी बदलते रहे हैं। समाजशास्त्रियो के विचार भी अनेक प्रकार के सगठनो के सम्बन्ध मे अलग-अलग हैं। कुछ संगठनो को समाजशास्त्री समिति मानने के सम्बन्ध मे एक मत हैं तो कुछ संगठन ऐसे हैं जिनके सम्बन्ध मे मतभेद हैं। सामाजिक व्यवस्था में जितनी उप-व्यवस्थाएँ हैं उनसे सम्बन्धित अनेक समितियाँ है। आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक, धार्मिक, शैक्षिक, अनेक उप-व्यवस्थाएँ हैं इनसे सम्बन्धित अनेक समितियों की स्थापना नगरीय समाजो में देखने को मिलती है। समितियो की सख्या कबीलो मे न्यूनतम होती है तथा महानगरो मे अधिकतम। कुछ ऐसे सामाजिक सगठन हैं जो ससार के प्रत्येक समाज मे और हर काल मे किसी न-किसी रूप मे रहे हैं। परिवार, सयुक्त परिवार, वंश-समूह, गोत्र, धार्मिक, सास्कृतिक संगठन कुछ ऐसे ही उदाहरण हैं। इनमे से कुछ पर विचार करेंगे कि वे समिति हैं या नही।

1. परिवार एक समिति के रूप में (The Family as an Association)—मैकाइवर और पेज ने समिति और समुदाय के सन्दर्भ में परिवार की विवेचना की है। इनके अनुसार अत्यन्त ग्रामीण समाजो मे परिवार मे समुदाय के कई गुण होते हैं। अनेक सामाजिक मानवशास्त्रियो तथा ग्रामीण समाजशास्त्रियो का भी यही विचार है कि बड़े आकार के परिवार जनजातियो तथा ग्रामीण समाजो मे समुदाय ही होते हैं। लोग सम्पूर्ण जीवन परिवार में व्यतीत कर देते हैं। परिवार ग्रामीणवासियों का सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक,

शैक्षिक, व्यावसायिक, मनोरंजनात्मक, सांस्कृतिक आदि-आदि जीवन के कार्य पूर्ण रूप से करता है।

लेकिन आधुनिक समाजों तथा महानगरीय समाजो में परिवार एक समिति मे परिवर्तित हो जाता है। इन समाजो में परिवार परम्परागत सयुक्त परिवार से एकाकी परिवार मे परिवर्तित होकर एक समिति मात्र बन जाता है। इसकी विशेषताएँ समुदाय की न रह कर समिति की हो जाती हैं। परिवार के कार्य, लक्ष्य, हित, उद्देश्य आदि सीमित ओर विशिष्ट हो जाते हैं। जैसे-जैसे समाज परम्परागत से आधुनिकीकरण की ओर परिवर्तित होता है, श्रम का विभाजन बढ़ता जाता है। परिवार के परम्परागत कार्य समितियो को हस्तान्तरित होते जाते हैं तथा परिवार समुदाय से समिति बनता जाता है।

बच्चे का जन्म परिवार में होता है। परिवार बच्चे का सामाजीकरण करके उसे वृहद् समुदाय (समाज) के लिए तैयार करता है। **मैकाइवर** और **पेज** का कहना है, "अदृश्य मात्रा में स्वयं परिवार बालक की बुद्धि के साथ-साथ एक समिनि मे रूपान्तरित हो जाता है, जिसके प्राय: सीमित किन्तु गहन हित होते हैं।" जब से परिवार के अनेक कार्य दूसरे सगठन ज्यादा अच्छे तरीके से पूरा करने लगे हैं तब से समाजो मे परिवार समिति में विकसित और परिवर्तित हो गया है।

2. राज्य एक समिति के रूप में (The State as an Association)—राज्य एक ऐसा सामाजिक संगठन है जो समाज के अन्य सगठनो से वृहद् है। राज्य एक राजनैतिक संगठन के साथ-साथ सामाजिक संगठन भी है। हमें समिति और समुदाय की विशेषताओं के आधार पर परीक्षण करके निष्कर्ष निकालना होगा कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से क्या राज्य एक समिति है? समिति का निर्माण तथा स्थापना लोग निश्चित उद्देश्यो की पूर्ति के लिए करते हैं। राज्य की स्थापना तथा निर्माण भी निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लोगों द्वारा किया जाता है। राज्य मनुष्यो का समूह है। राज्य मूर्त है। राज्य व्यक्तियो का सगठन है। राज्य एक ऐसा सगठन है जिसका दायरा व्यापक है। सामान्यतया समिति का दायरा लघु होता है। किंग्सले डेविस ने इसीलिए राज्य को 'महासमिति' कहा है। व्यक्ति राज्य का सदस्य होता है। समिति की सदस्यता ऐच्छिक होती है। राज्य की सदस्यता सामान्यतया जन्म पर आधारित होती है तथा अनिवार्य होती है। राज्य का अस्तित्व दीर्घकालीन होता है। समितियाँ अपवाद रूप मे या बहुत कम समितियाँ ऐसी होती हैं जो दीर्घकालीन होती हैं। राज्य उनमे से एक ऐसी ही समिति है, ऐसा मैकाइवर और पेज का मानना है। इन्होंने अपनी कृति 'समाज' मे लिखा है कि राज्य सामाजिक सगठन का एक रूप है और धार्मिक या व्यापारिक संगठन अथवा गोष्ठी की तरह ही एक समिति है। इन्होने यह भी स्पष्ट किया है कि राज्य और समुदाय का अन्तर समझने मे अधिकतर लोग गलती कर जाते हैं। राज्य समुदाय की तरह स्वत: विकसित नहीं होता है। राज्य एक ऐसी समिति है जो समुदाय पर भी नियंत्रण रखती है। राज्य समुदाय की तरह सामान्य जीवन का तरीका नहीं है। राज्य केवल राजनेतिक लक्ष्यो को प्राप्त करने का साधन है, समुदाय की तरह अपने आप मे साध्य नहीं है। राज्य समिति की तरह निश्चित लक्ष्यों या हितो की पूर्ति करने का साधन है। राज्य मे समुदाय की विशेषताएँ होते हुए भी वह समिति है। राज्य की मोलिक विशेषताओ के आधार पर ही अनेक समाजशास्त्रियों ने इसे 'महासमिति' की संज्ञा दी है।

समाज और समिति में अन्तर

आधार	समाज	समिति
1 सम्बन्ध	समाज सामाजिक सम्बन्धो की जटिल व्यवस्था है।	यह सामाजिक सम्बन्धो की जटिल व्यवस्था नहीं है।
2 मूर्तता	समाज अमूर्त है। सम्बन्धों के जाल को हम देख नहीं सकते, जिससे समाज बनता है।	समिति मनुष्यो का समूह होता है। इसे हम देख सकते हैं। यह मूर्त होता है।
3. निर्माण	समाज का निर्माण: स्वत होता है। इसका विकास धीरे-धीरे होता है।	समिति का निर्माण या स्थापना उद्देश्यों को ध्यान मे रखकर योजनाबद्ध रूप से किया जाता है।
4 अस्तित्व	समाज का अस्तित्व मानव के अस्तित्व के साथ हमेशा रहा है। मानव जब जगली अवस्था में या आखेटक अवस्था मे था तब भी समाज का अस्तित्व विद्यमान था।	समिति का निर्माण मानव ने बहुत बाद में किया था। समाज के अस्तित्व में आने के बहुत बाद में मानव ने निश्चित उद्देश्य के पूर्ति के लिए समिति का निर्माण और स्थापना की।
5 सदस्यता	व्यक्ति समाज का सदस्य नहीं होता है क्योंकि समाज तो सामाजिक सम्बन्धों की व्यवस्था होती है जिसका व्यक्ति सदस्य नहीं बन सकता।	व्यक्ति समिति का सदस्य बन सकता है। समिति की सदस्यता ऐच्छिक होती है। व्यक्ति उद्देश्यो की पूर्ति के लिए समिति का सदस्य बनता है।
6 स्थायित्व	समाज के स्थायित्व की अवधि दीर्घकालीन होती है।	समिति अस्थाई सगठन है। जब तक समिति सदस्यों के हितो की पूर्ति करती है तब तक ही बनी रहती है।
7 सहयोग	समाज में सहयोग और असहयोग तथा संघर्ष की प्रक्रियाएँ मिलती हैं।	समिति में केवल सहयोग की भावना होती है। सघर्ष अथवा असहयोग होने पर समिति समाप्त हो सकती है।
8 प्रक्रिया	समाज एक प्रक्रिया है।	समिति प्रक्रिया नहीं है।
9 सगठन	समाज सगठन नहीं है व्यवस्था है।	समिति व्यक्तियो का सगठन है।
10 व्यापकता	समाज का दायरा व्यापक है।	समिति का दायरा समाज की तुलना में लघु है।

समुदाय और समिति में अन्तर

आधार	समुदाय	समिति
1. सदस्यता	समुदाय की सदस्यता अनिवार्य होती है। व्यक्ति किसी-न-किसी समुदाय का सदस्य अवश्य होता है।	समिति की सदस्यता ऐच्छिक होती है। व्यक्ति चाहे तो सदस्य बने और चाहे तो नहीं बने।
2. सदस्य संख्या	समुदाय में सदस्यो की सख्या समिति की तुलना में सामान्यतया अधिक होती है।	समिति मे सदस्यो की सख्या समुदाय की तुलना में सामान्यतया कम होती है।
3. सदस्यता क्षेत्र	एक व्यक्ति एक समय मे केवल एक समुदाय का सदस्य होता है।	एक व्यक्ति एक समय में अनेक समितियो का सदस्य हो सकता है।
4. भू-भाग	समुदाय एक निश्चित भू भाग मे स्थित होता है।	समिति का कोई निश्चित भू-भाग नहीं होता है।
5. निर्माण	समुदाय का स्वत: निर्माण और विकास होता है।	समिति का स्वत· निर्माण नहीं होता है। इसका निर्माण विचारपूर्वक किया जाता है।
6. उद्देश्य	समुदाय मे सदस्यो के लगभग सभी उद्देश्य, हित तथा आवश्यकताएँ आ जाती हैं। इसका कोई विशिष्ट उद्देश्य नहीं होता है।	समिति को केवल अपने सदस्यो के विशिष्ट उद्देश्यो की पूर्ति के लिए स्थापित किया जाता है। इसके विशिष्ट उद्देश्य होते हैं।
7. साधन	समुदाय में व्यक्ति अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करता है। इसलिए समुदाय कोई साधन नहीं है।	समिति एक ऐसा सगठन है जो किसी निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्थापित किया जाता है। इसलिए समिति अपने आप में एक साधन है।
8. साध्य	समुदाय अपने आप में साध्य है।	समिति साध्य नहीं है। साधन है।
9. नियम	समुदाय में सामान्य नियम होते हैं। उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था होती है।	समिति में सामान्य नियम नहीं होते हैं। इसमें विशिष्ट कार्यप्रणाली होती है।
10. संरचना	समुदाय की सामान्य सरचना होती है।	समिति की विशिष्ट संरचना होती है। सदस्यो की प्रस्थिति और भूमिका होती है।
11. स्थायित्व	समुदाय स्थाई होता है।	समिति अस्थाई होती है।
12. वृहद्ता	समुदाय में अनेक समितियाँ होती हैं यह वृहद् होता है।	यह लघु होता है।

समिति और संस्था में अन्तर

आधार	समिति	संस्था
1. सदस्यता	व्यक्ति समिति का सदस्य बनता है।	व्यक्ति सस्था का सदस्य नही बन सकता।
2 मूर्तता	समिति मूर्त होती है क्योकि व्यक्ति इसके सदस्य होते हैं।	सस्था अमूर्त होती है क्योंकि व्यक्ति इसके सदस्य नहीं बन सकते।
3 समूह	समिति व्यक्तियो का समूह होती है।	सस्था व्यक्तियो का समूह नहीं होती है।
4 स्थापना	कुछ व्यक्ति मिलकर समिति की स्थापना निश्चित उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए करते है।	सस्था की स्थापना नही की जाती है।
5 कार्य-प्रणाली	समिति व्यक्तियो का सगठन है कार्य-प्रणाली नहीं है।	सस्था समाज द्वारा मान्यता प्राप्त कार्य-प्रणाली है।
6 स्वत विकास	समिति की स्थापना योजनाबद्ध तरीके से की जाती है। इसका स्वत: विकास नहीं होता है।	सस्था का धीरे-धीरे स्वतः विकास होता है। व्यक्ति की आदत आगे चलकर सस्था बनती है।
7. स्थायित्व	समिति का स्थायित्व कम होता है। जैसे ही उद्देश्य पूर्ण हो जाते हैं समिति समाप्त हो जाती है।	सस्था का स्थायित्व दीर्घकालीन होता है। एक बार सस्था का विकास होने के बाद वह सरलता से समाप्त नही होती है।
8. क्षेत्र	समिति का क्षेत्र अपने सदस्यो तक ही सीमित रहता है। उसका क्षेत्र लघु होता है	सस्था का क्षेत्र सम्पूर्ण समाज होता है। इसका क्षेत्र व्यापक या वृहद् होता है।
9 हस्तान्तरण	समिति एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित नहीं होती है।	सस्था पीढी-दर-पीढी हस्तान्तरित होती रहती है।
10. औपचारिकता	समिति औपचारिक सगठन है। इसके नियम लिखित होते हैं।	सस्था अलिखित तथा अनौपचारिक होती है। ये जनरीति, प्रथा और रूढियो के रूप मे होती है।
11. नियन्त्रण	समिति का नियन्त्रण का क्षेत्र उसके सदस्यो तक ही सीमित होता है तथा इसकी नियन्त्रण शक्ति सस्था की तुलना मे कमजोर होती है।	सस्था का नियन्त्रण का क्षेत्र व्यापक होता है तथा समिति की तुलना मे इसका नियन्त्रण अधिक शक्तिशाली और कठोर होता है।
12 हित/स्वार्थ	समिति विशेष हित या स्वार्थो तक ही सीमित होती है।	सस्था समाज के सदस्यो के मोलिक हितो या स्वार्थों की पूर्ति करती है।

□

अध्याय-9

सामाजिक समूह

(Social Groups)

समूह व्यक्ति के जीवन की वास्तविकता है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं रह सकता। मनोवैज्ञानिकों के मतानुसार समूह मे रहने की इच्छा (Gregarious Instinct) (जो एक मूल प्रवृत्ति है) प्रत्येक व्यक्ति मे पाई जाती है, यहाँ तक कि पशु भी समूह में ही रहते हैं फिर व्यक्ति तो संस्कृति का निर्माता है। बिना समूह के समाज ही नहीं बन सकता और समाज के अभाव में संस्कृति की संकल्पना नहीं की जा सकती है अत: संस्कृति के लिए समूह आवश्यक है।

समाजशास्त्र मे समूह को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बताया गया है। कोई भी मानव समाज समूह-रहित नहीं होता है। मनुष्य का प्रत्येक कार्य समाज से सम्बन्धित होता है और समाज से हटकर जीवनयापन सम्भव नहीं है। इस तरह व्यक्ति हर समय किसी-न-किसी समूह से ही सम्बद्ध रहता है। छोटा बच्चा भी समूह मे रहकर ही अपना सामाजीकरण करना सीखता है, एकाकी नहीं। इस प्रकार समूह समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है। अत: अब हम समूह के विभिन्न पक्षों का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करेंगे।

सामाजिक समूह का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of Social Group)

समाजशास्त्र सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन करता है और कोई व्यक्ति तब तक सामाजिक नहीं होता जब तक कि वह दूसरों से सम्पर्क कर किसी-न-किसी प्रकार का परस्पर सम्बन्ध न बनाले। एक समूह के लिए पारस्परिक आदान-प्रदान की क्रियाओं का होना आवश्यक है। इस प्रकार सामाजिक समूह ऐसे व्यक्तियों का सम्मेलन है जिनके मध्य किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य होता है। समूह की परिभाषा अनेक विद्वानों ने दी है उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं:

1 मैकाइवर और पेज ने समूह का अर्थ इस प्रकार बताया है, "समूह से हमारा तात्पर्य व्यक्तियों के किसी भी ऐसे संग्रह से है जो सामाजिक सम्बन्धों के कारण एक-दूसरे के समीप हैं।"

2 **ऑगबर्न** और **निमकॉफ** का समूह के विषय में कथन है, "जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति एक-दूसरे के निकट आते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तब वे एक समूह का निर्माण करते हैं।"

इन समाजशास्त्रियों ने समूह-निर्माण के लिए व्यक्तियो के बीच सामाजिक सम्बन्धों को आवश्यक माना है, क्योकि समूह का निर्माण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि व्यक्ति एक-दूसरे को अपनी क्रियाओ द्वारा प्रभावित न करें। ये क्रियायें प्रत्यक्ष रूप से भी हो सकती हैं और अप्रत्यक्ष रूप से भी, लेकिन समूह-निर्माण के लिए सदस्यो में पारस्परिक सम्बन्ध का होना आवश्यक है और पारस्परिक सम्बन्ध के लिए किसी विशेष प्रेरणा का होना आवश्यक है। किसी सामान्य हित के लिए ही व्यक्ति समूह का निर्माण कर सकते हैं।

3 **टी. बी. बोटोमोर** के अनुसार सामाजिक समूह व्यक्तियो के उस योग को कहते हैं जिसमे—(i) विभिन्न व्यक्तियों के बीच निश्चित सम्बन्ध होते हैं और (ii) प्रत्येक व्यक्ति समूह और उसके प्रतीको के प्रति सचेत होता है। अर्थात् "एक सामाजिक समूह का कम-से-कम प्रारम्भिक ढाँचा और संगठन (नियमों, संस्कारो सहित) होता है और उसके सदस्यो की चेतना का मनोवैज्ञानिक आधार होता है।" इस प्रकार एक परिवार, एक गाँव, एक राष्ट्र, एक मजदूर-सगठन अथवा एक राजनैतिक दल एक सामाजिक समूह है।

4 **मर्टन** के अनुसार समूह के लिए निम्नलिखित तथ्य आवश्यक हैं— (i) समूह मे दो या दो से अधिक व्यक्तियो का होना आवश्यक है। (ii) समूह में सम्बन्ध का होना आवश्यक है। सम्बन्ध के लिए व्यक्तियों मे बार-बार अन्तःक्रिया का होना आवश्यक है। और (iii) समूह का सदस्य व्यक्ति तभी माना जायेगा जब उसमें समूह के प्रति '**हम की भावना**' तथा '**सदस्य होने का भाव**' हो, साथ ही यह भी आवश्यक है कि समूह के अन्य सदस्य भी उसे '**समूह का सदस्य**' समझे।

5 **विलिएम्स** (Williams) ने पारस्परिक क्रियाओ को महत्त्व देते हुए कहा है, "एक सामाजिक समूह मनुष्यो के उस निश्चित संग्रह को कहा जाता है जो पारस्परिक अन्त-क्रियाएँ करते हैं और उस अन्तःक्रिया को इकाई के रूप मे ही दूसरो के द्वारा मान्य होते हैं।"

6. **सैण्डरसन** के मतानुसार, "एक सामाजिक समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियो के उस निश्चित संग्रह को कहा जाता है जो पारस्परिक अन्तःक्रियाएँ करते हैं और उस अन्त-क्रिया की इकाई के रूप मे ही दूसरो के द्वारा मान्य होते हैं।"

7. अमेरिकन समाजशास्त्री **एलविन स्माल** के मत मे, "समूह का अर्थ व्यक्तियो की किसी भी लघु या वृहत् इकाई से है जिनके मध्य इस प्रकार के सम्बन्ध हो कि उन्हे एक सम्बद्ध इकाई के रूप में देखा जाने लगे।"

8. **एडवर्ड सापिर** के अनुसार "समूह का निर्माण इस तथ्य पर आधारित है कि कोई विशेष स्वार्थ उस समूह के सदस्यो को एक सूत्र में बाँधे रखता है।"

9. **गिलिन** एवं **गिलिन** के अनुसार, "सामाजिक समूहों के विकास हेतु एक ऐसी अनिवार्य स्थिति हो जिससे सम्बद्ध व्यक्तियों में अर्थपूर्ण अन्तःउत्तेजना तथा अर्थपूर्ण प्रत्युत्तर सम्भव हो सकें एव जिसमें उन सबका सामान्य उत्तेजकों अथवा हितों पर ध्यान टिका रहे और उनमें सामान्य चालको, प्रेरकों एवं संवेगो का विकास हो सके।"

10. **एल्ड्रिज** एवं **मैरिल** के मत में, "सामाजिक समूह दो या दो मे अधिक व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसमें एक लम्बी अवधि से संचार होता आ रहा है और जो सामान्य कार्य या प्रयोजन के अनुसार कार्य करते हैं।"

11. **बोगार्डस** के कथनानुसार, "एक सामाजिक समूह दो या दो से अधिक व्यक्तियो की एक ऐसी संस्था को कहते हैं जिनका ध्यान कुछ सामान्य उद्देश्यों पर हो और जो एक-दूसरे को प्रेरणा दें, जिनमें भक्ति हो और जो सामान्य क्रियाओं में सम्मिलित हों।"

12 **काउडर** के अनुसार, "समूह अनिश्चित संख्या में मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को कहते हैं।"

13 **हाट** एवं **रेस** (Hatt and Reiss) के अनुसार, "समूह अन्तःक्रिया में संलग्न व्यक्तियों का एक संगठित सग्रह है।"

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि समूह का निर्माण उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि कुछ व्यक्ति अपनी क्रियाओ द्वारा एक दूसरे को प्रभावित न करें। समूह के निर्माण के लिए अन्तःक्रिया का होना आवश्यक है, साथ ही ये अन्तःक्रियाएँ अर्थपूर्ण होनी चाहिएँ क्योंकि यही समूह को स्थायित्व प्रदान करती हैं।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि *कुछ सामान्य हितों की पूर्ति के लिए जब दो या दो से अधिक व्यक्ति अर्थपूर्ण अन्तःक्रियाओं द्वारा परस्पर प्रभावित होते हैं तथा सम्बन्धों की स्थापना करते हैं, तब वे एक समूह का निर्माण करते हैं।*

सामाजिक समूह की विशेषतायें
(Characteristics of Social Group)
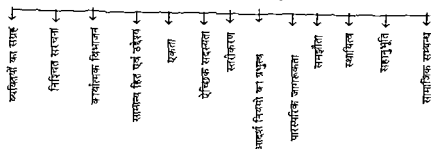
समूह की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ अग्रलिखित हैं जिनके आधार पर समूह की धारणा को और स्पष्टत: समझा सकता है

1. व्यक्तियो का संग्रह (Collection of Aggregation)—समूह का निर्माण पारस्परिक रूप से सम्बन्धित व्यक्तियो द्वारा होता है जिनमे पारस्परिक आदान-प्रदान की क्रिया आवश्यक होती है भले ही वे प्रत्यक्ष रूप से एक-दूसर के निकट न हो। व्यक्तियो के संग्रह के रूप मे समूह एक मूर्त सगठन है।

2. निश्चित संरचना (Definite Structure)—फिशर ने इस तथ्य पर विशेष रूप से ध्यान केन्द्रित किया है कि समूह की एक निश्चित सरचना होती है जिसमे सभी व्यक्तियो की स्थिति निर्धारित होती है और सदस्यो के मध्य स्तरीकरण की भी एक व्यवस्था पायी जाती है अर्थात् उसमें नियम, अधिकार, कर्त्तव्य, पद, भूमिकाएँ, कार्यप्रणाली आदि तय किए जाते हैं और सदस्य उनके अनुसार ही कार्य करते हैं।

3 कार्यात्मक विभाजन (Functional Devision)—किसी भी समूह के सभी सदस्य परस्पर सम्बन्धित होते हैं लेकिन सभी के कार्य पृथक्-पृथक् होते हैं और अपने-अपने कार्यों को पूर्ण करके वे समूह को सगठित बनाए रखते हैं।

4. सामान्य हित एवं उद्देश्य (Common Interest and Aims)—सपीर (Sapir) के अनुसार एक समूह के सदस्यो के उद्देश्य समान होते हैं, बिना किसी हित या उद्देश्य के कोई व्यक्ति किसी समूह का सदस्य नहीं हो सकता। उस समूह के सदस्य की रुचि एव हित समान होते हैं और वे एक ही स्वार्थ से प्रेरित होते हैं।

5. एकता (Unity)—एक समूह के सदस्यो मे जब तक एकता की भावना पाई जाती है तभी तक वे समूह के सदस्य बने रहते हैं। उनमे 'हम की भावना' या 'सहकार' की भावना होती है, इसी से परस्पर सहायता करते हैं।

6. ऐच्छिक सदस्यता (Voluntary Membership)—व्यक्ति सामाजिक प्राणी होने के कारण किसी-न-किसी समूह से सम्बद्ध रहता है सदस्यता दो प्रकार की होती है—अनिवार्य और ऐच्छिक। व्यक्ति लेकिन किस समूह की सदस्यता व्यक्ति ग्रहण करेगा यह उसकी रुचि इच्छा, योग्यता आदि पर भी निर्भर है। किन समूहो की सदस्यता स्वीकारेगा यह भी उसकी इच्छा पर निर्भर है। व्यक्ति अपने लक्ष्यो के अनुसार विभिन्न समूहो की सदस्यता को स्वीकार कर सकते हैं।

7. स्तरीकरण (Stratification)—एक समूह के सदस्य समान पदो पर नहीं होते वरन् उनकी प्रस्थिति व भूमिकाएँ अलग-अलग होती हैं—जैसे महाविद्यालय मे शिक्षक एक समूह के सदस्य होते हुए भी पदो की उच्चता व निम्नता के कारण उनमे स्तरीकरण अवश्य पाया जाता है।

8. आदर्श नियमों का प्रभुत्व (Dominance of Ideal Norms)—प्रत्येक समूह के कुछ आदर्श या मानक होते हैं जिनके अनुसार उस समूह के सदस्यो के व्यवहारो को निश्चित किया जाता है। प्रत्येक सदस्य को उन नियमों को मानना होता है। ये आदर्श नियम

भिन्न-भिन्न समूहो में भिन्न-भिन्न होते हैं लेकिन सभी सदस्यों के व्यवहार समान नियमों द्वारा ही नियन्त्रित किए जाते हैं जिससे समूह का संगठन सुदृढ़ रहता है।

9. पारस्परिक जागरूकता (Mutual Awareness)—समूह के सदस्य एक-दूसरे के प्रति सजग रहते हैं। **मैकाइवर** व **पेज** का तो यही मानना है कि सामाजिक सम्बन्धों के कारण ही समूह बनते हैं और सामाजिक सम्बन्धों का आधार पारस्परिक जागरूकता और परस्पर सहयोग की भावना है। इसके अभाव में समूह की स्थिरता कम हो जाती है। पारस्परिक जागरूकता के कारण ही एक समूह के सदस्यों में परस्पर सहयोग व सहानुभूति की भावना पाई जाती है।

10. समझौता (Contract)—किसी भी समूह का अस्तित्व तभी तक सम्भव है जब तक उसके सदस्यों में समूह के प्रति निष्ठा हो। समूह के उद्देश्यों, नियमों के प्रति समान रूप से समझौता न हो। यह विशेषता समूह की शक्ति मे वृद्धि करती है और उसे स्थायित्व प्रदान करती है।

11. स्थायित्व (Permanency)—समूह के सदस्यो के उद्देश्य जब समान होते हैं तभी समूह में स्थायित्व आता है क्योंकि उन उद्देश्यों की पूर्ति सभी मिलकर करते हैं, यदि समूह मे अस्थिरता होगी तो कोई उद्देश्य पूर्ण हो ही नहीं सकता। यद्यपि यह स्थायित्व कम या अधिक समय का हो सकता है लेकिन इतना अधिक नहीं कि बनते ही टूट जाये।

12. सहानुभूति (Sympathy)—समूह के सदस्य एक-दूसर के प्रति सहृदय होते हैं। वे एक-दूसरे के दु:ख-सुख मे सहयोग व सहायता भी करते हैं—एक सदस्य पर संकट आने पर अन्य सदस्य सहभागी हो जाते हैं। इस प्रकार परस्पर सहयोग, सहानुभूति व आदान-प्रदान से ही वे अपने हितो की पूर्ति कर पाते हैं।

13. सामाजिक सम्बन्ध (Social relation)—एक समूह के सदस्यो के मध्य सामाजिक सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण होते हैं जिससे समूह सुदृढ़ व स्थायित्व प्राप्त करता है।

समूह-निर्माण के आधार (Basis of group formation)—समूह-निर्माण का आधार व्यक्ति के सम्बन्ध होते हैं। ये सम्बन्ध व्यक्ति की रुचि, स्वार्थ, आवश्यकता, स्थान, आयु, लिंग, व्यवसाय, धर्म, आदर्श आदि अनेक आधारो पर हो सकते हैं—उदाहरण के लिए एक धर्म मे विश्वास रखने वालों का एक समूह होगा, विभिन्न आयु, लिंग, आदि का अलग-अलग समूह होगा। सामाजिक परिस्थितियाँ व आवश्यकताएँ भी समूह-निर्माण में महत्त्वपूर्ण हैं। कहने का आशय है कि समूहों के निर्माण के अनेकानेक आधार हैं जिनका उल्लेख करना कठिन कार्य है, फिर भी अनेक समाजशास्त्रियो ने कुछ प्रमुख आधारों का उल्लेख किया है। **सोरोकिन, जिमरमैन** व **गालपिन** ने समूह-निर्माण के निम्नलिखित आधार बताए हैं जो समूह का निर्माण करते हैं—(1) रक्त सम्बन्ध अथवा एक ही पूर्वज से उत्पत्ति मानने म विश्वास, (2) विवाह, (3) जादू-टोने या धर्म मे समान विश्वास, (4) समान भाषा, (5) समान लोकाचारो और रीति-रिवाजों मे विश्वास, (6) एक ही भूमि का स्वामित्व, (7) पड़ोस, (8) सामान्य व्यवसाय, (9) समान उत्तरदायित्व, (10) एक ही स्वामी के अधीन रहकर काम करना, (11) समान शत्रु का होना, (12) साथ-साथ रहकर कार्य करना, (13) एक ही सस्था से सम्बन्धित होना, तथा (14) पारस्परिक सहयोग।

मर्टन ने समूह-निर्धारण के 26 आधारो का उल्लेख किया है।

यह कहा जा सकता है कि समूह का आधार सामान्य उद्देश्य, हित, भाषा, निवास आदि माना जा सकता है।

समूहों का वर्गीकरण
(Classification of Groups)

समाज वैज्ञानिको ने भिन्न-भिन्न आधारो पर बने मानव समूह के विभिन्न रूपो को स्पष्ट करने का प्रयास किया है—समाजशास्त्रियों का मत इस विषय मे एक नहीं है—सभी का दृष्टिकोण भिन्न है। मुख्य रूप से समूहो के वर्गीकरण के प्रमुख 6 आधार निश्चित किए गए हैं—(1) सदस्यो की सख्या, (2) स्थायित्व, (3) हम की भावना, (4) प्रकार्यात्मकता, (5) आकाक्षा, और (6) सामाजिक सम्बन्ध।
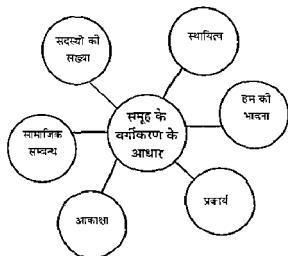
1. सदस्यों की संख्या (Number of Members)—सदस्यो की संख्या के आधार पर समूह छोटे तथा बडे हो सकते हैं। समूह मे सदस्यो की संख्या के आधार पर सामाजिक सम्बन्ध निश्चित होते हैं, जैसे—छोटे समूह में अन्त:क्रिया अधिक होगी किन्तु इसमे सम्बन्ध अधिक व्यवस्थित व घनिष्ठ होगे। **जार्ज सिमेल, जॉनसन** तथा **होमन्स** ने छोटे समूहो को समाज का आधार माना है। होमन्स ने पाँच छोटे समूहो का अध्ययन किया और बताया कि हर युग मे छोटे समूहो ने अपने अस्तित्व को विघटनकारी तत्त्वो से बचाए रखा है। इन्होने इन छोटे समूहो में तीन विशेषताएँ बताई हैं—(1) इनके सदस्यों मे सक्रियता दिखाई पडती है, (2) इनमे अन्त:क्रिया का प्रतिमान सुदृढ़ होता है और (3) ये भावना-प्रधान होते

हैं। होमन्स ने इन समूहों को सम्पूर्ण समाज का आधार व समाज की निरन्तरता का एकमात्र कारण माना है।

सदस्यों की सख्या के आधार पर कुछ बड़े समूह होते हैं—**मैकाइवर व पेज** ने राष्ट्र और प्रान्त जैसे समूहों का उल्लेख किया है जिन्हें **मर्टन** समूह नहीं मानते क्योंकि इनमें 'हम की भावना' होते हुए भी अन्त:क्रिया नहीं होती। **मैकाइवर व पेज** ने सामाजिक समूहो को प्रमुख तीन भागों में विभाजित किया है—(1) क्षेत्रीय समूह जिनमें व्यक्ति के हित व्यापक होते हैं और उस समूह के सभी व्यक्ति निश्चित क्षेत्र में अपना जीवन व्यतीत करते हैं, जैसे—राष्ट्र, नगर, गाँव, आदि। (2) दूसरी श्रेणी में वे समूह हैं जो अपने हितो के प्रति जागरूक है लेकिन इनका सगठन अनिश्चित प्रकृति का है, जैसे—शरणार्थी समूह, प्रजातीय समूह आदि। (3) तीसरी श्रेणी में वे समूह हैं जो अपने हितों के प्रति सचेष्ट होने के साथ-साथ संगठित भी हैं—इनमे सदस्य संख्या सीमित होती है व उत्तरदायित्व असीमित होता है, जैसे—परिवार।

2. स्थायित्व (Permanency)—इस आधार पर समूहो को दो रूपों मे वर्गीकृत किया जा सकता है—(1) स्थायी समूह और, (2) अस्थायी समूह।

स्थायी समूह वे होते हैं जो सार्वभौमिक होते हैं, जैसे—परिवार, शिक्षण संस्था आदि—ये व्यवस्थित होते हैं। दूसरी ओर अस्थायी समूह वे होते हैं जो कुछ समय के लिए ही बनते हैं। ये अव्यवस्थित होते हैं, जैसे—भीड़ व श्रोता-समूह। **बोटोमोर**—स्थायी व अस्थायी दोनो समूहों के बीच एक आभासीय अर्द्ध-समूह (Quasi Group) का भी उल्लेख करते हैं। अर्द्ध-समूह वे होते हैं जिनमे सरचना या सगठन का अभाव होता है तथा समूह के सदस्यो में समूह के प्रति कम जागरूकता होती है, इनमें आयु, लिंग समूह, सामाजिक वर्ग आदि को लिया जा सकता है।

3. 'हम की भावना' ('We Feeling')—'हम की भावना' के आधार पर अमेरिकन समाजशास्त्री **समनर** दो प्रकार के समूह मानते हैं—

(i) अन्त:-समूह , और (ii) बाह्य-समूह

अन्त:-समूह (In Group) से तात्पर्य उस समूह से है जिसमे सदस्यों के मध्य परस्पर 'हम की भावना' होती है जो उन्हें एकता में बाँधती है। अन्त:-समूह के सदस्य अपने समूह को श्रेष्ठ व दूसरे समूह को निम्न मानते हैं। इसके सदस्य व्यवहार के सामान्य नियमों मे आबद्ध रहते हैं। आपने आगे बताया कि बाह्य-समूह मे भी अन्त:-समूह की विशेषताएँ पाई जाती हैं लेकिन बाह्य-समूह इतर समूह होते हैं अर्थात् अन्त:-समूह हम-समूह (We-Group) है और बाह्य-समूह (Out Group) वे-समूह या इतर-समूह (They-Group) हैं।

अन्त:-समूह के अन्तर्गत उन सभी को सम्मिलित कर लिया जाता है जिन्हें 'हम-समूह' की सज्ञा दी जा सकती है। अन्त:-समूह से बाहर जो लोग हैं वे इतर-समूह हैं। अन्त-समूह परिवार के बराबर छोटा भी हो सकता है और संसार जैसा विशाल भी। परिवार, कॉलेज, देश आदि सभी हमारे लिए 'हम की भावना' के कारण अन्त:-समूह हैं। जिन्हें हम अपना नहीं समझते, जिनके प्रति हमारे मन में कटुता का भाव हो; घृणा, द्वेष, प्रतिस्पर्धा, भय, ईर्ष्या आदि की भावना हो वे बाह्य-समूह के अन्तर्गत आते हैं।

ऑगबर्न और **निमकॉफ** के मत मे अन्त:-समूह के सदस्यो के लिए हमारे मन मे सहानुभूति व सहकारिता की भावना पाई जाती है तथा बाह्य-समूह के सदस्यो के प्रति हमारे मन मे भय, सन्देह, घृणा, विरोधीभाव आदि होते है।

रॉबर्ट बीरस्टेड ने अन्त:-समूह और बाह्य-समूह का अन्तर बताते हुए लिखा है कि प्रथम तो अन्त:-समूह के व्यक्ति बाह्य-समूह को दकियानूस और पिछड़ा हुआ मानते है अर्थात् अन्त:-समूह के सदस्यो मे तो हम अन्तर देखते हैं, उनका व्यक्तिगत रूप से मूल्यांकन करते हैं किन्तु बाह्य समूह के सभी सदस्यो को एक जैसा मानते है उनमे कोई अन्तर नही करते, उदाहरण के लिए—भारतीय सभी पाश्चात्य लोगो को एकसमान श्रेणी का मानते हैं जबकि *भारतीयो मे हिन्दू, मुसलमान, दक्षिण आदि के लोगो को अलग-अलग श्रेणी मे रखते हैं।*

दूसरा, अन्त:-समूह बाह्य-समूह से आने वाले किसी भी खतरे का सामना करने के लिए स्वय को सुदृढ बना लेता है अर्थात् बाह्य-समूह से जब कभी खतरा होता है तो अन्त:-समूह स्वय को सगठित कर लेता है।

4. प्रकार्य (Function)—आधुनिक युग मे व्यक्ति के कार्य, रुचियाँ आदि हैं—जहाँ *व्यक्ति प्रकार्यात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। ज्यो-ज्यो व्यक्ति की शैक्षणिक, बौद्धिक,* कलात्मक, राजनैतिक आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं वह किन्ही समूहो से प्रकार्यात्मक सम्बन्ध स्थापित कर लेता है, अर्थात् व्यक्तियो की विभिन्न आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रकार्यात्मक समूह निर्मित हो जाते हैं जहाँ सभी प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति हो जाती है। **गिलिन** व **गिलिन** इन समूहो को व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक मानते हैं। वे प्रकार्यात्मक समूहों को ऐच्छिक व अनैच्छिक दो प्रकार से मानते है। प्रकार्यात्मक समूहो में सदस्यो की सख्या अधिक बढ जाती है अत: वहाँ मैत्री समूह बन जाते है जो किसी बड़े समूह के सदस्यो मे बहुत घनिष्ठ सम्बन्धो को बताते हैं। **मोरेन** के अनुसार मैत्री-समूह सामाजिक परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिए—व्यक्ति अपने जातीय समूह मे इतनी आस्था नही रखता जितनी कि अन्य प्रकार्यात्मक समूहो मे रखता है। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन मे प्रकार्यात्मक समूहो की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

5. आकांक्षा (Aspiration)—**मर्टन** ने आकाक्षा के आधार पर सन्दर्भ-समूह का निर्माण किया है—उन्होने इसे ऐसा समूह बताया है जिसका व्यक्ति सदस्य नहीं है किन्तु वह उसका सदस्य बनना चाहता है। **स्टाउफर** ने सन्दर्भ-समूह का सम्प्रत्यय विकसित किया है—उन्होने अमेरिकी सिपाहियो की महत्त्वाकाक्षा का अध्ययन किया और उनके व्यवहार व कुठाओ को सन्दर्भ-समूह से सम्बन्धित किया।

शैरिफ और **शैरिफ** (Sheriff and Sheriff) ने अपनी पुस्तक 'An Outline of Social Psychology' में सन्दर्भ-समूह की परिभाषा इस प्रकार दी है—"सन्दर्भ समूह वे समूह है जिनमे व्यक्ति अपने को समूह के रूप से सम्बन्धित करता है अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से सम्बन्धित होने की आकाक्षा रखता है।"

प्रतिदिन की बातचीत में सन्दर्भ-समूह वह समूह है जिसके साथ व्यक्ति अपना समीकरण करता है या समीकरण करने की आकांक्षा रखता है।

ऑटो क्लाइनबर्ग (Atto Klinebarg) के मत में, "यह वह समूह होता है जिसके आदर्श, मूल्य, आचरण, प्रतिमान आदि को हम आदर्श मान लेते हैं और इसलिए उस समूह से कम-से-कम मनोवैज्ञानिक तौर पर अपना सम्बन्ध बनाए रखना चाहते हैं या सम्बन्ध बनाए रखने की आकांक्षा हममे होती है।"

इस प्रकार सन्दर्भ-समूह वह समूह है जिसका व्यक्ति सदस्य नहीं है किन्तु वह उसका सदस्य बनना चाहता है। कभी-कभी सन्दर्भ-समूह महत्त्वाकांक्षा के कारण बन जाते हैं।

लेकिन **मर्टन** का कथन है कि सन्दर्भ-समूह सापेक्ष-वंचना (Relative Deprivation) के कारण बनते हैं। सापेक्ष-वंचना से आशय उस स्थिति से है जिसमें व्यक्ति सन्दर्भ-समूह को अपने समूह से ऊँचा समझता है—अर्थात् व्यक्ति जिस समूह में है उसे निम्न समझकर अन्य समूहों को अपने से श्रेष्ठ मानता है जिसकी वह सदस्यता प्राप्त करना चाहता है—वही उसके लिए सन्दर्भ-समूह है। सन्दर्भ-समूह की सदस्यता को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति निरन्तर प्रयास करता रहता है लेकिन जब वह सन्दर्भ-समूह का सदस्य बन जाता है तो उसमें वह बिना किसी कठिनाई के समायोजन कर लेता है क्योंकि उसकी स्थिति का पूर्वाभ्यास उसे पहले ही हो चुका होता है, जैसे—किसी निजी महाविद्यालय के व्याख्याता के लिए सरकारी या विश्वविद्यालय का प्राध्यापक होना सन्दर्भ-समूह है जिसके लिए वह अनवरत प्रयत्नशील रहता है और अन्त में उसे प्राप्त कर अपना समायोजन भी उससे कर लेता है—उस समय यह (विश्वविद्यालय-प्राध्यापक) उसका सन्दर्भ समूह नहीं होता—इस तरह सन्दर्भ-समूह व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा के कारण भी बन जाते हैं, सदैव सापेक्ष वंचना के कारण ही नहीं। अर्थात् व्यक्ति किसी उच्च आदर्श को पूर्ण करके भी उसे अपना सन्दर्भ-समूह बना सकता है।

मर्टन के सन्दर्भ समूह के आधार को निम्नलिखित तालिका द्वारा भी स्पष्ट किया जा सकता है।

मर्टन : सन्दर्भ समूह के आधार

सन्दर्भ समूह की सदस्यता के बारे में असदस्य का दृष्टिकोण	सदस्यता के लिए योग्य	सदस्यता के लिये अयोग्य
I सदस्यता के लिए इच्छुक	सदस्यता का उम्मीदवार	सदस्यता के लिए अयोग्य
II सदस्यता के प्रति उदासीन	सक्षम सदस्य	विरक्त सदस्य
III सदस्य न बनने के लिए प्रेरित	स्वायत्त पूर्ण-असदस्य	

अन्त मे यह कहना भी संगतयुक्त होगा कि सन्दर्भ समूह जहाँ महत्त्वाकांक्षा को बनाए रखते हैं वहाँ कभी-कभी इनसे हानियाँ भी होती है, जैसे—व्यक्ति को आत्म-सम्मान बनाए रखना कठिन होता है, वह असुरक्षित अनुभव करता है तथा सन्दर्भ समूह मे पहुँचने के बाद भी स्थिर रहना कठिन हो जाता हे जिससे निम्न वर्ग सघर्ष छेड देता है—परिणामस्वरूप समाज की एकता को खतरा हो जाता है।

6. **सामाजिक सम्बन्ध** (Social Relationship)—सामाजिक सम्बन्धो के आधार पर भी समूहो का वर्गीकरण किया जा सकता है। समूह के सदस्यो के मध्य अनेक प्रकार के सम्बन्ध हो सकते हैं, जैसे—घनिष्ठ, अस्थाई, स्वार्थ-प्रेरित या अन्य—इस सीमा के आधार पर समाजशास्त्रियो ने कई आधार माने हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री **चार्ल्स कूले** ने सामाजिक सम्बन्धो के आधार पर प्राथमिक समूह के सम्प्रत्यय को विकसित किया।

मैकाइवर व पेज ने सदस्यो के सामान्य व्यवहार, आर्थिक स्तर, हितो की पूर्ति, भू-भाग आदि को आधार मानकर समूह का वर्गीकरण किया है जिसके मुख्य तीन आधार हैं—

I. **भूभागीय इकाइयाँ** (Territorial unities)—जिसमे समुदाय, वन्यजाति, राष्ट्र, नगर, गाँव, पडौस आदि को लिया जा सकता है।

II. **हित सचेतन इकाइयाँ जिसका संगठन निश्चित नहीं होता** (Interest conscious unities without definite organization)—इनमे सामाजिक वर्ग, जाति, प्रतिस्पर्धा वाले वर्ग, प्रजातीय समूह, शरणार्थी समूह, राष्ट्रीय समूह आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

III. **हित सचेतन इकाइयाँ जिनका संगठन निश्चित है** (Interest conscious unities with definite organization)—इनमे प्राथमिक समूह, परिवार, पडौस, खेल के साथी, क्लब आदि को सम्मिलित किया जा सकता है।

सामाजिक जीवन में समूहों का महत्त्व

(Importance of Groups in Social Life)

प्राय: व्यक्ति एक साथ अनेक समूहो का सदस्य होता है क्योकि वह अनेक सुविधाएँ किसी समूह का सदस्य होकर ही प्राप्त कर सकता है। सामाजिक जीवन मे समूह की अनेक महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ है इन्हे निम्न पाँच शीर्षको के अन्तर्गत देखा जा सकता है—(1) सामाजीकरण मे सहायक, (2) सामाजिक नियंत्रण, (3) आवश्कताओं की पूर्ति, (4) सस्कृति मे सहायक का हस्तान्तरण, और (5) सामाजिक विकास और नियोजन।
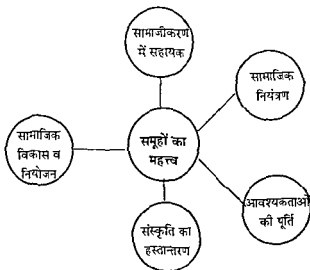
1. सामाजीकरण में सहायक (Helpful in Socialization)—एक अबोध शिशु जन्म के समय हर स्थिति से अनभिज्ञ है लेकिन धीरे-धीरे परिवार के सदस्यों को, उनके व्यवहारों के तरीकों को जानता है। इससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। फ्रॉयड आदि अनेक मनोवैज्ञानिक भी यह सिद्ध करते हैं कि परिवार प्रथम स्थल है जहाँ बालक का सामाजीकरण होता है। उसके बाद पड़ौस, साथी-समूह, शिक्षण संस्थाएँ आदि उसका सामाजीकरण करती हैं जिससे बालक उस समाज की सभ्यता, संस्कृति, रीति-रिवाजों आदि को सीखता है लेकिन यदि व्यक्ति एकाकी जीवन व्यतीत करे तो उसका सामाजीकरण नहीं हो सकता। इसके लिए तो उसे किसी न किसी समूह के सम्पर्क में आना ही पड़ेगा। इस प्रकार समूह व्यक्ति के सामाजीकरण में सहायक होते हैं। दूसरे शब्दों में कहें कि व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाने का श्रेय समूहों को ही जाता है।

2. सामाजिक नियन्त्रण (Social control))—परिवार में जीवन को नियमित बनाने के लिए उसका मुखिया सब सदस्यों पर नियन्त्रण रखता है। उसी प्रकार समाज, विद्यालय, राजनीति आदि प्रत्येक स्तर पर अपने सदस्यों को नियमबद्ध रूप से जीवन व्यतीत करने के लिए उसके मुखिया नियन्त्रण रखते हैं जो प्रशंसा, दंड, पुरस्कार अनेक प्रकार से रखा जा सकता है और ये समस्त कार्य समूह के माध्यम से ही पूर्ण होते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि समूह नियन्त्रण या व्यवस्था बनाए रखने में सक्षम होते हैं।

3. आवश्यकताओं की पूर्ति (Fulfillment of needs)—व्यक्ति की अनेक आवश्यकताएँ होती हैं। जिनकी पूर्ति न होने पर व्यक्ति में हीनता की भावना आ जाती है। समूह इसमें अपना पूर्ण योगदान देते हैं, उदाहरण के लिए परिवार—स्नेह देकर, पुलिस सुरक्षा देकर, संस्थाएँ प्रोत्साहन देकर आदि-आदि ......व्यक्ति की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओ की पूर्ति कर देती हैं लेकिन इसका सम्पूर्ण दायित्व विभिन्न समूहों को ही जाता है।

4. संस्कृति का हस्तान्तरण (Transmission of culture)—समाज संस्कृति को एक पीढी से दूसरी पीढ़ी तक समूहो के माध्यम से पहुँचाता है। रीति-रिवाज, परम्पराएँ, रूढियाँ, आचार-व्यवहार आदि व्यक्ति किसी समूह का सदस्य होकर ही सीखता है और वह आगे आने वाली पीढी को इन सबसे अवगत कराता है। इस प्रकार समूह संस्कृति के हस्तान्तरण और सरक्षण में सहायक होते हैं।

5. सामाजिक विकास व नियोजन (Social development and planning)—समाज मे समय-समय पर नवीन विकास होते रहते हैं जिससे समाज नियोजित व व्यवस्थित रहता है। पुरानी मान्यताएँ जो समय सापेक्ष नहीं हैं उनका स्थान नवीन मान्यताएँ लेती हैं। जिससे व्यक्ति के विचारो को प्रश्रय मिलता है। ये सभी नव-निर्माण के कार्य व्यक्ति समूह मे रहकर ही कर सकता है।

इसके अतिरिक्त समूह व्यक्ति की सामाजिक गतिशीलता मे भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। व्यक्ति अपनी योग्यता के आधार पर उच्च पद को प्राप्त करता है, उच्च मानवीय गुणो को प्राप्त कर अपने व्यक्तित्व को निखारता है—ये समस्त कार्य व्यक्ति समूह के माध्यम से ही कर पाता है *अतः समूह अनेक प्रकार से व्यक्ति के सामाजीकरण में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।*

किन्तु कभी-कभी समूह अहितकारी भी हो जाते हैं, जैसे—वर्ग-पक्षपात को बढ़ावा देते हैं, वर्ग चेतना को जन्म देते हैं, जो कभी-कभी व्यक्ति को असुरक्षित अनुभव करने पर मजबूर कर देते हैं जो हानिकर है।

प्राथमिक, द्वैतीयक तथा आभासी समूह

(Primary, Secondary and Quasi Groups)

समूह के वर्गीकरणों में **चार्ल्स कूले** द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण पूर्ण वैज्ञानिक व सर्वमान्य है। अमेरिकन समाजशास्त्री चार्ल्स कूले ने अपनी पुस्तक 'सोशियल ऑर्गेनाइजेशन' (Social Organization) में सन् 1909 में 'प्राथमिक समूह' शब्द का प्रयोग किया है। उन्होने कहा है कि जिसमे सदस्य पारस्परिक व घनिष्ठ रूप से एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हों वे प्राथमिक समूह हैं—कूले ने खेलकूद के साथियो, परिवार तथा पड़ौस को प्रकृति के आधार पर यह वर्गीकरण किया। बाद मे 'प्राथमिक समूह' से भिन्न विशेषताएँ प्रदर्शित करने वाले समूहों को 'द्वैतीयक समूह' नाम दिया गया लेकिन द्वैतीयक समूह का सम्प्रत्यय चार्ल्स कूले का दिया हुआ नहीं है अन्य समाजशास्त्रियो द्वारा यह वर्गीकरण किया गया है। जैसा कि किंग्सले डेविस की पुस्तक 'ह्यूमन सोसाइटी' की अनुवादित पुस्तक 'मानव-समाज' में पाद-टिप्पणी (Foot-note) पृष्ठ 251 में स्पष्ट लिखा गया है, "कूले ने 'द्वैतीयक' शब्द का प्रयोग नहीं किया, लेकिन जैसा कि यह नाम उसके मस्तिष्क मे था, बाद मे इसका विस्तृत प्रयोग होने लगा।"

कूले का वर्गीकरण सभी समाजशास्त्रियो को मान्य है यद्यपि उससे पूर्व सन् 1887 मे एफ टॉनीज ने 'जैमिनशैफ्ट' तथा 'जैसलशैफ्ट' अर्थात् 'घनिष्ठ सामुदायिक सम्बन्ध' तथा

'संगठित अवैयक्तिक सम्बन्ध' के रूप में प्राथमिक व द्वैतीयक समूहों को वर्गीकृत किया है। अब हम प्राथमिक समूह पर विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

(I) प्राथमिक समूह
(Primary Group)

प्राथमिक समूह : परिभाषा एवं अर्थ (Primary Group Definition and Meaning)—प्राथमिक समूह के विषय में कूले ने कहा है—"प्राथमिक समूहों से मेरा तात्पर्य उन समूहों से है जिनकी विशेषताएँ आमने-सामने का घनिष्ठ संसर्ग और सहयोग है। वे अनेक अर्थों में प्राथमिक हैं परन्तु मुख्यतया इस बात में कि वे व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदर्शों के निर्माण में मौलिक हैं। घनिष्ठ साहचर्य का परिणाम यह होता है कि सामान्य समग्रता में वैयक्तिकताओं का एक प्रकार का एकीकरण हो जाता है जिससे अनेक प्रयोजनों के लिए एक व्यक्ति स्वयं समूह का सामान्य जीवन और उद्देश्य हो जाता है। इस सम्पूर्णता के वर्णन की अति सरल विधि यह है कि ये यह 'हम' हैं, उनमें परस्पर सहानुभूति और पारस्परिक परिचय बड़े गहन हो जाते हैं।"

कूले द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त परिभाषा से यह आशय निकलता है कि वे 'आमने-सामने के सम्बन्धों' तथा 'हम की भावना' को विशेष महत्त्व देते हैं। कूले की परिभाषा के अनुसार प्राथमिक समूहों की 6 विशेषताएँ होती हैं—

कूले के अनुसार प्राथमिक समूह की विशेषताएँ हैं

हम की भावना	आमने-सामने के सम्बन्ध	वैयक्तिक सम्बन्ध	सम्पूर्ण सम्बन्ध	सम्बन्धों की अवधि	घनिष्ठ सम्बन्ध

किंगसले डेविस व **फैरिस** को **कूले** की परिभाषा में वर्णित 'हम की भावना' व 'आमने-सामने के सम्बन्ध' दोनों विशेषताओं पर आपत्ति है। उनका मानना है कि कई बार 'आमने-सामने के सम्बन्ध' होते हुए भी प्राथमिक समूहों का निर्माण नहीं हो पाता, उसी प्रकार 'हम की भावना' भी प्राथमिक समूहों में ही नहीं द्वैतीयक समूहों में भी होती है—डेविस उसका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि सेना का एक सिपाही किसी अफसर को आमने-सामने होकर सलाम करता है किन्तु उनमें मात्र औपचारिक सम्बन्ध है, उसी भाँति सेना का एक सिपाही किसी लड़की से प्रेम सम्बन्धों से प्रेरित होकर पत्र-व्यवहार करता है तो उसमें प्राथमिक सम्बन्ध तो निश्चित होंगे, उसके उपरान्त भी 'आमने-सामने' के सम्बन्ध नहीं हैं।

लेकिन कूले ने इसके अतिरिक्त भी चार विशेषताएँ और बताई हैं, जैसे—वैयक्तिक सम्बन्ध, सम्पूर्ण सम्बन्ध, सम्बन्धों की अवधि व घनिष्ठ सम्बन्ध, जिन्हें प्राथमिक समूहों के किये आवश्यक माना गया है।

विद्वानद्वय **कोजर एवं रोजनबर्ग** (Coser & Resenberg) ने कहा है कि कुछ विशेषताएँ संयोगवश (Accidental) होती हैं और कुछ आधारभूत (Essential) होती हैं। प्राथमिक समूह के सन्दर्भ मे भी 'आमने-सामने के सम्बन्ध', 'लघु आकार होना' संयोगवश विशेषताएँ हैं जबकि 'सामाजिक सम्बन्धों का घनिष्ठ होना' आधारभूत विशेषता है जो प्राथमिक समूह बनने की अनिवार्य कडी है, जिसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

कोजर व रोजनबर्ग का वर्गीकरण

संयोगवश	आधारभूत
(आमने-सामने के सम्बन्ध लघु आकार)	(सम्बन्धों का घनिष्ठ होना)
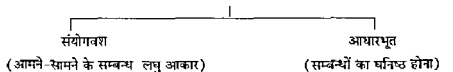
मैकाइवर व पेज के मत मे "सबसे सरल सर्वप्रथम और समितियो के सभी स्वरूपों मे सार्वभौमिक समूह वह है जिसमें थोड़ी संख्या मे लोग आमने-सामने मिलते हैं, पारस्परिक सहायता करते हैं, सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करते हैं। यह आमने-सामने का समूह सभी सगठनो के केन्द्र के रूप में होता है और किसी-न-किसी रूप में सभी जटिल व्यवस्थाओं में पाया जाता है। यह सामाजिक संरचना की इकाई कोशिका है। यह एक ऐसा समूह है जिसके द्वारा हम खिलाडी और साथी के रूप में अपनी सामाजिक मनोवृत्तियों को क्रियात्मक रूप देते हैं, यह हमारी रूढ़ियो के पालन-पोषण का स्थान है। यह सर्वप्रथम है और साधारणतया सामाजिक सन्तोष के लिये मुख्य केन्द्र है।"

लुण्डबर्ग ने प्राथमिक समूह को इस प्रकार परिभाषित किया है, "प्राथमिक समूह से तात्पर्य दो या दो से अधिक ऐसे व्यक्तियो से है जो घनिष्ठ सहभागी और वैयक्तिक ढँग से एक-दूसरे से व्यवहार करते हैं।"

फैरिस (Faris) के मत में आमने-सामने के सम्बन्ध प्राथमिक समूह के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं है।

वीरस्टीड के अनुसार यह घनिष्ठता अथवा सामाजिक दूरी की मात्रा है न कि शारीरिक दूरी जो प्राथमिक समूह को निर्धारित करती है।

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि दो या दो से अधिक व्यक्ति जब घनिष्ठ रूप से परस्पर व्यवहार करते हैं तो वे प्राथमिक समूह बनाते हैं। प्राथमिक समूह के उदाहरण परिवार, क्रीड़ा समूह, अध्ययन समूह आदि हो सकते हैं।

प्राथमिक समूह की विशेषतायें

(Characteristics of Primary Group)

समाज विद्वानो ने प्राथमिक समूह के लिये कुछ विशेषताएँ आवश्यक मानी हैं जिन्हे निम्नलिखित क्रम से दर्शाया जा सकता है। ये विशेषताएँ दो प्रकार की हैं—(I) भौतिक विशेषताएँ (II) आन्तरिक विशेषताएँ।

(I) प्राथमिक समूहों की भौतिक विशेषताएँ (Physical Features of Primary Groups)—डेविस ने प्राथमिक समूहों की तीन भौतिक विशेषताएँ बताई हैं, जो निम्नलिखित हैं—

1. शारीरिक समीपता (Physical Proximity)—घनिष्ठ सम्बन्ध होने के लिये शारीरिक समीपता को किंग्सले डेविस ने महत्त्वपूर्ण माना है। एक-दूसरे के साथ खाने-पीने, उठने-बैठने, लड़ने-झगड़ने से घनिष्ठता विकसित होती है। निकट सम्पर्क से भावनाओं को व्यक्त किया जा सकता है। भौतिक समीपता प्राथमिक समूह के लिए आवश्यक है। डेविस के अनुसार शारीरिक समीपता की मात्रा किसी समाज की संस्कृति पर निर्भर है, जैसे—किसी स्थान पर बड़ों के चरणस्पर्श करके, छोटों के सिर पर हाथ रखकर व अपना स्नेह प्रकट कर तथा साथी-समूह से हाथ मिलाकर—परस्पर स्पर्श के कारण हम एक-दूसरे के अति निकट आ जाते हैं, वहीं दूसरी ओर किसी स्थान पर पद-प्रतिष्ठा आदि के कारण भौतिक समीपता को प्राप्त नहीं कर पाते—और तब हम उस व्यक्ति के साथ प्राथमिक सम्बन्ध भी नहीं बना पाते। इसके विपरीत यात्रा आदि के समय किसी के साथ अति निकट बैठकर यात्रा करने पर भी उसके साथ प्राथमिक सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते। अतः यह कहा जा सकता है कि शारीरिक समीपता प्राथमिक समूहों के लिए महत्त्वपूर्ण है लेकिन केवल वही महत्त्वपूर्ण नहीं कुछ और विशेषताएँ भी आवश्यक हैं।

2. समूह का लघु आकार (Small Size of Group)—किंग्स्ले डेविस ने समूह के लघु आकार को प्राथमिक समूह के निर्माण के लिए आवश्यक माना है। यदि समूह का आकार बड़ा होगा तो समूह के सदस्यों मे आपस में विचारों का आदान-प्रदान भली-भाँति न हो सकेगा। यदि समूह का आकार छोटा होगा तो सम्बन्धो में घनिष्ठता बनी रहेगी। अतः डेविस के मतानुसार प्राथमिक समूह को आकार में छोटा होना चाहिए अर्थात् प्राथमिक समूह में सदस्यों की संख्या कम होनी चाहिए जिससे सदस्यों में परस्पर अन्तःक्रिया हो सके, विचारो का आदान-प्रदान भलीभाँति हो सके। फेयर चाइल्ड के अनुसार सामान्य रूप से 3-4 व्यक्तियों से लेकर 50-60 व्यक्ति तक प्राथमिक समूह के सदस्य हो सकते हैं जिनमें प्रत्यक्षतः विचारों का आदान-प्रदान हो सकता है। जॉर्ज सिमेल ने सदस्यों की संख्या के विषय मे प्रयोग किए और निष्कर्ष निकाला कि छोटे समूह में व्यक्तियो की वृद्धि करने से उनके सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन आ जाता है अर्थात् सदस्यों की संख्या जितनी अधिक होगी उनका संगठन औपचारिक मात्र रह जायेगा इसके विपरीत समूह में सदस्यों की संख्या की न्यूनता से सदस्यों का व्यक्तित्व एक-दूसरे के लिए महत्त्वपूर्ण हो जायेगा। उनमें घनिष्ठता बढ़ेगी।

3. सम्बन्धों की अवधि (Duration of Relationship))—डेविस के अनुसार प्राथमिक समूहो की तीसरी विशेषता सम्बन्धों की अवधि है। उनके मत में जितनी लम्बी अवधि या समय के लिए सामाजिक सम्बन्ध होंगे उन सम्बन्धों में स्थिरता उतनी ही गहरी होगी और जितनी कम अवधि के लिए सामाजिक सम्बन्ध होगे उनमें घनिष्ठता उतनी ही कम होगी। कहने

का आशय है कि घनिष्ठता और सम्बन्धो को अवधि मे प्रत्यक्ष सम्बन्ध यह है कि घनिष्ठ सम्बन्धो के लिए यह आवश्यक है कि प्राथमिक समूहो मे समय की अवधि भी लम्बी हो। प्राथमिक समूहो के सदस्य परस्पर बार-बार मिलने और व्यवहार करने के कारण निरन्तर एक-दूसरे के प्रति निजीपन व घनिष्ठता का अनुभव करते हैं।

निष्कर्षत: किंग्सले डेविस के अनुसार प्राथमिक समूहों के लिए भौतिक निकटता, समूह का छोटा आकार व सम्बन्धो की लम्बी अवधि का होना आवश्यक है जिससे समूह के सदस्य परस्पर भूमिका का निर्वाह कर सके।

II. प्राथमिक समूहों की आन्तरिक विशेषताएँ : सम्बन्धों की प्रकृति (Internal Features of Primary Groups Nature of Relationship)—प्राथमिक समूह की कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जिन्हे आन्तरिक या मानसिक विशेषताएँ कहा जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं—

1. लक्ष्यों का तादात्म्य (Identity of Ends)—प्राथमिक समूह के सभी सदस्यो का एक ही लक्ष्य होता है, एक ही प्रवृत्ति व प्रयत्न होता है कि वे सभी समूह के लिए कार्य करें। समूह के हित सदस्यो के अपने हित हो जाते हैं। सदस्यों के अलग से विचार नहीं रहते अपितु वे समस्त समूह के विचार हो जाते हैं। इस तरह प्रत्येक सदस्य समूह के उद्देश्यो, हितों से अपना तादात्म्य बिठा लेता है, उसमे एकाकार हो जाता है तभी समूह अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। उदाहरण के लिए—परिवार एक प्राथमिक समूह है जिसके सभी सदस्यो का एक ही लक्ष्य होता है कि परिवार प्रगति करे—इसके लिए प्रत्येक सदस्य समान रूप से जागरूक रहता है, उन सभी सदस्यों के सुख-दुःख एक होते हैं और यही भावना समूह या परिवार को एकता के सूत्र में बाँधे रहती है। माता-पिता अपने बच्चो के सुख के लिए हर सम्भव प्रयास करते हैं उसी प्रकार बच्चे माँ-बाप के सुखो का पूरा ध्यान रखते हैं जिससे उनमे परस्पर 'हम की भावना' भी तीव्रतर रहती है। एक व्यक्ति जब कोई सस्था चलाता है तो उससे अपना इतना तादात्म्य या एकाकार कर लेता है कि सस्था के सुख-दुःख, हानि-लाभ उसके स्वयं के सुख-दुःख तथा हानि-लाभ हो जाते हैं। जब इस प्रकार की एकाकारिता समूह के सदस्यो मे हो जाती है तभी सभी का लक्ष्य समूह का लक्ष्य बन जाता है जो इसकी अनिवार्य या चारित्रिक विशेषता कही जा सकती है।

2. सम्बन्ध स्वयं में साध्य है (Relationship is an End in Itself)—प्राथमिक समूह मे सम्बन्ध स्थापित करना ही समूह का साध्य या लक्ष्य होता है न कि किसी लक्ष्य या साध्य की प्राप्ति करना। परिवार एक प्राथमिक समूह है वहाँ सदस्य परस्पर वैयक्तिक या व्यक्तिगत सम्बन्धो के दृढ़ीकरण को महत्त्व देते हैं, किसी साध्य की प्राप्ति इन सम्बन्धो से होगी—ऐसा नहीं समझते। किंग्सले डेविस का मानना है, कि "यह सम्बन्ध सविदा, आर्थिक लाभ अथवा राजनैतिक उद्देश्यो से प्रभावित नहीं होते बल्कि व्यक्तिगत, आत्मिक, भावनात्मक तथा अपने आप में पूर्ण होते हैं।" कहने का आशय यह है कि सम्बन्ध स्वत: विकसित होते हैं न कि किसी स्वार्थवश इनको विकसित किया जाता है।

3. सम्बन्ध वैयक्तिक होते हैं (Relationship is Personal)—वैयक्तिक सम्बन्धों से आशय है कि किसी आर्थिक अथवा सामाजिक स्वार्थवश सदस्य परस्पर सम्बन्ध स्थापित नहीं करते अपितु व्यक्ति के महत्त्व पर सम्बन्ध आधारित होते हैं। माता-पिता, भाई-बहिन, माँ-बच्चे मे वैयक्तिक सम्बन्ध होते हैं और प्रत्येक का स्थान महत्त्वपूर्ण है जिसका प्रतिस्थापन नहीं किया जा सकता, न ही इन सम्बन्धों का स्थानान्तरण हो सकता है। डेविस के मन मे "एक नवीन वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है, एक पुराना वैयक्तिक सम्बन्ध समाप्त किया जा सकता है। सम्भवत: वह चालक शक्ति जिसने सम्बन्ध को प्रारम्भ करवाया था, दूसरे को मार्ग दे सकती है, परन्तु एक ही सम्बन्ध में एक व्यक्ति के स्थान पर दूसरे का प्रतिस्थापन नहीं किया जा सकता।" उदाहरण के लिए, माता या पिता किसी की मृत्यु हो जाने पर कोई अन्य सदस्य माता-पिता का स्थान नहीं ले सकता।

4. सम्बन्ध सम्पूर्ण होते हैं (The relationship is inclusive)—प्राथमिक सम्बन्धों मे व्यक्ति घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण एक-दूसरे को भली-भाँति जानते हैं जिससे इनमें व्यक्तित्व की सम्पूर्णता पाई जाती है। डॉक्टर-रोगी, शिक्षक-छात्र आदि के सम्बन्ध जीवन के एक पहलू से सम्बन्धित होने के कारण कुछ समय के लिए ही होते हैं, इनमें सम्पूर्णता नहीं होती, उद्देश्य प्राप्ति के बाद सम्बन्ध टूट जाते हैं किन्तु पिता-पुत्र या मित्र के साथ सम्बन्ध सम्पूर्ण-जीवन के लिए होता है क्योंकि ये सम्बन्ध किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं होते अपितु इनके अन्तर्गत जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है। कहने का आशय यह है कि प्राथमिक समूह एक सयुक्तता की स्थिति है जिसमे प्रथागत, तकनीकी, आर्थिक और मनोरजनात्मक सभी प्रकार के सम्बन्धो का समावेश होता है।

5. सम्बन्ध स्वत: ही होते हैं (Relationship is Spontaneous)—प्राथमिक समूह की सदस्यता किसी आदेश के आधार पर नहीं ग्रहण की जाती बल्कि स्नेह, ममता, प्रेम आदि के कारण स्वाभाविक रूप से सम्बन्ध बन जाते हैं। ये सम्बन्ध किसी औपचारिकता के आधार पर नहीं बनाये जा सकते, ये तो स्वत: हृदय मे उत्पन्न हो जाते हैं जो घनिष्ठ होते हैं तथा स्वाभाविक रूप से बने रहते हैं। माता-पिता, भाई-बहिन आदि मे परस्पर सम्बन्ध किसी बाह्य दबाव से नहीं, वरन् कुछ ऐसी भावनाओ से स्वत: ही विकसित होते हैं जिनके विषय में व्यक्ति स्वयं भी अनभिज्ञ-सा रहता है।

6. सम्बन्धों में नियन्त्रण शक्ति होती है (Relationship has Controlling Power)—प्राथमिक समूहो में अत्यधिक नियन्त्रण-शक्ति होती है। अर्थात् सम्बन्धों की घनिष्ठता के कारण व्यक्ति एक-दूसरे से इस प्रकार बँधा रहता है कि वह किसी भी इस प्रकार के कार्य को नहीं कर सकता जो सदस्यो के लिए कष्ट साध्य हो। कोई व्यक्ति राज्य अथवा कानून के नियमों की अवहेलना आसानी से कर सकता है किन्तु समूह के प्रतिमानो या आदर्शों को नहीं तोड़ सकता। इस प्रकार प्राथमिक समूह अपने सदस्यों के आचार-व्यवहार पर नियन्त्रण रखता है। प्राथमिक सम्बन्धों के फलस्वरूप ही परिवार अपने सदस्यो पर नियन्त्रण रखकर आदर्श प्रतिमान स्थापित कर सकता है।

प्राथमिक समूहों का सामाजिक जीवन में महत्त्व

(Importance of Primary Group in Social Life)

प्राथमिक समूह व्यक्ति के जीवन-निर्माण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। प्राथमिक समूहो मे मुख्य रूप से परिवार एक प्रमुख सस्था है जिसमे बालक जन्म लेकर सभी सदस्यो के सरक्षण में अपना सामाजीकरण करता है। उसे परिवार मे प्रेम, सहानुभूति, कर्त्तव्य-परायणता, सहिष्णुता आदि प्राप्त होते हैं जिससे वालक का परिवार के सभी सदस्यो के प्रति उत्तरदायित्व बढता है और यहाँ तक कि परिवार के दुःख-सुख, हित आदि सभी उसके अपने हो जाते है। यही स्थिति उसे सदस्यो के साथ एकाकारिता की भावना उत्पन्न कराती है—परिवार के साथ ही क्रीडा-समूह, पड़ोस, विद्यालय भी बालक के सामाजीकरण मे अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं—जिन्हे निम्नलिखित क्रम मे वर्णित किया जा सकता है—

प्राथमिक समूहों का सामाजिक जीवन में महत्त्व

1. सामाजिक गुणों का विकास (Development of Social Qualities)—प्रारम्भ से ही बालक माँ-बाप के सान्निध्य मे रहकर अपना विकास करता है। परिवार एक ऐसी पाठशाला कही जा सकती है जहाँ बच्चा प्रेम, सहिष्णुता, सहकारिता, सद्भावना, कर्तव्यपरायणता जैसे गुणो को सीखता है। मित्र-मंडली, पड़ौस आदि भी इन गुणों के विकास मे सहयोग करते हैं क्योकि जब तक बालक किसी के सम्पर्क मे नहीं आयेगा उसमे सामाजिक गुणो का विकास न हो सकेगा जो उसे सामाजिक प्राणी बनाने मे महत्त्वपूर्ण है। उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं, क्या अच्छा है क्या बुरा, इस प्रकार के मानवोचित व्यवहार भी बच्चा प्राथमिक समूहो मे ही सीखता व विकसित करता है। सी.एच. कूले का मानना है कि इस प्रकार के सम्बन्ध हमारे चारो ओर के ससार मे मानव स्वभाव के परिचारक (Nursery) हैं।

किम्बाल यंग (Kimbal Young) का मानना है कि प्राथमिक समूह मौलिक मानव-सघो के प्रतिनिधि हैं—सम्भवतः ये उतने प्राचीन हैं जितना कि मनुष्य का जीवन। परिवार एक ऐसा स्थल है जहाँ बालक परस्पर स्नेह, ममता, सुरक्षा आदि मानवोचित गुणों को

विकसित करता है जिससे आगे चलकर सामाजिक जीवन मे सचय एवं सन्तुलन बनाए रखता है और इस प्रकार वह समाज का एक सक्रिय सदस्य बनता है। अत: यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक समूह ही वह आधारशिला है जहाँ रहकर व्यक्ति सामाजीकरण की प्रक्रिया मे अपना योगदान देने योग्य गुणों का विकास करता है।

2. व्यक्तित्व के विकास में सहायक (Helpfull ın Personalıty Development)—व्यक्तित्व मे व्यक्ति की रुचियाँ, आदते, मनोवृत्तियाँ, सहयोग, आवश्यक्ताएँ आदि सम्मिलित हैं जिनके समुचित विकास के बिना व्यक्ति का व्यक्तित्व अपूर्ण रहता है। उसका शारीरिक, मानसिक, नैतिक व सामाजिक विकास भली-भाँति नहीं हो पाता—प्राथमिक समूह विशेष रूप से परिवार मित्र-मंडली, परिवार, क्रीड़ा-समूह आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थान हैं जहाँ व्यक्ति अपने गुणो को विकसित करता है और एक संतुलित व्यक्तित्व उभर कर आता है। अनेक मनोवैज्ञानिक प्रयोगो से यह सिद्ध हो चुका है कि जिस बच्चे का परिवार मे पालन-पोषण नहीं हुआ उसका व्यक्तित्व भी समायोजित नहीं रहा। सामाजिक दृढ़ता, नैतिकता, चारित्रिक दृढ़ता आदि गुण ही व्यक्ति को समाज की एक उपयोगी इकाई बनाते हैं। तभी तो कूले ने प्राथमिक समूहों को 'मानवीकरण करने वाला एक शक्तिशाली एजेण्ट' कहा है।

3. मनोवैज्ञानिक सुरक्षा (Psychologıcal Securıty)—प्रारम्भ से ही बालक को सुरक्षा की आवश्यकता होती है जो उसे संतुलित व्यक्तित्व प्रदान करती है—माता-पिता हर कदम पर उसे यह (प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में) आश्वासन दिलाते रहते हैं कि वह किसी बड़े के संरक्षण में है जो कठिनाई आने पर उसकी सहायता करेंगे, यही सुरक्षा की भावना बालक को आगे बढ़ने में सहायक होती है। मित्र-मंडली, विद्यालय भी प्रेम, सहानुभूति, सहभागिता आदि देकर उसका व्यक्तित्व बनाते हैं, उदाहरण के लिए—यदि बालक को यह भय रहे कि मैं अकेला हूँ, कोई मेरा साथी-सहयोगी या रक्षक नहीं है तो यह भावना उसके व्यक्तित्व को दबा देगी और अपनी बात वह अन्य तक नहीं पहुँचा सकेगा और यदि विचार-अभिव्यक्ति की भी क्षमता उसमें विकसित नहीं हो सकेगी तो उसका सामाजीकरण भी न हो सकेगा—लेकिन इसके विपरीत यदि उसे यह आश्वासन है कि मेरे माता-पिता, साथी-जन या शिक्षक मेरी हर स्थिति में सहायता करेंगे—तो वह सरलता से अपनी बात दूसरो तक पहुँचा सकेगा और समाज मे भी अपना अस्तित्व बनाए रख सकेगा। प्राथमिक समूह इस सुरक्षा भावना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।

4. सामाजिक प्रतिमानों के विकास में सहायक (Helpful ın the Development of Socıal Patterns)—प्राथमिक समूह बालक मे सामाजिक प्रतिमानो को विकसित करते हैं। इनमे (1) सकारात्मक सामाजिक गुणों, जैसे—दया, सहृदयता, सहानुभूति, समन्वय, सहकारिता भावना का विकास, (2) सामाजिक तरीको, जैसे—किसी के साथ उठना-बैठना, बातचीत करना, अभिवादन आदि का विकास भली-भाँति होता है। भावात्मक सम्बन्धो के निर्माण का भी प्राथमिक समूह अच्छा माध्यम है। इसके साथ ही सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखने में भी सहायक है। इस प्रकार सामाजिक नियमों के पालन में उसकी अहं भूमिका है।

5. कार्य-क्षमता में वृद्धि (Growth in Expansion in Working Capability)—प्राथमिक समूह मे व्यक्ति हर चिन्ता से विमुक्त होकर संतुष्टि का अनुभव करता है जिससे उसकी दक्षता या कार्य-कुशलता मे वृद्धि होती है। सामाजिक परेशानियो और चिन्ताओ से घर-परिवार मे आकर छुटकारा मिलता है उससे सकारात्मक रूप से व्यक्ति उत्साहवर्धन के साथ अपने कार्य करता है। **लियोनार्ड ब्रूम** का मानना है कि प्राथमिक समूह में व्यक्ति यह अनुभव करता है कि—(1) वास्तव मे कुछ उसके 'अपने जन' हैं जो उसको अपना समझते हैं, (2) उसका व्यक्तित्व महत्त्वपूर्ण है—अपने समूह के सदस्यो के मध्य वह स्वाभाविक रूप से अपना मूल्यांकन कर सकता है जिसमे किसी प्रकार की औपचारिकता अथवा दिखावा नहीं है और अन्त मे (3) प्राथमिक समूह व्यक्ति की कार्य-दक्षता व रुचि को ध्यान मे रखकर ही उसके उद्देश्यो का निर्धारण करते हैं जिससे व्यक्ति को आवश्यक सुरक्षा स्वत: प्राप्त हो जाती है और वह कुशलतापूर्वक अपना कार्य कर सकता है।

6. व्यक्ति व समाज के बीच की कड़ी (Link between Individual and Society)—ब्रूम का मानना है कि प्राथमिक समूह व्यक्ति और समाज के मध्य महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं। इनकी सहायता से वह उच्चतम उद्देश्यो की प्राप्ति कर सकता है—उसे भावात्मक सुरक्षा प्राप्त हो सकती है। **चार्ल्स कूले** का भी यही मानना है कि प्राथमिक समूह व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति और आदतो का निर्माण करने मे मौलिक हैं—कहने का अभिप्राय यही है कि व्यक्ति का वास्तविक सामाजीकरण इन समूहो के माध्यम से ही होता है। इस प्रकार प्राथमिक समूह ही व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाते हैं।

7. पशु-प्रवृत्तियों का मानवीकरण (Humanization of Animal Instincts)—कूले के मतानुसार, "पशु-प्रवृत्तियो का मानवीकरण ही सम्भवत: सबसे बडी सेवा है जो प्राथमिक समूह करते हैं।" इसका अर्थ है कि व्यक्ति मे लालसा, लालच, सत्ता, प्रतिशोध, ईर्ष्या जैसी नकारात्मक प्रवृत्तियाँ होती हैं जो व्यक्ति को स्वार्थी-लालची बना देती है—प्राथमिक समूह ऐसी नकारात्मक प्रवृत्तियो का दमन कर उसे वास्तविक मानव बनाते हैं जिससे व्यक्ति समाजोपयोगी सदस्य बन पाता है।

8. सांस्कृतिक का हस्तान्तरण (Transmission of Culture)—प्राथमिक समूह, जैसे परिवार आदि, की अह भूमिका यह है कि बचपन से ही बालक अपनी सस्कृति, आचरण-व्यवहार, जीवन जीने का तरीका, परम्पराएँ, नियम आदि अपने बडे लोगो से सीखता है। दैनिक व्यवहार के तरीके हम स्वत: अन्य सदस्यो से सीख लेते हैं जो पीढी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं—हमारी संस्कृति के परिचायक ये समूह ही हैं।

9. मनोरंजन (Recreation) —प्राथमिक समूह ऐसा वातावरण प्रस्तुत करते हैं जिसमे व्यक्ति हर प्रकार की चिन्ताओ से विमुक्त होकर प्रसन्नता का वातावरण उत्पन्न कर एक-दूसरे के अति निकट आ जाता है—हँसी-मजाक, खेल आदि के माध्यम से व्यक्ति परस्पर समीप होकर अपनी भावनाओ का आदान-प्रदान सरलता से कर लेते हैं।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक समूह व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्माण मे, उसके सामाजीकरण मे, आत्मनियन्त्रण करने मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। सस्कृति के हस्तान्तरण

व संरक्षण का कार्य भी इन्हीं के माध्यम से भली-भाँति पूर्ण होता है। सामाजिक-नियन्त्रण में भी इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। समाज के विकास के लिए प्राथमिक समूहों के महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। इसीलिए यह कहा जा सकता है कि सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में भी प्राथमिक समूहों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

प्राथमिक समूहों के अपकार्य (Dysfunction of Primary Groups)—कुछ समाज विरोधी कार्य करने के कारण प्राथमिक समूहो का महत्त्व कम हो गया है। **कोजर** तथा **रोजनबर्ग** का कहना है कि इन समूहों ने भाई-भतीजावाद, पक्षपात तथा धन के एकत्रीकरण को बढ़ावा दिया है क्योंकि सम्बन्धो की घनिष्ठता के परिणामस्वरूप सार्वजनिक जीवन में लोग अपने रिश्तेदारों तथा मित्रों को अनुचित रूप से लाभ पहुँचाते हैं। उदाहरण के तौर पर, अयोग्य व्यक्ति की उच्च पदों पर नियुक्ति कर, योग्य व्यक्ति को उसके अधिकार से वचित कर देना समाज में असंतोष को बढ़ावा देता है। धन-संग्रह का कारण भी ये प्राथमिक समूह हैं। एक पूँजीपति अपने निकट सम्बन्धी को लाइसेन्स देकर पूँजी का एकत्रीकरण कर लेते हैं जिससे गरीबी-अमीरी का अन्तर बढ़ता ही जाता है।

प्राथमिक समूहो का एक अपकार्य इस रूप मे भी बताया जाता है कि ये व्यक्ति की प्रगति मे बाधक हैं। कभी-कभी रूढ़िवादिता के फलस्वरूप ये समूह सामाजिक परिवर्तन नहीं चाहते और इस तरह व्यक्तित्व विकास में बाधक बनते हैं—लेकिन इसके उपरान्त भी प्राथमिक समूह हमारे सामाजिक विकास, व्यक्तित्व विकास, व्यक्तिगत सुरक्षा, प्रेम आदि के लिए सशक्त आधार बनते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कूले के अनुसार प्राथमिक समूहो मे परिवार, मित्रों का समूह, पड़ौस—तीनों बालक के व्यक्तित्व को प्रारम्भ से प्रभावित करते हैं जो आगे के जीवन की आधारशिला बनते हैं—व्यक्ति का सामाजीकरण करते हैं तथा उसे मानवोपयोगी सदस्य बनाते हैं।

(II) द्वैतीयक समूह
(Secondary groups)

चार्ल्स कूले ने केवल प्राथमिक समूह की चर्चा की है, द्वैतीयक समूह की अवधारणा अन्य समाजशास्त्रियों की है लेकिन प्राथमिक समूह के कारण ही द्वैतीयक समूह का विकास हो सका है। वास्तव में द्वैतीयक समूहों का सम्प्रत्यय विकसित समाज की देन है जहाँ सम्बन्ध आमने-सामने न होकर अप्रत्यक्ष रूप से होते हैं। समाज की जटिलता के कारण द्वैतीयक समूह पनपे हैं, **जार्ज सी. होमन्स** तथा **किंग्सले डेविस** आदि ने इन पर प्रकाश डाला है। उनके अनुसार द्वैतीयक समूह को स्थूल रूप से सभी प्राथमिक समूहों के विपरीत रूप में परिभाषित किया गया है। **बीरस्टीड** ने भी यही कहा है, "वे सभी समूह द्वैतीयक हैं जो प्राथमिक नहीं हैं।" द्वैतीयक समूह के सदस्यों में घनिष्ठता नहीं होती। उनमें अप्रत्यक्ष व औपचारिक सम्बन्ध होते हैं। ये सम्बन्ध जीवन के किसी एक भाग से सम्बन्धित, अस्थाई और छोटी अवधि के होते हैं। 'विविध भारती', 'मीलीन', 'पत्रिका विशेष के पाठक', 'राजनैतिक

पार्टियाँ', 'मजदूर यूनियन', 'सोशियोलोजीकल सोसाइटी' आदि द्वैतीयक समूहो के उदाहरण हैं जिनमे सम्बन्ध अवैयक्तिक व अप्रत्यक्ष होते हैं।

द्वैतीयक समूह : परिभाषा एवं अर्थ
(Meaning and Definitions of Secondary Group)

ऑगबर्न व निमकॉफ के अनुसार, "द्वैतीयक समूह उन्हे कहते हैं जिनमे प्राप्त अनुभवो में घनिष्ठता का अभाव होता है। आकस्मिक सम्पर्क ही द्वैतीयक समूह का सारतत्त्व है।"

लुण्डबर्ग के मत मे जिनमे सदस्यो के सम्बन्ध अवैयक्तिक, हित-प्रधान एवं व्यक्तिगत योग्यता पर आधारित होते हैं वे द्वैतीयक समूह कहे जा सकते हैं।

समाजशास्त्री **लेण्डिस** के अनुसार घनिष्ठता का अभाव और अत्यधिक औपचारिक होने के कारण द्वैतीयक समूहो को शीत जगत कहा जा सकता है।

फेयर चाइल्ड द्वारा सम्पादित 'समाजशास्त्रीय शब्द कोष' मे सामाजिक सम्पर्क व सगठन के आधार पर द्वैतीयक समूहो को इस प्रकार परिभाषित किया गया है—समूह का वह रूप जो अपने सामाजिक सम्पर्क और औपचारिक संगठन की मात्रा मे प्राथमिक समूहो की घनिष्ठता से भिन्न हो, द्वैतीयक समूह है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्वैतीयक समूहो की विशेषताएँ प्राथमिक समूहों से पूर्णतया भिन्न हैं, जैसे—इनमें सम्पर्क औपचारिक होते हैं जो किसी समझौते की शर्तों पर आधारित होते हैं, इनका सगठन अधिकार और कर्त्तव्यो की शर्तों के अनुसार होता है।

आकार और क्षेत्र की दृष्टि से भी द्वैतीयक समूह बडे विस्तृत क्षेत्र में फैले होते हैं जिसके कारण उनके सम्बन्ध परस्पर निकटता के न होकर किसी माध्यम के द्वारा प्रभावित होते हैं। इनमे सम्बन्ध अप्रत्यक्ष व अवैयक्तिक होते हैं अर्थात् कोई व्यक्ति किसी समूह का नेता उस समूह के सदस्यो के प्रत्यक्ष सम्पर्क बिना ही बन सकता है और सभी सदस्यो को उसकी आज्ञा का निर्वाह भी अप्रत्यक्ष रूप से करना होता है। लेकिन इन समूहो का संचालन बिना निष्ठा व त्याग के नहीं हो सकता। किग्सले डेविस के अनुसार द्वैतीयक समूहो मे निष्ठा और एकात्मकता स्वत: विकसित नहीं होती अपितु सचार के परिणामस्वरूप एक से दूसरे मे विकसित होती है विशेष रूप से ऐसे सचार द्वारा जो निकट व्यक्तिगत सम्बन्धो में पाया जाता है। इस कारण द्वैतीयक समूहो के अस्तित्व के लिए प्राथमिक समूह अनिवार्य हैं। क्योंकि अनेक मानवोचित गुण जैसे—प्रेम, सहानुभूति, दया, सहिष्णुता, त्याग आदि जिनका विकास प्राथमिक समूहो में होता है उनकी आवश्यकता द्वैतीयक समूहो मे भी होती है।

द्वैतीयक समूह की विशेषताएँ
(Characteristics of Secondary Group)

सक्षेप मे द्वैतीयक समूह की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(1) द्वैतीयक समूहो में सम्बन्ध औपचारिक और अवैयक्तिक होते हैं अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति एक दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं जो मात्र औपचारिक रूप से सम्बद्ध होते हैं।

(2) द्वैतीयक समूह कुछ उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही निर्मित होते हैं—उद्देश्य पूरा होने पर समूह की भी समाप्ति हो जाती है।

(3) द्वैतीयक समूह में सदस्यों का परस्पर व्यक्तिगत रूप से जानना आवश्यक नहीं, न ही उनमे शारीरिक निकटता का होना आवश्यक है। किसी संचार-माध्यम से भी सम्पर्क हो सकते हैं।

(4) द्वैतीयक समूहों में सम्बन्ध जीवन के किसी एक पहलू से सम्बन्धित होते हैं सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित नहीं।

(5) द्वैतीयक समूहो का निर्माण सदस्यों की आवश्यकतानुसार होता है। जैसे ही व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूर्ण हो जाती हैं इन समूहों की प्रकृति में भी परिवर्तन हो जाता है।

(6) इन समूहों में सदस्यों के उत्तरदायित्व निश्चित व सीमित होते हैं।

(7) आकार व क्षेत्र की दृष्टि से ये समूह अत्यधिक विस्तृत होते हैं।

(8) द्वैतीयक समूहों मे सदस्य किन्हीं स्वार्थों से प्रेरित होकर कार्य करते हैं। यही कारण है कि सदस्यों में परस्पर जागरूकता नहीं होती जिससे ये समूह अस्थिर प्रकृति के हो जाते हैं।

(9) इन समूहों में सम्बन्ध समझौते के रूप में होते हैं अत: शर्तों के आधार पर निर्मित होते हैं।

(10) इन समूहों में सदस्यों में परस्पर घनिष्ठता का अभाव पाया जाता है। इनका संगठन तो योजनाबद्ध होता है, जहाँ व्यक्ति का नहीं बल्कि योजना को साकार रूप देने का महत्त्व होता है।

अन्ततः द्वैतीयक समूहों का निर्माण किन्हीं विशेष उद्देश्यों के लिए किया जाता है अत: इनमें उद्देश्य महत्वपूर्ण है। व्यक्तियो के आपसी सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण नहीं लेकिन समाज में इन समूहो की भी अतीव आवश्यकता है। अत: अब यह देखने का प्रयास किया जायेगा कि सामाजिक जीवन मे इनकी क्या उपयोगिता है।

द्वैतीयक समूहों का सामाजिक जीवन में महत्त्व (कार्य)

[Importance (Function) of Secondary Groups in Social Life]

वर्तमान समय में औद्योगीकरण के प्रभाव के कारण जीवन जटिल होता जा रहा है। सभ्यता और संस्कृति का विकास होता जा रहा है। इसके परिणामस्वरूप द्वैतीयक समूह भी बढ़ते जा रहे हैं। व्यक्ति अपनी अनेकानेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनेक समूहो की सदस्यता ग्रहण करता जा रहा है। विविध क्षेत्रों में सफलता प्राप्त करने के लिए अनेक संगठनो का निर्माण हो रहा है जिनकी सदस्यता भी आवश्यकतानुसार ग्रहण की जा रही है जिससे सामाजिक जीवन भलीभाँति व्यतीत हो सके। इस तरह द्वैतीयक समूहों की उपयोगिता भी बढ़ रही है जिसे निम्नलिखित प्रकार से देखा जा सकता है—

द्वैतीयक समूहों का सामाजिक जीवन में महत्त्व (कार्य) हैं।

सामाजिक प्रगति व विकास मे सहायक	व्यक्ति में जागरुकता का विकास	श्रम-विभाजन एव विशेषीकरण	सामाजिक व्यवस्था बनाए रखना
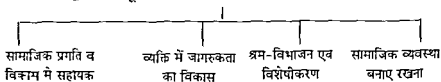
1. सामाजिक प्रगति व विकास में सहायक (Helpful in Social Progress and Development) —द्वैतीयक समूह की सदस्यता व्यक्ति को सामाजिक विकास मे सहायक सिद्ध होती है—व्यक्ति अपने जीवन को उन्नत बनाने के लिए अनेक समूहों की सदस्यता ग्रहण करता है जिसमे वह अधिक कर्मठ व सक्रिय बनता है। प्रतिस्पर्धा से व्यक्ति का विकास होता है क्योंकि यदि समाज मे किसी प्रकार आगे बढने की इच्छा न होगी तब तो व्यक्ति अकर्मण्य ही बन जायेगा लेकिन यदि उसमे अपने विकास के लिए जिज्ञासा होगी तो वह प्रयास करके अपनी प्रगति कर ही लेगा—नवीन परिस्थितियों से समझौता करके व्यक्ति विकास के नए अवसर खोज लेता है जिसमे द्वैतीयक समूहो की अह भूमिका होती है।

2. व्यक्ति में जागरूकता का विकास (Develops Awareness in Individuals) —द्वैतीयक समूह पुरानी रूढियो, प्रथाओ व अन्धविश्वासों को हटाकर व्यक्ति को जागरूक बनाने मे सहायक सिद्ध हुए हैं। ये व्यक्ति मे विवेक उत्पन्न कर पुराने अन्धविश्वासो को हटाकर उन्हे तार्किक रूप से समझने का प्रयास करते हैं जिससे व्यक्ति उचित-अनुचित को ठीक जानने लगता है—स्त्रियों में चेतना व जागरूकता उत्पन्न करने में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

3 श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण (Devision of Labour and Specialization) — द्वैतीयक समूह नवीन प्रेरणाएँ देकर मनुष्यों को कर्मठ और कुशल बनाते हैं जिससे वे श्रम के महत्त्व को समझकर हर कठिन कार्य करने के लिए तथा अपनी प्रगति के लिए तत्पर रहते हैं। विभिन्न सस्थाएँ जैसे—राष्ट्र-क्लब, आर्थिक-साहित्यिक समूह, राजनैतिक-पार्टियाँ व शिक्षण-सस्थाएँ आदि इनके उदाहरण हैं जिनमे अनेक लोग अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार उदार भाव से संस्था विशेष के लिए कार्य करते हैं, उनकी उन्नति के लिए सदैव प्रयत्नशील भी रहते हैं। इस प्रकार ये समूह व्यक्ति की कार्यकुशलता में वृद्धि करते हैं, श्रम-विभाजन को प्रोत्साहन देते हैं, व्यक्ति हर जोखिम उठाने को तत्पर रहता है।

4. सामाजिक व्यवस्था बनाए रखना (Maintains Social Order)—समाज को एक व्यवस्थित रूप देने के लिए द्वैतीयक समूह सक्रिय भूमिका निभाते हैं। पुलिस, कानून, राजनैतिक प्रशासन आदि समाजोपयोगी नियम बनाकर विभिन्न सगठनो के माध्यम से सामाजिक नियन्त्रण व व्यवस्था को बनाए रखते हैं जिससे समाज का कार्य सुचारु रूप से चलता है।

इस प्रकार द्वैतीयक समूहों की अनेक विशेषताएँ हैं जो समाज की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। किन्तु औद्योगीकरण के प्रभाव के कारण सामाजिक व्यवस्था मे जटिलता भी आ गई है। इस कारण द्वैतीयक समूहो की अधिकता मे वृद्धि हुई है। जो समाज की दृष्टि से जहाँ महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं, वहाँ इनके द्वारा अनेक समस्याएँ भी उत्पन्न हुई हैं जो इन द्वैतीयक समूहो का अपकार्यात्मक पहलू कहा जा सकता है। अब इनके इसी अपकार्यात्मक पक्ष पर प्रकाश डाला जा रहा है।

द्वैतीयक समूहों के अपकार्य (Dysfunctions of Secondary Groups)—नगरीकरण, औद्योगीकरण, वैज्ञानिक व तकनीकी साधनो की वृद्धि के परिणामस्वरूप द्वैतीयक समूहो की सख्या तीव्रता से बढ रही है जिससे महानगर बनते जा रहे हैं जो एक वृहद् समाज का रूप ले रहे हैं। इन द्वैतीयक समूहो ने अनेक समस्याओ को जन्म दिया है। इतने विस्तृत समाज में व्यक्ति अपने वैयक्तिक स्वार्थ से प्रभावित हो गया है, जैसे—बड़े-बड़े कार्यालयो में

जहाँ व्यक्ति 8-10 घंटे कार्य करता है, जिनके साथ कार्य करता है उनके नाम तक नहीं जानता केवल स्वयं तक सीमित होकर रह गया है। इसका परिणाम यह होता है कि परस्पर सहयोग, सहानुभूति, सहृदयता, सहकारिता जैसी भावनाएँ तिरोहित हो चली हैं। जीवन की व्यस्तता ने व्यक्ति को एकाकी बना दिया है। इतने बड़े समूह में रहकर भी व्यक्ति अपने आपको निःसहाय अकेला मानता है, धीरे-धीरे समाज से भी दूर होता जाता है जिसमें उसमें अनेक कुण्ठाएँ, तनाव, घुटन जैसी प्रवृत्तियाँ घर कर गई हैं। आज व्यक्ति इतना तनावग्रस्त रहता है कि उसके पारिवारिक सम्बन्धों में भी दरार पड़ गई है और पारिवारिक विघटन जैसे वातावरण ने उसे अपने आपमें भी पराया बना दिया है। वह इतने बड़े समाज में रहकर भी सम्बन्धों से दूर एकाकी, अलग रहकर मानसिक रूप से स्वयं को असुरक्षित-सा अनुभव करता है। यह सब वृहद् समाज की देन है।

परिवार भी धीरे-धीरे विघटन की स्थिति में आ रहे हैं जो प्रत्यक्ष सम्पर्क के कारण प्राथमिक समूह के रूप में हैं।

इस प्रकार पारिवारिक विघटन के कारण व्यक्ति केवल अपने हितों को महत्त्व देने लगा है। जिससे तनाव, घुटन, संघर्ष बढ़ रहा है, सम्बन्धों में औपचारिकता आ गई है व्यक्ति अपने पड़ौसी को भी नहीं पहचानता केवल उन्हीं से सम्बन्ध बने रहते हैं जिनसे स्वार्थ-सिद्धि होती है परिणामस्वरूप मस्तिष्क का संतुलन बिगड़ रहा है। प्राथमिक सम्बन्ध, जैसे—पति-पत्नी, माता-पिता, पिता-पुत्र भी समाज की आवश्यकतानुसार शिथिल हो रहे हैं। इस सबका परिणाम यह हुआ है कि प्राथमिक समूह भी अपने मूल रूप को बदल रहे हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण, नगरीकरण और सभ्यता के विकास के परिणामस्वरूप सामाजिक व्यवस्था बदली है जिसने सम्बन्धों को औपचारिक व शिथिलता प्रदान की है तथा व्यक्ति में तनाव, घुटन, विघटन, कुण्ठा, संत्रास, मानसिक संघर्ष आदि की वृद्धि की है। यह द्वैतीयक समूहों की अधिकता का परिणाम है।

इसके उपरान्त भी द्वैतीयक समूहों का अपना महत्त्व है अब प्राथमिक व द्वैतीयक समूह के अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जायेगा।

प्राथमिक व द्वैतीयक समूहों में अन्तर

(Difference Between Primary and Secondary Groups)

प्राथमिक समूह अनेक विशेषताओं में द्वैतीयक समूहों से भिन्न है। इस विभेद को निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

प्राथमिक समूह और द्वैतीयक समूह में अन्तर

प्राथमिक समूह	द्वैतीयक समूह
1 व्यक्तियों के सम्बन्ध आन्तरिक होते हैं।	1 व्यक्तियों के सम्बन्ध बाह्य होते हैं।
2. सम्बन्ध अनौपचारिक होते हैं।	2. सम्बन्धों में औपचारिकता होती है।
3. सम्बन्ध वैयक्तिक होते हैं।	3. अवैयक्तिक सम्बन्ध होते हैं।
4. सदस्यों के बीच एकीकरण की भावना पाई जाती है।	4. सम्बन्धों में एकीकरण की भावना नहीं होती।
5. सम्बन्ध प्रतिबन्धयुक्त होते हैं।	5. सम्बन्धों की प्रकृति स्वतन्त्र होती है।

6. सदस्यो में शारीरिक समीपता पाई जाती है।	6 शारीरिक समीपता कभी-कभी ही हो सकती है।
7 सदस्यो की संख्या न्यून होती है।	7 सदस्यों की संख्या अधिक होती है।
8 सम्बन्धो मे स्थायित्व होता है।	8 अस्थाई सम्बन्ध होते हैं।
9 सम्बन्धो मे निरन्तरता पाई जाती है।	9 निरन्तरता का अभाव होता है।
10 व्यक्ति का अधिक समय इनमें व्यतीत होता है।	10 व्यक्ति का कम समय इनमे व्यतीत होता है।
11. सदस्यों के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से सम्बन्धित होते हैं।	11. व्यक्तित्व के एक विशेष भाग से ही सम्बन्धित होते हैं।
12 आशाएँ सबसे अधिक रखी जाती है।	12. इनसे अधिक आशाएँ नहीं रख सकते।
13 सम्पूर्ण क्रियाओ को चारों ओर से प्रभावित करते हैं।	13 इनका प्रभाव एक विशेष क्षेत्र तक ही सीमित रहता है।
14 इनका प्रभाव सर्वव्यापी होता है।	14. सर्वव्यापी प्रभाव नहीं होता।
15 इनका प्रभाव विकास स्वत: होता है। इनका निर्माण नहीं किया जाता।	15 आवश्यकतानुसार इनका निर्माण किया जाता है।
16 सम्बन्धो की अवधि लम्बी होती है।	16 गतिशीलता के कारण अवधि छोटी होती है।
17 आमने-सामने के सम्बन्ध होते हैं।	17. अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होते हैं।
18 सम्बन्ध घनिष्ठ होते हैं।	18 सम्बन्धो में घनिष्ठता का अभाव होता है।
19 ये सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित होते हैं।	19 जीवन के एक पक्ष से ही सम्बन्धित होते हैं।
20 सदस्य एक-दूसरे से केवल व्यक्ति के रूप मे मिलते हैं, किसी सत्ता के रूप मे नहीं।	20 समूह के सदस्य एक-दूसरे से पद और प्रतिष्ठा के रूप में सम्बन्धों की स्थापना करते हैं।
21 सदस्यों में समानता का भाव पाया जाता है।	21 सदस्यों के बीच स्तरीकरण पाया जाता है।
22 प्रत्यक्ष सहयोग द्वारा कार्य करते हैं।	22 इनमे सहयोग का रूप अप्रत्यक्ष होता है।

23. व्यक्तिगत हित समूह के हित में विलीन हो जाते हैं।	23. व्यक्तिगत हित के समक्ष सामूहिक हित को महत्त्व नहीं दिया जाता।
24. सदस्यता अनिवार्य होती है।	24. सदस्यता व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है।
25. नियमों का मौलिक रूप से पालन किया जाता है।	25. नियमों में परिवर्तन किया जा सकता है।
26. प्राचीन काल से अस्तित्व में हैं।	26. औद्योगिक युग की देन हैं, अतः नवीन हैं।
27. आकार छोटा होता है।	27. आकार बड़ा होता है।
28. सदस्यों के उद्देश्य एक होते हैं।	28. अपनी-अपनी रुचि व हितों के लिये कार्य करते हैं।
29. 'हम' की भावना पाई जाती है।	29. 'हम' की भावना का अभाव होता है।
30. ये सरल, ग्रामीण व आदिम समाजों में भी पाए जाते हैं।	30. ये जटिल, नगरीय व आधुनिक समाजों में पाए जाते हैं।
31. कार्यक्षेत्र सीमित होता है।	31. कार्यक्षेत्र असीमित होता है।
32. व्यक्ति सरलता से इनमें अपना अनुकूलन कर लेता है।	32. व्यक्ति कठिनाई से अपना अनुकूलन कर पाता है।
33. इनकी सदस्य संख्या 2 से 50 तक हो सकती है।	33. सदस्य-संख्या बड़ी होती है। कभी-कभी नगर और राष्ट्र तक इसमें सम्मिलित हो सकते हैं।
34. इनका आधार नैतिकता तथा परम्परागत नियम है।	34. इनका आधार कानून और संविधान है।

उपर्युक्त अन्तर के आधार पर यह कहा जा सकता है कि द्वैतीयक समूहों की तुलना में प्राथमिक समूह लघु आकार वाले, घनिष्ठ सम्बन्धों वाले होते हैं; जबकि द्वैतीयक समूह समझौते पर आधारित औपचारिक व विशिष्ट उद्देश्यों के लिये निर्मित होते हैं। परिवार, पड़ौस, मित्र-मण्डली, क्रीड़ा समूह आदि प्राथमिक समूह के उदाहरण हैं तथा राजनैतिक दल, विश्वविद्यालय, मजदूर-संघ, राष्ट्र आदि द्वैतीयक समूहों के उदाहरण हैं।

आभासी समूह अथवा अर्द्ध-प्राथमिक समूह
(Quasi Groups)

आभासी समूह का सम्प्रत्यय चार्ल्स कूले का दिया हुआ है। 'आभासी समूह' नाम उन समूहों को दिया गया है जो प्राथमिक समूह के समीपी होते हैं अथवा इनमें प्राथमिक समूह की विशेषताओं का आभास होता है किन्तु ये पूर्णतया प्राथमिक समूहों के समान नहीं होते अतः इन्हें अर्द्ध-प्राथमिक समूह भी कहा जाता है।

किंग्स्ले डेविस ने भी प्राथमिक और द्वैतीयक समूहों में अन्तर बताया है।

प्राथमिक और द्वैतीयक सम्बन्ध

भौतिक अवस्थाएँ (स्थितियाँ)	सामाजिक विशेषताएँ	सम्बन्धो के उदाहरण	समूहो के उदाहरण
स्थानीय निकटता	लक्ष्यो का तादात्म्य	मित्र-मित्र	क्रीडा-समूह
	सम्बन्धो का आन्तरिक मूल्याकन	पति-पत्नी	परिवार
सदस्यों की लघु संख्या	अन्य व्यक्तियो का आन्तरिक मूल्यांकन	जननी-जनक-सन्तान	गाँव अथवा पडौस
	अन्य व्यक्तियो का अद्यतन ज्ञान		
	स्वतः स्फूर्त और स्वेच्छा की भावना	गुरु-शिष्य	एक साथ कार्य करने वाले दल
लम्बी अवधि	अनौपचारिक नियन्त्रणो की सक्रिया		
स्थानिक दूरी	लक्ष्यो की असमानता	लिपिक-ग्राहक	राष्ट्र
	सम्बन्धों का बाह्य-मूल्याकन	उद्घोषक-श्रोता	लिपिकीय संस्तरण
सदस्यो की बृहत् सख्या	अन्य व्यक्तियो बाह्य-मूल्याकन	निष्पादक-प्रेक्षक	व्यावसायिक समिति
	अन्य व्यक्तियो का विशेषीकृत और सीमित ज्ञान	अधिकारी-अधीनस्थ	निगम
छोटी अवधि	बाह्य-बाध्यता की भावना	लेखक-पाठक	
	औपचारिक नियन्त्रणो की सक्रिया		

स्रोत : किग्स्ले डेविस ह्यूमन सोसायटी-पृ 306

समूह में सदस्यों की सख्या, सम्बन्धो की घनिष्ठता तथा आमने-सामने के सम्बन्धो की दृष्टि से ये पूर्ण रूप से प्राथमिक समूहो के समान होते हैं परन्तु संगठन, संरचना एवं उद्देश्यों की दृष्टि से ये प्राथमिक समूहों से पूर्णतया भिन्न प्रतीत होते हैं।

अर्द्ध-प्राथमिक समूहो को **कूले** ने इस प्रकार परिभाषित किया है, "ये घनिष्ठ, आमने-सामने के सम्बन्धों द्वारा संगठित वे समूह हैं जो अपनी संगठन सम्बन्धी विशेषताओं और विशेष उद्देश्य के कारण सीमित आकार के होते हैं।" अर्थात् आभासी प्राथमिक समूहों का निर्माण आमने-सामने के सम्बन्धों के आधार पर तो किया जाता है लेकिन इसका संगठन प्राथमिक समूह से बिल्कुल भिन्न होता है—इसी विशेषता के आधार पर कूले ने स्काउट ग्रुप, सामाजिक वर्ग, वर्तमान क्लब, ग्रामीण मनोरजन केन्द्र आदि को आभासी समूहो में रखा है।

समाजशास्त्री **बोटोमोर** आभासी समूह की परिभाषा इस प्रकार देते हैं—"आभासी समूह एक ऐसा योग है जिसमे संरचना एवं संगठन की कमी होती है और जिसके सदस्य समूह के अस्तित्व के प्रति अनभिज्ञ अथवा कम जागरूक हो सकते हैं।" **बोटोमोर** का मानना है कि अर्द्ध-समूह पूर्णत: समूह नहीं होते किन्तु भविष्य मे समूह का रूप धारण कर सकते हैं। इन्होने सामाजिक वर्ग, प्रस्थिति समूह, आयु, लिंग आदि को अर्द्ध-समूह माना है।

ए. सी. मेयर (A C Mayer) ने अर्द्ध-समूहो को दो प्रकार का बताया है—

(1) वर्गीकृत अर्द्ध-समूह (Classified Quasi-Group)—जिनमें सदस्यों की सामाजिक प्रस्थिति एवं हित समान होते हैं और वे कभी भी सगठित होकर समूह का निर्माण कर सकते हैं।

(2) अन्त:क्रियात्मक अर्द्ध-समूह (Interactive Quasi-Group)—इन समूहो में संगठन तो होता है परन्तु अहं की प्रबल भावना होने के कारण व्यक्तियों में परस्पर अन्त:-क्रिया नकारात्मक होती है और जब अन्त:-क्रिया सकारात्मक हो जाती है तो अपने संगठन के बल पर ये अर्द्ध-समूह में बदल जाता हैं।

गिन्सवर्ग ने अपनी पुस्तक "सोशियोलॉजी" में अर्द्ध-समूह की विशिष्ट परिभाषा दी है। इनका मानना है कि ऐसे कई मानवीय संकलन होते हैं जिनका कोई अन्य ढाँचा नहीं होता लेकिन जिनके सदस्यों में परस्पर समान रुचियाँ व समान व्यवहार प्रतिमान पाए जाते हैं जिसके कारण कभी वे निश्चित व विशिष्ट संगठित समूह का निर्माण कर सकते हैं। इन्हें अर्द्ध-समूह कहा गया है। इन अर्द्ध-समूहों मे **जिन्सबर्ग** सामाजिक वर्ग व जनता को मानते हैं। उनके अनुसार सामाजिक वर्ग के सदस्यो में सम्बन्धो की निरन्तरता का गुण न होने से ये समूह की कोटि मे नहीं आ सकते।

समाजविद् **मर्टन** के अनुसार, मनुष्यों का एक ऐसा सकलन जिसमे समान शारीरिक अथवा सामाजिक लक्षण हों किन्तु परस्पर अन्त:क्रिया एवं सम्बन्धों का गुण न हो, उसे सामाजिक संवर्ग के अन्तर्गत माना जा सकता है।

प्रजाति, जाति, वर्ग, आयु-समूह आदि में सामाजिक सम्बन्धो का अभाव होने से ये केवल संवर्ग होते हैं और मर्टन व जिन्सबर्ग के मत में सामाजिक संवर्ग व अर्द्धसमूह दोनों एक ही हैं।

उपर्युक्त समस्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अर्द्धसमूहों का निर्माण कुछ विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए घनिष्ट व आमने सामने के सम्बन्धों के आधार पर किया जाता है। आभासी समूह व प्राथमिक समूह में कुछ अन्तर है जिसके कारण ही ये अर्द्ध-प्राथमिक समूह कहे जाते हैं। इसे अग्रलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

प्राथमिक समूह और अर्द्ध-प्राथमिक समूह में अन्तर

प्राथमिक समूह	अर्द्ध-प्राथमिक समूह
1 प्राथमिक समूह व्यक्ति की सम्पूर्ण क्रियाओं को प्रभावित करते हैं।	1 अर्द्ध-प्राथमिक समूह कुछ विशेष उद्देश्य व व्यवहारों से सम्बन्धित होते हैं।
2. प्राथमिक समूहों के सदस्यों में एकीकरण की भावना अधिक होती है।	2. अर्द्ध-प्राथमिक समूहों में संगठन कुछ समय के लिए ही रहता है।
3. प्राथमिक समूहों का आकार बहुत छोटा होता है।	3. अर्द्ध-प्राथमिक समूह आकार में बड़े होते हैं।
4. प्राथमिक समूहों का निर्माण स्वतः होता है।	4 अर्द्ध-समूहों का निर्माण आवश्यकतानुसार किया जाता है।
5 प्राथमिक समूह स्थाई होते हैं।	5 अर्द्ध-समूह अस्थाई होते हैं।

□

अध्याय-10

सामाजिक संरचना

(Social Structure)

जब किसी भी तत्त्व, वस्तु, घटना या संगठन का अध्ययन किया जाता तो सर्वप्रथम वैज्ञानिक उनकी संरचना का अध्ययन करता है। जितने भी प्राकृतिक और सामाजिक विज्ञान हैं सभी सर्वप्रथम अपनी-अपनी अध्ययन की वस्तु की संरचना और उसके कार्यों का अध्ययन करते हैं। सभी विज्ञानों की परिभाषाओं का अध्ययन करें तो यही पाएँगे कि विज्ञान अपनी अध्ययन की वस्तु की उत्पत्ति और विकास तथा उसकी संरचना और कार्यों का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन है। *ऑगस्ट कॉम्ट* ने समाजशास्त्र को समाज का विज्ञान बताया है तथा समाज के अध्ययन को दो भागों में बाँटा है—स्थैतिक अध्ययन और गतिक अध्ययन। स्थैतिक अध्ययन के अन्तर्गत उन्होंने समाज की संरचना और उसके कार्यों का अध्ययन रखा है। समाज की सरचना और उसके कार्यों के अध्ययन पर जोर सर्वप्रथम आपने ही दिया। इसके बाद इस अवधारणा का प्रयोग क्रमशः हर्बर्ट स्पेन्सर और इमाइल दुर्खीम ने किया। सामाजिक विज्ञानों में इस अवधारणा का प्रयोग सर्वप्रथम मोन्टेस्क्यू से माना जा सकता है। समाजशास्त्र मे यह अवधारणा जीव विज्ञान से ली गई है। समाजशास्त्र से यह अवधारणा सामाजिक मानवशास्त्र में गई। जहाँ इस अवधारणा का विकास एक उपागम, एक अध्ययन पद्धति, और एक सिद्धान्त के रूप में रेडक्लिफ-ब्राउन और मैलिनोव्स्की ने किया, वहाँ से यह संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अवधारणा विकसित होकर पुनः समाजशास्त्र में आई। समाजशास्त्र में अब यह अवधारणा उपागम, सिद्धान्त, अध्ययन पद्धति तथा सम्प्रदाय के रूप में प्रमुख स्थान प्राप्त किए हुए है।

संरचना का अर्थ

(Meaning of Strucuture)

संसार में जितनी भी वस्तुएँ हैं सभी की कोई-न-कोई संरचना अथवा ढाँचा अवश्य होता है। भौतिक वस्तु चाहे लघु हो अथवा वृहद्—उसका आकार, प्रकार, लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई आदि जरूर होती है। अभौतिक चीजो को संरचना को समझना थोड़ा कठिन है। संरचना एक जटिल समग्र होता है जिसमें अनेक इकाइयाँ एक-दूसरे से अर्थपूर्ण रूप से सम्बन्धित तथा जुड़ी हुई होती हैं। इन इकाइयों में परस्पर प्रकार्यात्मक एकता होती है। ये एक-दूसरे पर परस्पर निर्भर होती हैं।

इन इकाइयो मे सामान्यतया स्थायी और व्यवस्थित सम्बन्ध होते हैं। ये सब इकाइयाँ एक विशेष क्रम में परस्पर जुड कर जब एक जटिल समग्र बनाती हैं, उसे सरचना कहा जाता है। अगर हम चूना, सीमेंट, ईंट, पत्थर, पानी, सरिये, लकड़ी, लोहा, मजदूर तथा धन एक स्थान पर रख दें तो वह मकान नहीं कहलाएगा। सम्पूर्ण सामग्री के क्रमबद्ध तरीके से एक-दूसरे के परस्पर क्रमबद्ध निर्माण से मकान की संरचना तैयार की जा सकती है।

जॉनसन के अनुसार, "किसी वस्तु की सरचना उसके अंगो के कुछ सीमा तक स्थायी अन्तर्सम्बन्धो से निर्मित होती है।" सरल शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि संरचना विभिन्न अगो के अन्तर्सम्बन्धो से बनती है जिस प्रकार से मकान शरीर, मोटर साईकिल, घड़ी आदि की सरचना होती है उसी प्रकार से समाज की भी संरचना होती है। समाज की सरचना मे भी अनेक छोटी-बडी इकाइयाँ होती हैं, जैसे—परिवार, सयुक्त परिवार, वंश समूह, द्वैतीयक समूह, सस्थाएँ, मूल्य, प्रस्थितियाँ आदि। समाज की संरचना की जैसी इकाइयाँ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध होंगे उसी के अनुसार संरचना का स्वरूप अथवा प्रकार होगा। सामाजिक सरचना अभौतिक होती है। यह एक जटिल समग्र होता है जिसकी विभिन्न इकाइयाँ परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित परस्पर निर्भर तथा अर्थपूर्ण तरीके से जुडी होती हैं। अनेक समाजशास्त्रियो तथा सामाजिक मानव-शास्त्रियो ने सामाजिक संरचना पर अपने-अपने दृष्टिकोण से गहन अध्ययन किए हैं। इस अवधारणा को समझने के लिए उनके विचारों का अध्ययन-मनन आवश्यक है।

सामाजिक संरचना का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Structure)

सामाजिक सरचना की परिभाषाएँ अनेक समाजशास्त्रियो और सामाजिक मानवशास्त्रियों, जैसे—कार्ल मानहीम, मैकाइवर और पेज, पारसन्स, गिन्सबर्ग, जॉनसन, कोजर और रोजनबर्ग, मजूमदार और मदान और रेडक्लिफ-ब्राउन आदि ने दी हैं। इनमे से कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाओ का विवेचन प्रस्तुत है—

मैकाइवर और पेज के अनुसार, "समूह निर्माण के विभिन्न तरीके सयुक्त रूप से सामाजिक संरचना के जटिल प्रतिमान का निर्माण करते हैं।" जहाँ तक इसके निर्माण की बात है आपका कहना है कि समूह के निर्माण के जितने तरीके, रीतियाँ, विधियाँ या प्रणालियाँ हैं वे सब मिल कर सामाजिक संरचना को बनाती हैं।

पारसन्स के अनुसार, "सामाजिक संरचना परस्पर सम्बन्धित सस्थाओ, एजेन्सियों और सामाजिक प्रतिमानो तथा साथ ही समूह के प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण की गई प्रस्थिति और कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता को कहते हैं।"

पारसन्स की इस परिभाषा मे सामाजिक संरचना से सम्बन्धित चार विशेषताओं का पता चलता है। ये निम्नलिखित प्रकार हैं—(1) सामाजिक सरचना के निर्माण की अनेक इकाइयाँ होती हैं, जैसे—व्यक्तियों के पद, भूमिका तथा सामाजिक संस्थाएँ, एजेन्सियाँ, प्रतिमान आदि, (2) इन

इकाइयों पर परम्पर अर्थपूर्ण सम्बन्ध होते हैं। (3) सामाजिक मग्चना की इकाइयों में परस्पर एक क्रम होता है तथा ये निश्चित रूप से व्यवस्थित होती हैं, तथा (4) क्योंकि सामाजिक संरचना का निर्माण अमूर्त इकाइयों; जैसे—पद, भूमिका, संस्था, एजेन्सियाँ, प्रतिमान आदि मे होता है इसलिए इसकी सरचना अमूर्त होती है।

गिन्सबर्ग के अनुसार, "सामाजिक संरचना का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख रूपों; जैसे—समूहो, समितियों और संस्थाओं के प्रकार आर इनके संकुल से सम्बन्धित होता है जिनसे समाज का निर्माण होता है।" अनेक विद्वानों की तरह गिन्सबर्ग ने सामाजिक सरचना और सामाजिक संगठन को एक माना है। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं किया है। आपके अनुसार सामाजिक-सरचना सामाजिक-समूहों, समितियों तथा संस्थाओ आदि से बनती है।

उपर्युक्त विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक सरचना समाज की लघु तथा वृहद् इकाइयो, जैसे—पद, भूमिका, समूह, संस्थाओं, एजेन्सियों, प्रतिमानो तथा सामाजिक सम्बन्धो से निर्मित जटिल क्रमबद्ध अमूर्त समग्र है।

सामाजिक संरचना की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Structure)

सामाजिक संरचना पर ऑगस्ट कॉम्ट से लेकर मर्टन तक ने पर्याप्त लिखा है। उसके आधार पर सामाजिक संरचना की अनेक विशेषताएँ हमारे सामने आती हैं। अब हम सामाजिक संरचना की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करेंगे जिससे हम इस अवधारणा को अच्छी तरह समझ सकें। सामाजिक संरचना की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं—

सामाजिक संरचना की विशेषताएँ

- इकाइयों से निर्मित
- इकाइयों का निश्चित स्थान
- क्रमबद्धता से व्यवस्थित
- प्रकार्यात्मक एकता
- अनेक उप-संरचनाएँ
- अमूर्तता
- स्थिर फिर भी गतिशील
- विशिष्टता
- बाह्य स्वरूप का मान
- दुष्कार्यात्मक तत्व
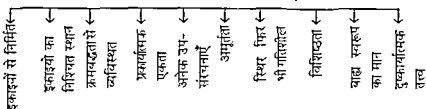
(1) इकाइयों से निर्मित (Made of Units)—मैकाइवर, पारसन्स, जॉनसन, गिन्सबर्ग आदि ने अपनी परिभाषाओं में स्पष्ट लिखा है कि सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक इकाइयों; जैसे—पद, भूमिका, समूह, सस्थाओं, समितियो, एजेन्सियों आदि से मिलकर होता है। समाज की और भी अनेक छोटी-बड़ी इकाइयाँ हैं जो परस्पर मिलकर एक बड़े प्रतिमान का निर्माण करती हैं उसे ही हम सामाजिक संरचना कहते हैं। जॉनसन ने लिखा है कि संरचना कई सामाजिक इकाइयों या अगों से मिलकर बनती है।

(2) इकाइयों का निश्चित स्थान (Definite Place of Units)—सामाजिक सरचना में जितनी भी सामाजिक इकाइयाँ होती हैं उनका उनके महत्त्व तथा कार्य के अनुसार निश्चित

स्थान होता है। स्पेंसर ने लिखा है कि संरचना जितनी जटिल होगी इकाइयो का स्थान उतना ही अधिक महत्त्वपूर्ण तथा विशिष्ट हो जाएगा। सरचना जितनी सरल होगी इकाइयो के कार्य, महत्त्व तथा स्थान उतने ही कम महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। जटिल सामाजिक सरचना में अगर इकाई का स्थान बदल दिया जाए तो सरचना बिगड सकती है। पद, भूमिका, समूह, सामाजिक वर्ग, परिवार, सयुक्त परिवार, वंश समूह, गोत्र, उप-जाति, जाति, वर्ण आदि का स्थान सामाजिक संरचना मे स्तरित होता है।

(3) क्रमबद्धता से व्यवस्थित (Systematically Arranged)—अनेक इकाइयाँ मिलकर किसी सरचना का निर्माण करती हैं। ये इकाइयाँ परस्पर एक निश्चित क्रम मे बँधी होती हैं तथा व्यवस्थित होती हैं। सामाजिक संरचना सामाजिक इकाइयो का ढेर या झुण्ड नहीं होता है बल्कि उनमे क्रमबद्धता होती है तभी सरचना संगठित, व्यवस्थित तथा अर्थपूर्ण होती है। परिवार, जातियाँ, मुखिया, पचायत आदि का सामाजिक सरचना में निश्चित स्थान, क्रम, तथा आरोह-अवरोह रूप मे स्थिति निश्चित होता है।

(4) प्रकार्यात्मक एकता (Functional Unity)—*रेडक्लिफ-ब्राउन, मैलिनोव्स्की, दुर्खीम, क्लूखौन* आदि का मानना था कि सामाजिक संरचना की सभी इकाइयों मे परस्पर एकता होती है। इकाइयाँ एक-दूसरे से संगठनात्मक रूप से जुडी होती हैं तथा समाज के लिए कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करती हैं। इनका कहना है कि जिस प्रकार से जीव के विभिन्न अंग एक-दूसरे से प्रकार्यात्मक रूप मे एक सूत्र में बँधे होते हैं उसी प्रकार सामाजिक सरचना की प्रत्येक सामाजिक इकाई भी परस्पर एकता में रहकर मानव की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। मर्टन ने इसमे संशोधन किया कि आवश्यक नहीं कि सभी इकाइयो मे एकता हो। परस्पर इकाइयों में इसका अभाव भी हो सकता है।

(5) अनेक उप-संरचनाएँ (Many Sub-structures)—सामाजिक संरचना एक वृहद् प्रतिमान होता है जिसमे अनेक उप-सरचनाएँ अथवा उप-व्यवस्थाएँ होती हैं। इनमे अनेक सकुल होते हैं। ये संकुल अनेक सामाजिक इकाइयों या तत्त्वो से मिलकर बनते हैं। इसे निम्न उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। दो पद और भूमिका मिलकर परिवार बनाते हैं। पति-पत्नी मिलकर एकाकी परिवार बनाते हैं। कई एकाकी परिवार मिलकर सयुक्त परिवार, कई संयुक्त परिवार मिलकर वश समूह, कई वश समूह मिलकर गोत्र समूह, कई गोत्र समूह मिलकर उप-जाति और अनेक उप-जातियाँ मिलकर जाति-व्यवस्था तथा ग्रामीण सामाजिक संरचना का निर्माण करते हैं। इसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण मिलकर सामाजिक संरचना का निर्माण करते हैं। निम्न वर्ग, मध्यम वर्ग, उच्च वर्ग मिलकर सामाजिक सरचना का निर्माण करते हैं। ये प्रत्येक छोटे-छोटे संगठन उप-संरचनाएँ हैं।

(6) अमूर्तता (Abstractness)—*पारसन्स, मैकाइवर, पेज, मजूमदार, मदान* आदि ने सामाजिक सरचना की परिभाषा मे स्पष्ट किया है कि यह संरचना अभौतिक या अमूर्त होती है। इन विद्वानो के अनुसार सामाजिक सरचना सामाजिक इकाइयो से बनती है। ये इकाइयाँ—पद, भूमिका, संस्थाएँ, प्रतिमान, एजेन्सियाँ आदि होती हैं जो अमूर्त होती हैं इसलिए इनसे बनने वाली

व्यक्तियों की क्रमवद्धता को भी बताया है। व्यक्ति मूर्त है इसलिए ब्राउन के अनुसार सामाजिक संरचना भी मूर्त हो जाती है। ब्राउन सामाजिक मानवशास्त्री हैं। समाजशास्त्री इनके मत से सहमत नहीं हैं। समाजशास्त्रियों के अनुसार सामाजिक संरचना अमूर्त और अभौतिक है।

(7) स्थिर फिर भी गतिशील (Static yet it is Dynamic)— *मैकाइवर और पेज* ने लिखा है कि समाज और सामाजिक संरचना दिखती तो स्थिर है परन्तु वह गतिशील और परिवर्तनशील है। सामाजिक संरचना इतनी धीरे-धीरे परिवर्तित होती है कि इसके सदस्यों को पता भी नहीं चलता है कि यह कब बदल गई। सामाजिक संरचना और इसके विभिन्न उप-खण्ड तथा उप-संरचनाएँ एवं सामाजिक इकाइयाँ स्थायी-सी रहती हैं। इनमें परिवर्तन बहुत धीमी-गति से होता है। लगता ऐसा है कि इकाइयाँ—प्रस्थिति, भूमिका, परिवार, विवाह, जाति, वर्ग, संस्थाएँ, समितियाँ आदि सामान्यतया स्थायी और न्यून परिवर्तनशील होती हैं। इकाइयों में परस्पर एकता, स्थायित्व, संगठन, निर्भरता आदि स्थायी होने के कारण ही मिलती हैं। इनमें जो परिवर्तन होता है उसका पता ही नहीं चलता है।

(8) विशिष्टता (Uniqueness)—जहाँ-जहाँ मानव समाज है वहाँ-वहाँ सामाजिक संरचना होती है। इस अर्थ में यह सार्वभौमिक होती है। परन्तु किन्हीं दो समाजों की सामाजिक सरचनाएँ एक-सी नहीं होती हैं। प्रत्येक समाज की सामाजिक संरचना का निर्माण उसके द्वारा अपेक्षित लक्ष्य और कार्यों के अनुसार किया जाता है। सभी समाजों की अपनी-अपनी प्राकृतिक उपलब्धियाँ, आवश्यकताएँ और परिस्थितियाँ हैं; उनके अनुसार सामाजिक संरचना का निर्माण किया जाता है। इसलिए प्रत्येक समाज की परिस्थितियाँ, प्राकृतिक सम्पदा, उपलब्धियाँ, उद्देश्य, आवश्यकताएँ विशिष्ट होती हैं तथा उनको पूरा करने वाली सामाजिक संरचनाएँ भी विशिष्ट होती हैं।

(9) बाह्य रूप का भान कराती है (Gives Idea of Outer Form)—विभिन्न सामाजिक इकाइयाँ मिलकर सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं। विभिन्न इकाइयों का क्रम क्या है? वे एक-दूसरे से कैसे सम्बन्धित हैं? उनके द्वारा निर्मित उप-संरचना की इकाइयाँ कौन-कौन-सी हैं? वे परस्पर किस प्रकार से सम्बन्धित हैं? इकाइयाँ जिस पूर्ण समग्र या संगठन का निर्माण करती हैं वह उपर्युक्त बिन्दुओं के विभिन्न सम्मेलन, नियन्त्रण, संचालन आदि पर निर्भर करता है। जो पूर्ण प्रतिमान बनता है वह संरचना के बाह्य रूप को स्पष्ट करता है। उदाहरण के रूप में लकड़ी के पाए तथा उसका ऊपरी हिस्सा मिलकर पढ़ाई की मेज, भोजन करने की मेज (Dinning Table), श्रृंगार करने की मेज आदि बनाते हैं। इन विभिन्न संरचना वाली मेजों में बाह्य रूप स्पष्ट होता है तथा उसके कार्य भी स्पष्ट होते हैं। इसी प्रकार विभिन्न अंग भिन्न-भिन्न रूप में संगठित होकर शरीर की अनेक संरचनाएँ बनाते हैं; जैसे—शेर, घोडा, गाय, बन्दर, मानव आदि। इसी प्रकार सामाजिक संरचना समाज की बाह्य आकृति का भान कराती है; जैसे—ग्रामीण सामाजिक संरचना, आदिम सामाजिक संरचना, कस्बाई सामाजिक संरचना, नगरीय-महानगरीय आदि सामाजिक संरचनाएँ। ये सब समाज की सामाजिक संरचनाएँ हैं जो इन समाजों के बाह्य रूप का हमें भान कराती हैं।

(10) दुष्कार्यात्मक तत्त्व (Dysfuntional Elements)—*मर्टन* से पहले के समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों का ये मानना था कि सामाजिक प्रतिमान में विभिन्न

तत्त्व केवल सगठनात्मक कार्य करते हैं। विभिन्न इकाइयो मे एकता होती है। मैलिनोव्स्की इस मान्यता के कट्टर समर्थक थे। आपके ही शब्दो मे, "प्रत्येक इकाई, प्रत्येक स्थान मे, कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य करती है।" मर्टन ने सर्वप्रथम इस तथ्य पर प्रकाश डाला कि सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयाँ—सस्था, प्रथा, कानून, नियम, एजेन्सी आदि किसी एक समूह के लिए प्रकार्यात्मक हो सकती है दूसरे समूह के लिए दुष्कार्यात्मक, जैसे—जाति प्रथा के प्रतिबन्ध नीची जातियों के लिए दुष्कार्यात्मक थे। इसी प्रकार मार्क्स के अनुसार धर्म समाज के लिए अफीम है। जिस प्रकार से अफीम व्यक्ति को आलसी और निकम्मा बना देता है उसी प्रकार धर्म भी समाज के लोगों को आलसी, भाग्यवादी, अन्धविश्वासी बना देता है। हिन्दू समाज मे जाति प्रथा, दहेज, पर्दाप्रथा, बाल विवाह, वैधव्य अस्पृश्यता आदि दुष्कार्य धर्म के कारण ही विद्यमान हैं। इस प्रकार के दुष्कार्य करने वाले तत्त्व सभी सामाजिक सरचनाओ मे किसी-न-किसी रूप में अवश्य पाये जाते हैं।

सामाजिक संरचना के तत्त्व
(Elements of Social Structure)

हेरी एम. जॉनसन ने अपनी पुस्तक—समाजशास्त्र (अनुवादक योगेश अटल), मे सामाजिक व्यवस्था की सरचना के निम्नलिखित चार तत्त्वों का उल्लेख किया है।

सामाजिक सरचना के तत्त्व

विभिन्न प्रकार के उप समूह	विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ	नियामक मानक	सांस्कृतिक मूल्य
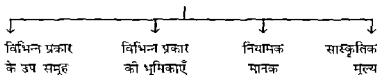
(1) **विभिन्न प्रकार के उप-समूह** (Sub-Groups of Various Types)—*जॉनसन* का कहना है कि सामाजिक सरचना का निर्माण कई विभिन्न प्रकार के उप समूहो से होता है। प्रत्येक उप समूह आपके अनुसार एक आंशिक सरचना भी हो सकती है। आपने यह भी लिखा कि ये उप-समूह परस्पर अन्तर्सम्बन्धित होते हैं। इनको परस्पर सम्बन्धित तार्किक मानक करते है। ये सापेक्ष रूप से स्थिर होते हैं। परिवारों का आपने उदाहरण दिया है जो विभिन्न प्रकार के उप-समूहो मे अधिक स्थाई हैं।

(2) **विभिन्न प्रकार की भूमिकाएँ** (Roles of Various Types)—वृहद् व्यवस्था और उप समूहो मे कई प्रकार की भूमिकाएँ होती हैं। प्रत्येक भूमिका व्यवस्था अन्य भूमिका व्यवस्थाओ से सम्बन्धित होती है। इन विभिन्न भूमिकाओ को परस्पर सम्बन्धित भी तार्किक मानक ही करते है। जॉनसन ने विभिन्न प्रकारो की भूमिकाओं को उप-सरचना माना है।

(3) **नियामक मानक** (Regulative Norms)—जॉनसन के अनुसार नियामक मानक उप समूहो और भूमिकाओ का सचालन और नियन्त्रण करते हैं। आपने बताया कि मानक दो प्रकार के होते हैं। कुछ सकारात्मक होते हैं, ये तार्किक होते हैं तथा उप-समूहो की भूमिकाओ

को करने के लिए अनुमति प्रदान करते हैं। दूसरे प्रकार के मानक निषेधात्मक होते हैं। यह स्पष्ट करते हैं कि कौन-कौनसे कार्य नहीं करने चाहिएँ। इनको भी जॉनसन ने उप-संरचना बताया है।

(4) सांस्कृतिक मूल्य (Cultural Values)—सामाजिक संरचना के अतिरिक्त ज्ञान, विश्वास, मूल्यांकन आदि सांस्कृतिक प्रतिमान भी होते हैं जो पूर्णरूप से मानकात्मक होते हैं तथा ये सामाजिक क्रियाओ को नियमित करते हैं। ये जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित होते हैं। सांस्कृतिक मूल्यों के द्वारा जीवन के विभिन्न पहलुओं का मूल्यांकन किया जाता है। ये भी सामाजिक संरचना की आर्थिक संरचना होती है।

प्रकार्य की अवधारणा
(Concept of Function)

समाजशास्त्र में संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक अवधारणा का प्रयोग बहुत बाद में होने लगा है। इन अवधारणाओ में संरचना और प्रकार्य पर सामाजिक मानवशास्त्र में *रेडक्लिफ-ब्राउन* तथा मैलिनोव्स्की ने अलग-अलग उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कार्य किया। रेडक्लिफ-ब्राउन ने संरचना की अवधारणा को प्रमुख माना तथा मैलिनोव्स्की ने प्रकार्य को प्रमुख माना। ये दोनों अवधारणाएँ क्रमशः इनके नामो के साथ पहिचानी जाती रही हैं। अब समाजशास्त्र में यह कई रूपों में प्रयुक्त की जाती है, जैसे—संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक, संरचना और प्रकार्य, केवल प्रकार्यात्मक विश्लेषण आदि-आदि। सामाजिक संगठन और सामाजिक संरचना को भी कुछ विद्वानो ने पर्याप्त रूप मे प्रयुक्त किया है।

वास्तविकता तो यह है कि हम संरचना की व्याख्या कार्यों की सहायता के बिना नहीं कर सकते तथा उसी प्रकार कार्यों का वर्णन संरचना के सन्दर्भ के बिना नहीं कर सकते। इसलिए यहाँ प्रकार्य की अवधारणा की परिभाषा, विशेषताएँ, गुण आदि का वर्णन आवश्यक हो जाता है। मर्टन ने इन अवधारणाओं (संरचना और प्रकार्य) का विस्तार से आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है। यहाँ हम संक्षिप्त मे ही इस दूसरी परन्तु सम्बन्धित अवधारणा 'प्रकार्य' का वर्णन करेंगे। प्रकार्य समाज, समूह या किसी इकाई द्वारा किया जाने वाला कार्य है जो सामाजिक व्यवस्था मे एकता बढ़ाता है। प्रकार्य सामाजिक संरचना की अनुकूलता को भी बढ़ाता है।

प्रकार्य का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of Function)— प्रकार्य समाजशास्त्र में एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है। सामान्यतया प्रकार्य का अर्थ समाजशास्त्र मे अनेक रूपो मे किया जाता है। *आर. के. मर्टन* ने अपनी विश्वविख्यात पुस्तक *'सोशियल थ्योरी एण्ड सोशियल स्ट्रक्चर'* में प्रकार्य शब्द के सम्बन्ध में बताया है कि इस अवधारणा का समाजशास्त्र में निम्नलिखित रूपों मे अर्थ लगाया जाता है—

(1) सामान्य रूप मे, जैसे--दीवाली, दशहरा के उत्सव, जलसे आदि के रूप में। (2) सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण मे प्रकार्य का अर्थ व्यावसायिक घटनाओ के सन्दर्भ मे लगाया जाता है। (3) पदेन कार्य सम्पादन के रूप मे लिया जाता है। (4) गणितशास्त्र के अर्थ में प्रकार्य

का जो अर्थ है वह भी समाजशास्त्र में लगाया जाता है, जैसे—घटना 'क' (विवाह-विच्छेद की दर) कार्य है, घटना 'ख' (आर्थिक स्थिति), अर्थात् विवाह विच्छेद की दर का घटना या बढ़ना आर्थिक स्थिति का परिणाम है। (5) मानवशास्त्र मे प्रकार्य को उसी रूप मे प्रयुक्त किया जाता है जिस रूप म जीव विज्ञान मे किया जाता है, जैसे—कोई अभ्यास अथवा विश्वास का समाज के बने रहने मे क्या योगदान है?

यहाँ हम 'प्रकार्य' शब्द के उस अर्थ को जानने का प्रयास करेंगे जो समाजशास्त्री संरचना की अवधारणा के सन्दर्भ में लगाते हैं। इस सम्बन्ध मे हम तीन विद्वानो की परिभाषाएँ देखेंगे। ये परिभाषाएँ जॉनसन क्लूखौन और मर्टन की है।

जॉनसन (Johnson) के अनुसार, "अगर कोई आंशिक ढाँचा—कोई उप-समूह, भूमिका, सामाजिक सामान्यक अथवा सांस्कृतिक मूल्य सामाजिक प्रणाली या उप प्रणाली को एक या अधिक सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे योग दे तो यह कहा जाता है कि वह प्रकार्यमय है।"

क्लूखौन (Kluckhonh) के अनुसार, "संस्कृति का कोई भी अंग तभी प्रकार्यात्मक होता है जब वह इस प्रकार की अनुक्रिया करे कि उसे सामाजिक रूप से ग्रहण किया जा सके और व्यक्ति समाज से अपना अनुकूलन करने के लिए उसे सुविधापूर्ण समझे।" इस परिभाषा मे अनुकूलन पर विशेष जोर दिया गया है। अगर व्यक्ति सांस्कृतिक इकाई की सहायता से अनुकूलन कर सकता है तो वह इकाई प्रकार्यात्मक है।

मर्टन ने प्रकार्य की बहुत छोटी परन्तु सारगर्भित परिभाषा दी है जो निम्नलिखित है, "प्रकार्य वह अवलोकित परिणाम है जो सामाजिक व्यवस्था मे अनुकूलन अथवा सामञ्जस्य करता है।" मर्टन ने स्पष्ट लिखा है कि वास्तव में कोई तत्त्व सामाजिक व्यवस्था का अनुकूलन करने मे अथवा व्यवस्थापन मे मदद करता है तो वह इकाई प्रकार्यात्मक है।

जॉनसन क्लूखौन और मर्टन की परिभाषाओ का सार यही है कि प्रकार्य संस्कृति, समाज तथा इनकी इकाइयो का वह कार्य है जो सामाजिक व्यवस्था के संतुलन, निरन्तरता, सामाञ्जस्य, व्यवस्थापन मे सहायक हो तथा सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करता हो।

प्रकार्य की विशेषताएँ
(Characteristics of Function)

अनेक विद्वानो ने प्रकार्य की विशेषताएँ बताई हैं। इनमे प्रमुख रेडक्लिफ-ब्राउन, मैलिनोव्स्की, दुर्खीम क्लूखौन, किंग्सले डेविस, मर्टन, पारसन्स आदि हैं। इन विद्वानो ने अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रकार्य की विशेषताएँ तथा लक्षण बताए हैं। मर्टन ने प्रकार्य की विशेषताओ का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया है। इन्होने प्रकार्य की निम्नलिखित विशेषताएँ रेडक्लिफ-ब्राउन, मैलिनोव्स्की, दुर्खीम, किंग्सले, डेविस आदि के अध्ययनो में से सर्वेक्षण करके बताई हैं, जो आंशिक रूप से सत्य हैं—
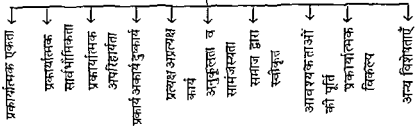
(1) **प्रकार्यात्मक एकता** (Functional Unity)—रेडक्लिफ-ब्राउन और मैलिनोव्स्की सामाजिक संरचना की विभिन्न इकाइयों के सम्बन्ध में कहते हैं कि ये समाज में एकता बनाए रखती हैं। जिस प्रकार से जीव के विभिन्न अंग परस्पर एकता के रूप में सम्बन्धित होते हैं उसी प्रकार सामाजिक संरचना की प्रत्येक इकाई परस्पर एक-दूसरे से संगठनात्मक कार्य करते हुए सम्बन्धित रहती है।

मर्टन ने धर्म का उदाहरण देकर इस विशेषता का मूल्यांकन किया। आपका कहना है कि एक समाज में एक से अधिक धर्म को मानने वाले रहते हैं तो धर्म के कारण उनमें साम्प्रदायिक झगड़े होते हैं। इसलिए दुर्खीम, रेडक्लिफ-ब्राउन, मैलिनोव्स्की आदि का मानना आंशिक रूप में सत्य है। इकाइयाँ प्रकार्यात्मक होती हैं परन्तु वे दुष्कार्यात्मक या विघटनकारी कार्य भी करती हैं।

(2) **प्रकार्यात्मक सार्वभौमिकता** (Functional Universality)—मर्टन से पहिले के समाजशास्त्रियों और सामाजिक मानवशास्त्रियों का मानना था कि जहाँ-जहाँ मानवसमाज है वहाँ-वहाँ सामाजिक इकाइयाँ कोई-न-कोई आवश्यकता की पूर्ति करती हैं। मैलिनोव्स्की जो कि कट्टर प्रकार्यवादी रहे हैं, उनका कहना है कि "प्रत्येक इकाई, प्रत्येक स्थान पर, कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण कार्य पूर्ण करती है।" इनका तो यह भी कहना है कि सामाजिक संरचना में केवल वे ही इकाइयाँ विद्यमान होती हैं जो सामाजिक व्यवस्था में किसी आवश्यकता की पूर्ति करती हैं।

मर्टन ने इस विशेषता का मूल्यांकन धर्म का उदाहरण देकर किया। मर्टन ने बताया कि धर्म अनेक दुष्कार्य करता है फिर भी वह सामाजिक संरचना में इकाई के रूप में विद्यमान है। हिन्दू समाज में जाति-प्रथा, बाल-विवाह, सती-प्रथा, अस्पृश्यता, वैधव्य, स्त्री-अशिक्षा आदि धर्म के कारण थे। पश्चिम के कई समाजों में धर्म परिवार-नियोजन के कई तरीकों तथा गर्भपात के विरुद्ध एक बाधा है।

(3) **प्रकार्यात्मक अपरिहार्यता** (Functional Indispensibility)—विभिन्न विद्वानों का यह मानना है कि सामाजिक संरचना में इकाइयाँ या उनके कार्य अपरिहार्य हैं तथा प्रकार्यों को संरचना से अलग नहीं किया जा सकता। परन्तु मर्टन ने विभिन्न विद्वानों के विचारों तथा लेखों का अध्ययन किया तथा उसमें स्पष्ट रूप से यह नहीं पाया कि—(1) कार्य अपरिहार्य है, अथवा (2) इकाई अपरिहार्य है, अथवा (3) कार्य और इकाई दोनों अपरिहार्य हैं। किंग्सले डेविस और

मूर ने धर्म को अपरिहार्य बताया, क्योंकि धर्म समाज मे सामाजिक नियन्त्रण का कार्य करता है। मर्टन का कहना है कि आधुनिक समाजों मे सामाजिक नियन्त्रण धर्म के बिना भी होता है।

मर्टन ने उपर्युक्त प्रकार्य की विशेषताओ का मूल्यांकन करने के बाद प्रकार्य के निम्नलिखित लक्षण और विशेषताएँ बताई हैं—

(4) प्रकार्य, अकार्य और दुष्कार्य (Function, Non Function and Dysfunction)—मर्टन का कहना है कि सामाजिक सरचना की इकाइयों के कार्यों को तीन प्रमुख भागों मे बाँट सकते हैं—(1) प्रकार्य, (2) अकार्य, और (3) दुष्कार्य। संरचना की अधिकतर इकाइयाँ जब वे कार्य करती हैं जिससे सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने तथा समायोजन लाने में सहायता मिलती है तो ये इकाइयाँ प्रकार्यात्मक कहलाती हैं। कुछ इकाइयाँ ऐसी होती हैं जो अध्ययन के अन्तर्गत सामाजिक व्यवस्था से किसी भी प्रकार से सम्बन्धित नहीं होती हैं। वे व्यवस्था को बनाए रखने मे या अव्यवस्था करने में किसी प्रकार की भूमिका का निर्वाह नहीं करती हैं। यह उनका अकार्य कहलाता है। सरचना की कुछ इकाइयाँ सामाजिक व्यवस्था मे अव्यवस्था बढ़ाने या अनुकूलन एवं समायोजन कम करने की भूमिका करती हैं। उनका विघटनकारी प्रभाव होता है, यह उनका दुष्कार्य कहलाता है।

(5) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कार्य (Manifest and Latent Function)—मर्टन ने सामाजिक संरचना की इकाइयों के प्रमुख कार्यों को दो उपकार्यों में बाँटा है—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष कार्य वे वस्तुनिष्ठ परिणाम हैं जो व्यवस्था में समायोजन और अनुकूलन मे योगदान करते हैं तथा व्यवस्था में भाग लेने वालो द्वारा चाहे जाते हैं तथा मान्यता-प्राप्त हैं। ये प्रत्यक्ष कार्य सगठनात्मक या प्रकार्य तथा विघटनात्मक या दुष्कार्य के अन्तर्गत देखे जा सकते हैं।

अप्रत्यक्ष कार्य सामाजिक संरचना की इकाइयो के वे कार्य हैं जो न तो चाहे जाते हैं न ही मान्यता प्राप्त होते हैं। ये अप्रत्यक्ष कार्य सगठनात्मक या प्रकार्य तथा विघटनात्मक या दुष्कार्य के रूप मे होते हैं। इन कार्यों को अग्रलिखित चार्ट द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।
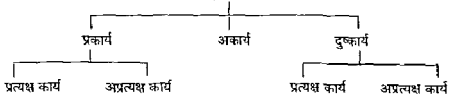
स्रोत : आर के मर्टन : सोशियल थ्योरी एण्ड सोशियल स्ट्रक्चर, 1968, पृ 105

(6) अनुकूलनता तथा सामञ्जस्यता (Adaptibility and Adjustment)— प्रकार्य समाज में अनुकूलनता तथा सामञ्जस्यता को बढाते हैं। सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता तथा सन्तुलन के लिए आवश्यक है कि सामाजिक संरचना की इकाइयो में अनुकूलनता तथा सामञ्जस्यता का गुण हो। इस गुण के अभाव में इकाइयाँ अव्यवस्थित तथा असतुलित हो जाती

हैं। इकाइयों, संस्थाओं, एजेन्सियों आदि में यह गुण जब तक बना रहता है वे संरचना का अभिन्न अंग बनी रहती हैं।

(7) **समाज द्वारा स्वीकृत** (Accepted for Society)—सामाजिक संरचना के तत्वों, इकाइयों, संस्थाओं, एजेन्सियों आदि के कार्य समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं। भिन्न-भिन्न समाजों में इकाइयाँ अलग-अलग होती हैं तथा उनके कार्य समाज की आवश्यकता के अनुसार तय किये जाते हैं। ये परिवर्तनशील भी होते हैं। जो कार्य समाज द्वारा स्वीकृत नहीं होते हैं उनको मर्टन ने अव्यक्त कार्य अथवा अप्रत्यक्ष कार्य कहा है।

(8) **आवश्यकताओं की पूर्ति** (Fulfils Needs)—मैलिनोव्स्की प्रकार्यों की इस विशेषता पर विशेष बल देते हैं। आपका कहना है कि प्रत्येक इकाई, हर स्थान पर, कोई-न-कोई महत्त्वपूर्ण कार्य करती है। आपने यह भी लिखा है कि जो इकाई आवश्यकता की पूर्ति के लिए कार्य नहीं करती है, वह संरचना में बनी नहीं रह सकती। मैलिनोव्स्की, रेडक्लिफ-ब्राउन तथा क्लूखौन ने तो उद्विकासियों की इसी आधार पर कटु आलोचना की है कि समाज में कोई भी तत्त्व या अंग अवशेष नहीं होते हैं। उद्विकास सिद्धान्त में अवशेष एक प्रमाण के रूप मे काम में लिए जाते हैं, प्रकार्यवादी ऐसा नहीं मानते हैं।

(9) **प्रकार्यात्मक विकल्प** (Functional Substitutes)—मर्टन का कहना है कि सामाजिक संरचना में अनेक इकाइयाँ होती हैं, उनके अनेक कार्य होते हैं, इससे सम्बन्धित हम दो प्रकार की विशेषताएँ और प्रकार्य पाते हैं। पहिला, तत्त्व एक और उसके कार्य अनेक तथा दूसरा, प्रकार्य एक और उसको पूर्ण करने वाले तत्त्व अनेक होते हैं। समाज की निश्चित आवश्यकता से सम्बन्धित प्रकार्य के अनेक विकल्प अथवा समकक्ष होते हैं। आदिम समाज में सामाजिक नियन्त्रण का प्रकार्य धर्म करता है। नगरीय या महानगरीय समाज में सामाजिक नियन्त्रण का प्रकार्य सरकार पुलिस, सेना, न्यायालय आदि के द्वारा सम्पन्न होता है, अर्थात् प्रकार्यों के अनेक विकल्प या समकक्ष होते हैं।

(10) **अन्य विशेषताएँ** (Other Characteristics)—प्रकार्य की कुछ और भी विशेषताएँ हैं; जैसे—सामाजिक संरचना में इकाइयाँ अनेक होती हैं, उनकी गणना करना कठिन है। इकाइयों के प्रकार्यों की गणना करना तो और भी असम्भव है। प्रकार्य एक समूह के लिए अधिक लाभदायक, कुछ के लिए कम लाभदायक तथा कुछ समूहों के लिए हानिकारक भी हो सकते हैं। प्रकार्य सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाइयों से सम्बन्धित होते हैं। प्रकार्य समाज में श्रम के विभाजन को भी स्पष्ट तथा निश्चित करते हैं। प्रत्येक इकाई समाज के लिए निश्चित कार्य करती है। प्रकार्य प्रकट-अप्रकट, प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, स्पष्ट-अस्पष्ट, ज्ञात और अज्ञात आदि रूपों में विद्यमान होते हैं। समाज की व्यवस्था, संगठन, निरन्तरता, सन्तुलन, विकास आदि संरचना की इकाइयों के प्रकार्यों पर निर्भर करते हैं। अगर इकाइयाँ प्रकार्य सम्पन्न नहीं करें तो समाज असंतुलित तथा अव्यवस्थित होकर नष्ट हो सकता है। इस प्रकार प्रकार्य सामाजिक व्यवस्था तथा संगठन के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं।

❒

अध्याय-11

प्रस्थिति तथा भूमिका

(Status and Role)

प्रत्येक व्यक्ति का समाज में कोई-न-कोई स्थान होता है, उसी के आधार पर वह अन्य व्यक्ति से अन्त:क्रिया करता है। अन्त:क्रिया के समय वह समाज-सम्मत व्यवहार करता है। उसके व्यवहार करने के तरीके भी पूर्वनिर्धारित होते हैं कि वह किस व्यक्ति के साथ किस प्रकार के सम्बन्ध रखेगा। इस प्रकार अन्त:क्रिया के समय व्यक्ति का कोई-न-कोई पद अवश्य होता है जिसे समाजशास्त्र मे 'प्रस्थिति' कहा जाता है। 'प्रस्थिति' समाजशास्त्र में महत्त्वपूर्ण सम्प्रत्यय है। वीरस्टीड के मतानुसार, प्रस्थितियों का व्यवस्थित रूप मिलकर सम्पूर्ण समाज का निर्माण करता है इसीलिए वे समाज को सामाजिक प्रस्थितियो का जाल कहते हैं। एक दिन में व्यक्ति अनेक लोगों से सम्पर्क करता है और सबके साथ उसके सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति ऑफिस में ऑफीसर है, घर आकर पत्नी के साथ पति के रूप में, बच्चों के साथ पिता के रूप में, माँ-बाप के साथ बेटे के रूप मे उसका सम्बन्ध होता है। इस प्रकार समाज में व्यक्ति का कोई-न-कोई पद अवश्य होता है जिसे 'प्रस्थिति' कहा जाता है और प्रस्थिति धारण करने के परिणामस्वरूप जिस प्रकार के कार्यों की समाज उससे अपेक्षा रखता है तथा वह उसके अनुरूप जो कुछ करता है वह उसकी 'भूमिका' है।

सामाजिक प्रस्थिति व भूमिका के विषय मे अनेक समाजशास्त्रियों ने विचार व्यक्त किए हैं जिनमें लिण्टन, मर्टन, पार्सन्स, हिलर व डेविड आदि समाजशास्त्री प्रमुख हैं जिनके विचारो को अग्रलिखित रूप मे व्यक्त किया जा रहा है।

प्रस्थिति का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of Status)

प्रस्थिति की परिभाषाएँ अनेक विद्वानो द्वारा इस प्रकार दी गई हैं, जिनके आधार पर प्रस्थिति के सम्प्रत्यय को भली-भाँति समझा जा सकता है—

1. ऑगबर्न व निमकॉफ के अनुसार, "प्रस्थिति की सबसे सरल परिभाषा यह है कि यह समूह में व्यक्ति के पद का प्रतिनिधित्व करती है।"

2. **लेपियर** ने लिखा है, "सामाजिक प्रस्थिति सामान्यतः उस पद के रूप में समझी जाती है जो एक व्यक्ति समाज के रूप में प्राप्त करता है।"

3. **बीरस्टीड** का कहना है कि सामान्यतः एक प्रस्थिति समाज अथवा समूह में एक पद है।

4. **लिण्टन** के मत में, "सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत किसी व्यक्ति को एक समय विशेष में जो स्थान प्राप्त होता है, उसी को उस व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति कहा जाता है।"

5. **इलियट तथा मैरिल** के अनुसार, "प्रस्थिति वह पद अथवा स्थिति है जिसे व्यक्ति किसी समूह में अपने लिंग, आयु, परिवार, वर्ग, व्यवसाय, विवाह तथा उपलब्धि के कारण प्राप्त करता है।"

6. **डेविस** की मान्यता है, "प्रस्थिति किसी भी सामान्य संस्थात्मक व्यवस्था में किसी पद की सूचक है, ऐसा पद जो समाज द्वारा स्वीकृत है और जिसका निर्माण स्वतः ही हुआ है एवं जो जनरीतियों व रूढ़ियों से सम्बद्ध है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न विद्वान् प्रस्थिति को भिन्न-भिन्न रूप में परिभाषित करते हैं। निष्कर्षतः प्रस्थिति किसी समाज अथवा समूह विशेष मे एक पद को इगित करती है जो व्यक्ति को अपनी योग्यता के आधार पर प्राप्त होता है। व्यक्ति जितने समूहों की सदस्यता प्राप्त करता है वह उतने ही पद भी प्राप्त कर लेता है। अर्थात् व्यक्ति की स्थिति का निर्धारक समूह है। इसी कारण **बीरस्टीड** की मान्यता है कि प्रस्थिति वह पद है जो समूह-सम्बन्ध, समूह-सदस्यता अथवा समूह-सगठन के द्वारा प्रदत्त होता है।

प्रस्थिति सदैव तुलनात्मक होती है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति की अनेक प्रस्थितियाँ होती हैं लेकिन सभी प्रस्थितियाँ दूसरे व्यक्ति की तुलना मे ही होती हैं। एक प्रस्थिति को दूसरी प्रस्थिति के सन्दर्भ मे ही देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए, जब हम कहते हैं कि कोई व्यक्ति पिता है तो यह निश्चित है कि उसके पुत्र-पुत्रियाँ हैं, यदि कोई दुकानदार है तो उसके ग्राहक निश्चित होगे। अकेले व्यक्ति की कोई प्रस्थिति नहीं होती। इलियट व मैरिल प्रस्थिति को एक ऐसी स्थिति मानते हैं जिसे व्यक्ति लिग, आयु, परिवार, वर्ग, व्यवसाय, विवाह आदि को अपने प्रयासों से प्राप्त करता है, लेकिन सभी पद प्रयासों से ही नहीं मिलते। कुछ पद परम्परागत तरीके से भी प्राप्त होते हैं।

निष्कर्षतः प्रस्थिति एक महत्त्वपूर्ण अवधारणा है जो समाज में व्यवस्था बनाये रखने मे महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।

सामाजिक प्रस्थिति के प्रकार

(Types of Social Status)

प्रत्येक समाज में सामूहिक जीवन के संचालन के लिए अनेक पदों का वितरण करना पड़ता है। कौन-सा पद किस व्यक्ति को मिलेगा? इसके लिए कुछ आधार तय करने होते हैं, जैसे—ब्राह्मण परिवार मे जन्मा बालक प्रारम्भ से ही उच्च स्तर को तथा निम्न परिवार में जन्मा बालक निम्न स्तर को प्राप्त करता है। यह जन्मजात प्रस्थिति है। दूसरी ओर कुछ स्थितियाँ व्यक्ति

के गुण व योग्यता के आधार पर निर्धारित होती हैं, जैसे—कोई डॉक्टर है तो कोई श्रमिक। इसी आधार पर लिण्टन ने प्रस्थिति के निम्न दो प्रकार बताए हैं—
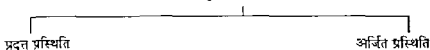
(1) प्रदत्त प्रस्थिति

(Ascribed Status)

प्रदत्त प्रस्थिति से आशय उस प्रस्थिति से है जो किसी व्यक्ति को जन्म के आधार पर स्वतः ही प्राप्त हो जाती है जिसके लिए उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। ये प्रस्थितियाँ सामाजिक व्यवस्थानुसार स्वतः ही बालक को जन्म के साथ प्राप्त हो जाती हैं, जिनके कारण बालक समाज से उन प्रस्थितियों के साथ अपना अनुकूलन कर लेता है जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास उचित रूप से हो जाता है। इन्हीं प्रस्थितियों के आधार पर भविष्य में प्राप्त की जाने वाली प्रस्थितियों की सीमाएँ भी निश्चित हो जाती हैं।

प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारक (Determinants of Achieved Status)—प्रदत्त प्रस्थितियों पर व्यक्तियों का कोई नियन्त्रण नहीं रहता, लेकिन फिर भी इन प्रस्थितियों का निर्धारण कुछ निश्चित नियमों के आधार पर ही किया जाता है। सामान्यतया प्रदत्त प्रस्थितियाँ व्यक्ति को चार आधारों पर प्रदान की जाती हैं—

प्रदत्त प्रस्थिति के आधार है
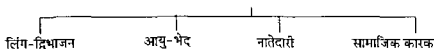
ये चारों आधार जन्म से ही व्यक्ति को प्राप्त होते हैं तथा प्रारम्भ से उसकी प्रस्थिति को निश्चित करते हैं। इनको निम्नलिखित क्रम से वर्णित किया जा सकता है—

1.1 लिंग-द्विभाजन (Sex Dichotomy)—लिंग-द्विभाजन के कारण सम्पूर्ण विश्व दो भागों में बँटा है—(1) स्त्री, (2) पुरुष। सभी समाजों में स्त्री और पुरुष की भूमिका में भिन्नता पाई जाती है। स्त्रियों को समाज में एक विशेष प्रस्थिति मिलती है, जैसे—वे कोमल, नाजुक, धार्मिक, कर्तव्यपरायण, कमजोर, भावुक और विश्वसनीय मानी जाती हैं। उन्हें पुरुषों से नीची स्थिति प्रदान की जाती है। उन्हें अबला का रूप दिया जाता है। इसी कारण इन्हें प्राचीन समय से शिक्षा से भी वंचित रखा जाता रहा है, व्यवसाय में भी उनकी कोई भूमिका नहीं मानी जाती। दूसरी ओर पुरुष वीरता, साहस, कौशल, शौर्य, चतुरता आदि गुणों से युक्त माना जाता है। उसे कठिन शारीरिक व मानसिक कार्य सौंपे जाते हैं। प्रायः पुरुषों का कार्य-क्षेत्र घर के बाहर का है। स्त्रियाँ घर के कार्य करती हैं और पुरुष नौकरी, व्यवसाय करके रुपये कमाता है। स्त्रियों को श्रम-साध्य कार्य नहीं करने दिए जाते। शारीरिक-विभेद के आधार पर ही स्त्री

व पुरुष के अधिकारों का भी निर्धारण किया जाता है। समाज में श्रम-विभाजन के भी यही आधार हैं। अनेक जातियों में स्थिति इसके विपरीत भी है वहाँ स्त्रियों को पुरुषो की तुलना मे अनेक अधिकार दिए गए हैं। ऐसा मातृ-सत्तात्मक परिवारों मे होता है। भारत में नायर जनजाति में स्त्री की प्रस्थिति पुरुष से ऊँची होती है।

यद्यपि आज के युग में लिंग-द्विभाजन के कारक की सीमाएँ कम होती जा रही हैं। स्त्रियाँ भी घर के वाहर कार्य करती हैं। हर क्षेत्र में उनका वर्चस्व भी है। समाज में भी विशेष आरक्षण दिया जाता है। इसके उपरान्त भी वंशानुक्रमण के कारण जो भेद हैं वह तो उनकी प्रस्थिति को पुरुष की तुलना में कम करता ही है।

2. आयु-भेद (Age-difference)—आयु भी प्रस्थिति का महत्त्वपूर्ण आधार है। आयु में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। आयु के आधार पर अनेक सामान्य प्रस्थितियाँ प्रदान की जाती हैं। आयु का विभाजन—शैशवावस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था के क्रम मे किया जाता है। अलग-अलग आयु के लोगों को भिन्न-भिन्न प्रस्थितियाँ प्रदान की जाती हैं। आयु छोटी होने पर कोई विशेष प्रस्थिति नहीं दी जाती लेकिन जैसे-जैसे आयु बढ़ती है, व्यक्ति के अनुभव बढ़ते हैं वैसे ही समाज के उत्तरदायित्वों का निर्वाह उन पर आ जाता है। संस्कृति के पोषक वे ही होते हैं। समाज में नौकरी प्राप्त करने, मत देने, व्यावसायिक कार्य आदि के लिए भी अनुभव व बड़ी आयु की आवश्यकता होती है। इस प्रकार आयु भी प्रस्थितियों का निर्धारक मानी जाती है।

आज के समय में इसमें कुछ परिवर्तन आ रहा है, जैसे—आज उम्र से ज्यादा योग्यता को महत्त्व दिया जा रहा है। इसीलिए अधिक उम्र के व्यक्ति के समक्ष कम उम्र का व्यक्ति उच्च पद पर आसीन हो जाता है। इस प्रकार उम्र ही प्रस्थिति का निर्धारक नहीं है। कुछ अन्य आधार भी महत्त्वपूर्ण हैं।

3. नातेदारी (Kinship)—नातेदारी भी प्रस्थिति प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण आधार है। नातेदारी से तात्पर्य उन सम्बन्धों से है जो व्यक्ति के जन्म के परिवार (Family of Orientation) तथा विवाह के परिवार (Family of Procreation) के लोगों से होते हैं। जन्म से बच्चे को अनेक प्रस्थितियाँ प्राप्त हो जाती हैं—पुत्र, भाई, चाचा, मामा आदि का पद मिल जाता है जिनके लिए उसे प्रयत्न नहीं करना पड़ता। इसके अतिरिक्त समाज भी उसे अनेक प्रस्थितियाँ प्रदान करता है, जैसे—जाति, वर्ग आदि का निर्धारण व्यक्ति की सामर्थ्य के बाहर है। जिस जाति मे जन्म पाया है उसकी सदस्यता उसे मिलनी ही है, उन्हीं के अनुरूप उसका साभाजीकरण भी होगा। सर्वप्रथम परिवार के आधार पर बालक की प्रस्थिति बनती है, बाद मे अपनी योग्यता से इसमें कुछ परिवर्तन किया जा सकता है लेकिन जाति से जो प्रस्थिति मिलेगी वह आजीवन स्थाई होगी। इस प्रकार नातेदारी भी प्रस्थिति-निर्धारण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

4. सामाजिक कारक (Social Factors)—कुछ अन्य आधार भी हैं जो प्रस्थिति के निर्धारक माने जाते हैं। प्रगति के आधार पर ऊँच-नीच का भेद-भाव सामाजिक आधार के अन्तर्गत आएगा। 'नीग्रो' चाहे कितने ही शिक्षित क्यों न हो जायें, वे उच्च प्रस्थिति को नहीं प्राप्त कर सकते। गोद लिए हुए बच्चे, अवैध-सन्तान, तलाक लिए माँ-बाप की सन्तान आदि की प्रस्थिति सामान्य बालकों की तुलना में हेय मानी जाती है।

किसी विशिष्ट परिवार मे जन्म लेने के कारण भी बालक को समाज मे विशिष्ट प्रस्थिति प्राप्त हो जाती है, जैसे—काली प्रजाति की तुलना मे गोरी प्रजाति के लोगो की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची मानी जाती है। इसी प्रकार शारीरिक विशेषताएँ भी प्रस्थिति को प्रभावित करती हैं। लूले, लँगडे, अपाहिज व्यक्तियों की तुलना मे समर्थ व सामान्य व्यक्ति उच्च प्रस्थिति को धारण करते हैं। उसी भाँति शाही घराने म जन्मा बालक निम्न घराने के बालक की तुलना मे उच्च प्रस्थिति को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रजाति शारीरिक विशेषताएँ, जन्म एव विद्यमान परिस्थितियाँ भी व्यक्ति की प्रस्थिति को प्रभावित करती हैं।

(2) अर्जित प्रस्थिति

(Achieved Status)

समाज में कुछ प्रस्थितियाँ इस प्रकार की होती हैं जिन्हे व्यक्ति अपनी योग्यता, क्षमता कुशलता आदि के आधार पर अर्जित करता है, ये अर्जित प्रस्थितियाँ कहलाती हैं। समाज मे अनेक प्रकार के पद है जिन्हे व्यक्ति अपनी योग्यता से प्राप्त करता है। जब कोई व्यक्ति किसी पद को प्राप्त कर लेता है तो अन्य व्यक्ति जो उस विशिष्ट योग्यता वाला होता है, उस पद के लिए प्रयास करता है। इस प्रकार इन व्यक्तियों मे प्रतिस्पर्द्धा होती है। इसी विशेषता के आधार पर **हार्टन** एव **हण्ट** का कहना है, "एक सामाजिक पद जिसे व्यक्ति अपनी इच्छा एवं प्रतिस्पर्द्धा से प्राप्त करता है, अर्जित प्रस्थितियो के नाम मे जाना जाता है।" शिक्षा, विवाह, सम्पत्ति, व्यवसाय, श्रम-विभाजन आदि का सम्बन्ध अर्जित प्रस्थितियों से है। प्रतिस्पर्द्धा से पद वही व्यक्ति पा सकता है जो उस पद के योग्य होता है। आधुनिक समय मे अर्जित प्रस्थितियो को अधिक महत्त्व दिया जाता है क्योकि आज के युग मे जन्म की तुलना मे व्यक्ति के गुणो का अधिक महत्त्व माना जाता है। इस प्रकार अर्जित प्रस्थिति को व्यक्ति अपने प्रयत्न, परिश्रम, पराक्रम, योग्यता और बौद्धिक क्षमता के आधार पर प्राप्त करता है। एक निम्न वर्ग का व्यक्ति भी परिश्रम व योग्यता से वकील, डॉक्टर, इन्जिनियर आदि बन सकता है और उच्च वर्ग मे आ सकता है। इस प्रकार उच्च वर्ग की सदस्यता उसकी नवीन अर्जित प्रस्थिति होगी।

जिन समाजो मे सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से हो रहे हैं वहाँ अर्जित प्रस्थिति का महत्त्व बढ़ रहा है क्योकि सामाजिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप अनेक प्रस्थितियाँ उत्पन्न हो रही हैं जिसमे योग्यता को महत्त्व दिया जा रहा है।

अर्जित प्रस्थिति के निर्धारक (Determinants of Achieved Status)—अर्जित प्रस्थिति के प्रमुख निर्धारण के निम्नलिखित क्रम मे देखे जा सकते हैं—

अर्जित प्रस्थिति के निर्धारक हैं

सम्पत्ति	व्यवसाय	शिक्षा	विशेषीकरण और श्रम विभाजन	राजनैतिक सत्ता	विवाद सम्बन्ध	उपलब्धियाँ
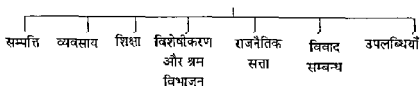
1. **सम्पत्ति** (Property)—सम्पत्ति द्वारा व्यक्ति अर्जित प्रस्थिति को प्राप्त कर सकता है क्योंकि इसके द्वारा उच्च स्थितियों से सम्बद्ध समस्त सुविधाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। सम्पत्ति उच्च प्रस्थिति का आधार तो है लेकिन वह तभी व्यक्ति के लिए सम्माननीय हो सकती है जब उसे वैध तरीकों से अर्जित किया गया हो। सम्पत्ति का अधिकार व्यक्ति को उच्च प्रस्थिति प्रदान कर सकता है।

2. **व्यवसाय** (Occupation)—व्यवसाय भी अर्जित प्रस्थिति का आधार है। उच्च व्यवसाय जैसे—प्रशासनिक पद, डॉक्टर, इन्जिनियर आदि को उच्च प्रस्थिति तथा मजदूर, धोबी, नाई आदि को निम्न प्रस्थिति प्राप्त होती है। अतः व्यवसाय सामाजिक प्रस्थिति का निर्धारक है।

3 **शिक्षा** (Deucation)—शिक्षित व्यक्ति उच्च प्रस्थिति प्राप्त करता है। अशिक्षित व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से निम्न प्रस्थिति को प्राप्त करता है, जैसे—कृषक की तुलना मे प्राध्यापक का पद उच्च माना जाता है।

4. **विशेषीकरण और श्रम-विभाजन** (Specialization and Division of Labour)—किसी विशेष योग्यता वाले व्यक्ति को अपनी योग्यता का प्रदर्शन करने का अवसर श्रम-विभाजन प्रदान करता है क्योंकि इससे व्यक्ति उच्च प्रस्थिति प्राप्त कर सकता है। उच्च जीवन स्तर व्यक्ति को सामाजीकरण की शिक्षा प्रदान करता है क्योंकि विशेषीकरण से व्यक्ति अधिक कुशल स्थितियों को प्राप्त करने योग्य बन जाता है। इस प्रकार विशेषीकरण भी अर्जित प्रस्थिति के निर्धारण का आधार है।

5. **राजनैतिक सत्ता** (Political Authority)—शासक और शासित का भेद राजनैतिक सत्ता के आधार पर ही किया जाता है। सामान्य-जन की तुलना में अधिकार प्राप्त व्यक्ति की प्रस्थिति उच्च होती है।

6. **विवाह-सम्बन्ध** (Marrige Relation)—वैवाहिक सम्बन्ध भी व्यक्ति को अनेक प्रस्थितियाँ प्रदान करते हैं, जैसे—पति-पत्नी, माता-पिता, जीजी-जीजा, वधु, भाभी आदि। विवाह से अनेक प्रस्थितियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

7. **उपलब्धियाँ** (Achievements)—कुछ अर्जित प्रस्थितियाँ इस प्रकार की होती हैं जिन्हें केवल परिश्रम द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। अच्छे खिलाड़ी, आविष्कर्त्ता, साहित्यकार, संगीतकार आदि प्रयास से ही बन सकते हैं। समाज स्वयं किसी को यह गुण नहीं दे सकता। रुचि व योग्यता द्वारा ही इन्हें अर्जित किया जा सकता है।

इस प्रकार अर्जित प्रस्थिति-निर्धारण के अनेक आधार हो सकते हैं जो उस समाज की सामाजिक व सांस्कृति व्यवस्था पर निर्भर करते हैं।

प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थिति में अन्तर (Differences in Ascribed and Achieud Statups)—प्रदत्त और अर्जित दोनो प्रस्थितियाँ व्यक्ति के जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन दोनो मे कुछ अन्तर हैं, जो इस प्रकार हैं—

(1) प्रदत्त प्रस्थिति व्यक्ति को समाज द्वारा प्रदान की जाती है जिसके लिए स्वयं उसे कोई प्रयास नहीं करना पडता, जबकि अर्जित प्रस्थिति को व्यक्ति स्वयं की योग्यता, क्षमता, कुशलता से प्राप्त करता है।

(2) प्रदत्त प्रस्थिति के निर्धारण मे व्यक्ति का वंशानुक्रम, माता-पिता की स्थिति, लिंग, आयु, नातेदारी व सामाजिक कारको का विशेष ध्यान रखा जाता है। अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति के माता-पिता, वंश-परम्परा से पूर्णतया भिन्न होती है।

(3) प्रदत्त प्रस्थिति अपेक्षाकृत स्थिर होती है जिसमे कोई परिवर्तन नही होता। अर्जित प्रस्थिति परिवर्तनशील है।

(4) प्रदत्त प्रस्थिति प्रमुखतया समाज की सांस्कृतिक व्यवस्था व सामाजिक मूल्यो के अनुसार निर्धारित होती है जबकि अर्जित प्रस्थिति समाज की आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित है।

(5) प्रदत्त प्रस्थिति बन्द समाज का निर्माण करती है जबकि अर्जित प्रस्थिति गत्यात्मक समाज को प्रोत्साहन देती है।

(6) प्रदत्त प्रस्थिति सामूहिकता को बढावा देती है। अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति के गुणो को महत्त्व देती है।

(7) फिचर के मतानुसार प्रदत्त प्रस्थिति और इससे सम्बद्ध भूमिका मे सामञ्जस्य होना सदैव आवश्यक नहीं होता, जबकि अर्जित प्रस्थिति और इससे सम्बद्ध भूमिका के बीच सामञ्जस्य देखने को मिलता है।

(8) प्रदत्त प्रस्थितियो का अधिकार-क्षेत्र निश्चित नहीं होता अर्थात् परिवार में किस व्यक्ति के क्या-क्या अधिकार हैं या माँ-बाप को क्या अधिकार अपनी संतानो के विषय मे प्राप्त है, इसकी निश्चितता नही होती जबकि अर्जित प्रस्थिति में अधिकार-क्षेत्र निश्चित व स्पष्ट होता है। प्रशासनिक अधिकारी के अधिकार स्पष्ट व निश्चित हैं।

(9) प्रदत्त प्रस्थिति मे व्यक्ति सम्मान प्राप्त करे यह आवश्यक नहीं है किन्तु अर्जित प्रस्थितियाँ प्रकार्यात्मक होती हैं अर्थात् जिस पद पर व्यक्ति आसीन है उसके अनुरूप सम्मान उसे प्राप्त होता है।

(10) प्रदत्त प्रस्थिति प्रधान-समाज मे व्यक्तित्व के विकास के कम अवसर प्राप्त होते हैं जबकि अर्जित प्रस्थिति-युक्त-समाज में व्यक्तित्व का चतुर्मुखी विकास होता है, इसीलिए अर्जित प्रस्थिति-युक्त समाज प्रदत्त प्रस्थिति-युक्त समाज की तुलना मे अधिक संगठित रहता है।

प्रदत्त एवं अर्जित प्रस्थितियों में सम्बन्ध

(Relation between Ascribed and Achieved Statuses)

प्रत्येक समाज में प्रदत्त और अर्जित दोनों प्रकार की प्रस्थितियाँ पाई जाती हैं और दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं। इसीलिए समाज के लिए दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं। प्रदत्त प्रस्थितियाँ प्रारम्भ से ही बालक को स्वाभाविक रूप से प्राप्त होती हैं अत: इनका जीवन में पहला स्थान है—क्योंकि (1) ये प्रदत्त प्रस्थितियाँ ही व्यक्तित्व का विकास करती हैं, व्यक्ति के प्रशिक्षण की दिशा तय करती हैं। (2) इनकी सहायता से संस्कृति का हस्तान्तरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को होता है। (3) ये प्रदत्त प्रस्थितियाँ व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती हैं। (4) इनके आधार पर ही व्यक्ति की आयु, लिंग, धर्म, स्थान, वर्ग, क्षेत्र, समुदाय आदि को देखकर व्यक्ति के सामाजीकरण व जीवन के विषय में सम्भावना की जा सकती है कि उसका आगामी जीवन कैसा होगा? (5) साथ ही ये प्रस्थितियाँ व्यक्ति को बिना प्रयत्न प्राप्त हो जाती हैं।

प्रदत्त प्रस्थितियों के साथ-साथ अर्जित प्रस्थितियाँ भी व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण हैं—क्योंकि (1) अर्जित प्रस्थिति के आधार पर ही प्रत्येक स्थान पर उपयुक्त व्यक्ति कार्य करता है। (2) ये व्यक्ति को अधिक कार्य करने को बाध्य करती हैं। (3) अर्जित प्रस्थिति व्यक्ति के व्यक्तित्व को निखारने व अंतिम रूप देने का कार्य करती हैं।

इस प्रकार दोनों की विशेषताओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रदत्त प्रस्थिति के लिए अर्जित प्रस्थिति अनिवार्य है तभी व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास सम्भव है। उदाहरण के लिए—यद्यपि भारत के राष्ट्रपति का पद पूर्णतया अर्जित है किन्तु उसके लिए भी आयु-सीमा, सामान्य व्यक्तित्व, बोलने की व सुनने की क्षमता आदि गुणों का होना अनिवार्य है जो प्रदत्त प्रस्थिति के गुण हैं—इसी सन्दर्भ में कौरव-पाँडवों का उदाहरण देखा जा सकता है—उस समय राज्य परम्परानुसार पिता से पुत्र को प्राप्त होता था, और बड़ा बेटा पहले अधिकारी होता था। पाँडु के पुत्र धृतराष्ट्र यद्यपि बड़े बेटे थे—राज्य के उत्तराधिकारी भी थे लेकिन अन्धे होने के कारण राज्य न पा सके—कहने का तात्पर्य यह है कि प्रदत्त प्रस्थिति के लिए भी कुछ सीमाएँ निर्धारित हैं। **किंग्सले डेविस** ने कहा है कि इसी प्रकार अर्जित प्रस्थिति को पाने के लिए कुछ प्रदत्त गुणों का होना अनिवार्य है—अमेरिका में संविधान द्वारा स्वीकृत होने पर भी राष्ट्रपति के पद का उम्मीदवार कोई अमरीका-निवासी ही होगा, कोई नीग्रो या यहूदी योग्य होने पर भी इस पद को प्राप्त नहीं कर सकता। इसी कारण प्रत्येक पद में प्रदत्त व अर्जित दोनों प्रस्थितियाँ महत्त्वपूर्ण होती हैं।

ऑगबर्न व **निमकॉफ** का कहना है कि "समाज व्यक्ति की तुलना में उसकी प्रस्थिति में अधिक रुचि रखता है। कोई व्यक्ति जब तक महत्त्वपूर्ण पद पर कार्यरत है तभी तक समाज उसमें रुचि रखता है और व्यक्ति भी अपनी प्रस्थिति के अनुसार ही भूमिका निभाता है क्योंकि उसी के अनुरूप उसे अधिकार व शक्ति प्राप्त होती है। निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी प्रस्थिति के आधार पर ही होता है। अत: प्रदत्त व अर्जित दोनों प्रस्थितियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं।

भूमिका
(Role)

सामान्यत: भूमिका से तात्पर्य ऐसे कार्यो से है जिन्हे एक विशेष स्थिति मे होने के कारण दूसरे व्यक्ति किसी से पूरा करने की आशा करते हैं। सामान्यतया एक प्रस्थिति धारण करने के कारण व्यक्ति जो कार्य करता है वह उस पद की भूमिका है—भूमिका अनेक बार 'नकल' के अर्थ मे भी प्रयुक्त होती है, जैसे—सिनेमा अथवा नाटक मे व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति की नकल करते हैं—राजा हरिश्चन्द्र के नाटक मे कोई व्यक्ति, हरिश्चन्द्र बनकर उसको नकल करता है तो वह हरिश्चन्द्र की 'भूमिका' निभाता है। इस प्रकार भूमिका किसी प्रस्थिति के सन्दर्भ मे आती है।

समाजशास्त्र मे भूमिका को प्रस्थिति का ही व्यावहारिक पक्ष माना जाता है। सामाजिक सगठन के लिए भूमिका आवश्यक है—वास्तव में भूमिका का निर्माण दो तत्वो से होता है—पहला व्यक्ति की आशाएँ—प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से कुछ न कुछ आशाएँ रखता है कि अमुक व्यक्ति इन कार्यों को अवश्य करेगा, जैसे—पिता को पुत्र से आशाएँ होती हैं कि वह उसका सम्मान करेगा। दूसरा तत्त्व है इन आशाओ के अनुरूप पूर्ण की जाने वाली क्रियाएँ—कुछ क्रियाएँ परिस्थिति विशेष मे की जाती हैं, कुछ सस्कृति के सरक्षण के लिए की जाती है तथा कुछ क्रियाएँ जीवन को सगठित बनाए रखने के लिए की जाती हैं। यदि कोई व्यक्ति दूसरे लोगो की इन आशाओ के अनुरूप ही क्रियाओ को करने लगता है तो समाजशास्त्र मे इन्हे भूमिका कहा जाता है। भूमिका प्रस्थिति का ही गत्यात्मक पक्ष है।

भूमिका का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Role)

भूमिका को अनेक समाजशास्त्रियो ने परिभाषित किया है जिनमे से कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

1. **लिण्टन** के अनुसार, "कोई भी भूमिका प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष है।"

2. **इलियट एव मैरिल** के मतानुसार, "भूमिका वह कार्य है जिसे व्यक्ति प्रत्येक प्रस्थिति के अनुरूप निभाता है।"

3. **किंग्सले डेविस** के शब्दो मे, "भूमिका किसी भी व्यक्ति द्वारा अपने पद की आवश्यकताओ के अनुसार की जाती है।"

4. **सार्जेण्ट** का कथन है कि "भूमिका किसी व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार का ही एक प्रतिमान है जिसे वह अपने समूह के सदस्यो की प्रत्याशाओ के अनुसार एक विशेष परिस्थिति मे ठीक समझता है।"

5. **ओल्सन** के मत मे, "भूमिका कुछ प्रत्याशाओ और क्रियाओ की परस्पर सम्बन्धित व्यवस्था है जो सामाजिक सगठन का अभिन्न अंग कही जा सकती है।"

6. ऑगबर्न एवं निमकॉफ के अनुसार, "भूमिका एक समूह में एक विशिष्ट पद से सम्बन्धित सामाजिक प्रत्याशाओं एवं व्यवहार-प्रतिमानो का एक योग है जिसमें कर्त्तव्यो एवं सुविधाओं का समावेश होता है।"

7. फिचर के मत मे, "जब एक-दूसरे से सम्बद्ध बहुत से प्रतिमान किसी विशेष सामाजिक कार्य को पूरा करते है तब व्यवहार के इसी संयोग को भूमिका कहा जाता है।"

भूमिका की उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भूमिका सामाजिक व्यवहार का ही एक प्रारूप है अर्थात् एक व्यक्ति की धारण की हुई प्रस्थिति मे जो कुछ करता है वही उसकी भूमिका है अथवा भूमिका प्रस्थिति का व्यावहारिक पहलू है। भूमिका की धारणा एकपक्षीय नहीं है। भूमिका सदैव पारस्परिक होती है—प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका किसी दूसरी स्थिति की तुलना मे होती है इसीलिए भूमिका की धारणा में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन भी हो सकता है। उदाहरण के लिए—किसी व्यक्ति की भूमिका भिन्न-भिन्न प्रस्थितियों मे भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है, जैसे—पिता, पति, पुत्र, भाई, मित्र, प्रशासक, राजनीतिज्ञ, समाज-सेवक आदि अनेक रूपो मे एक ही व्यक्ति अलग-अलग भूमिका निभाता है।

भूमिका भिन्न-भिन्न स्थितियों मे ही अलग-अलग नहीं होती, बल्कि एक ही स्थिति मे रहकर व्यक्ति से भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमिका की आशा की जा सकती है, जैसे—किसी प्रधानाध्यापक से विद्यालय के शिक्षको, विद्यार्थियो, सेवकों, अभिभावकों आदि के साथ भिन्न-भिन्न व्यवहारों की आशा की जाती है। व्यक्ति के ये व्यवहार उस समाज के मूल्यो और सामाजिक-सरचना की प्रकृति के अनुसार निश्चित होते हैं। इस तरह समाज मे जिन भूमिकाओ की आशा की जाती है उसे भूमिका-प्रत्याशा (Role-Expectation) कहा जाता है और इसके अनुसार जिन कार्यों का निर्वाह किया जाता है उसे भूमिका-ग्रहण (Role-Taking) कहा जाता है। दोनों का सन्तुलन ही सामाजिक व्यवस्था को सन्तुलित बनाता है।

भूमिका की विशेषताएँ

(Characteristics of Role)

सामाजिक भूमिका की कुछ विशेषताएँ हैं जो उसकी अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करती हैं, ये निम्नलिखित हैं—

(1) भूमिका का अर्थ उन व्यवहारों की सम्पूर्णता से है जिन्हें एक विशेष प्रस्थिति धारण करने के कारण व्यक्ति से पूरा करने की आशा की जाती है।

(2) भूमिका का निर्धारण एक विशेष सस्कृति के नियमों द्वारा होता है अर्थात् सम्पूर्ण समाज द्वारा भूमिका की स्वीकृति दी जाती है।

(3) भूमिका सदैव प्रस्थिति के सन्दर्भ में होती है, एकपक्षीय नहीं होती।

(4) प्रत्येक व्यक्ति से एक विशेष भूमिका की आशा दो कारणो से की जाती है। एक तो यह कि व्यक्ति सामाजिक मूल्यों के अनुसार व्यवहार करे तथा दूसर इसलिए कि सामाजिक सगठन बना रहे।

(5) प्रत्येक व्यक्ति की भूमिका प्रत्येक क्षेत्र मे भिन्न-भिन्न होती है तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तियो द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से निभाई जाती है।

(6) भूमिका भी प्रस्थिति की भाँति प्रदत्त व अर्जित दो प्रकार की होती है, जैसे—एक स्थिति के सभी व्यक्तियो की प्रदत्त भूमिका तो समान होती है लेकिन अर्जित भूमिका अलग अलग होती है।

(7) भूमिका स्थिर नही होती, इसमे समय-समय पर परिवर्तन होता रहता है।

(8) व्यक्ति की समाज मे अनेक भूमिकाएँ होती हैं किन्तु जिस भूमिका के कारण वह समाज में जाना जाता है वह मुख्य भूमिका (Key Role) होती है, शेष सामान्य भूमिकाएँ (General Roles) होती हैं।

(9) प्रत्येक व्यक्ति अपनी भूमिका अपनी रुचियो, मनोवृत्तियो और योग्यता के आधार पर निभाता है।

(10) प्रत्येक भूमिका के साथ कुछ-न-कुछ अधिकार एव सुविधाएँ जुडी होती है।

मर्टन ने भूमिका एव प्रस्थिति से सम्बन्धित तीन अवधारणाओ का अनुक्रम बताया है, जो निम्नलिखित है—

मर्टन के अनुसार भूमिका प्रस्थिति सम्बन्धी अवस्थाएँ

भूमिका-समुच्चय | प्रस्थिति-समुच्चय | प्रस्थिति-अनुक्रम
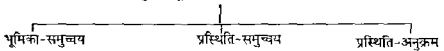
(1) भूमिका-समुच्चय (Role Set)—प्रत्येक भूमिका समाज मे दूसरो के सन्दर्भ मे ही होती है, अकेले नहीं। किसी भी प्रस्थिति के साथ विभिन्न प्रकार के कार्यो की अपेक्षाएँ होती हैं। जब एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से सम्बन्धित विभिन्न प्रस्थितियो को धारण करने वाले व्यक्तियो के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमिकाएँ निभाता है तो उसकी सम्पूर्णता को भूमिका-समुच्चय कहा जाता है। अर्थात् व्यक्ति की अनेक प्रस्थितियाँ होती हैं। उनके अनुरूप अनेक भूमिकाएँ होती हैं किन्तु जब कोई व्यक्ति एक ही प्रस्थिति द्वारा भिन्न-भिन्न लोगो के सन्दर्भ मे भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ निभाता है तो भूमिका-समुच्चय होता है। उदाहरणस्वरूप—एक अध्यापक के रूप में किसी व्यक्ति से विद्यालय के प्राचार्य, शिक्षक वर्ग, विद्यार्थी वर्ग, अभिभावक, क्लर्क, चपरासी आदि के साथ भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ निबाही जाती हैं—इसी को भूमिका-समुच्चय कहा जाता है।

(2) प्रस्थिति-समुच्चय (Status Set)—व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रस्थितियाँ होती हैं उनके अनुसार अलग-अलग भूमिकाएँ होती हैं—व्यक्ति की इन विभिन्न प्रस्थितियो की सम्पूर्णता को प्रस्थिति-समुच्चय कहा जाता है। उदाहरण के लिए—एक व्यक्ति पिता, भाई, पुत्र, मामा, चाचा, नाना, गृह स्वामी, भूस्वामी, डॉक्टर आदि अनेक प्रस्थितियाँ एक साथ धारण करता है। ये सभी प्रस्थितियाँ मिलकर प्रस्थिति-समुच्चय कहलाती हैं।

(3) प्रस्थिति-अनुक्रम (Status-Sequence)—व्यक्ति की भिन्न-भिन्न समयो मे भिन्न-भिन्न प्रस्थितियाँ होती हैं। ये प्रस्थितियाँ एक के बाद एक आती-जाती हैं जिससे एक

अनुक्रम बनता जाता है, इसी को प्रस्थिति अनुक्रम कहा जाता है। उदाहरणस्वरूप—पहले एक बच्चा होता है, फिर वह स्कूल का विद्यार्थी बनता है, फिर कॉलेज अथवा विश्वविद्यालय का छात्र, प्रोफेसर—इस प्रकार एक के बाद एक करके अनेक प्रस्थितियाँ आती-जाती हैं। यही प्रस्थिति-अनुक्रम है।

प्रस्थिति व भूमिका में सम्बन्ध

(Relations between Status and Role)

(1) प्रस्थिति एवं भूमिका दोनों एक-दूसरे की पूरक हैं क्योंकि प्रस्थिति को भूमिका से अलग नहीं किया जा सकता। **लिण्टन** ने भूमिका को प्रस्थिति का गत्यात्मक पक्ष कहा है। भूमिका को प्रस्थिति का दूसरा पक्ष कहा जा सकता है।

(2) प्रस्थितियाँ ग्रहण की जाती हैं और भूमिका निवाही जाती है अर्थात् भूमिका वह माध्यम है जिसके द्वारा एक व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से सम्बन्धित दायित्व को पूरा करता है। **प्रो. बीरस्टीड** ने कहा ह कि एक व्यक्ति धारण की हुई प्रस्थिति मे जो कुछ करता है वही उसकी भूमिका है।

(3) प्रस्थिति सामाजिक व सास्कृतिक होती है जबकि भूमिका व्यावहारिक होती है।

(4) प्रस्थिति के बिना भूमिका का कोई अस्तित्व नहीं है, उसी प्रकार बिना भूमिका के कोई प्रस्थिति नहीं हो सकती। अर्थात् एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व नहीं हे।

(5) एक प्रस्थिति एक संस्थात्मक भूमिका है। प्रो बीरस्टीड के मतानुसार, समाज की संरचना प्रस्थितियो से बनी होती है, न कि भूमिकाओं से। प्रस्थितियाँ ही सामाजिक सम्बन्धो को व्यवस्था, भविष्यवाणी करने की क्षमता तथा सभ्याव्यता प्रदान करती हैं।

(6) प्रस्थिति एव भूमिका के सम्वन्ध सदैव परिवर्तनशील हैं। अर्थात् नवीन धारणाओं, मूल्यो के आधार पर दोनो के सम्बन्धों मे भी बदलाव आ सकता है।

(7) इस प्रकार प्रस्थिति वह स्थिति है जिसे व्यक्ति अपने लिग, आयु, परिवार, व्यवसाय आदि के कारण प्राप्त करता है जबकि भूमिका वह कार्य है जिसे व्यक्ति प्रत्येक प्रस्थिति के परिणामस्वरूप पूर्ण करता है, ऐसा **इलियट** तथा **मैरिल** का मानना है।

लेवी (Levy) के अनुसार, भूमिका व्यक्ति को प्रदान की गई प्रस्थिति का वह वर्गीकृत भाग है जिसे व्यक्ति सामाजिक संरचना के अनुसार एक विशेष रूप से निभाता है।

निष्कर्षतः प्रस्थिति व भूमिका दोनों अन्योन्याश्रित हैं, एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व नहीं है—जब समाज के सभी व्यक्ति अपनी-अपनी प्रस्थिति के अनुरूप भूमिका निर्वाह करते हैं तभी सामाजिक-सुव्यवस्था की स्थिति सुदृढ़ रूप से स्थिर रह सकती है। यदि दोनो के मध्य कभी विघटन की स्थिति आ जाती है अर्थात् यदि प्रस्थिति के अनुसार भूमिका नहीं होती तो सामाजिक ढाँचा भी विघटनात्मक स्थिति मे आ जाता है। इसीलिए प्रस्थिति व भूमिका दोनों में व्यक्तिगत एवं सामाजिक दोनों स्तरों पर समन्वय रहता है।

प्रस्थिति एवं भूमिका का समाजशास्त्रीय महत्त्व
(Sociological Importance of Status and Role)

प्रस्थिति एवं भूमिका दोनो का समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्त्व है, जिसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

1 सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक सगठन दोनों को बनाए रखने में प्रस्थिति एव भूमिका का महत्त्वपूण योगदान है—क्योकि इन दोनो के तालमेल से ही समाज मे संघर्ष की सम्भावनाएँ कम हो जाती हैं और सामाजिक व्यवस्था सुचारु रूप से चलती रहती है।

2 प्रस्थिति एव भूमिका के कारण ही समाज का श्रम-विभाजन सरलता से हो जाता है क्योंकि सामाजिक कार्यों का विभाजन ये स्वत: ही कर देती हैं।

3 प्रस्थिति व भूमिका सामाजिक नियन्त्रण का प्रभावपूर्ण साधन होती हैं क्योकि इन दोनो का सम्बन्ध सामाजिक नियमो एव प्रतिमानो से होता है जिनकी (नियमो व प्रतिमानो की) प्रत्येक व्यक्ति से निभाने की अपेक्षा की जाती है और इससे सामाजिक नियन्त्रण स्वत: हो जाता है।

4 प्रस्थिति एव भूमिका व्यक्ति का सामाजीकरण करने मे भी सहायक होती हैं क्योकि प्रारम्भ से ही ये व्यक्ति के वातावरण मे विद्यमान रहती हैं और व्यक्ति अनायास ही तदनुसार आचरण करना सीख जाता है।

5 प्रस्थिति व भूमिका सामाजिक उत्तरदायित्व के निर्वाह मे भी सहायक हैं क्योकि जसे ही कोई भूमिका व्यक्ति के अस्तित्व म आती है वह तदनुसार आचरण स्वत: ही करने लगता है। उदाहरण के लिए—पिता की भूमिका आते ही बालकों के प्रति अपने उत्तरदायित्व का अहसास हो जाता है।

6 ये दोनो, व्यक्ति को उसकी प्रगति के लिए भी जागरूक बनाती हैं—निम्न प्रस्थिति को प्राप्त कर व्यक्ति उच्च प्रस्थिति के लिए स्वयं ही प्रयास करता है। इस प्रकार—वैयक्तिक व सामाजिक—दोनो स्तरो पर इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

7 प्रस्थिति एव भूमिका से व्यक्ति मे विशेष मनोवृत्ति उत्पन्न होती है। डॉक्टर, इन्जिनियर, व्यावसायिक सभी की मनोवृत्तियाँ उनकी प्रस्थिति व भूमिका के अनुसार ही निर्धारित होती हैं।

8 प्रस्थिति एवं भूमिका व्यक्ति को मार्गदर्शन देती हैं कि व्यक्ति को किस प्रस्थिति में किस प्रकार की भूमिका निभानी है जो समाज के अनुकूल हो।

9 प्रस्थिति एव भूमिका द्वारा व्यक्ति के व्यवहारो का अनुमान लगाया जा सकता है कि किस भूमिका मे व्यक्ति कैसा व्यवहार करेगा। उदाहरणस्वरूप—राष्ट्रपति पद की भूमिका के अनुरूप क्या व्यवहार अपेक्षित होगे इसकी भविष्यवाणी की जा सकती है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि भूमिका व प्रस्थिति दोनो के समन्वय से ही समाज मे व्यवस्था बनी रहती है। यदि प्रस्थिति की अपेक्षाओ के अनुरूप भूमिका—निर्वाह नहीं हो पाता तो समाज में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। अत: व्यक्तिगत स्तर पर उसी प्रकार सामाजिक स्तर पर भी समन्वय की अतीव आवश्यकता है जिसके लिए प्रस्थिति के अनुक्रम भूमिका-निर्वाह आवश्यक है।

❑

अध्याय-12

परिवार : निरन्तरता एवं परिवर्तन

(Family : Continuity and Change)

परिवार का महत्त्व अनेक प्रकार से विभिन्न क्षेत्रों में है, परन्तु समाजशास्त्रीय अध्ययनो मे परिवार के अध्ययन का विशेष स्थान है। परिवार समाज के सगठन की प्राथमिक इकाई है। अगर कोई सामाजिक सगठन, संरचना, व्यवस्था कार्य आदि को समझना चाहता है तो परिवार को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझना अत्यावश्यक है। अनेक समाजो की सामाजिक संरचना की मूल इकाई परिवार है। *आखेटक समाज, चरागाही समाज, गिरजन समाज, आदिम* समाज और ग्रामीण समाज की सामाजिक सरचना की मूलभूत इकाई एकाकी परिवार होती है। इसी से मिलकर अन्य अनेक छोटी-बड़ी उप-संरचनाओ, जैसे—संयुक्त-परिवार, वश-समूह, गोत्र-समूह, भ्रातृ-दल, द्वि-दल, उप-जातियाँ, जनजाति समाज, ग्रामीण समाज आदि का निर्माण होता है। नगरीय समाजों में समाजों में सामाजिक संरचना का निर्माण परिवार (प्राथमिक समूह) और समितियों (द्वैतीयक समूह) से होता है।

परिवार नए सदस्यों को जन्म देकर उनका सामाजीकरण करता रहता है। परिवार आदिम, ग्रामीण और नगरीय समाजो मे अनेक सार्वभौमिक और परम्परागत कार्य करता है। समाजशास्त्र समाज का अध्ययन करता है तथा परिवार समाज के निर्माण, स्थायित्व, सन्तुलन, व्यवस्था, सामाजिक नियन्त्रण, समाजीकरण, स्तरीकरण, निरन्तरता आदि के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अगर समाजशास्त्री किसी समाज को समझना चाहता है तो उसे उस समाज के परिवारो के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करना चाहिए। अगर हम भारतीय समाज को समझना चाहते हैं तो सर्वप्रथम इस समाज के परिवारों को समझना आवश्यक होगा। **इरावती कर्वे** ने लिखा है कि अगर हम भारतीय समाज को समझना चाहते हैं तो हमे यहाँ के परिवार, जाति और भाषा के क्षेत्रो को समझना होगा। यह स्पष्ट है कि परिवार ही जाति-व्यवस्था और संगठन तथा ग्राम व्यवस्था और संगठन की मौलिक इकाई है। परिवार का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करते समय परिवार का अर्थ, परिभाषा, इसके प्रकार, कार्य, इसकी विशेषताएँ तथा परिवार मे परिवर्तन आदि कुछ महत्त्वपूर्ण पक्षों का अध्ययन किया जाता है। अब सर्वप्रथम परिवार की अवधारणा को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने का प्रयास किया जायेगा।

परिवार का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of Family)

अंग्रेजी के शब्द 'Family' का हिन्दी रूपान्तर परिवार है। यह शब्द मिडिल इंग्लिश के शब्द 'Familie' से बना है जिसका उद्गम लैटिन शब्द 'Familia' से हुआ है। परिवार के कई अर्थ लगाए जाते हैं। परिवार से अर्थ माता-पिता और उनकी सन्ताने जो एक स्थान पर अथवा अलग रहते हो, से है। एक पुरुष की पत्नी और सन्तानें, माता, चाचा, मौसी, बुआ तथा चचेरे, ममेरे, मौसरे, फुफेरे भाई-बहन परिवार मे आते हैं। ये परिवार के सामान्य अर्थ हैं। समाजशास्त्र मे परिवार अवधारणा का विशिष्ट, सुनिश्चित और सीमित अर्थ लगाया जाता है। परिवार की विभिन्न विद्वानो की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं। इनसे निष्कर्ष निकालने का प्रयास किया जायेगा कि परिवार का क्या अर्थ है?

1 **मैकाइवर** और **पेज** की परिभाषा, "परिवार पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चो के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।" आपने परिभाषा में तीन लक्षण बताए हैं—(1) परिवार यौन-सम्बन्ध पर आधारित समूह है, (2) बच्चों का जन्म, तथा (3) बच्चों का पालन-पोषण। परिवार इन लक्षणो के अतिरिक्त और बहुत कुछ है, जैसे—आवास, उत्तरदायित्व, स्नेह, कर्तव्य आदि।

2 **ऑगबर्न तथा निमकॉफ** की परिभाषा, "बच्चों-सहित तथा बच्चों-रहित एक पति-पत्नी के या किसी एक पुरुष या एक स्त्री के अकेले ही बच्चे सहित एक थोड़े-बहुत स्थायी संग को परिवार कहते हैं।" इन्होने एक और सरल तथा विस्तृत परिभाषा दी है। यह निम्न है, "परिवार लगभग एक स्थायी समिति है जो पति-पत्नी से निर्मित होती है। चाहे उनके सन्तान हो या नहीं हो। परिवार किसी एक पुरुष या एक स्त्री के अकेले की भी हो सकता है बशर्ते कि उसके अपने बच्चे साथ हो।"

3 **किंग्सले डेविस** की परिभाषा, "परिवार ऐसे व्यक्तियो का समूह है जो एक-दूसरे के प्रति सगोत्रता के सम्बन्ध (रक्त) रखते हैं तथा इस प्रकार एक-दूसरे के रक्त-सम्बन्धी होते हैं।"

4. **डी. एन. मजूमदार** की परिभाषा, "परिवार उन व्यक्तियों का एक समूह है जो एक ही छत के नीचे रहते हैं, जो रक्त-सम्बन्धी सूत्रों से सम्बद्ध रहते हैं तथा स्थान, हित तथा पारस्परिक कृतज्ञता के आधार पर समान होने की भावना रखते हैं।"

5 **क्लेयर थामस** (Clare Thomos) की परिभाषा, "परिवार से हम सम्बन्ध की वह व्यवस्था समझते हैं जो माता-पिता और उनकी सन्तानो की बीच पाई जाती है।"

6 **श्यामचरण दुबे** की परिभाषा, "परिवार में स्त्री और पुरुष दोनो को सदस्यता प्राप्त होती है, उनमे से कम-से-कम दो विपरीत यौन व्यक्तियो के यौन-सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनके संसर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं।"

7 **मुरडॉक** की परिभाषा, "परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसके लक्षण—सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग और जनन हैं। इसमें दो लिगों के वयस्क शामिल हैं जिनमे

कम-से-कम दो व्यक्तियों में स्वीकृत यौन-सम्बन्ध होता है और जिन वयस्क व्यक्तियों में यौन-सम्बन्ध है उनके अपने या गोद लिए हुए एक या अधिक बच्चे होते हैं।"

8. **लूसी मेयर** की परिभाषा, "परिवार एक गृहस्थ समूह है जिससे माता-पिता और सन्तान साथ-साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दम्पत्ति और उसकी सन्तान रहती है।"

9. **बर्गेस** और **लॉक** की परिभाषा, "परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह कहा जा सकता है जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के सम्बन्धों द्वारा संगठित है, एक छोटी-सी गृहस्थी का निर्माण करते हैं और पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन के रूप मे परस्पर अन्तः क्रियाएँ करते हैं अथवा अपने-अपने सामाजिक कार्यों के रूप में एक-दूसरे पर प्रभाव डालते हैं तथा एक सामान्य संस्कृति को बनाते हैं और उसकी रक्षा करते हैं।"

10. **ए. डी. रॉस** की परिभाषा, रॉस ने विभिन्न विद्वानों की परिवार की परिभाषाओं का अध्ययन समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अपनी कृति 'हिन्दू फेमेली इन इट्स अरबन सेटिंग' में किया है। आपका कहना है कि परिवार की समाजशास्त्रीय परिभाषा ऐसी होनी चाहिए जो एकाकी तथा संयुक्त दोनों ही प्रकार के परिवार को परिभाषित कर सके। इतना ही नहीं, आपका कहना है कि संयुक्त-परिवार के भी अनेक प्रकार हैं उनको परिवार की परिभाषा में समेटना चाहिए। इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखकर रॉस ने परिवार की समाजशास्त्रीय (सामाजिक सम्बन्धों पर आधारित) परिभाषा दी है, "परिवार मनुष्यों का एक समूह है, सामान्यतया एक विशेष प्रकार के बन्धुत्व सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं, जो एक गृहस्थी में रह भी सकते हैं और उनकी एकता कर्त्तव्य और अधिकार, भावना और सत्ता के प्रतिमानो मे विद्यमान है।"

उपर्युक्त परिवार की परिभाषाएँ विभिन्न समाजशास्त्रियो, सामाजिक मानवशास्त्रियों द्वारा दी गई हैं। इन विद्वानों के परिप्रेक्ष्य भिन्न-भिन्न होने के कारण परिभाषाओं मे भी भिन्नताएँ हैं। रॉस की परिवार की परिभाषा निम्न विशेषताओं के कारण पूर्व समाजशास्त्रीय होते हैं तथा अन्य परिभाषाएँ कुछ सीमा तक ही समाजशास्त्रीय हैं—

1. **परिवार एक समूह है** (Family is a Group)—सभी ने परिवार को एक समूह बताया है लेकिन परिवार एक ऐसा समूह है जिसके सदस्य बन्धुत्व सम्बन्धों से सम्बन्धित होते हैं।

2. **सम्बन्ध मान्यता प्राप्त होते हैं** (Relations are Sanctioned by the Society)—परिवार के सदस्य समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त विवाह, रक्त और गोद सम्बन्धों से सम्बन्धित होते हैं। विवाह, रक्त और गोद सम्बन्ध होना सब कुछ नहीं है। उनका समाज के प्रतिमानो, जैसे—जनरीति, प्रथा, संस्था, कानून, धर्म आदि के द्वारा मान्य होना आवश्यक है।

3. **विवाह सम्बन्ध** (Affinal Relation)—परिवार में पति-पत्नी के सम्बन्ध विवाह द्वारा स्थापित होते हैं। परिवार की स्थापना या निर्माण के लिए आवश्यक है कि स्त्री और पुरुष अपने समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त विवाह के विधि-विधान से परिवार का निर्माण करें। **मुरडॉक** ने लिखा है कि अगर स्त्री-पुरुष साथ-साथ रहते हैं और उनका विवाह नहीं हुआ है लेकिन

उनके सन्तान पैदा हो जाती है तो समाज ऐसी सन्तान को अवैध सन्तान मानता है जिसे अपने जैविकीय पिता की सम्पत्ति तथा अन्य बातो मे कोई कानूनी अधिकार प्राप्त नहीं होता है। इसलिए परिवार का निर्माण विवाह संस्था द्वारा होना आवश्यक है।

4 रक्त-सम्बन्ध (Consanguineous Relation)—परिवार मे अनेक रक्त-सम्बन्धी होते हैं। परन्तु इन रक्त सम्बन्धियो का सम्बन्ध समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त होना भी अति आवश्यक है। जैसे अवैध सन्तान रक्त-सम्बन्धी होते हुए भी सामाजिक या कानूनी दृष्टि से सम्बन्धी नहीं होते हैं। पिता-पुत्र, माता पुत्र, पिता-पुत्री, माता-पुत्री, भाई-भाई, बहन-बहन और भाई-बहन रक्त सम्बन्धी एकाकी-परिवार मे मिलते हैं तथा ये प्राथमिक सम्बन्धी कहलाते हैं।

एकाकी-परिवार मे पति-पत्नी ही केवल ऐसे वैवाहिक सम्बन्धी हैं जो प्राथमिक सम्बन्धी कहलाते हैं बाकी सब प्राथमिक सम्बन्धी रक्त-सम्बन्धी हैं। उपर्युक्त वर्णित मैकाइवर और पेज, ऑगबर्न तथा निमकॉफ, कलेयर थामस, दुबे, मुरडॉक और लूसी मेयर की परिभाषाएँ एकाकी परिवार की परिभाषाएँ हैं जिनमे केवल पति-पत्नी और उनकी अविवाहित सन्ताने होती हैं। जिस परिवार मे द्वैतीयक सम्बन्धी भी होते हैं वे सयुक्त-परिवार होते हैं।

5 गोद सम्बन्ध (Relation Based on Adoption)—समाज मे सन्तान गोद लेने की व्यवस्था होती है। जब किसी दम्पति के कोई सन्तान पैदा नहीं होती है तो वह किसी अन्य दम्पति की सन्तान समाज द्वारा निर्धारित रीति-रिवाजो के अनुसार गोद ले लेते हैं। गोद का दस्तूर पूरा होने पर सन्तान के अपने जैविकीय माता-पिता से सामाजिक ओर कानूनी सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं और जिस दम्पति ने सन्तान गोद ली है उसके सारे कानूनी, सामाजिक, वैधानिक, आर्थिक, नैतिक सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं।

6 परिवार की संरचना (Structure of the Family)—परिवार की संरचना बन्धुत्व सम्बन्धो द्वारा बनती है। एकाकी परिवार की सरचना मे पति-पत्नी और उनकी अविवाहित सन्ताने होती हैं। सयुक्त-परिवार मे इनके अतिरिक्त और सम्बन्धी भी होते हैं जिनके अनुसार सयुक्त-परिवार के विभिन्न प्रकारो की सरचना बनती है।

परिवार के सदस्य परस्पर बन्धुत्व अथवा नातेदारी सम्बन्धो से सम्बन्धित होते हैं। समाजशास्त्र की सबसे छोटी इकाई समूह है ओर उसमे कम-से-कम दो व्यक्तियो का होना आवश्यक है। इस प्रकार परिवार मनुष्यो का समूह है। उसमे कम-से-कम दो व्यक्तियो का होना आवश्यक है जो उपर्युक्त वर्णित बन्धुत्व सम्बन्धो (विवाह, रक्त और गोद) से सम्बन्धित हो। इस प्रकार जहाँ केवल पति-पत्नी मिलकर परिवार बना देते हैं वह एकाकी-परिवार कहलाएगा। इसके निम्न कई सरचनात्मक प्रकार हो सकते हैं—(1) पति-पत्नी, (2) पिता-पुत्र, (3) पिता-पुत्री (4) माता-पुत्र (5) माता-पुत्री, (6) भाई-भाई, (7) बहिन-बहिन,

(8) भाई-बहिन आदि-आदि। परिवार के निर्माण म वैवाहिक और/अथवा रक्त (गोद) सम्बन्धो का होना आवश्यक है।

7 **प्रकार्यात्मक पक्ष**—परिवार के दो पक्ष होते हैं—(1) सरचनात्मक, और (2) प्रकार्यात्मक। सरचनात्मक पक्ष की सक्षिप्त व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परिवार का प्रकार्यात्मक पक्ष विशेष महत्त्वपूर्ण है। कई विद्वानो ने परिवार के सदस्यो का साथ-साथ रहना आवश्यक बताया है। जबकि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार अगर कुछ व्यक्ति बन्धुत्व सम्बन्ध से सम्बन्धित हे आर अलग-अलग रहते हो परन्तु वे कर्तव्य ओर अधिकार, भावना एवं सत्ता के प्रतिमान से सम्बद्ध हैं तो वह एक सयुक्त-परिवार कहलाएगा। रॉस ने अपनी परिभाषा मे इन प्रकार्यात्मक विशेषताओ पर विशेष जोर दिया है। डी. एन. मजूमदार, मुरडॉक, लूसी मेयर आदि ने साथ-साथ रहने पर बल दिया है। वास्तविकता तो ये है कि वह साथ-साथ भी रह सकते हैं ओर अलग-अलग भी। मुख्य बात ये है कि उनमे परस्पर सामाजिक सम्बन्ध होना आवश्यक है।

प्रकार्यात्मक दृष्टि से परिवार के कार्य—यौन सम्बन्ध की व्यवस्था, सन्तानोपत्पत्ति, शिशुओ का पालन-पोषण, समाजीकरण, शिक्षा देना, तथा आर्थिक, सांस्कृतिक, मानसिक संरक्षण देना, सामाजिक नियन्त्रण आदि हैं।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि परिवार व्यक्तियो का समूह है जो विशिष्ट बन्धुत्व सम्बन्धों (विवाह, रक्त ओर गोद) से सम्बन्धित होते हैं जो समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त होते हैं, वे साथ-साथ अथवा अलग-अलग भी रह सकते हैं, सदस्यो मे परस्पर यौन-सम्बन्धों की व्यवस्था, प्रजनन, सामाजीकरण नियन्त्रण, कर्त्तव्य और अधिकार, भावना *एवं सत्ता के प्रतिमान आदि से सम्बन्धित सम्बद्धता होती है।*

परिवार की सामान्य विशेषताएँ
(General Characteristics of the Family)

मैकाइवर और **पेज** ने लिखा है कि परिवार की एकता मे निश्चित सामान्य विशेषताएँ होती हैं जो सभी मानवीय समाजों के परिवारों मे मिलती हैं। इनके अनुसार निम्न पाँच विशेषताएँ विशेष उल्लेखनीय हैं—

1. **मैथुन सम्बन्ध** (Mating Relationship)—स्त्री और पुरुष मिलकर पति-पत्नी के रूप मे परिवार की स्थापना करते हैं जहाँ उनके मैथुन सम्बन्ध निश्चित और व्यवस्थित हो जाते हैं।

2. **विवाह का स्वरूप** (Form of Marriage)—परिवार का निर्माण विवाह के स्वरूप के अनुसार होता है एवं विवाह में एक पुरुष और एक स्त्री विवाह करते हैं, उसे एक-विवाही

परिवार कहते हैं। इसी प्रकार बहुपत्नी, बहु-पति आदि विवाह के प्रकार क्रमशः ऐसे ही परिवारों का निर्माण करते हैं तथा पति और पत्नी के मैथुन सम्बन्ध व्यवस्थित होते हैं। बहुपत्नी-विवाह मे एक पुरुष एक समय में कई स्त्रियों मे तथा द्वि-पत्नी-विवाह मे दो स्त्रियो से विवाह करके जो परिवार बनता है उसमे वे पति और पत्नी मैथुन सम्बन्ध रखते हैं जिनमें परस्पर विवाह हुआ है।

3 **नामावली व्यवस्था** (System of Nomenclature)—परिवार की नामावली व्यवस्था होती है जिससे तात्पर्य है कि या तो नाम (वश) पिता से पुत्र और उसके पुत्र को चलता है या फिर माता से पुत्री और उसकी पुत्री की दिशा मे चलता है। ये क्रमशः पितृवंशीय या मातृवंशीय कहलाते हैं।

4 **आर्थिक व्यवस्था** (Economic Provision)—समाज के सभी परिवारों में सदस्यों के भरण-पोषण के लिए कोई-न-कोई जीविकोपार्जन की व्यवस्था होती है जिससे बच्चों का पालन-पोषण भी किया जाता है।

5 **सामान्य आवास** (Common Habitation)—परिवार के सभी सदस्य एक वासस्थान (घर) मे निवास करते हैं।

मैकाइवर और **पेज** का कहना है कि ये उपर्युक्त पाँचो विशेषताएँ सार्वभौमिक हैं तथा परिवार की प्रकृति की विशेषताएँ हैं। ऐसा हो सकता है कि ये बहुत ही भिन्न तरीकों से पूर्ण हो।

परिवार के संगठन की विशिष्ट विशेषताएँ

(Distinctive Features of the Family Organization)

मैकाइवर और पेज ने परिवार की आठ विशिष्ट विशेताओं की सूची तथा व्याख्या निम्नलिखित दी है—

1 **सार्वभौमिकता** (Universality)—ससार में सभी मानव किसी-न-किसी परिवार के सदस्य हैं। परिवार सभी समाजों मे सभी कालों मे समाज के विकास को सभी अवस्थाओ मे रहा है।

2 **भावात्मक आधार** (Emotional Basis)—परिवार के सदस्यो मे परस्पर प्रेम, सहयोग, साहचर्य, सन्तानोत्पत्ति, मातृसेवा आदि भावात्मकताएँ होती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य भावात्मक आधार, जैसे—घर बसाना, आर्थिक सुरक्षा आदि न हो तो परिवार का सगठन बना नहीं रह सकता। ये आधार परिवार के सदस्यों को परस्पर बाँधे रखते हैं।

3 **निर्माणशील प्रभाव** (Formative Influence)—परिवार प्रारम्भिक सामाजिक पर्यावरण है जिसमें बच्चे का विकास और उसका सामाजीकरण होता है। परिवार का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व के निर्माण में शिशु काल मे निर्णायक का कार्य करता है। परिवार व्यक्ति का मानसिक विकास समाज के प्रतिमानो के अनुसार करता है।

4. **सीमित आकार** (Limited Size)—सामाजिक संरचना के निर्माण के विभिन्न घटकों में परिवार सबसे छोटी इकाई है। सभ्य समाजों में या नगरीय और महानगरीय समाजों में

जहाँ परिवार, संयुक्त-परिवार तथा वंश-समूह आदि में पृथक् हो जाता है वहाँ तो इसका महत्त्व और अधिक हो जाता है। सदस्यों के लिए परिवार बहुत छोटा होते हुए भी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए महत्त्वपूर्ण होता है।

5. **सामाजिक संरचना में नाभिक स्थान** (Nuclear Position in the Social Structure)—परिवार अन्य सामाजिक संगठनों में नाभिक स्थान रखता है। सरल समाजों तथा विकसित पितृसत्तात्मक समाजों में सम्पूर्ण सामाजिक संरचना परिवार की इकाइयों से निर्मित होती है। उच्च जटिल सभ्यताओं में नगर और महानगरों में समितियों ने इनका स्थान ले लिया है। फिर भी सामाजिक वर्गों का विभाजन परिवारों के योग से ही बनता है।

6. **सदस्यों का उत्तरदायित्व** (Responsibility of the Members)—परिवार अपने सदस्यों से अनेक कर्तव्य और उत्तरदायित्व पूरे करवाता है। इसकी तुलना में समाज का और कोई भी संगठन इतने उत्तरदायित्व पूरे नहीं करवाता। यह सत्य है कि व्यक्ति देश के लिए जीवन कुर्बान कर देता है। परन्तु जीवनपर्यन्त व्यक्ति परिवार के उत्तरदायित्वों को ही पूरा करता रहता है।

7. **सामाजिक नियमन** (Social Regulation)—परिवार सामाजिक निषेधों, प्रतिमानों तथा वैधानिक नियमों द्वारा नियन्त्रित रहता है तथा ये ही इसके स्वरूप को निश्चित करते हैं। विवाह को बहुत स्पष्ट तथा सुनिश्चित रूप से परिभाषित किया गया है। विभिन्न समाजों में विवाह को भिन्न-भिन्न रूप से परिभाषित किया गया है। लेकिन परिवार को अन्य संस्थाओं की तुलना में विशेष रूप से सामाजिक प्रतिमानों, नियमों, कानूनों द्वारा नियन्त्रित, निर्देशित तथा संचालित किया गया है।

8. **स्थायी और अस्थायी प्रकृति** (Permanent and Temporary Nature)—जहाँ परिवार एक संस्था के रूप में बहुत स्थाई और सार्वभौमिक है वहाँ दूसरी ओर एक समिति के रूप में बहुत अस्थाई और परिवर्तनशील है। समाज के अन्य संगठन ऐसे नहीं हैं। परिवार की यह विशेषता समाज में अनेक समस्याओं को जन्म देती है इसलिए इस पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

भारत में परिवार के प्रकार
(Types of Family in India)

परिवार के प्रकारों वर्गीकरण अनेक विद्वानों ने किए हैं। भारत इतना विशाल देश है कि लगभग सभी प्रकार के परिवार भारत के किसी-न-किसी समाज में मिल ही जाते हैं। परिवारों के वर्गीकरण के आधार अनेक हैं, जैसे—पति-पत्नी की संख्या, परिवारों में सदस्यों तथा पीढ़ियों की संख्या, वैवाहिक दम्पतियों की संख्या, स्थान या आवास, अधिकार या सत्ता, वंश परम्परा, विवाह के प्रकार, परिवार में कर्त्ता की स्थिति और भूमिका आदि-आदि। निम्नलिखित परिवार के प्रमुख वर्गीकरण हैं—

परिवार
(Family)
सदस्य संख्या
1 छोटा परिवार
2 मध्यम परिवार
3 बडा परिवार
4. बहुत बड़ा परिवार
दम्पति संख्या
1 केन्द्रीय परिवार
2 सयुक्त परिवार
कर्ता की स्थिति
1 जनन मूलक परिवार
2 जन्मित परिवार
निवास स्थान
1 पितृस्थानीय परिवार
2 मातृ-पितृ-स्थानीय परिवार
3 मामा-स्थानीय परिवार
4 द्विस्थानीय परिवार
5 नवस्थानीय परिवार
6. मातृस्थानीय परिवार
सत्ता
1 पितृ-सत्तात्मक परिवार
2 मातृ-सत्तात्मक परिवार
वंश
1 पितृवंशीय परिवार
2. मातृवंशीय परिवार
3 द्विवंशीय परिवार
4 उभयवादी बडा परिवार
उत्तराधिकार
1 पितृमार्गी परिवार
2. मातृमार्गी परिवार
बन्धुत्व
1. रक्त-सम्बन्धी परिवार
2. विवाह-सम्बन्धी परिवार
विवाह-साथी
1 एक-विवाही परिवार
2. द्वि-विवाही परिवार
3 बहुविवाही परिवार
बहुपत्नी-विवाही परिवार
बहुपति-विवाही परिवार
समूह-विवाही परिवार
भगिनी-बहुपत्नी-
विवाही परिवार
अभगिनी-बहुपत्नी-
विवाही परिवार
भ्रातृ-बहुपति-
विवाही परिवार
अभ्रातृ-बहुपति-
विवाही परिवार

1. सदस्यों की संख्या के आधार पर परिवार के प्रकार (Types of Family on the Basis of Number of Members)—भारत सरकार की जनगणना रिपोर्ट, 1951 में परिवार का वर्गीकरण परिवार में सदस्यो की संख्या के आधार पर निम्न चार प्रकार का बताया गया है।

सदस्यों की संख्या	परिवार का प्रकार
1–3	छोटा परिवार
4–6	मध्यम परिवार
7–9	बड़ा परिवार
10 या उससे अधिक	बहुत बड़ा परिवार

2. दम्पत्तियों की संख्या के आधार पर वर्गीकरण (Classification on the Basis of Number of Couples)—इसके निम्न दो प्रकार हैं—

2 1 केन्द्रीय या नाभिक परिवार (Nuclear Family)—अगर परिवार में केवल पति-पत्नी और उनकी अविवाहित सन्तानें हों तो उसे केन्द्रीय या नाभिक अथवा एकाकी-परिवार कहते हैं। इस परिवार में केवल दम्पति भी हो सकते हैं, सन्तान हो अथवा न हो। सन्तान विवाह के बाद मूल परिवार से पृथक् हो जाती है। इस प्रकार के परिवार, नगरों, महानगरों तथा औद्योगिक केन्द्रों में अधिक मिलते हैं। पश्चिम के समाजों मे इस प्रकार के परिवारो की प्रथा बन गई है। भौतिकवाद, व्यक्तिवाद, अर्जित प्रस्थिति, नकद मुद्रा व्यवस्था, संचार के साधन, आधुनिक शिक्षा आदि ने नाभिक परिवारो को बढावा दिया है। भारत में भी इस प्रकार के परिवारों का प्रतिशत दिन-प्र-दिन बढ़ता जा रहा है। भारत की जनजातियों मे भी इस प्रकार के परिवार मिलते हैं।

2 2 संयुक्त-परिवार (Joint Family)—सयुक्त-परिवार के सम्बन्ध में समाजशास्त्रियों के अनेक मत हैं। सामान्यतया अनेक समाजशास्त्रियों तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों ने संयुक्त-परिवार की परिभाषा, विशेषताएँ, कार्य आदि का वर्णन करते समय परम्परागत सयुक्त-परिवार का वर्णन किया है। पाठक इस बात का विशेष ध्यान रखे कि जब कोई दो या अधिक नाभिक परिवार या केन्द्रित परिवार आवास, सम्पत्ति, पीढ़ी या सम्बन्धों से परस्पर सम्बद्ध हैं तो वे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से संयुक्त-परिवार कहलाते हैं।

3. कर्त्ता की स्थिति तथा कर्त्तव्य के आधार पर वर्गीकरण (Classification on the Basis of Ego's Position and Duty)—इस एकाकी-परिवार में कर्त्ता पिता तथा पति की प्रस्थिति वाला होता है। वह विवाह करके परिवार की स्थापना करता है। पत्नी के साथ रहकर सन्तानो को जन्म देता है। उनका पालन-पोषण करता है। डेविस और वारनर ने इसे जनन-मूलक परिवार कहा है। इसे निम्न चित्र द्वारा दर्शाया जा सकता है—

कर्त्ता → ▲ = 0 | Δ = 0
I | I
Δ | ▲ ←
जन्मित मूलक परिवार | जन्मित परिवार
 | (पालन-पोषण वाला परिवार)

3 2 **जन्मित परिवार** (Family on Orientation)—जब एकाकी परिवार मे कर्त्ता की स्थिति एक शिशु अथवा सन्तान के रूप में होती है, माता-पिता उसका पालन-पोषण करते हैं तो उस बालक के दृष्टिकोण से यह एकाकी-परिवार—जन्मित अथवा पालन-पोषण वाला परिवार—कहलाता है। जन्मित परिवार का चित्र देखिए।

4 **निवास स्थान के आधार पर वर्गीकरण** [Classification on the Basis of Residence (Locality)]—**मुरडॉक** ने अपने विनिबन्ध 'सोशियल स्ट्रक्टर' मे विवाह के बाद पति-पत्नी का निवास स्थान कहाँ होता है, इसके आधार पर परिवार के निम्नलिखित छः प्रकारो का वर्णन किया है—

4.1 **पित-स्थानीय परिवार** (Patrilocal Family)—विवाह के बाद वधु अपने वर के माता-पिता के यहाँ अथवा उनके पास में जाकर रहती है तो यह आवास-व्यवस्था पित-स्थानीय कहलाती है। हिन्दू समाज, मुसलमान समाज तथा भारत की अनेक जनजातियो—भील, खरिया तथा अन्य मे यह व्यवस्था मिलती है।

4 2 **मातृ-स्थानीय परिवार** (Matrilocal Family)—यदि प्रथा के अनुसार वर को अपने माता-पिता का घर विवाह के बाद छोड़ना पड़ता है तथा अपनी वधु के साथ उसके माता-पिता के घर में अथवा उनके पास रहना होता है तो यह आवास का नियम मातृ-स्थानीय व्यवस्था है।

4 3 **मामा-स्थानीय परिवार** (Avunculocal Family)—कुछ समाजों मे विवाह के बाद वैवाहित दम्पति वर के मामा के साथ अथवा उसके पास रहते हैं तथा वर-वधु अपने मे से किसी के भी माता-पिता के यहाँ पास नहीं रहते हैं। आस्ट्रेलिया की मिलानेशिया की ट्रोबिएण्ड जनजाति मे यह प्रथा मिलती है।

4 4 **द्वि-स्थानीय परिवार** (Bilocal Family)—कुछ समाज विवाहित दम्पति को उनके किसी भी साथी (वर अथवा वधु) के माता-पिता के यहाँ अथवा पास मे रहने की अनुमति देता है। ऐसी स्थिति मे दोनो के माता-पिता की प्रस्थिति, धन-दौलत के आधार पर तय करते हैं कि मातृ-स्थानीय अथवा पितृ-स्थानीय मे से किसके पास रहे।

4.5 **नूतन-स्थानीय परिवार** (Neolocal Family)—जब नव-विवाहित दम्पति, जैसे कि पश्चिम के समाजो में होता है, नया आवास स्थापित करते हैं जो दोनो ही जीवन साथियो के माता-पिताओ के स्थान से स्वतन्त्र अलग स्थान पर होता है बल्कि उनसे एक अच्छी दूरी पर स्थित होता है तो ऐसी आवास व्यवस्था को नूतन-व्यवस्था को नूतन-स्थानीय कहते हैं।

4.6 **मातृ-पितृ स्थानीय परिवार** (Matri-Patrilocal Family)—कुछ समाजों में नव दम्पति विवाह के बाद प्रारम्भ के एक साल अथवा प्रथम बच्चे के जन्म तक वधु के माता-पिता के यहाँ अथवा पास रहते हैं और उसके बाद स्थाई रूप से वर के माता-पिता के यहाँ अथवा पास में रहते हैं तो उसे **मुरडॉक** ने मातृ-पितृ स्थानीय व्यवस्था कहा है।

मुरडॉक ने विश्व के समाजों में से 250 समाजों को निदर्शन द्वारा चुनकर अध्ययन किया था तथा यह पाया कि इन 250 समाजों में से 146 पित-स्थानीय, 38 मातृ-स्थानीय, 22 मातृ-पितृ स्थानीय, 19 द्वि-स्थानीय, 17 नवस्थानीय तथा 8 मामा-स्थानीय समाज हैं। भारत के विभिन्न समाजों में उपर्युक्त आवास व्यवस्था मिलती है। इसके वास्तविक वितरण का सर्वेक्षण करना शेष है।

5. **सत्ता के आधार पर वर्गीकरण** (Classification on the Basis of Authority)—सभी समाजों मे सत्ता परिवार के मुखिया को देने की व्यवस्था है। परिवार मे यह सत्ता या तो सबसे बड़े पुरुष को दी जाती है अथवा सबसे बड़ी स्त्री को दी जाती है। इसके दो प्रकार हैं—

5 1 **पितृ-सत्तात्मक परिवार** (Patriarchal Family)—जब परिवार की सबसे बड़े पुरुष में निहित होती है तथा सभी निर्णय पुरुष लेता है तथा सबको उसके निर्णय का पालन करना होता है या मानना होता है तो ऐसे परिवार को सत्ता के दृष्टिकोण से पितृ-सत्तात्मक परिवार कहते हैं। विश्व में, भारत सहित, अधिकतर समाज तथा परिवार पितृ-सत्तात्मक हैं।

5.2 **मातृ-सत्तात्मक परिवार** (Matriarchal Family)—जब परिवार की सबसे बड़ी स्त्री को सत्ता दी जाती है तथा वह परिवार के सभी निर्णय लेती है तथा उसके निर्णय को परिवार के सभी सदस्य मानते हैं तो यह सत्ता की व्यवस्था मातृ-सत्तात्मक कहलाती है तथा परिवार मातृ-सत्तात्मक परिवार कहलाता है। भारत में गारो, खासी आदि समाजो में ऐसै परिवार मिलते हैं।

6 **वंश नाम के आधार पर वर्गीकरण** (Classification on the Basis of Lineage)—विद्वानों ने परिवारों का वर्गीकरण वंश नाम के आधार पर तीन प्रकारों मे बाँटा है। ये निम्न हैं—

6 1 **पितृ-वंशीय परिवार** (Patrilineal Family)—जब वंश परम्परा पिता से पुत्र को चलती है, पुत्रों को पिता बंश ग्रहण करना होता है, पिता से पुत्र और पौत्र को वंश नाम चलता है तो परिवार पित-वशीय कहलाता हैं। हिन्दू समाज मे परिवार पितृवंशीय होते हैं।

6.2 **मातृ-वंशीय परिवार** (Matrilineal Family)—जब वंश परम्परा परिवार की माता से पुत्री की ओर चलती है, माता का वश उसकी पुत्रियाँ आगे चलती हैं तथा पुरुष का महत्त्व नहीं होता है तो ऐसे परिवारो को मातृ-वंशीय परिवार कहते हैं। दक्षिण भारत के मालाबार के नायर समाज के परिवारों मे वंश परम्परा माता से पुत्रियो की दिशा मे चलती है।

6 3 **द्वि-वंशीय परिवार** (Bilineal Family)—जब वंश परम्परा पिता से पुत्रों अथवा पुत्रियों की दिशा में चलती है या माता से पुत्र अथवा पुत्रियों की दिशा में वंश परम्परा चल

सकती है अर्थात् इसमे से कोई भी विकल्प लिया जा सकता है, तो ऐसे परिवार द्वि-वशीय परिवार कहलाते हैं।

7 उत्तराधिकार के आधार पर वर्गीकरण (Classification on the Basis of Succession)—परिवार के मुखिया के पास सत्ता, सम्पत्ति, मकान, चल-अचल सम्पत्ति आदि होती हैं। उसके मरने के बाद उसका उत्तराधिकारी कौन होगा? पिता के बाद पुत्र तथा माता के बाद पुत्री आदि की व्यवस्था के अनुसार परिवार का वर्गीकरण निम्न प्रकार हो सकता है—

7 1 पितृमार्गी परिवार (Patrilateral Family)—जब सम्पत्ति आदि के अधिकार पिता से पुत्र को प्राप्त होते हैं तो वह परिवार पितृमार्गी कहलाता है। हिन्दू समाज के परिवार इसी प्रकार के है।

7 2 मातृमार्गी परिवार (Matrilateral Family)—जब सम्पत्ति, मकान तथा अन्य अधिकार माता से पुत्री को उत्तराधिकार के रूप मे प्राप्त होते हैं तो परिवार मातृमार्गी परिवार कहलाता है। दक्षिण भारत के मालाबार के नायर, मुसलमान समाज तथा खासी, गोरा आदि मातृमार्गी परिवार के उदाहरण हैं।

8 बन्धुत्व के आधार पर वर्गीकरण (Classification on the Baisi of Kinship)—सभी प्रकार के परिवारो का मुख्य आधार बन्धुत्व (नातेदारी) लक्षण हैं। ये लक्षण मुख्य रूप से दो हैं—(1) विवाह-सम्बन्ध तथा (2) रक्त सम्बन्ध। इनके आधार के रूप मे परिवार के विशिष्ट प्रकार कुछ समाजो मे मिलते है। उनका उल्लेख करना आवश्यक है। ये प्रकार निम्न हैं—

8 1 रक्त-सम्बन्धी परिवार (Family of Consanguineous Relatives)—जब परिवार मे केवल रक्त-सम्बन्धी स्थाई रूप से साथ-साथ रहते हैं तथा वैवाहिक सम्बन्धी परिवार में स्थाई रूप से नहीं रहते हैं। वैवाहिक साथी (पति) केवल कभी-कभी अपनी पत्नी के घर जाते हैं। उनकी पत्नी के परिवार मे किसी प्रकार की कोई आर्थिक या अन्य जिम्मेदारी नहीं होती है। पति केवल आकस्मिक अतिथि होते हैं। ऐसे परिवार मे माता, उसकी बहने, भाई, बहन के पुत्र और पुत्रियाँ तथा पुत्रियो की सन्ताने सब साथ-साथ रहते हे। इस प्रकार के परिवार को रक्त-सम्बन्धी परिवार कहते हैं। दक्षिण भारत के नायर समाज के ये परम्परागत तीन पीढी के सयुक्त-परिवार हैं। इनका नाम उन समाजो मे "थरवाड" परिवार है।

8 2 विवाह-सम्बन्धी परिवार (Family of Affinal Relatives)—इस प्रकार के परिवार से तात्पर्य है कि परिवार से तात्पर्य है कि परिवार के सदस्य विवाह के बन्धन से बँधे होते हैं तथा इसमे रक्त-सम्बन्धी उनकी सन्ताने होती हैं। पश्चिम के समाजो मे विवाह-सम्बन्धी परिवार अधिक हैं। विवाह होते ही वर-वधु अपने-अपने माता-पिताओ का परिवार छोड़ देते हैं। उनकी सन्तानें बडी होकर उन्हे छोड देती है। इस प्रकार परिवार मे स्थाई रूप से वैवाहिक सम्बन्धी (पति-पत्नी) ही रहते हैं। बर्गेस ने इस परिवार को "साथी-सगी वाले परिवार" की संज्ञा दी है।

9. वैवाहिक साथियों की संख्या के आधार पर वर्गीकरण (Classification on the Basis of Number of Marital Partners)—विवाह के द्वारा परिवार की स्थापना होती है। जिस प्रकार का विवाह होगा उसी के अनुसार परिवार की संरचना होगी। विवाह के प्रकार के कई आधार हैं। यहाँ केवल उन आधारों तथा विवाहों के प्रकारो की विवेचना की जाएगी जिनका प्रभाव परिवार के वर्गीकरण पर सीधा तथा प्रत्यक्ष पडता है। विवाह के समय कितने पुरुष कितनी स्त्रियों के साथ विवाह करते हैं। अर्थात् एक या अनेक पुरुष एक या अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करते हे। इसके आधार पर परिवार के निम्न प्रकार बनते है—

9.1 एक-विवाही परिवार (Monogamous Family)—एक समय मे एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है तो वह एक-विवाह कहलाता है। इससे बनने वाला परिवार एक-विवाही परिवार कहलाएगा। लेकिन एक-विवाह सामाजिक और कानूनी आधार पर वह भी कहलाता है जब पति-पत्नी में से किसी एक की मृत्यु हो जाए अथवा उनका विवाह-विच्छेद हो जाए। उसके बाद विधुर अथवा विधवा अथवा तलाकशुदा पुरुष या स्त्री पुन: ऐसे व्यक्ति से विवाह करते हैं जो इनके जेसा हो अर्थात् अविवाहित, विधुर अथवा तलाकशुदा हो तो वह भी एक-विवाह कहलाता है। ऐसे एक-विवाह द्वारा एक-विवाही परिवार उस स्थिति मे होगा जब पुन: विवाह करने वालो मे से किसी के भी पहले से सन्तान नहीं हो। अन्यथा जैसा मुरडॉक का कहना है कि इनमे पहले से सन्तान होगी तो ऐसा परिवार एक-विवाही परिवार न कहला कर वह 'सम्मिश्र परिवार' (Composite Family) कहलाएगा।

9 2 द्वि-विवाही परिवार (Bigamous Family)—जब एक समय मे एक पुरुष दो स्त्रियों से अथवा एक स्त्री दो पुरुषों से विवाह करती है तो इससे जो परिवार बनेगा वह द्वि-विवाही परिवार होगा। इस विवाह के निम्न दो प्रकार हैं—द्वि-पत्नी विवाह मे एक पुरुष दो स्त्रियों से विवाह करता है द्वि-पति विवाह मे एक स्त्री दो पुरुषो से विवाह करती है। मुरडॉक ऐसे परिवार को सम्मिश्र परिवार कहता हैं। ऐसे परिवार भारत के आदिम, ग्रामीण तथा नगरो मे मिलते हैं।

9 3 बहु-विवाही परिवार (Polygamous Family)—बहु-विवाही परिवार बहु-विवाह से बनते हैं। बहु-विवाह उस विवाह को कहते हैं जिसमें एक पुरुष अनेक स्त्रियो से या एक स्त्री अनेक पुरुषों से अथवा अनेक पुरुष अनेक स्त्रियो से विवाह करते हैं। इसके अनुसार परिवार के निम्न प्रकार बनते हैं—

9.3.1. **बहु-पत्नी-विवाही परिवार** (Polygynous Family)—जब एक पुरुष एक समय में दो से अधिक स्त्रियो से विवाह करता हे तो उसे बहु-पत्नी विवाह कहते हैं तथा इससे बनने वाला परिवार बहु-पत्नी-विवाही परिवार कहलाता है। भारत की नागा, गोंड, बैगा, टोडा, लुशाई, खासी, सथाल, कादर, छोटा नागपुर के 'हो' आदि जनजातियो मे ये परिवार मिलते हैं। मुसलमानों मे पुरुष को चार विवाह करने की धर्म के अनुसार अनुमति है। प्राचीन काल में राजा, महाराजा, जागीरदार, धनी कृषक आदि भी ऐसा विवाह करते थे तता ऐसे परिवार इनमें मिलते थे। अब कानूनन एक विवाह से अधिक विवाह नहीं कर सकते हैं।

बहु-पत्नी विवाह के निम्न दो प्रकार हैं—

(i) भगिनी बहु-पत्नी-विवाही परिवार—इसमें पत्नियाँ सगी बहने होती हैं, तथा

(ii) अभगिनी बहु पत्नी-विवाही परिवार—इसमें पत्नियाँ सगी बहने नहीं होती हैं।

9 3 2. **बहु-पति-विवाही परिवार (Polyandrous Family)**—बहु-पति-विवाही परिवार बहु-पति-विवाह से बनते हैं। जब एक स्त्री दो से अधिक पुरुषो से विवाह करती है तो वह विवाह बहु-पति-विवाह कहलाता है तथा इससे बहु-पति-विवाही परिवार का निर्माण होता है। इस प्रकार के विवाह और परिवार भारत तथा विश्व के अनेक समाजों मे मिलते हैं। महाभारत मे द्रोपदी का उदाहरण है। दक्षिण भारत के द्रविड सांस्कृतिक समूहों में इस प्रकार के विवाह का प्रचलन है। मालाबार के लोगो, उत्तर भारत के खस राजपूतो, नायरो, कुर्ग निवासियो आदि मे समाज द्वारा बहु-पति-विवाह तथा बहु-पति परिवार मान्य है। उत्तर भारत के देहरादून जिले के जौनसार बाबर परगना, टिहरी राज्य के जौनपुर और खाई मे भी इस प्रकार के विवाह और परिवार मिलते हैं। नीलगीरी के टोडा, कोटा, जनजातियों, मालाबार के इरावन और कम्पाला, तियान, आसाम, लद्दाख, सिक्किम, तिब्बत, कोचीन और ट्रावनकोर की अनेक जनजातियों, पूर्वी अफ्रीका, एस्किमो, नवादा, शूशान तथा चूँकची आदि भी इसी प्रकार के विवाह और परिवार की प्रथा वाले समाज हैं।

बहु-पति-विवाह परिवार के दो उप-प्रकार हैं—(1) भ्रातृ-बहु-पति-विवाही और (2) अभ्रातृ-बहु-पति-विवाही परिवार। जब सगे भाई एक स्त्री से विवाह करते हैं तो उससे भ्रातृ-बहु-पति-विवाही परिवार बनते हैं। द्रोपदी का विवाह इसी का उदाहरण है। उत्तरी भारत के देहरादून जिले के जौनसार बाबर परगना तथा टिहरी राज्य के जौनपुर और खाई मे सबसे बडा भाई विवाह करता है और उसकी पत्नी उसके सभी छोटे भाइयो की भी पत्नी होती है।

दूसरा अभ्रातृ-बहु-पति-विवाही परिवार इसमे अनेक पुरुष जो परस्पर भाई नही होते हैं और वे एक स्त्री से विवाह करते हैं तो वह परिवार अभ्रातृ-बहु-पति-विवाही परिवार कहलाता है। मालाबार के लोगो, नायरो, कुर्ग निवासियो मे यही प्रथा है।

9 3 3 **समूह-विवाही परिवार (Family Based on Group Marriage)**—जब कई पुरुष मिलकर अनेक स्त्रियो से एक साथ विवाह करते हैं। जिसमे प्रत्येक पुरुष सभी स्त्रियों का पति तथा प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषो की पत्नी होती है तो उसे समूह विवाह कहते हैं। एक पुरुषो का समूह एक स्त्रियों के समूह से विवाह करता है, इससे जो परिवार स्थापित होगा वह समूह-विवाही परिवार होगा। मजूमदार और मदान के अनुसार भारत की टोडा जनजाति मे यह विवाह और परिवार मिलता है।

परिवार के प्रकार और भी बहुत सारे हैं जो विद्वानो ने अपने-अपने अध्ययन के दृष्टिकोण तथा परिवार के अध्ययन के लक्ष्य के आधार पर बताए हैं। मुख्य रूप से परिवार के परिवर्तन के अध्ययन मे दो प्रकार का ही साधारणतया उपयोग किया जाता है, वह हैं—नाभिक या एकाकी परिवार, और संयुक्त या परम्परागत-संयुक्त-परिवार। परम्परागत-संयुक्त-परिवार का विवेचन यहाँ तय किया जा रहा है।

भारत में संयुक्त-परिवार
(Joint-Family in India)

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से भारतीय समाज और संस्कृति को समझने के लि आवश्यक है कि हम इसकी सबसे छोटी इकाई को समझने का प्रयास करे। विश्व के अधिकत समाजों की सबसे छोटी इकाई एकाकी-परिवार है परन्तु भारत के अधिकतर क्षेत्रों में सामाजिक संगठनों को सबसे छोटी समाजशास्त्रीय इकाई संयुक्त-परिवार है और उसमे भी परम्परागत-संयुक्त-परिवार है। भारत में अंग्रेजों के आने से पहिले एकाकी-परिवार की अवधारणा अपरिचित वस्तु थी। आई. पी देसाई के अनुसार आज भी पश्चिम के समाजों की एकाकी-परिवार की अवधारणा भारत के परिवारो के अध्ययन में उपर्युक्त नहीं है। अनेक इतिहासकारों, दार्शनिकों, विद्वानों आदि ने लिखा है कि भारतीय समाज की विशेषता उसका संयुक्त-परिवार है। मैक्समूलर, पणिक्कर, इरावती कर्वे, आई पी. देसाई आदि भारतीय सामाजिक सगठन में संयुक्त-परिवार का महत्त्व अपने-अपने ढंग से व्यक्त किया है।

मैक्समूलर का सारगर्भित निष्कर्ष ध्यान देने योग्य है। आपका कथन है कि संयुक्त-परिवार भारत की "आदि-परम्परा" है। यह आज भी अनेक समाजों में महत्त्वपूर्ण है। कर्वे ने *महाभारत के संयुक्त-परिवार की याद दिलाते हुए लिखा है कि भारत मे आज भी जहाँ-जहाँ* भाई-भाई साथ रहते हैं महाभारत का युद्ध होता है। श्यामा चरण दुबे ने लिखा है कि संयुक्त-परिवार मे परिवर्तन हो रहे हैं परन्तु एक व्यक्ति अपने जीवन में आज भी संयुक्त-परिवार मे जीवन अवश्य बिताता है।

पणिक्कर ने तो संयुक्त-परिवार का महत्त्व कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है, "सैद्धान्तिक रूप में असम्बन्धित होते हुए भी, ये दोनो सस्थाएँ—जाति और सयुक्त-परिवार—व्यावहारिक रूप में एक-दूसरे से इस प्रकार गुँथी हुई हैं कि वे एक सामान्य सस्था जैसी ही हो गई हैं। हिन्दू समाज की इकाई व्यक्ति न होकर संयुक्त-परिवार है।" कर्वे ने भी लिखा है कि अगर हम भारत की संस्कृति को समझना चाहते हे तो तीन चीजो (भाषाई क्षेत्र, जाति और परिवार) के संगठन को समझना आवश्यक है। भारतीय संस्कृति और समाज मे संयुक्त-परिवार के महत्त्व पर खूब लिखा गया है। उसे दोहराने के स्थान पर सयुक्त-परिवार की परिभाषा, अर्थ, प्रकार, कार्य, महत्त्व आदि का अध्ययन करके स्वयं देखा जा सकता है। जो निम्न प्रकार है—

संयुक्त-परिवार का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Joint-Family)

संयुक्त-परिवार की परिभाषा अनेक विद्वानों, कानूनों-वेत्ताओ, सामाजिक मानवशास्त्रियों तथा समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न दी है। इन विद्वानो ने संयुक्त-परिवार के विभिन्न गुणो, तत्वों तथा लक्षणो पर प्रकाश डाला है। अब यहाँ हम इनकी परिभाषाओ को देखेगे तथा भारत के संयुक्त-परिवार को संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक तथा संरचनात्मक पक्ष से समझने का प्रयास करेंगे।

1 ब्लंट (Blunt) **की परिभाषा**—आपने सयुक्त-परिवार की परिभाषा 'सोशियल साइन्स इन इण्डिया' मे निम्न दी है, "सयुक्त-परिवार की मुख्य विसेषता है कि वे एक जगह बन भोजन करते हैं।" आपने इस परिभाषा मे सयुक्त परिवार की भौतिक विशेषता 'एक स्थान का बना भोजन' का उल्लेख किया है।

2 मेन्डलबॉम (Mandelbaum) **की परिभाषा**—"संयुक्त परिवार जिसके सदस्य बन्धुत्व के सम्बन्धों से सम्बन्धित होते हैं और साधारणतया एक मकान मे रहते हैं।" आपने सयुक्त-परिवार की दो विशेषताओ का उल्लेख किया है—(1) बन्धुत्व सम्बन्ध, तथा (2) सामान्य आवास।

3 **मुल्ला की परिभाषा**—"कानूनी संयुक्त-परिवार मे वे सब व्यक्ति आ जाते है जो एक सामान्य पूर्वज के वशज हैं।" इस परिभाषा मे 'सामान्य पूर्वज के वशज' पर जोर दिया गया है।

4 जौली (Jolly) **की परिभाषा**—"न केवल माता-पिता तथा सन्तान, भाई तथा सौतेले भाई, सामान्य सम्पत्ति पर रहते हैं, बल्कि कभी-कभी इसमे कई पीढियो तक की सन्ताने, पूर्वज तथा सामानान्तर सम्बन्धी भी सम्मिलित रहते हैं।" आपने परिभाषा मे सम्बन्धियों का क्षेत्र काफी विस्तृत स्पष्ट किया है तथा सम्मिलित रहने पर भी जोर दिया है। आपने उनके परस्पर सम्बन्धो, उत्तरदायित्वो आदि पर कुछ नहीं लिखा है। पितृ-स्थानीय समाज मे चाचा, ताऊ, दादा आदि सम्बन्धी हैं तथा मातृ स्थानीय मे मौसी, नानी आदि। इसलिए सयुक्त-परिवार में प्रभावशाली तथा अप्रभावशाली सम्बन्धियो पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

5 **'बुलेटिन ऑफ द क्रिश्चियन इन्स्टीट्यूट फार द स्टडी ऑफ सोसायटी' की परिभाषा**—"सयुक्त-परिवार से हमारा तात्पर्य उस परिवार से है, जिसमे कई पीढियो के सदस्य एक-दूसरे के प्रति पारस्परिक कर्तव्य पराणयता के बन्धन मे बँधे होते हैं।" इस परिभापा मे कई पीढियो का उल्लेख किया गया है। दो या अधिक विवाति भाई भी सयुक्त-परिवार का निर्माण करते हैं। कई पीढियो का होना कितना आवश्यक है इसे देखना होगा। आगे इसकी चर्चा की गई हे। उपर्युक्त परिभाषाओ मे सयुक्त परिवार और परम्परागत-सयुक्त-परिवार के अन्तर का ध्यान नहीं रखा गया है।

6 **इरावती कर्वे की परिभाषा**—आपने सयुक्त-परिवार की परिभाषा अपनी पुस्तक 'किंशिप ऑर्गनाइजेशन इन इण्डिया' (Kinship Organization in India) मे निम्न दी है, "एक सयुक्त-परिवार लोगों का एक समूह है, जो सामान्यतया एक छत के नीचे रहते हैं, जो एक रसोई मे बना भोजन करते हैं, जो सामान्य सम्पत्ति रखते हैं, परिवार के सामान्य पूजा-पाठ मे भाग लेते हैं और एक-दूसरे से किसी विशिष्ट प्रकार के बन्धुत्व सम्बन्ध से सम्बन्धित होते हैं।

आपने परिभाषा से सम्बन्धित तथ्य, "जो सामान्यतया एक छत के नीचे रहते हैं, और साथ साथ खाते हैं" की निम्न व्याख्या की है—जो कृषि का व्यवसाय करते हैं वे तो साथ-साथ रहते और खाते हैं, लेकिन वे लोग जो व्यापार करते हैं अथवा सेना मे अथवा सरकारी

नौकरियों मे हैं, लम्बे समय तक बाहर रहते हैं, वे मूल परिवार से बँधे रहते हैं तथा उसके अंग हैं, सयुक्त-परिवार के अंग कहलाएँगे।

7. **ए. डी. रॉस की परिभाषा**—रॉस ने संयुक्त-परिवार की परिभाषाओ का आलोचनात्मक मूल्याकन अपने विनिबन्ध 'हिन्दू फेमेली इन इट्स अरवन सेटिंग' (Hindu Family in its Urban Setting) मे किया है। आपका कहना है कि संयुक्त-परिवार की कोई परिभाषा समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से पूर्ण नहीं है। समाजशास्त्र सामाजिक सम्वन्धों के सन्दर्भ में विषय का अध्ययन करता है। इसलिए संयुक्त-परिवार के सदस्यों का एक स्थान पर रहना, एक रसोई का भोजन खाना आवश्यक नहीं है। दूर-दूर रहकर भी अगर उनके सामाजिक सम्वन्धों में निरन्तरता है, सत्ता बडे सदस्य के पास है तो वे परस्पर संयुक्त-परिवार मे हैं।

इसी दृष्टि से आपने संयुक्त-परिवार की निम्न परिभाषा दी है जो एकाकी, सयुक्त आदि सभी परिवारो की व्याख्या समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से करती है।

"परिवार मनुष्यो का एक समूह है जो सामान्यतया एक प्रकार के बन्धुत्व सम्बन्धो से सम्बन्धित होते हैं, जो एक मकान मे भी रहते हों और जिनका संगठन एक प्रकार के कर्त्तव्य और अधिकार, भावना एवं सत्ता के प्रतिमान से सम्वद्ध हो।" आपने साथ-साथ रहना संयुक्त-परिवार की आवश्यक शर्त नही वताई। इन्होने सयुक्त-परिवार के लिए व्यक्तियो का समूह, बन्धुत्व सम्बन्ध और कर्त्तव्य और अधिकार, भावना तथा सत्ता बताए हैं।

8 **आई. पी. देसाई की परिभाषा**—आपने अपनी कृति 'सम आस्पेक्ट्स ऑफ फेमेली इन महुवा' (Some Aspects of Family in Mahuva) मे विस्तार से परिवार की संयुक्तता और नाभिक (एकांकिकता) की अवधारणाओं को समझाया है।

आई. पी. देसाई ने लिखा है, "छोटे कुटुम्ब (एक छत के नीचे रहने वालो) को नाभिक परिवार जैसा समझना चाहिए जिसमे पति, पत्नी और केवल बच्चे हो तथा बडे कुटुम्ब को संयुक्त-परिवार जैसा समझना चाहिए जिसमे तीन पीढ़ी से अधिक के व्यक्ति साथ-साथ रहते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि अधिकतर विद्वानों ने संयुक्त-परिवार की जो परिभाषाएँ दी हैं वे वास्तव में परम्परागत-संयुक्त-परिवार की परिभाषाएँ हैं। सामान्यतया संयुक्त-परिवार से तात्पर्य ऐसे परम्परागत-संयुक्त-परिवार से लगाया जाता है जिसमे तीन या इससे अधिक पीढ़ियाँ होती हैं जो एक छत के नीचे निवास करती हैं, जो एक चूल्हे का बना भोजन खाती हैं, जिनकी सम्पत्ति सामान्य होती है, जो परिवार के पूजा-पाठ, उत्सव आदि मे सामूहिक रूप में भाग लेती हैं, जो परस्पर निश्चित बन्धुत्व सम्बन्धो से सम्बन्धित होती हैं और जिनका संगठन एक प्रकार के कर्त्तव्य और अधिकार एवं सत्ता और भावना के प्रतिमान से सम्बद्ध होता है।

संयुक्त-परिवार की विशेषताएँ
(Characteristics of Joint-Family)

सयुक्त-परिवार की परिभाषाओ के अध्ययन से इसकी कुछ विशेषताएँ स्पष्ट हुई हैं। सयुक्त-परिवार एक महत्त्वपूर्ण सस्था और समिति है। भारतवर्ष मे इसी की विशेष संरचना, प्रकार्य तथा भूमिकाएँ हैं। उन सबके सन्दर्भ मे संयुक्त-परिवार की अवधारणा को समझने के लिए आवश्यक है कि इस अवधारणा की विशेषताओ का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन किया जाए। सयुक्त-परिवार की विशेषताओ को भौतिक, संरचनात्मक, प्रकार्यात्मक आदि के आधार पर निम्नलिखित रूप मे देखा जा सकता है।

1 **सामान्य निवास** (Common Residence)—कुछ विद्वानो—कर्वे, मेण्डलबॉम, ब्लट, जौली आदि ने सयुक्त-परिवार के लिए सामान्य निवास प्रमुख लक्षण बताया है जिसके अनुसार सयुक्त-परिवार के सभी सदस्य एक मकान में साथ-साथ रहते हैं। रॉस और देसाई का कहना है कि परम्परागत-सयुक्त-परिवार के सभी सदस्य एक स्थान पर साथ-साथ रहते हैं। लेकिन कुछ अन्य प्रकार के सयुक्त-परिवारो के लिए सामाजिक सम्बन्धों की संयुक्तता तो आवश्यक है तथा एक स्थान पर साथ-साथ रहना आवश्यक नहीं है।

2. **सामान्य रसोईघर** (Common Kitchen)—सयुक्त-परिवार के सदस्यो के लिए कर्वे और ब्लंट का कहना है कि इसके सभी सदस्य एक चूल्हे पर बना भोजन खाते हैं। आई. पी देसाई के अनुसार कई भाई पिता की मृत्यु के बाद पैतृक मकान का बँटवारा करके अथवा बिना बँटवारा किए एक ही मकान मे रहते हैं परन्तु भोजन अलग-अलग बनाते हैं। सामाजिक सम्बन्धो से वह बँधे रहते हैं। वे सम्बन्धों या/और सम्पत्ति से भी सयुक्त-परिवार के लिए सामान्य रसोईघर का होना अत्यावश्यक विशेषता है लेकिन अन्य प्रकार के संयुक्त-परिवारों के लिए सामान्य रसोईघर विशिष्ट लक्षण होना आवश्यक नहीं है।

3 **सामान्य पूजा-पाठ** (Common Worship)—नवरात्रि, श्राद्धपक्ष, जन्म-संस्कार, विवाह-संस्कार, मृत्यु-सस्कार, जन्माष्टमी, शिवरात्रि, दीपावली, दशहरा, रक्षाबन्धन, होली आदि अनेक पर्वों-उत्सवो मे परम्परागत-सयुक्त-परिवार के सभी सदस्य साथ-साथ भाग लेते हैं। लेकिन परिवार के अनेक सदस्य शिक्षा, नौकरी, व्यापार आदि के कारण मूल निवास से बाहर रहते हैं, ऐसे अवसरो पर आने का पूरा प्रयास करते हैं तथा सम्मिलित होते हैं। कर्वे तथा देसाई ने स्पष्ट लिखा है कि आवास के आधार पर वे संयुक्त अंग नहीं हैं परन्तु सम्बन्धो के आधार पर वे संयुक्त हैं। इस प्रकार सामान्य. पूजा-पाठ, धार्मिक अनुष्ठान आदि संयुक्त-परिवार के विभिन्न अवसरों की विशिष्ट विशेषता है।

4. **बड़ा आकार** (Large Size)—देसाई ने छोटे आकार के कुटुम्ब को नाभिक-परिवार बताया है जिसे पति-पत्नी तथा बच्चे साथ-साथ रहते हैं। बड़े आकार के कुटुम्ब को सयुक्त-परिवार बताया है जिसमें तीन या तीन से अधिक पीढ़ी के व्यक्ति साथ-साथ रहते हैं। यह परम्परागत-संयुक्त-परिवार भी कहलाता है। दूसरे प्रकार के संयुक्त-परिवारो का आकार बड़ा होता है जिसमें एक पीढ़ी में कई विवाहित भाई अपनी पत्नियों के साथ-साथ रहते हैं।

संयुक्त-परिवार के लिए बड़े आकार से तात्पर्य सदस्यों की संख्या से नहीं है बल्कि एक से अधिक परिवारों का एक कुटुम्ब के रूप में रहना है। एक दम्पत्ति के दस-बारह बच्चे होने पर आकार बड़ा होने पर भी वह संयुक्त-परिवार नहीं कहलाएगा।

5. **सामान्य सम्पत्ति** (Common Property)—परिवार की संयुक्तता का महत्त्वपूर्ण आधार सम्पत्ति भी है। एक पूर्वज की सन्तानें सामान्य रूप से सम्पत्ति विरासत में प्राप्त करती हैं। संयुक्त-परिवार के सभी सदस्य अपनी-अपनी आय तथा कमाई परिवार के मुखिया को दे देते हैं। संयुक्त-परिवार के सदस्यों की आय एक स्थान पर एकत्र की जाती है तथा वहाँ से सबकी आवश्यकताएँ पूरी की जाती हैं। विवाह, त्योहार आदि अवसरों पर मुखिया खर्च करता है। आई. पी. देसाई के अनुसार उपर्युक्त सामान्य सम्पत्ति का गुण परम्परागत-संयुक्त-परिवार नहीं कहलाएगा। इन्होंने लिखा है कि अगर सम्पत्ति सामूहिक नहीं है और परिवारों में परस्पर कर्त्तव्य, अधिकार, उत्तरदायित्व आदि से सम्बद्धता है तो वे परिवार न्यून संयुक्तता वाले परिवार कहलाएँगे। ऐसे परिवारों को इन्होंने नाभिक लेकिन सम्बन्धों से संयुक्त-परिवार कहा है।

6. **नातेदारी सम्बन्ध** (Kinship Relations)—संयुक्त-परिवार व्यक्तियों का एक ऐसा समूह है जिसके सदस्य परस्पर विशिष्ट रक्त, विवाह अथवा गोद सम्बन्धों से सम्बन्धित होते हैं। संयुक्त-परिवार में पीढ़ी तथा क्षैतिज अथवा दोनों आधारों से संयुक्तता होती है। परम्परागत-संयुक्त-परिवार में तीन या तीन से अधिक पीढ़ी के सदस्य साथ-साथ रहते हैं। पितृ-स्थानीय में माता-पिता, दादी, चाचा, ताऊ, उनके परिवार, भाई, चचेरे भाई, विवाहित, अविवाहित पुत्र आदि साथ-साथ रहते हैं।

7. **अधिकार और दायित्व** (Rights and Obligations)—रॉस के अनुसार संयुक्त-परिवार के सदस्यों का संगठन कर्त्तव्य और अधिकार एवं सत्ता और भावना के प्रतिमान से सम्बद्ध होता है। देसाई का मानना है कि परिवार की संयुक्तता जहाँ तक समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सम्बन्धित है उसके लिए प्रभावशाली सम्बन्धों का होना आवश्यक है जिससे भाइयों, उनकी सन्तानों आदि से सम्बन्धित परस्पर अनेक कर्त्तव्य, अधिकार और दायित्व आ जाते हैं; जो जन्म, मृत्यु, विवाह आदि अवसरों पर तथा अन्य सामान्य जीवन में देखे जा सकते हैं।

8. **परिवार का मुखिया** (Head of Family)—परम्परागत-संयुक्त-परिवार का मुखिया कौन होगा? यह सम्बन्धित समाज की प्रथा और परम्परा निश्चित करती है। पितृसत्तात्मक समाज में परिवार भी पितृसत्तात्मक होता है जिसका तात्पर्य है परिवार का सबसे बड़ा पुरुष मुखिया होता है। आर्थिक, सामजिक, धार्मिक, न्यायिक आदि सभी क्षेत्रों में वह प्रबन्धक, मुखिया, पुरोहित, न्यायाधीश आदि जैसी भूमिकाएँ संयुक्त-परिवार के स्तर पर करता है। श्रम का विभाजन, पूजा-पाठ, न्याय, आदेश वही अन्य सदस्यों को देता है। अन्य सदस्य उसका पालन करते हैं।

9. **सामान्य सामाजिक तथा धार्मिक कार्य** (Common Social and Religious Functions)—संयुक्त-परिवार कई बन्धुत्व से सम्बन्धित परिवारों का संकलन है जो एक धर्म

को मानने वाले हैं। समाज संयुक्त-परिवार के सदस्यों को सामाजिक और धार्मिक कार्यों के सन्दर्भ मे एक इकाई के रूप मे मानते है। गाँव में कोई भी त्योहार या उत्सव होता है तो संयुक्त-परिवार को एक इकाई के रूप मे मानते हैं। सयुक्त-परिवार का वहाँ प्रतिनिधित्व आवश्यक होता है। सामाजिक और धार्मिक कार्य संयुक्त-परिवार दो स्तरो पर पूर्ण करता है। पहला, एक इकाई के रूप मे ग्राम समुदाय या समाज में जहाँ वह रहता है तथा दूसरा, परिवार के सदस्य परस्पर उन कार्यों को सम्पन्न करते हैं। जो सदस्य बाहर रहते हैं वे भी उत्सवों, पर्वों, विवाह, दीपावली आदि के अवसरो पर सयुक्त-परिवार में सम्मिलित होकर धार्मिक-सामाजिक कार्यो को पूर्ण करते हैं। इस प्रथा के कार्यों की चर्चा कापड़िया, कर्वे तथा देसाई ने की है।

10. **सहयोगी व्यवस्था** (Co-operative System)—सोरोकिन ए आर. देसाई, कार्वे आदि अनेक समाजशास्त्रियो का मानना है कि संयुक्त-परिवार के सदस्य परस्पर एक-दूसरे के प्रति सहयोग और समूहवाद की भावना रखते हैं। पारसन्स ने बताया कि सदस्य सामूहिक अभिमुखन के अनुसार क्रिया करते हैं उनमें व्यक्तिवाद की तथा निजी अभिमुखन की भावना नहीं होती है। सदस्य निजी स्वार्थ का परिवार के लिए बलिदान कर देते हैं। ये परिवार ग्रामीण समाज मे ज्यादा होते हैं। वहाँ सहयोग की व्यवस्था देखने योग्य होती है।

11 **उत्पादक इकाई** (Productive Unit)—परम्परागत-संयुक्त-परिवार ग्रामीण समाज में अधिक होते हैं। वहाँ पर ये उत्पादन की इकाई के रूप में कृषि के व्यवसाय में देखे जा सकते हैं। खेतीबाड़ी में प्रत्येक को उसकी क्षमता तथा कार्य-कुशलता के अनुसार कार्य मिल जाता है। सभी अपना-अपना कार्य करके उत्पादन की इकाई के रूप मे सहयोग देते हैं। लाभ का सब मिलकर उपभोग करते हैं। प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय मे पूरा-का-पूरा परिवार कार्य करता है तथा उत्पादन का लाभ परिवार के प्रत्येक सदस्य को मिलता है।

12. **निश्चित संस्तरण** (Definite Hierarchy)—सयुक्त-परिवार मे सदस्यों को निश्चित प्रस्थिति और भूमिका होती है। बड़ी पीढ़ी का छोटी पीढ़ियाँ सम्मान करती हैं। परम्परागत पितृसत्तात्मक, समाज मे पति का स्थान पत्नी से ऊँचा होता है। आयु के आधार पर रक्त-सम्बन्धी बड़े-छोटे, बड़ी-आयु, छोटी-आयु के क्रम मे ही होते हैं। व्यक्ति के जीवन साथी के रक्त-सम्बन्धियो से वही उच्च-निम्न प्रस्थिति होती है जैसी उसके जीवन साथी की, चाहे उसकी स्वय की आयु कितनी भी हो। सौतेला बेटा सौतेली माँ से आयु मे बड़ा होने पर भी सौतेली माँ को माँ जैसा सम्मान देता है।

13 **तुलनात्मक स्थायित्व** (Comparative Permanency)—एकाकी या नाभिक परिवार की तुलना मे सयुक्त-परिवार अधिक स्थाई होते हैं। संयुक्त-परिवार एक सस्था और समिति दोनों है। यह तीन या इससे अधिक पीढी की सयुक्तता वाला होता है। अनेक सदस्य साथ-साथ रहते हैं। उनमे "हम" की भावना, सामूहिक दृष्टिकोण—"एक के लिए सब और एक सबके लिए" वाली भावना रखते हैं। सयुक्त-परिवार में सभी सदस्य सुख-दुःख, लाभ-हानि, जीवन-मरण में एक-दूसरे का साथ देते हैं। उनमे व्यक्तिवाद की भावना नहीं होती है। प्रत्येक सदस्य के लिए संयुक्त-परिवार सब कुछ होता है। आर्थिक कष्ट में एक-दूसरे की सहायता सामूहिक सम्पत्ति तथा आय के द्वारा की जाती है। किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने पर

उसकी पत्नी और बच्चों की देखभाल संयुक्त-परिवार वैसे ही करता है जैसे पहिले हो रही थी। बीमारी में सब-सब का ध्यान रखते हैं। तीन पीढ़ी तक संयुक्त होने से परिवार की निरन्तरता स्थाई रूप से बनी रहती है। नए सदस्यों का जन्म, वृद्ध सदस्यों की मृत्यु से परिवार की सांस्कृतिक, धार्मिक, पारिवारिक, व्यावसायिक निरन्तरताएँ बनी रहती हैं।

संयुक्त-परिवार के प्रकार
(Forms of Joint-Family)

भारतवर्ष में संयुक्त-परिवार के अनेक प्रकार हैं। भारतवर्ष में अनेक सामाजिक परम्पराएँ विभिन्न क्षेत्रों में मिलती हैं और उन्हीं के अनुसार संयुक्त-परिवार के विभिन्न स्वरूप मिलते हैं। इरावती कर्वे ने सम्पूर्ण भारत का सर्वेक्षण किया तथा बताया कि उत्तर भारत में पितृसत्तात्मक, पितृ-वंशीय और पित-स्थानीय परिवार हैं तो दक्षिण भारत के कुछ समाजों मे मातृस्थानीय और मातृवंशीय संयुक्त-परिवार के प्रकार मिलते हैं। निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण सयुक्त-परिवार के प्रकार हैं जिनका ज्ञान परिवार के कार्यो तथा संरचना को समझने के लिए आवश्यक है। संयुक्त-परिवार के विभिन्न प्रकारों के वर्णन इरावती कर्वे, ए. आर देसाई, आई पी. देसाई आदि ने किए हैं।

1. सत्ता, वंश एवं स्थान के आधार पर संयुक्त-परिवार के प्रकार (Classification of Joint-Family Based on Authority, Lineage and Locality)—ए आर. देसाई, कर्वे, आई पी. देसाई, मुरडॉक, मैकाइवर आदि का कहना है कि जो समाज सत्ता, वंश और स्थान के आधार पर पुरुष या स्त्री प्रधान होता है वहाँ पर परिवार भी पुरुष अथवा स्त्री प्रधान होता है। इन चरों अथवा आधारों पर भारत में संयुक्त-परिवार के निम्न दो प्रकार मिलते हैं—

1.1 पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय एवं पितृस्थानीय संयुक्त-परिवार (Patriarchal, Patrilineal and Patrilocal Joint-Family)—उपर्युक्त तीनो विशेषताएँ परम्परागत-सयुक्त परिवार में मिलती हैं। परिवार का सबसे बड़ा पुरुष मुखिया होता है। सभी प्रकार के निर्णय तथा सत्ता पिता से पुत्र को हस्तान्तरित होती हैं। मैकाइवर और पेज के अनुसार अधिकतर परिवार व समाज पितृसत्तात्मक होते हैं। भारत में कुछ परिवारों को छोड़कर सभी परिवार पितृसत्तात्मक हैं। ए. आर. देसाई तथा आई. पी देसाई का कहना है कि भारत के लगभग सभी परिवारों में—सत्ता, वंश और स्थान—पितृ-पक्षीय हैं। वंशावली पिता से पुत्र की दिशा चलती है। विवाह के बाद वर-वधु वर के माता-पिता के पास रहते हैं। सम्पत्ति पिता से पुत्र की दिशा में चलती होती है। ए आर. देसाई का कहना है कि भारत की तीन-चौथाई से ज्यादा जनसंख्या गाँवों में रहती है। जब तक हल के द्वारा खेती होगी तब तक वहाँ पितृसत्तात्मक, पितृवशीय तथा पितृस्थानीय परम्परागत-संयुक्त-परिवार मिलेंगे। हलीय कृषि से ट्रेक्टर, विजली आदि आधुनिक उपकरणों से खेती करने पर श्रमिकों की आवश्यकता कम पड़ेगी और परिवार परम्परागत से अन्य प्रकार के छोटे-छोटे परिवारों मे परिवर्तित हो जाएँगे।

1 2 मातृसत्तात्मक, मातृवंशीय एवं मातृस्थानीय संयुक्त-परिवार (Matriarchal, Matrilineal and Matrilocal Joint-Family)—दक्षिण भारत के कुछ समाजों, जैसे—नायर, थरवाड़ परिवार, थियाल, मोप्ल, बाण्ट आदि मे परिवार मातृवंशीय और मातृस्थानीय हैं। इनके परिवार मातृवंशीय और मातृस्थानीय संयुक्त-परिवार हैं। इन संयुक्त-परिवारों मे स्त्री का प्रमुख स्थान होता है। वंश परम्परा माता से पुत्री को चलती है। सम्पत्ति माता से पुत्री को हस्तान्तरित होती है। उत्तराधिकारी माता के बाद उसकी पुत्री होती है। विवाह के बाद भी स्त्री माता के पास रहती है। ऐसे परिवार केरल के मालाबार के नायर समाज मे मिलते हैं।

2 थरवाड़ संयुक्त-परिवार (Tharwad Joint-Family)—मातृवंशीय संयुक्त-परिवार थरवाड़ कहलाते हैं। इसमें स्त्री उसके भाई-बहिन, उसकी स्वयं की बहिन तथा उसके पुत्र तथा उसकी पुत्रियाँ साथ-साथ रहते हैं। इस कुटुम्ब की विशेषता ये है कि इसमें मकान में कोई वैवाहिक सम्बन्धी नहीं रहता। इसमें एक स्त्री के नाते-रिश्तेदार दूसरी स्त्रियाँ, जैसे—पुत्री, माता, बहिन, माता की माता, माता की बहिन, बहिन की पुत्री, तथा स्त्री के जो पुरुष सम्बन्धी होते हैं, वे—भाई, पुत्र, पुत्री के पुत्र, बहिन के पुत्र होते हैं। पुरुषों में परस्पर एक-दूसरे भाई, माता के भाई और बहिन के पुत्र के रूप में रिश्तेदार होते हैं। ये दक्षिण भारत के नायर समाज मे मिलते हैं।

प्रत्येक कुटुम्ब के पुरुष की पत्नी दूसरे कुटुम्ब की सदस्य होती है जहाँ माता, भाई, बहिन तथा बहिनें तथा उसकी सन्तानें साथ-साथ रहती हैं। एक पुरुष अपनी पत्नी के पास कभी-कभी जाता है। इस प्रकार उपर्युक्त वर्णित कुटुम्ब में विवाहित स्त्री का पति कभी-कभी उससे मिलने आता है। इस प्रकार कोई भी वैवाहिक सम्बन्धी परिवार मे नहीं रहता है। पुरुष की सन्तानें इस परिवार में नहीं रहती हैं। इसमें पिता, सन्तानें, पति-पत्नी के साथ का जीवन पूर्ण रूप से अनुपस्थित होता है। ये थरवाड परिवार की कुछ विशेषताएँ हैं। इसे रक्त-सम्बन्धी-संयुक्त-परिवार भी कहते हैं। क्योंकि इसमे केवल रक्त-सम्बन्धी एक छत के नीचे रहते हैं।

3 पीढ़ियों, उनमें दम्पतियों की संख्या के आधार पर उदग्र, क्षैतिज तथा मिश्रित संयुक्त-परिवार (Classification Based on Number of Generations and Couples as Vertical, Horizontal and Vertically and Horizontally Joint-Family)—इस प्रकार के वर्गीकरण की व्याख्या विस्तार से परिवार के वर्गीकरण के अन्तर्गत पिछले पृष्ठों में की जा चुकी है।

4 सम्पत्ति पर अधिकार और संयुक्त-परिवार के प्रकार (Rights on Property and Types of Joint-Family)—इरावती कर्वे ने सम्पत्ति पर अधिकार के प्रकारों तथा उससे सम्बन्धित संयुक्त-परिवार की प्रकृति का विवेचन किया है। आपके अनुसार पितृवंशीय और पितृसत्तात्मक में सम्पत्ति पर अधिकार पिता से पुत्र को हस्तान्तरित होते हैं। सम्पत्ति पर किन वंशजों का अधिकार है? और कितना है? के आधार पर हिन्दुओं के सभी संयुक्त परिवारों को दो प्रकारों में बाँटा गया है—(1) मिताक्षरा तथा (2) दायभाग। इन्हीं से सम्बन्धित संयुक्त-परिवार को निम्न दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

4.1 मिताक्षरा संयुक्त-परिवार (Mitakshara Joint Family)—कर्वे के अनुसार मिताक्षरा व्यवस्था संयुक्त-परिवार के अर्थ को समझने के लिए आवश्यक है। विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य पर टीका लिखी है उसमें मिताक्षरा का वर्णन मिलता है। मिताक्षरा के अनुसार संयुक्त-परिवार के सदस्यों का सम्पत्ति पर अधिकार तथा हिस्सों का विस्तृत वर्णन दिया गया है। यह भारत के समस्त (आसाम और बंगाल को छोड़कर) हिन्दुओं से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत संयुक्त-परिवार के सदस्यों के सम्बन्ध में निम्न प्रावधान हैं—

(1) पुत्र को जन्म से पैतृक सम्पत्ति मे अधिकार प्राप्त हो जाता है।

(2) बालक गर्भ में आते ही पैतृक सम्पत्ति में अधिकारी हो जाता है। उसका जन्म सम्पत्ति के बँटवारे के नौ माह के अन्दर हो जाना चाहिए।

(3) यदि किसी व्यक्ति के कोई पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र नहीं होता है तो उसकी मृत्यु के बाद उसके हिस्से की सम्पत्ति उसके भाई आपस में बाँट लेते हैं।

(4) पुत्र पिता के जीवित रहते हुए भी पैतृक सम्पत्ति में से अपना हिस्सा माँगने का अधिकारी है।

(5) पिता की सम्पत्ति पर निश्चित और सीमित अधिकार होता है।

(6) व्यक्ति विशेष कार्यों, जैसे—दहेज, धार्मिक कार्य आदि के लिए संयुक्त सम्पत्ति को साझेदारों की सहमति लेकर विनियोग कर सकता है।

(7) सम्पत्ति मे स्त्री को कोई अधिकार नहीं होता है।

(8) स्त्री को स्त्री-धन के अतिरिक्त और कोई धन या सम्पत्ति नहीं दी जाती है।

उपर्युक्त सम्पत्ति के अधिकार स्पष्ट करते हैं कि संयुक्त-परिवार में पुत्र, पिता, पितामह, पौत्र, प्रपौत्र, उनके भाई आदि संयुक्त होते हैं तथा बिना अन्य की सहमति के व्यक्ति विनियोग नहीं कर सकता। दूसरी ओर पुत्र पैतृक सम्पत्ति मे से हिस्सा पिता से उसके जीवनकाल में भी माँग सकता है तथा अलग हो सकता है।

4.2 दायभाग संयुक्त-परिवार (Dayabhaga Joint-Family)—दायभाग संयुक्त-परिवार मे परस्पर स्त्री-पुरुष के क्या अधिकार तथा स्थिति है इसका वर्णन जीमूतवाहन ने किया है। उनके अनुसार इस परिवार में निम्न प्रावधान हैं जो आसाम और बगाल के हिन्दू परिवारों पर भी लागू होते हैं—

(1) पुत्र का पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार पिता की मृत्यु के बाद ही होता है।

(2) पुत्र पिता के जीवनकाल में उससे अपने हिस्से की सम्पत्ति की माग नहीं कर सकता।

(3) पिता का सम्पत्ति पर एकाधिकार होता है। वह सम्पत्ति को अपनी इच्छानुसार उपभोग कर सकता है।

(4) पुत्रों को पैतृक सम्पत्ति में भरण-पोषण के अतिरिक्त कोई अधिकार नहीं होता है।

(5) सम्पत्ति मे स्त्री को भी अधिकार होता है।

(6) व्यक्ति के कोई पुत्र न होने पर उसकी मृत्यु के बाद सम्पत्ति उसकी पत्नी को मिलती है। इस प्रावधान के द्वारा संयुक्त-परिवार का नियन्त्रण, निर्देशन तथा संचालन होता है।

हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956 के द्वारा उपर्युक्त व्यवस्था समाप्त कर दी गई है तथा देश में समान व्यवस्था लागू कर दी गई है; जिसमे सभी स्त्री-पुरुषो को पैतृक सम्पत्ति में समान अधिकार प्राप्त है।

संयुक्त-परिवार के लाभ अथवा प्रकार्य

(Functions or Merits of Joint-Family)

कोई भी संस्था अथवा समिति किसी समाज मे दीर्घकाल से चली आ रही है तो इसका तात्पर्य यह है कि वह समाज में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है। भारतवर्ष मे सयुक्त-परिवार आदिकाल से विद्यमान है। यह विशेष रूप से ग्रामीण समाज के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य—सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक आदि करती रही है। इस प्रकार समाज मे एकता, सगठन आदि बनाए रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य सदियो से करती आ रही है। संयुक्त-परिवार के निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य हैं जो इसी निरन्तरता और अपरिहार्यता को और अधिक स्पष्ट कर देते हैं—

1. **सामाजीकरण का कार्य**—समाज के लिए नए सदस्यो का जन्म, पालन-पोषण तथा सामाजीकरण का कार्य अत्यावश्यक है। ग्रामीण तथा हिन्दू समाज में सयुक्त-परिवार यह कार्य सदियो से करता चला आ रहा है। बच्चे का प्राथमिक सामाजीकरण का कार्य संयुक्त-परिवार जितना अच्छा करता है समाज की अन्य कोई संस्था या समिति नहीं कर सकती हैं। संयुक्त-परिवार में बच्चा सामाजिक मूल्यो, व्यवहार करने के तरीके आदि सीखता है। सयुक्त-परिवार बच्चे को समाज के उपयोगी सदस्य के रूप में सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा तैयार करता है। व्यक्ति समाज के प्रतिमान परिवार मे सहज रूप मे सीख लेता है।

2 **मार्गदर्शन का कार्य**—परम्परागत-सयुक्त-परिवार मे तीन या तीन से अधिक पीढ़ियाँ साथ-साथ निवास करती हैं। युवा पीढी को वृद्ध पीढ़ी समय-समय पर अपने अनुभव और ज्ञान से मार्गदर्शन देती रहती है। युवा पीढी तथा परिवार के स्त्री-पुरुष कोई भी कार्य करते हैं तो उनको तत्काल अन्य बड़े सदस्य दे देते हैं। सास्कृतिक मूल्य और संस्थागत साधनों का ज्ञान वृद्धजन अपने अन्य सदस्यो को हस्तान्तरित करते हैं। सयुक्त-परिवार मार्गदर्शन की एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण इकाई है।

3 **धार्मिक कार्य**—परम्परागत-सयुक्त-परिवार अपनी उत्पत्ति वास्तविक अथवा काल्पनिक पूर्वजो से मानते हैं। उनका पारिवारिक देवता होता है। उसकी पूजा की जाती है। समाज मे जितने भी धार्मिक कार्य होते हैं परिवार उसकी वास्तविक इकाई होती है जो उन्हे सम्पन्न करती है। परिवार के सदस्यो को मुखिया एकत्र करता है तथा निश्चित समय, स्थान, दिन आदि पर उत्सवो, त्योहारों आदि को सम्पन्न करता तथा करवाता है। ग्राम, समुदाय आदि

के स्तर पर परिवार का प्रतिनिधित्व होता है।

4 **सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा**—सयुक्त-परिवार अपने सदस्यों को सामाजिक तथा आर्थिक सुरक्षा प्रदान करता है। परिवार की सामान्य सम्पत्ति तथा सामूहिक आय एक स्थान (मुखिया के पास) पर एकत्र होती है। मुखिया सयुक्त-परिवार के प्रत्येक सदस्य की आवश्यकता को आय के अनुसार पूरी करने की व्यवस्था करता है। विधवा, वृद्धजन, अनाथो, परित्यक्ताओ, अपाहिज, बेरोजगार आदि को संयुक्त परिवार मे उचित भोजन, वस्त्र और आवास की सुविधा प्रदान की जाती है। सदस्य परस्पर एक-दूसरे की संकटकाल मे सहायता करते हैं। सयुक्त-परिवार मे प्रत्येक सदस्य कृषि, व्यवसाय आदि कुछ-न-कुछ काम अपनी क्षमता के अनुसार करके परिवार के लिए बोझ नहीं होता है। सभी सदस्य एक-दूसरे का संकटकाल में ध्यान रखते हैं। समाज की परम्परा भी ऐसी है कि वह परिवार के सदस्यो को सहायता और सुरक्षा प्रदान करने के लिए बाध्य भी करती है।

5 **धन का उचित उपयोग**—परम्परागत सयुक्त-परिवार मे मुखिया के पास आय एकत्र की जाती है। परिवार का मुखिया प्रत्येक सदस्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। सभी सदस्य एक छत के नीचे रहते हैं। एक चूल्हे का बना भोजन करते हैं। साथ-साथ रहने में कोई खर्चे जो अलग-अलग रहने पर प्रत्येक नाभिक परिवार को करने पड़ते हैं वे सयुक्त-परिवार मे बचत के रूप में बच जाते हैं।

6 **सम्पत्ति के विभाजन से बचाव**—सयुक्त-परिवार मे सम्पत्ति सभी की समान होती है। विशेष रूप मे खेतों का भी खण्डो तथा उपखण्डों मे विभाजन तथा बँटवारा नहीं होता है। खेतों का आकार बड़ा बना रहता है। उससे उनमें खेती अच्छी होती है। सम्पत्ति सामूहिक होने से समाज मे परिवार की आर्थिक स्थिति तथा सामाजिक प्रस्थिति अच्छी बनी रहती है।

7 **श्रम-विभाजन**—संयुक्त-परिवार मे श्रम का विभाजन विभिन्न सदस्यो में परिवार का मुखिया करता है, वह व्यक्ति की आयु, शारीरिक क्षमता तथा लिंग-भेद के आधार पर यह करता है। प्रत्येक को उसकी क्षमता तथा सामाजिक परम्परा के अनुसार कार्य दिया जाता है। पुरुष घर के बाहर का काम करते हैं, महिलाएँ भोजन बनाना, बच्चों का पालन-पोषण करना आदि कार्य करती है।

8 **संकट काल में बीमा**—भारत सरकार अभी इतनी सक्षम नहीं है कि सकट काल में प्रत्येक सदस्य को स्वास्थ्य तथा आर्थिक सुरक्षा प्रदान कर सके। संयुक्त-परिवार दुर्घटना, बीमारी, बेरोजगारी, बुढ़ापा आदि संकट में एक बीमा कम्पनी जैसी सुरक्षा प्रदान करता है। एकाकी परिवार की तुलना में संयुक्त-परिवार का सदस्य अनेक सम्बन्धियो के बीच अपने को सुरक्षित पाता है।

9. **अनुशासन एवं नियंत्रण**—सयुक्त-परिवार में अनुशासन की व्यवस्था बहुत अच्छी होती है। प्रत्येक सदस्य पर उससे बडी उम्र तथा पीढी के सम्बन्धी पूर्ण नियत्रण रखते हैं। व्यक्ति अनुशासित रहता है। अगर कोई सदस्य अनुशासन अथवा नियम तोड़ता है तो परिवार का मुखिया उत्तम अभिकरण है। संयुक्त-परिवार के सदस्यों को अनुशासित रखने का

उत्तरदायित्व परिवार के मुखिया का होता है। वह दण्ड भी देने का अधिकारी होता है।

10. संस्कृति की रक्षा—संयुक्त-परिवार सदियो से सस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता आ रहा है। वृद्ध लोग नई पीढी को कथाओं, कहानियों, उत्सव, त्योहार, गीत आदि के द्वारा संस्कृति को सिखाते हैं। सामाजीकरण के द्वारा प्रथाओ, रूढ़ियों तथा परम्पराओ को हस्तान्तरित करने का कार्य परिवार करता आ रहा है। जाति-व्यवस्था में तो व्यवसाय को हस्तान्तरित करने का कार्य भी परिवार करता रहा है। सयुक्त-परिवार संस्कृति की सुरक्षा तथा सिखाने का काम करता है।

11 राष्ट्रीय एकता—सोरोकिन और जिमरमेन तथा अनेक समाजशास्त्रियों ने भारत के ग्रामो के संयुक्त-परिवार की प्रमुख विशेषता परिवारवाद बताई है। परिवार का सदस्य परिवार के लिए अपना जीवन जीता है। उसमें व्यक्तिवाद की भावना नहीं होती है। परिवार, ग्राम और देश के लिए उसमे 'हम' की भावना होती है। वह परिवार और देश के लिए त्याग की भावना रखात है। संयुक्त-परिवार व्यक्ति मे देशप्रेम, त्याग, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि की शिक्षा देता है। ग्रामीण सयुक्त-परिवार और राजनैतिक सगठन की अवधारणाएँ परस्पर सम्बन्धित हैं। परिवार की राष्ट्रीयता की भावना के विकास मे विशेष भूमिका रही है।

12. मनोरंजन—सयुक्त-परिवार मे अनेक सदस्य साथ-साथ रहते हैं। इरावती कर्वे का कहना है कि सयुक्त-परिवार मे हर समय कुछ-न-कुछ रुचिकर होता ही रहता है। अब किसी लड़की अथवा लडके का विवाह है, अब किसी का दीक्षा समारोह है, नए बच्चे का जन्म हुआ है, नववधु का यौवनारम्भ संस्कार है, परिवार का विशिष्ट सस्कार, व्रतभोज और कभी किसी को मृत्यु। परिवार मे अतिथियो का आना-जाना लगा रहता है। जीवन शायद ही कभी नीरस होता है। हम उम्र के साथी आपस मे हँसी-मजाक करते रहते हैं। वृद्धजन बच्चों को कहानियाँ आदि सुनाते हैं। हर समय चहल-पहल रहती है। सयुक्त-परिवार में विभिन्न प्रकार से मनोरजन होता रहता है।

उपर्युक्त सयुक्त-परिवार के कार्यो से स्पष्ट हो जाता है कि यह संस्था तथा समिति के रूप में व्यक्ति और समाज के मध्य एक महत्त्वपूर्ण कडी है। एक ओर यह व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक कार्य करती है तो दूसरी ओर समाज के संगठन और सन्तुलन के लिए भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। सयुक्त-परिवार प्राथमिक और अनौपचारिक समूह है तो व्यक्ति, समाज, ग्राम और राष्ट्र के लिए सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनैतिक, शैक्षिक, मनोवैज्ञानिक, सास्कृतिक आदि कार्य सम्पन्न करती है।

संयुक्त-परिवार के दोष
(Demerits of Joint-Family)

संयुक्त-परिवार के अनेक लाभ हैं। लेकिन अनेक कारको तथा परिस्थितियो के कारण इसमे अनेक दोष भी हैं। संयुक्त-परिवार अपने सदस्यों, स्त्रियों, पुरुषों तथा अन्यो को वह सब कुछ प्रदान करने मे असमर्थ है जो उसे प्रदान करना चाहिए। निम्नलिखित इसके कुछ प्रमुख उल्लेखनीय दोष हैं—

1. व्यक्ति की कार्यकुशलता में बाधक—संयुक्त-परिवार में सदस्यों की आय मुखिया के पास एकत्र हो जाती है तथा सभी सदस्यों का बराबर ध्यान रखा जाता है। उससे दो हानियाँ होती हैं। जो सदस्य अकर्मण्य ही बने रहते हैं। उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति बिना श्रम किए ही हो जाती है। जो सदस्य मेहनती हैं, कुशल हैं, उनका विशेष ध्यान नहीं रखा जाता है। संयुक्त-परिवार मे बुद्धिमान और मूर्ख, मेहनती और आलसी, व्यवसायी और बेरोजगार सभी को समान रूप से सुख-सुविधाएँ दी जाती हैं। इससे बुद्धिमान, मेहनती, व्यवसायी पर विपरीत असर पड़ता है। क्योकि उसे अपनी मेहनत का फल नहीं मिलता है। इससे वह भी अपनी कार्यकुशलता तथा आय बढ़ाने के लिए प्रयास करना कम अथवा बन्द कर देता है। विकास के लिए सुविधाएँ चाहिएँ। संयुक्त-परिवार में व्यक्ति विशेष को अलग से सुविधाएँ नहीं दी जाती हैं। इससे अनेक प्रतिभावान बालक तथा अन्य अपना विकास नहीं कर पाते हैं। संयुक्त-परिवार व्यक्ति की कार्यकुशलता मे एक बाधा है।

2. अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि—संयुक्त-परिवार ऐसी परिस्थितियाँ पैदा कर देता है कि उससे अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि हो जाती है। सभी को समान रूप से देखा जाता है। सभी की आवश्यकताएँ समान रूप से पूरी की जाती हैं चाहे कोई ज्यादा कमाता हो या कम कमाता हो अथवा बेरोजगार हो। उसके बच्चों का पालन-पोषण भी समान रूप से किया जाता है। इससे सदस्यों पर गलत असर पड़ता है। व्यक्ति आलसी, अकर्मण्य तथा अनुत्साही बन जाता है। वह देखता है कि विशेष श्रम करने से उसे उसी अनुपात में लाभ नहीं मिलता है जो उसे मिलना चाहिए। जब बिना कुछ किए रोटी, कपड़ा और आवास की सुविधा मिल जाती है तो इससे व्यक्ति के जोश, प्रोत्साहन, कार्यकुशलता आदि पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। उसे सुनिश्चित तथा स्पष्ट जिम्मेदारी उठानी नहीं पड़ती है तो वह अकर्मण्य बन जाता है। संयुक्त-परिवार मे एक कमाता है और सब खाते हैं।

3. व्यक्ति के विकास में बाधक—सयुक्त-परिवार में समूहवाद की भावना होती है। व्यक्ति विशेष का कोई महत्त्व नहीं होता है। अगर कोई सदस्य परिवार छोड़कर विदेश अथवा अन्य शहर में स्वयं के विकास के लिए जाना चाहता है तो परिवार उसे ऐसा करने की अनुमति प्रदान नहीं करता है। कोई सदस्य आगे पढ़ना चाहता है इसके लिए उसे कुछ विशेष सुविधाएँ चाहिएँ तो संयुक्त-परिवार में ऐसा करना सम्भव नहीं है। कोई सदस्य बुद्धिमान है, मेहनती है, उसके बच्चे भी ऐसे ही हैं तो उनको विशेष सुविधा नाम की अलग से व्यवस्था नहीं दी जाएगी। उसी वातावरण में व्यक्ति को विकास करना होगा। ऐसा करना सम्भव नहीं है। परिवार में अलग से प्रोत्साहन भी किसी को नहीं दिया जाता है। अनेक ऐसे सामाजिक, मनोवैज्ञानिक तथा व्यक्तिगत कारण हैं जो व्यक्ति की कार्याकुशलता में बाधक होते हैं और संयुक्त-परिवार उन्हे प्रभावित करता है।

4. गतिशीलता में बाधक—व्यक्ति परिवार के लिए जीवन जीता है। परिवार से जुड़ा रहता है। परिवार छोड़कर बाहर जाने की बात तो व्यक्ति सोच भी नहीं सकता है। संयुक्त-परिवार मे व्यक्ति का अलग से कोई अस्तित्व नहीं होता है। वह परिवार के द्वारा तथा परिवार के लिए होता है। इस प्रकार संयुक्त-परिवार के आदर्श, मूल्य, मान्यताएँ आदि व्यक्ति की गतिशीलता में बाधक का कार्य करते हैं।

5 **सामाजिक समस्याओं का पोषक**—सयुक्त-परिवार के प्रतिमान, मूल्य आदि रूढ़िवादी होते हैं। परिवार के सदस्य अन्धविश्वासी, परम्परावादी तथा धार्मिक प्रवृत्ति के होते है। वे अनेक सामाजिक कुरीतियों को छोडने का विरोध करते हैं। पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, जाति प्रथा आदि का कट्टरता से पालन करते हैं। सयुक्त-परिवार के माध्यम से हिन्दू समाज मे अनेक सामाजिक समस्याएँ पीढी-दर-पीढ़ी चली आ रही हैं, जैसे—स्त्री अशिक्षा, वैधव्य, स्त्रियों का शोषण, छुआछूत, दहेज-प्रथा आदि। उपर्युक्त सामाजिक समस्याओं का कारण प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सयुक्त-परिवार ही है।

6 **कलह का केन्द्र**—संयुक्त परिवार के सदस्य बात-बात पर झगड़ा करते हैं। कर्वे ने लिखा है कि हिन्दू समाज मे जहाँ-जहाँ भाई-भाई साथ रहते हैं उनमे महाभारत का युद्ध आज भी होता है। घर के काम-काज तथा बच्चो को आधार बनाकर स्त्रियाँ आपस मे झगड़ती हैं। सयुक्त-परिवार मे उनकी बातो को लेकर मन-मुटाव होता है। सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण साथ तो रहते हैं परन्तु झगडे खूब होते हैं। जिस सयुक्त-परिवार की आर्थिक स्थिति खराब होती है, घर छोटा होता है वहाँ बच्चे, स्त्रियाँ तथा बड़े तनावपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं और अन्त मे सम्पत्ति, मकान आदि का बँटवारा हो जाता है।

7 **गोपनीय स्थान का अभाव**—सयुक्त-परिवार में सदस्यों की संख्या तो अधिक होती है तथा मकान प्रायः छोटे होते हैं। हर समय चहल-पहल रहती है। शान्ति का अभाव रहता है। पति-पत्नी दिन मे बातचीत नहीं कर सकते हैं। बडे-बूढो का लिहाज करना पड़ता है। कई सयुक्त-परिवारो मे पुरुष तथा स्त्रियाँ भवन के अलग-अलग हिस्सो मे रहते हैं। अपनी आयु से अधिक आयु के सम्बन्धियो के सामने माता-पिता अपनी सन्तानो से बातचीत भी नहीं कर सकते हैं। बच्चो को डाँट नहीं सकते। प्यार नहीं कर सकते। पति-पत्नी परस्पर स्नेह प्रदर्शित नहीं कर सकते। इससे उनकी इच्छाओ की पूर्ति नहीं हो पाती। इस प्रकार से उन्हे बडा सयमी जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

9 **शुष्क एवं नीरस वातावरण**—सयुक्त-परिवार के सम्बन्ध में देसाई का कहना है कि यह बडा कुटुम्ब होता है। सदस्य अनेक होते है। सम्बन्धियों को आपस मे एक-दूसरे को नही चाहते हुए भी साथ-साथ रहना पड़ता है। आर्थिक अभाव में तो यह मात्र दिखावा होता है। सम्बन्धियो की आवश्यकता से अधिक सख्या होने के कारण उनके परस्पर सम्बन्ध औपचारिक हो जाते हैं। परिवार का वातावरण बहुत शुष्क तथा नीरस होने से सदस्य खुश नहीं रहते हैं।

10 **मुखिया की स्वेच्छाचारिता**—सयुक्त-परिवार पितृसत्तात्मक होता है जिससे तात्पर्य यह है कि परिवार का सबसे बडा पुरुष मुखिया होता है। परिवार के सभी निर्णय मुखिया करता है। मुखिया को जो उचित लगता है वही करता है। अन्य सदस्य मुखिया से वाद-विवाद नहीं कर सकते। मुखिया का निर्णय अन्तिम होता है। उसे कोई बदल नहीं सकता है। अन्य सम्बन्धियो को मुखिया के समक्ष अपनी इच्छाओ को दबाकर रखना पडता है। अन्य सदस्य अपना असन्तोष व्यक्त नहीं कर सकते हैं।

संयुक्त-परिवार में परिवर्तन के कारक
(Factors Changing Joint-Family)

संयुक्त-परिवार में परिवर्तन तो अवश्य हो रहे हैं। इस परिवर्तन का अध्ययन करने से पूर्व कुछ समाजशास्त्रीय तथ्य तथा स्पष्टीकरण आवश्यक हैं। अनेक समाजशास्त्रियो, विद्वानो, विचारकों आदि का कहना है कि संयुक्त-परिवार परिवर्तित हो रहे हैं। जो परम्परागत-संयुक्त-परिवार की अवधारणा का प्रयोग करते हैं उनका कहना है कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से परम्परागत-संयुक्त-परिवार विघटित नहीं हो रहे हैं बल्कि नई परिस्थितियों तथा कारणों से अनुकूलन तथा व्यवस्थापन कर रहे हैं। आई पी देसाई ने अपने विनिबन्ध (Monograph) "सम आस्पेक्ट्स ऑफ फेमिली इन महुआ" (Some Aspects of Family in Mahuva) मे इस तथ्य पर विस्तार से प्रकाश डाला है कि संयुक्त-परिवार के अनेक प्रकार हैं। विभिन्न कारणो तथा परिस्थितियो के कारण परम्परागत-सयुक्त-परिवार के अनेक प्रकार हैं। विभिन्न कारणों तथा परिस्थितियों के कारण परम्परागत-संयुक्त-परिवार बदल रहे हैं। परिवर्तन अवश्यम्भावी हैं। लेकिन उनके परिवर्तन की प्रक्रिया नई परिस्थितियों से अनुकूलन कर रही है जो निम्न प्रकार है।

समाजशास्त्र के विद्यार्थी को यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब वे भारत के हिन्दू समाज के संयुक्त-परिवारों के परिवर्तन का अध्ययन कर रहे हों तो परम्परागत-संयुक्त-परिवार से नाभिक लेकिन सम्बन्धो से संयुक्त-परिवार की ओर हो रहे परिवर्तनों के अध्ययन का भी ध्यान रखें। परम्परागत-संयुक्त-परिवार को परिवर्तित करने वाले निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कारक हैं—

1 **औद्योगीकरण** (Industrialization)—परम्परागत-सयुक्त-परिवार ग्रामीण समाज की विशेषता है। ए. आर देसाई का कहना है कि हलीय-कृषि परम्परागत-सयुक्त-परिवार-व्यवस्था को प्रोत्साहन देती है। औद्योगीकरण ने अनेक सामाजिक संस्थाओं को प्रभावित किया है। औद्योगिक क्रान्ति के बाद मानव समाज में अनेक परिवर्तन हुए हैं। संयुक्त-परिवार भी नाभिक परिवार में परिवर्तित होने लगे। उत्पादन के साधनों का विकास हुआ। सयुक्त-परिवार उत्पादन और उपभोग की इकाई था। वह परिवर्तित होकर केवल उपभोग की इकाई बन गया। इससे नाभिक परिवारों का प्रतिशत बढने लगा। उत्पादन औद्योगिक केन्द्र करने लगे। ग्रामो के कुटीर उद्योग समाप्त हो गए। ग्रामवासी•व्यक्ति अकेला शहर और बाद मे पत्नी तथा बच्चों को ले गया तथा अन्य परम्परागत व्यवसाय छोड़कर कल-कारखानों मे काम करने लगे। व्यवसायो की बहुलता हो गई। व्यक्ति संयुक्त-परिवार को छोड़ अन्यत्र व्यवसाय के लिए चला गया। सचार के साधन और यातायात के साधनो से व्यक्ति आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने लगा। वस्तु-विनिमय के स्थान पर नकद मुद्रा में विनिमय होने लगा। इससे सयुक्त-परिवार की सामान्य सम्पत्ति की विशेषता टूट गई। स्त्रियाँ कल-कारखानों में काम करने लगीं; संयुक्त-परिवार मे रहना नापसन्द करने लगीं। इन सबका प्रभाव संयुक्त-परिवार प्रणाली पर पड़ा। सदस्य ग्राम छोड़कर औद्योगिक केन्द्रो में जाने लगे जहाँ आवास की समस्या होने से नाभिक परिवार बढे, परम्परागत व्यवसाय छोड़कर नए व्यवसाय करने लगे। व्यक्ति काम के

पद्ले नक्द वेतन पाने लगा, इससे वह अपने को स्वतन्त्र महसूस करने लगा। सयुक्त-परिवार मे रहना उसे बुरा लगने लगा। वह नई परिस्थितियो के कारण संयुक्त-परिवार को छोडकर शहरों में जाने लगा। परम्परागत-सयुक्त-परिवार इससे बिखर गए। उनका विभाजन होने लगा। स्त्रियाँ व्यवसाय करने के फलस्वरूप स्वतन्त्रता अनुभव करने लगीं। अलग रहने का प्रयास करने लगीं। उसमे उन्हे सफलता मिली।

2 **नगरीकरण** (Urbanization)—नगरो में अनेक सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, जैसे—शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात के साधन, उपभोग की वस्तुएँ आदि। इसलिए लोग नगरो में रहना अधिक पसन्द करते हैं। जब लोग ग्राम से सयुक्त परिवार को छोडकर नगरो मे आते हैं तो उससे संयुक्त परिवार-प्रणाली का विभाजन होता है। जो नगरो में आकर रहते हैं वे बहुत कठिनाई के बाद मकान किराय का ले पाते हैं। नगरों में आवास की समस्या होने से व्यक्ति या तो अकेला रहता है या अपनी पत्नी और बच्चों के साथ रहता है, इससे नाभिक परिवारों का प्रतिशत बढ़ता है। आई पी पी देसाई ने अपने अध्ययन मे पाया कि व्यक्ति शिक्षा प्राप्त करने के लिए नगर मे जाता है। वहाँ से वह वापिस ग्राम मे नहीं आता है। वह अपनी शिक्षा के अनुरूप व्यवसाय नगरो मे ही प्राप्त कर सकता है इससे परिवार की आवास की संयुक्तता कम हो जाती है। लोग नगरो मे अनक उद्देश्य से मूल निवास-स्थान छोड देते हैं। व्यापार, नौकरी, शिक्षा के लिए नगरो मे चले जाते हैं। सरकारी नौकरी, सेना की नौकरी आदि में स्थानान्तरण होता है। इससे सयुक्त-परिवार का विभाजन हो जाता है। आवास की समस्या के कारण शहरो के लोग साथ-साथ नहीं रह पाते हैं। अधिक किराया होने के कारण व्यक्ति अकेला रहता है। इससे उसमें धीरे-धीरे व्यक्तिवाद की भावना विकसित हो जाती है। वह केवल अपनी पत्नी और बच्चो के साथ रहना अधिक पसन्द करता है। इस प्रकार नगरीकरण सयुक्त-परिवार के विभाजन को तथा नाभिक परिवार को प्रोत्साहन देता है।

3 **यातायात एव संचार के साधन** (Means of Transportation and Communication)—आधुनिक यातायात के साधन, जैसे—रेल, बस, मोटर-गाडियाँ, हवाई-जहाज आदि ने व्यक्ति का एक स्थान से दूसरे स्थान पर आना-जाना सुगम कर दिया है। पहिले व्यक्ति का आना-जाना बहुत कठिन था। स्थान छोड़ना मुश्किल था। व्यक्ति जीवनपर्यन्त सयुक्त-परिवार एव जन्म-स्थान मे ही रहता था। लेकिन अब वह संयुक्त-परिवार को छोड़कर दूर स्थानों पर नौकरी, व्यवसाय, शिक्षा आदि के लिए चला जाता है। पहिले परिस्थितियाँ सयुक्त रहने के अनुकूल थीं, अब प्रतिकूल हैं। यातायात तथा सचार के साधनो ने भौगोलिक गतिशीलता बढ़ा दी है। इससे परम्परागत-सयुक्त-परिवार विभाजित होकर नाभिक परिवारो में परिवर्तित हो रहे हैं।

4 **सामाजिक सुरक्षा** (Social Security)—पहिले केवल सयुक्त-परिवार ही सगे-सम्बन्धियो को सामाजिक-सुरक्षा प्रदान करता था। व्यक्ति वृद्धजनो की सेवा करना अपना परम कर्त्तव्य समझता था। सरकार की अनेक योजनाओं द्वारा व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा प्रदान की जाती है, जैसे—बीमा योजना, भविष्यनिधि कोष, ग्रेच्युटी, कर्मचारी क्षति-पूर्ति कानून, पेंशन आदि। एक ओर युवा पीढ़ी वृद्धजनो की देखभाल करना, अपना कर्त्तव्य पालन करना भूलती

जा रही है दूसरी ओर वृद्धजन भी अनेक सुरक्षा योजनाओं के कारण उन पर बोझ बनना नहीं चाहते हैं। इसमे नाभिक परिवारों की वृद्धि हो रही है तथा मयुक्त-परिवारों का विभाजन हो रहा है।

5. **पाश्चात्य शिक्षा एवं संस्कृति का प्रभाव** (Impact of Western Education and Culture)—भारतवासी पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के सम्पर्क मे आए। इससे भारतीयो के सामाजिक मूल्य, दर्शन और जीवन का तरीका पाश्चात्य होने लगा जो नाभिक परिवार को प्रोत्साहन देता है। व्यक्तियों पर भौतिकवाद और व्यक्तिवाद का गहरा प्रभाव पड़ा। स्त्रियों ने शिक्षा ग्रहण की तथा वे पुरुष के समान रहने लगी। मयुक्त-परिवारों में स्त्री-पुरुषो की आस्था कम होने लगी और नाभिक परिवार की ओर आकर्षण बढ गया। प्रेम-विवाह, तलाक, अन्तर्जातीय विवाह और व्यक्तिवादी दृष्टिकोण ने संयुक्त-परिवार का विभाजन किया और एकाकी परिवार का प्रतिशत बढ़ा दिया। पाश्चात्य शिक्षा तथा सस्कृति के प्रभाव तथा अन्धानुकरण से लोगो को नाभिक परिवार ज्यादा अच्छा लगने लगा तथा सयुक्त-परिवार मे रहना कम पसन्द आने लगा। कई बार तो नवीन परिस्थितियो में नाभिक परिवार में रहना आवश्यक भी हो जाता है।

6. **कानूनों का प्रभाव** (Impact of Legislation)—ब्रितानिया सरकार ने भारतवर्ष पर 'फूट डालो और राज्यो करो' के आधार पर राज्य किया था। इस नीति को उन्होंने संयुक्त-परिवार को तोडने मे प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से लागू किया। हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1929 ने व्यक्ति को सम्पत्ति में अधिकार दे दिया चाहे वह संयुक्त-परिवार से अलग रहता हो। हिन्दू स्त्री को सम्पत्ति मे अधिकार नहीं था। "हिन्दू स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार अधिनियम, 1939" ने उन्हे सम्पत्ति में अधिकार प्रदान कर दिया। संयुक्त-परिवार में सम्पत्ति सामान्य होती है। सम्पत्ति के बँटवारे के अधिनियमों के प्रावधान ने संयुक्त-परिवार की आधारभूत विशेषता को बदलकर इसे नाभिक परिवार में बदलने की प्रक्रिया को गति प्रदान कर दी। "बाल-विवाह-निरोधक अधिनियम, 1929" तथा "हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955" ने संयुक्त-परिवार को नाभिक परिवार में परिवर्तित करने में प्रभाव डाला है। ऐसे अनेक अधिनियम समय-समय पर पारित होते रहे हैं जिनके कारण सयुक्त-परिवार को नाभिक परिवार में परिवर्तित होना पड़ा। आयकर से बचने के लिए भाइयो मे सम्पत्ति का बँटवारा दिखाया जाता रहा और वही बाद मे संयुक्त-परिवार के विभाजन का सूत्रधार सिद्ध हो गया। 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956' के द्वारा परिवार की महिलाओं (पुत्री, पत्नी, माता आदि) को पारिवारिक सम्पत्ति में अधिकार दे दिया गया। इनके कारण संयुक्त-परिवार बदल रहे हैं।

7. **परिवार के कार्यो का हस्तान्तरण** (Transfer of Family Functions)— पहिले संयुक्त-परिवार अनेक परम्परागत कार्य करता था। धीरे-धीरे परिवार के परम्परागत कार्य अन्य संस्थाओं तथा समितियों को हस्तान्तरित हो गए। इतना ही नहीं, बल्कि परिवार का महत्त्व घट गया। लोग संयुक्त रहना अनावश्यक समझने लगे। कई दम्पत्ति तो संयुक्त-परिवार में रहना हानिकारक समझने लगे। बच्चों का अच्छा पालन-पोषण तथा स्वय के सुख नाभिक परिवार में ज्यादा सुविधाजनक लगने लगे। इस प्रकार संयुक्तता का घटना स्वाभाविक हो गया। शिक्षा,

मनोरंजन, कपड़ा, भोजन, व्यवसाय, खाने-पीने की सामग्री आदि की व्यवस्था पहिले संयुक्त-परिवार करता था। अब अन्यत्र पूरी की जा सकती है। व्यक्ति संयुक्त-परिवार पर निर्भर नहीं है। इससे सयुक्त-परिवार का विभाजन बढ़ गया।

8 **पारिवारिक झगडे** (Family Quarrels)—संयुक्त-परिवार में अनेक सदस्य साथ-साथ रहते हैं। उनमे परस्पर झगड़े होते रहते हैं। कर्वे ने लिखा है कि भाइयों में सम्पत्ति को लेकर आज भी महाभारत का युद्ध होता है। स्त्रियों मे अनेक बातों पर मन-मुटाव, कहासुनी तथा झगडे होते रहते हैं। बच्चे आपस में लड़ते हैं और उनके कारण बड़े भी लड़ जाते हैं। सयुक्त-परिवार मे होने वाले आए दिन के झगड़ों से बचने का एक ही समाधान है—नाभिक परिवार। पारिवारिक झगडों से बचने के लिए लोग अलग घर बसाकर रहना पसन्द करते हैं।

9 **महिला आन्दोलन** (Feminist Movement)—महिला आन्दोलन ने स्त्रियो मे जागृति पैदा कर दी है। वे अपने स्वयं के अस्तित्व को समझने लगी हैं। वे शिक्षा ग्रहण करने लगी हैं। व्यवसायों में आने लगी हैं। स्वयं के शोषण के प्रति जागृत हो गई हैं। प्रेम-विवाह करने लगी हैं। घर की चारदीवारी के बाहर जीवन जीने लगी हैं। शिक्षित तथा व्यवसाय करने वाली स्त्रियाँ सयुक्त-परिवार में रहना पसन्द नहीं करती हैं। वे अपने पति को अलग घर बसाने के लिए मजबूर करती हैं। इससे नाभिक परिवारों की सख्या बढ़ी है तथा संयुक्त-परिवारो का विभाजन हो रहा है।

संयुक्त-परिवार में परिवर्तन के अध्ययन
(Studies of Changes in Joint-Family)

सयुक्त-परिवार समाजशास्त्र मे एक महत्त्वपूर्ण संस्था तथा समिति है। इसका समय-समय पर विभिन्न सस्थाओं और विद्वानो ने अध्ययन किया है। अनेक कारकों का इस पर प्रभाव पड़ा है और इसमे परिवर्तन हुए हैं। परिवार की सरचना और कार्यों में परिवर्तन हुआ है या नहीं? इस पर समाजशास्त्रियो ने अध्ययन करके निष्कर्ष दिए हैं। निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण और अध्ययन हैं जिनके आधार पर सयुक्त-परिवार के परिवर्तन की प्रक्रिया, प्रकृति और उनकी दिशा और दशा का पता लगाने का प्रयास किया जाएगा।

1 **जनगणना रिपोर्ट** (Census Report)—गैट (Gait) ने 1911 की भारतवर्ष की जनगणना रिपोर्ट के आधार पर निष्कर्ष निकाला है कि संयुक्त-परिवारो मे विघटन की प्रवृत्ति दिखाई देता है। आपका कहना है कि संयुक्त-परिवारों की बहुलता केवल उच्च जातियो में ही है तथा जनजातियो और निम्न-जातियों मे विवाह के बाद पुरष अलग घर बना कर रहते हैं। उनमें सयुक्त-परिवार-प्रथा कम है। 1911 और 1951 की जनगणना के आँकड़ों से यही निष्कर्ष निकलता है कि छोटे-छोटे परिवारो की संख्या बढ़ रही है। लोगों की प्रवृत्ति अलग घर बसा कर रहने की बढ़ रही है। परम्परागत प्रथाओ के अनुसार अब सयुक्त-परिवार नहीं चल पा रहे हैं।

2 **के. टी. मर्चेन्ट का अध्ययन** (Study of K T Merchant)—इनका अध्ययन "चेन्जिग व्यूज़ ऑन मेरेज एण्ड फेमिली" है। आपने 1930-32 मे 446 स्नातको का अध्ययन

किया था। आपके इस अध्ययन के अनुसार लोग संयुक्त-परिवार में रहना पसन्द करते हैं। स्त्रियाँ संयुक्त-परिवार के विरोध में अधिक पाई गई और पुरुष कम पाए गए। यह अध्ययन पचास साल पुराना है। इसके निष्कर्ष आज के सन्दर्भ में पुनः जाँचे जाने चाहिएँ।

3. **ए. डी. रॉस का अध्ययन** (Study of A D. Ross)—इनका अध्ययन "हिन्दू फेमिली इन इट्स अरबन सेटिंग" है। आपने बैंगलोर के उच्च एवं मध्यम वर्ग के 157 स्त्री-पुरुषों का अध्ययन किया था। आपने अध्यनन में पाया कि प्रौद्योगिक कारक संयुक्त-परिवार को परिवर्तित कर रहे हैं।

4. **एम. एस. गोरे का अध्ययन** (Study of M S. Gore)—आपका अध्ययन "अरबनाइजेशन एण्ड फेमिली चेन्ज" है। यह अध्ययन दिल्ली और हरियाणा के आस-पास के ग्रामों तथा नगरों के 499 अग्रवाल परिवारों का है। आपने पाया कि लोगो का झुकाव संयुक्त-परिवार के पक्ष मे है तथा शिक्षा एवं नगरीय प्रभाव संयुक्त-परिवार को बदल रहा है।

5. **के. एम. कापड़िया का अध्ययन** (Study of K M Kapadıa)—आपका अध्ययन "रूरल फेमिली पेटर्न : ए स्टडी इन अरबन-रूरल रिलेशनशिप" सोशियोलोजिकल बुलेटिन, वाल्यूम V, नं. 2 (सितम्बर, 1956) है। आपने परिवार के प्रतिमानों का नवासारी कस्बे और 15 गाँवों में तुलनात्मक अध्ययन किया। अध्ययन के निष्कर्ष में पाया कि कस्बे मे ग्रामो की तुलना में संयुक्त-परिवार अधिक हैं तथा इनका आकार भी गाँवों की तुलना में बड़ा है।

6 **आई. पी. देसाई का अध्ययन** (Study of I P. Desaı)—इनके अध्ययन का शीर्षक है—"सम आस्पेक्ट्स ऑफ फेमिली इन महुवा।" आपने सौराष्ट्र के महुवा कस्बे के 423 परिवारों का अध्ययन किया था। इस अध्ययन में आपने परिवार की संयुक्तता का सम्बन्ध धर्म, जाति, ग्राम, नगर, आय, व्यवसाय तथा शिक्षा के स्तर के साथ देखा। इन्होंने निष्कर्ष निकाला कि परिवार की संयुक्तता का धर्म भेद, जाति भेद का स्तर और नगरीयकरण के साथ कोई गुण-सम्बन्ध नहीं है। व्यापार और कृषि के व्यवसाय और सम्पत्ति परिवार की संयुक्तता का प्रतिशत बढ़ाते हैं। आपने आवास के आधार पर 28 प्रतिशत नाभिक परिवार तथा 72 प्रतिशत सयुक्त-परिवार पाए।

7. **बी. वी. शाह का अध्ययन** (Study of B V Dhah)—आपका अध्ययन "सोशियल चेन्ज एण्ड कॉलेज स्टूडेण्ट्स ऑफ गुजरात" है। आपने संयुक्त-परिवार के प्रति विचार मालूम करने के लिए 200 छात्रों का अध्ययन किया तथा पाया कि 84 प्रतिशत संयुक्त-परिवार के प्रति सहमति रखते हैं तथा 16 प्रतिशत विरोध में विचार रखते हैं।

8. **ए. एम. शाह का अध्ययन** (Study of A. M Shah)—आपने अपने अध्ययन "बेसिक टर्म्स एण्ड कनसेप्ट्स इन दा स्टडी ऑफ फेमिली इन इण्डिया" में तथ्यों के आधार पर बताया कि संयुक्त-परिवार छोटे कस्बों की विशेषता है। के. एम. कापड़िया ने भी इस कथन का समर्थन किया है।

9. **योगेन्द्र सिंह का अध्ययन** (Study of Yogendra Sıngh)—आपने अपनी कृति "माडर्नाजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन" में गोरे, कापड़िया, आई.पी. देसाई, मुरडॉक तथा कर्वे

के संयुक्त-परिवार की संरचना से सम्बन्धित विचारों, अध्ययनो आदि का विवेचन करने के बाद निम्न निष्कर्ष दिया है—"हालाँकि संयुक्त-परिवार की संरचना पूरे भारत मे फैली हुई है और संयुक्तता की भावना निरन्तर मजबूत है फिर भी इसमें क्षेत्रीय अन्तर हैं।"

10. **मोरिशन का अध्ययन** (Study of Morrison)—मोरिशन ने बादलपुर और तालुका शहर मे 85ब तथा पूना शहर में 75ब नाभिक परिवार पाए। आपके अनुसार भारत के अन्य क्षेत्रो मे भी नाभिक परिवार अधिक हैं।

11 **पी. एम. कोलिण्डा का अध्ययन** (Study of P M Kolenda)—आपने परिवार के प्रकारो के वितरण का अध्ययन बत्तीस प्रकाशनों के आधार पर किया है जो भारतवर्ष के तेरह क्षेत्रों के परिवारो की रचना से सम्बन्धित हैं। ये विभिन्न क्षेत्र पश्चिमी बंगाल, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, राजस्थान, काश्मीर, मध्य प्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा, मद्रास, मैसूर और केरल हैं। कोलिण्डा ने इनसे सम्बन्धित निम्न सार दिए हैं—(1) गगा के मैदानों के ग्रामीण क्षेत्रो मे संयुक्त-परिवार अधिक हैं तथा मध्य भारत, महाराष्ट्र और आन्ध्र प्रदेश में कम हैं। काश्मीर के ब्राह्मण, गुजरात की उच्च जाति के पट्टीदार, उडीसा के ब्राह्मण तथा केरल के नायरो मे 60ब सयुक्त-परिवार हैं।

12 **एस. सी. दुबे के विचार** (Views of S C Dube)—आपका कहना है कि परिवार के प्रकार तथा संरचना में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। सरल-परिवार विस्तृत-परिवार मे विकसित हो जाता है और फिर सरल-परिवारो मे टूट जाता है। वृद्ध माता-पिता अपने किसी पुत्र के साथ फिर रहने लग जाते हैं। सरल परिवार से विस्तृत और फिर विस्तृत परिवार से सरल परिवार मे परिवर्तन खूब होता रहता है। पूर्ण तीन पीढ़ी के विस्तृत परिवार बहुत कम हैं तथा अनेक सरल परिवार भी तकनीकी रूप से बहुत समय तक सरल नहीं रह पाते हैं। दुबे का उपर्युक्त निष्कर्ष एक वास्तविक तथ्य है। कुछ वर्षों तक परिवार के परिवर्तन की दशा और दिशा यही रहेगी।

संयुक्त-परिवार का बदलता स्वरूप : निरन्तरता एवं परिवर्तन

(Changing Patterns of Joint-Family : Continuity and Changes)

वर्तमान समय में सयुक्त-परिवारो की संरचना एवं कार्य अनेक रूपो में बदल चुके हैं। आज प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन-स्तर को उन्नत करने मे लगा हुआ है, इसमे अनेक कारक महत्त्वपूर्ण भूमिका रखते हैं। जिनका प्रभाव परिवारों पर किस दिशा में पड़ा है? और सयुक्त-परिवारो में कैसा बदलाव आ रहा है? इस सन्दर्भ मे विस्तार से विचार किया जाएगा।

(1) संयुक्त-परिवार की संरचना में परिवर्तन (Change in Structure of Joint-Family)—संयुक्त-परिवार से सम्बन्धित अनेक अध्ययन अभी तक किए जा चुके हैं। उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकले हैं कि सयुक्त-परिवारों की सरचना मे अनेक प्रकार के बदलाव आ रहे हैं जो निम्नलिखित हैं—

1.1 छोटा आकार—संयुक्त-परिवार की विशेषता है कि परिवार का बड़ा आकार होता है जिसमें तीन या उससे अधिक पीढ़ियो के लोग साथ-साथ रहते हैं। वर्तमान समय मे

परिवारों का आकार छोटा हो गया है जिसमे एक पीढ़ी अर्थात् पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे ही साथ रहते हैं इसका प्रमुख कारण यह है कि जैसे ही व्यक्ति विवाह-बन्धन में बँधता है, वह अपना जीवन-स्तर ऊँचा करना चाहता है, बच्चो को उच्च शिक्षा दिलाना चाहता है। संयुक्त-परिवार में उसकी जिम्मेदारियाँ अधिक हो जाती हैं, जिनको पूरा करने के साथ-साथ वह अपने बच्चों व पत्नी की इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर पाता है अत: वह माता-पिता से अलग रहना चाहता है।

1.2 अलग निवास स्थान—मुख्य निवास से इतर कहीं अन्य स्थानो पर नौकरी अथवा व्यवसाय आदि के कारण व्यक्तियों को अलग रहना पड़ता है। कुछ लोग माता-पिता के साथ न रहने के कारण भी अलग रहना पसन्द करते हैं इससे नवयुवक परिवार के बुजुर्गों, पड़ौसियो आदि को महत्त्व नहीं देते। नाते-रिश्तेदारों के प्रति भी उनकी आत्मीयता कम हुई है। सयुक्त-परिवारों में जो नियंत्रण रखा जाता था वह भी हटा है। अब लोग अलग रहकर अपने स्वयं के सम्बन्ध बनाने लगे हैं और किसी का बन्धन नहीं स्वीकारते हैं।

1.3 स्त्रियों की समान स्थिति—संयुक्त-परिवारों में महिलाओं की स्थिति पुरषों की तुलना में निम्न थी। वे घर की चारदीवारी मे रहकर खाना बनाने, बच्चों के पालन-पोषण मे व घर के अन्य कार्यों तक ही सीमित थीं। उनके वैधानिक अधिकार भी सीमित थे। स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार-प्रचार बढ़ने के परिणमस्वरूप उनकी स्थिति में आशातीत परिवर्तन आया है। पढ़कर वे आत्मनिर्भर हुई हैं, वैधानिक रूप से उन्हे पुरषों के समान अधिकार मिले हैं, अब वे घर और बाहर—दोनों उत्तरदायित्व बखूबी निभा रही हैं इससे पुरुषों का वर्चस्व भी कम हुआ है। आज स्त्रियाँ भी आर्थिक दृष्टि से अपना योगदान देकर परिवार के स्तर को उन्नत कर रही हैं। महिला-शिक्षा का प्रसार अधिक होने से उनकी स्थिति सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में पुरुषों के समान होती जा रही है।

1.4 विवाह के स्वरूप में परिवर्तन—संयुक्त-परिवार में विवाह सम्बन्ध घर के बुजुर्ग या माता-पिता द्वारा तय किये जाते थे, किन्तु वर्तमान समय में लड़के-लड़कियाँ स्वयं जीवन-साथी का चुनाव कर लेते हैं। अब बाल-विवाह नहीं होते, वयस्क हो जाने पर, शिक्षित हो जाने पर व अपना आर्थिक भार उठा सकने की स्थिति आने पर ही नवयुवक-नवयुवतियाँ विवाह करना पसन्द करते हैं। इससे विलम्ब-विवाह, प्रेम-विवाह व अन्तर्जातीय-विवाह का प्रचलन बढ़ा है। विधवा-पुनर्विवाह होने लगे हैं। अब विवाह का अर्थ दो परिवारों का सम्बन्ध न रहकर दो व्यक्तियों तक सीमित रह गया है। युवा-वर्ग कभी-कभी माता-पिता के सहयोग से विवाह सम्बन्ध तय करते हैं, किन्तु उसमें भी सबकी स्वीकृति व सहमति आवश्यक नहीं होती है। विवाहोपरान्त नव-दम्पति अलग गृहस्थी बसाकर रहते हैं।

1.5 पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन—सयुक्त-परिवार में सदस्यों के बीच आत्मीयता के सम्बन्ध पाए जाते थे। सभी एक-दूसरे के हितों का ध्यान रखते थे किन्तु वर्तमान में परिवार में सम्बन्धों में बदलाव आ गया है अब मात्र औपचारिकता रह गई है। हर सदस्य अपनी पत्नी और बच्चों तक सीमित हो गया है। घनिष्ठता और आत्मीयता का अभाव हो गया है। इससे

पारस्परिक स्नेह भी कम हुआ है। यह सब दूर दूर रहने का परिणाम है। पहले सामूहिक निवास स्थान था, सम्पत्ति भोजन सभी सामूहिक था। अब सबका अपना-अपना निवास स्थान है अतः पारिवारिक एकता न रहकर सबका विभाजन हो गया है, फलस्वरूप सम्बन्धो मे भी औपचारिकता आ गई है।

1 6 **परिवार के मुखिया की स्थिति में परिवर्तन**—संयुक्त परिवार मे मुखिया की आज्ञा के बिना कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नही होते थे किन्तु वर्तमान समय मे नई पीढी बुजुर्गो को महत्त्व नहीं देती—व्यक्तिगत निर्णय लेकर कोई भी बडा काम कर सकती है। यह नहीं, परिवार के मूल्यो मे भी परिवर्तन आ गया है। पहले व्यक्ति की पारिवारिक सदस्यता महत्त्वपूर्ण थी न कि उसके कार्यो या व्यवसायो का महत्त्व दिया जाता था किन्तु अब पद-प्रतिष्ठा का महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है, बडो का निर्णय मानना नई पीढी के लिए आवश्यक नहीं रह गया है। यह एक बडा परिवर्तन पारिवारिक सम्बन्धो मे आया है।

2 **सयुक्त-परिवार के कार्यो मे परिवर्तन**—सयुक्त-परिवार की संरचना मे परिवर्तन होने के साथ-साथ उसके कार्यो मे बदलाव आया है। ये बदलाव सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक व मनोरजनात्मक सभी कार्यो मे आया है—जो इस प्रकार है।

2 1 **शिक्षा व संस्कृति सम्बन्धी कार्यो में परिवर्तन**—कुछ समय पूर्व सयुक्त-परिवार बालको को शिक्षा प्रदान करने, उन्हे पारिवारिक मूल्यो, परम्पराओ, रीतिरिवाजों एव सस्कृति सम्बन्धी कार्यों की जानकारी देने का कार्य करते थे, किन्तु वर्तमान समय मे शिक्षा का कार्य शिक्षण सस्थाओ ने ले लिया है और सस्कृति के कार्य भी सस्कृतिक सस्थाएँ सम्पन्न करने लगी हैं। शिक्षा के प्रसार ने अनेक प्रथाओ, रीति रिवाजो को आज अमान्य भी सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार सयुक्त-परिवार के कार्यो का हस्तान्तरण अन्य सस्थाओ को किया जा रहा है।

2 2 **धार्मिक कार्यो में परिवर्तन**—पहले सयुक्त-परिवारो मे यज्ञ, हवन, पूजा-अर्चना, व्रत-उपवास और कीर्तन आदि को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। परिवार धार्मिक कार्यों की स्थली थी जो बालको पर सुसस्कार डालते थे। स्त्रियाँ घरो मे अनेक त्योहार, धार्मिक-उत्सव मनाती थीं किन्तु वर्तमान समय मे धार्मिक कार्यो का महत्त्व घट गया है। न तो लोगो के पास पूजा-अर्चना, हवन आदि को करने के लिए समय है, न ही उनकी श्रद्धा। त्योहारो पर भी अब औपचारिकता मात्र नजर आती है। नई पीढी इन्हें महत्त्वहीन मानती है।

2 3 **आर्थिक कार्यो में परिवर्तन**—प्राचीन समय मे संयुक्त-परिवार सभी सदस्यो की आर्थिक आवश्यकताओ को पूरा करते थे। उस समय श्रम का विभाजन विशेष नहीं होता था। किसी भी व्यक्ति को व्यवसाय मे दक्ष बनाया जा सकता था। अर्थात् व्यवसाय उसके परिवार की स्थिति से निर्धारित होता था किन्तु आज के समय मे इस स्थिति मे बदलाव आ गया है अब अन्य सस्थाएँ एवं सरकार व्यक्ति को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करती है जिसके लिए विशेष कुशलता की आवश्यकता होती है अर्थात् जहाँ पहले परिवार ही उत्पादन और उपभोग की इकाई था, अब वह केवल उपभोग की इकाई तक सीमित रह गया है।

2 4 **मनोरंजनात्मक कार्यों में परिवर्तन**—संयुक्त परिवारो में मनोरंजन के साधन तीज-त्योहार, लोक-गीत, नृत्य आदि थे किन्तु अब इनका स्थान आज सिनेमा, वी सी. आर, टेलीविजन, क्लब आदि ने लिया है। पहले मनोरंजन के लिए हँसी-मजाक आदि को अच्छा माना जाता था अब पैसा खर्च करके स्वस्थ्य मनोरंजन की व्यवस्था की जाती है।

इस प्रकार सयुक्त-परिवारों में संरचना और कार्य दोनो ही दृष्टियों से पर्याप्त परिवर्तन आये हैं फिर भी अनेक कार्यों मे अभी भी संयुक्त-परिवारो की अहम् भूमिका होती है, जैसे—शादी-विवाह, त्योहार या अन्य किसी धार्मिक पर्व पर सभी लोग अपने पैतृक निवास स्थान पर पहुँचते हैं।

संयुक्त-परिवार का भविष्य
(Future of the Joint-Family)

संयुक्त-परिवारों में संरचना एवं कार्यो की दृष्टि से अनेक परिवर्तन आ चुके हैं जिन्हे देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य में ये परिवार समाप्तप्राय हो जायेंगे। इसका प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक शक्तियाँ, जैसे—नगरीकरण, औद्योगीकरण व शिक्षा आदि अपना प्रभुत्व स्थापित कर रही हैं इसलिए कुछ विद्वानों का मानना है कि सयुक्त-परिवार भविष्य में विघटित नहीं होगे, वरन् इनका रूपान्तर हो जाएगा। जैसाकि आज भी यही देखने मे आता है कि सयुक्त-परिवार अभी तक शहरो में भी समाप्त नहीं किए हुए, उनका रूप अवश्य परिवर्तित हो रहा है। इसका भविष्य क्या होगा, इस विषय मे अनेक विद्वानो ने अध्ययन कर अपने-अपने निष्कर्ष दिए हैं। आर. एन. सक्सेना का मानना है, "वर्तमान संयुक्त-परिवार का वास्तविक स्वरूप एक प्रकार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धी में है न कि सम्मिलित निवास-स्थान, सम्पत्ति और रसोई में। यह निश्चित है कि आज सयुक्त-परिवार के विभाजन की सख्या बढ गई है, किन्तु आज भी हिन्दू परिवार वृद्ध माता-पिताओं को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करते हैं और कुसमय में व्यक्ति को आर्थिक और सामाजिक सरक्षण प्रदान करते हैं, विधवा व परित्यक्ताओ को प्राय: अपने माता-पिता के यहाँ ही शरण मिलती है, अनेक परिवारो में पुत्रियो और बहिनो की सन्तानें परिवार के सदस्य के रूप में रहती हैं।. . "

वर्तमान समय में संयुक्त-परिवार के परम्परागत लक्षणो, जैसे—कई पीढ़ियों का साथ-साथ रहना, संयुक्त रसोई, सम्पत्ति का सह-स्वामित्व, धार्मिक एव पारिवारिक अनुष्ठानो मे सम्मिलित रूप से भाग लेना आदि में परिवर्तन हो रहे हैं, किन्तु अलग-अलग रहकर भी यदि एक परिवार के सदस्य परस्पर कर्त्तव्य-परायण रहकर एक सूत्र में बँधे रहते हैं तो उनको संयुक्त-परिवार का ही सदस्य माना जाएगा। इन्द्रदेव ने सयुक्त-परिवार के विषय मे लिखा है कि **संयुक्त-परिवार की संरचना में परिवर्तन हो रहा है किन्तु उसके कार्यात्मक पक्ष में परिवर्तन नहीं हो रहा।** वास्तविकता यह है कि सयुक्त-परिवार टूटकर व्यक्तिगत परिवार नहीं बन रहे हैं, बल्कि परिवार के बहुत-से ऐसे प्रकार बन रहे हैं, जो न पूर्णतया संयुक्त-परिवार में ही रखे जा सकते हैं और न ही एकाकी परिवार में।

कापडिया का मत है, "हिन्दू मनोवृत्तियाँ आज भी संयुक्त परिवार के पक्ष मे है, तथापि आज भी बदली हुई परिस्थितियो मे नगरीय क्षेत्रो मे सयुक्त-परिवार को अपने परम्परागत रूप मे बनाए रखना सम्भव नहीं है। इतना अवश्य है कि ग्रामीण समाज की सरचना ओर कृषि-प्रधान अर्थव्यवस्था आज भी सयुक्त-परिवार के समक्ष यह स्थिति है कि एक ओर औद्योगीकरण के कारण शहर मे जाकर जीविका कमाने वाला व्यक्ति अपने गाँव मे परिवार के लिए रुपये बचाकर नहीं भेज पाता इसमे गाँव मे उसके सम्बन्ध तनावपूर्ण हो जाते हैं, दूसरी ओर नई पीढ़ी किसी प्रकार के नियन्त्रण को अपने ऊपर स्वीकार नहीं करती। इससे सास-बहू के मध्य तनाव संघर्ष रहता है। यदि दोनो स्थितियो पर नियन्त्रण पर लिया जाए तो सयुक्त-परिवारो का भविष्य उज्ज्वल हो सकेगा।

योगेन्द्र सिंह का परिवर्तित पारिवारिक संरचना के विषय मे यह मानना है, "भारत मे सयुक्त परिवारो की सरचना एव प्रकार्यों मे परिवर्तन एक समन्वयात्मक-प्रतिमान का अनुसरण कर रहे है। एक ऐसा प्रतिमान, जो कि भारतीय समाज मे संरचनात्मक परिवर्तनो मे सर्वसामान्य है। उदाहरण के लिए—नगरो में जीवन-साथी के चुनाव मे व्यक्तिगत स्वतन्त्रता होते हुए भी माता-पिता की स्वीकृति ली जाती है। इसी प्रकार मध्यमवर्गीय परिवार मे पत्नी को घर से बाहर काम करने की स्वतन्त्रता होते हुए भी पति के अथवा पत्नी के माता-पिता अथवा पति की स्वीकृति आवश्यक होती है। इससे परिवार मे बिना तनाव के समन्वय बना नहीं रह पाता है। इन परिवर्तनो के उपरान्त भी परिवार मे सयुक्तता पाई जाती है।

आन्द्रेबिताई की दृष्टि मे हिन्दू समाज मे अलग-अलग क्षेत्रो मे परिवार-सरचना भिन्न-भिन्न हैं। आपके मत मे सम्पूर्ण समाज मे संयुक्त-परिवार प्रतिमान नहीं पाया जाता है, बल्कि अध्ययनो के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भू-स्वामी जातियों मे बड़े परिवार अधिक सामान्य हैं जबकि निम्न-जातियो मे नाभिक परिवार तुलनात्मक दृष्टि से अधिक हैं। इसी प्रकार कुछ व्यापारिक समुदायो मे भी सयुक्त-परिवार अधिक मिलते हैं।

गुडे ने भारतीय परिवार के सम्बन्ध मे निष्कर्ष रूप मे बताया है, "एक निश्चित दिए हुए समय पर अधिकाश भारतीय परिवारो की सयुक्त बनावट नहीं, फिर भी यह तथ्य प्रमाणित नहीं करता कि काफी परिवर्तन आया है, क्योंकि अधिकाश परिवार भूतकाल में भी सयुक्त नहीं थे, फिर भी भारतीय मूल्य और प्रवृत्तियाँ अब भी सामान्यत: संयुक्त-परिवार के पक्ष में हैं और संयुक्त-परिवार में अनेक महत्त्वपूर्ण सरचनात्मक परिवर्तन फिर भी हो रहे हैं।"

रामकृष्ण मुखर्जी ने कहा है कि भारतीय समाज मे केन्द्रीय प्रवृत्ति सयुक्त-परिवार-सगठन को बनाए रखने की है।

आई. पी. देसाई, एस. सी. दुबे व अन्य समाजशास्त्रियो का मानना है कि नाभिक परिवार और सयुक्त-परिवार चक्र मे एक अवस्था हैं। संयुक्त-परिवार से पृथक् होने वाले परिवार प्रारम्भ मे एकाकी-परिवार के रूप में होते हैं और कालान्तर मे वे ही सयुक्त-परिवार के रूप मे विकसित हो जाते हैं। अत: एकाकी-परिवार को पारिवारिक संरचना न मानकर, सयुक्त-परिवार-व्यवस्था का प्रारम्भिक चरण मानना चाहिए।

आधुनिक समय मे औद्योगीकरण के फलस्वरूप परिवार सकारात्मक रूप से प्रभावित हुआ है फिर भी संयुक्त-परिवार का स्थायित्व इस पर अधिक आधारित है कि परिवार में झगड़े, तनाव व मनमुटावों को कैसे हल किया जाता है?

संयुक्त-परिवार में सास-श्वसुर के बहू के साथ कैसे सम्बन्ध हैं? पति-पत्नी, माता-पिता व अन्य पारिवारिकजनो के साथ आत्मीयता के सम्बन्ध होनमे पर लोग संयुक्त-परिवार में रहना अधिक पसन्द करते हैं। वर्तमान समय की आवश्यकता भी यही है कि संयुक्त-परिवारों के अवगुणों और रूढ़ियो को समाप्त कर इसके मौलिक स्वरूप को अपनाया जाए, क्योंकि संयुक्त-परिवार ही अपने सदस्यो को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। प्रसव के समय, अस्वस्थता-बीमारी के समय, परिवार ही सदस्यों के लिए सहायक होता है। आई. पी. देसाई के अनुसार भारत मे संयुक्त-परिवारों का भविष्य यह है कि इनका विघटन न होकर इनमे परिवर्तन हो रहे हैं, और परिवर्तित रूप में यह जीवित अवश्य रहेगा।

वास्तव में संयुक्त-परिवार में अनुशासन और नियन्त्रण पर अधिक जोर दिया जाता है। वृद्धजनों की आज्ञा का पालन करना, परिवार के प्रतिमानो पर चलना और सहकारिता आदि संयुक्त-परिवार के आधार हैं। नई पीढ़ी प्रजातान्त्रिक भावनाओ से ओतप्रोत है, शिक्षित व आत्मनिर्भर भी है। उसका संघर्ष पुरानी पीढी से चलता रहता है क्योकि उसका रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा और विचार आदि सभी मे भिन्नता होती है। यदि संयुक्त-परिवार-व्यवस्था को बनाए रखना है तो पुरानी सीढ़ी को नवीन पीढ़ी के प्रति उदारता रखनी होगी और नई पीढ़ी को भी किसी सीमा तक संयुक्त-परिवार के सामाजिक सम्बन्धो के प्रतिमानो के साथ तादात्म्य करना होगा। दो पीढ़ियो में संघर्ष होने पर भी संयुक्त-परिवार में ममता की भावना है। विभिन्न विद्वानों के अध्ययन और निष्कर्ष यह स्पष्ट करते हैं कि संयुक्त-परिवार का भविष्य एकदम धुँधला नहीं है, परिवर्तित रूप मे यह अवश्य बने रहेगे।

❐

अध्याय-13

नातेदारी : अर्थ, प्रकार एवं व्यवहार, संवैधानिक प्रावधान एवं निर्योग्यताएँ

(Kinship : Meaning, Types and Behaviour, Constitutional Provisions and Restrictions)

समाज के संगठन और व्यवस्था से सम्बन्धित अनेक पक्ष तथा विशेषताएँ हैं, जिनका अध्ययन समाज को समझने के लिए करना अत्यावश्यक है। समाजों की सामाजिक संरचना का निर्माण नातेदारी द्वारा होता है। हम समाजो की किसी भी बात को तब तक नहीं समझ सकते जबतक कि सम्बन्धित समाज की नातेदारी व्यवस्था का पूर्ण ज्ञान नहीं हो। नातेदारी की विशेषताएँ— समरक्त तथा विवाह सम्बन्ध, आयु भेद, लिंग भेद, पीढ़ी भेद आदि आदिम समाज की सभी उप-व्यवस्थाओं तथा कार्यों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करते हैं। विभिन्न व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्ध, कर्त्तव्य और अधिकार, सत्ता आदि भी नातेदारी के द्वारा निश्चित किये जाते हैं। विभिन्न सम्बन्धियो के परिहार, परिहास, उत्तराधिकार, गोत्र तथा विवाह के प्रकार भी नातेदारी की सहायता से परिभाषित किये जाते हैं। सारांशत: यह कहा जा सकता है कि समाजों का शायद ही कोई पक्ष ऐसा है जो नातेदारी के बिना वर्णित तथा परिभाषित किया जा सकता है। समाज के पारिवारिक, वैवाहिक तथा अन्य सभी क्षेत्र नातेदारी के द्वारा ही तय किये जाते हैं। इस उपर्युक्त पृष्ठभूमि से स्पष्ट हो जाता है कि आदिम समाजो को समझने के लिए नातेदारी का अर्थ, परिभाषा, विशेषताएँ, प्रकार, संज्ञाएँ आदि का क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित अध्ययन करना अत्यावश्यक है, जो निम्न प्रकार है—

नातेदारी का अर्थ एवं परिभाषा

चार्ल्स विनिक के अनुसार, "नातेदारी व्यवस्था में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त वे सम्बन्ध आ सकते हैं जो कि माने हुए एव रक्त-सम्बन्धों पर आधारित हों।"

रैडक्लिफ-ब्राउन के अनुसार, "नातेदारी सामाजिक उद्देश्यो के लिए स्वीकृत वंश सम्बन्ध है जो कि सामाजिक सम्बन्धों के परम्परागत सम्बन्धों का आधार है।"

रिवर्स के मत मे "नातेदारी की मेरी परिभाषा उस सम्बन्ध से है जो वशावलियो के माध्यम से निर्धारित तथा वर्णित की जा सकती है।"

नातेदारी व्यवस्था समाज द्वारा मान्यता प्राप्त अमूर्त व्यवस्था है जो मानव चेतना मे विद्यमान होती है। यह विवाह, मान्य सम्बन्ध तथा वशावलियो के द्वारा निर्धारित तथा वर्णित होती

है। यह एक प्रकार से प्रस्थिति और भूमिकाओं की जटिल प्रथाएँ हैं। नातेदारी व्यवस्था को समझने के लिए इसकी विशेषताओं का अध्ययन करना आवश्यक है, जो इस प्रकार हैं—

1. नातेदारी व्यवस्था समाज द्वारा स्वीकृत सम्बन्धों की व्यवस्था है।
2. यह अमूर्त व्यवस्था होती है जो मानव चेतना में विद्यमान होती है।
3. प्रजनन तथा वंशावलियों के द्वारा निर्धारित और वर्णित की जाती है।
4. यह प्रस्थिति और भूमिकाओं की जटिल प्रथाएँ हैं।
5. इसमें सम्बन्धों के आधार रक्त सम्बन्ध, विवाह, और गोद सम्बन्ध होते हैं। हैं जो समाज द्वारा मान्यता प्राप्त होते हैं।

समाज मे नातेदारी सम्बन्धों के लिए सामाजिक मान्यता का प्रमाण-पत्र होना अत्यावश्यक है। नातेदारी में ऐसे अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं जिसमें सावयवी या जैविक तथ्य नगण्य होते हैं। एक दम्पत्ति के सन्तान नहीं होने पर वह किसी अन्य की सन्तान गोद ले लेते हैं तो वह सन्तान इस नए परिवार में सारे अधिकार समाज की मान्यता के अनुसार प्राप्त कर लेती है तथा पहिले वाले परिवार में सारे अधिकार समाप्त हो जाते हैं। मजूमदार तथा मदन ने उदाहरण दिया है कि **टोडाओं** में बहुपति विवाह होते हैं। उसमें उत्पन्न सन्तान का वही पिता कहलाता है जो पैतृकता निर्धारण का संस्कार पूरा करता है। इस संस्कार को **'परसुतपिमी'** कहते हैं जिसमें भाई अपनी संयुक्त पत्नी को तीर-कमान भेट मे देता है। जो भाई भेंट करता है संयुक्त पत्नी की सन्ताने उसी की कहलाती हैं चाहे वह लम्बे समय से बाहर गया हुआ हो या मर चुका हो। अन्य भाइयो से पैदा होने वाली सन्तानो का पिता केवल वह भाई माना जाता है जिसने यह संस्कार पूरा किया है। इसमें जैविक तथ्य महत्त्वपूर्ण नहीं है, सामाजिक आरोपित तथ्य महत्त्वपूर्ण हैं। नातेदारी व्यवस्था में समाज द्वारा मान्यता प्राप्त विवाह, रक्त तथा गोद सम्बन्धों का परिवार के तथा अन्य सम्बन्धियो के निर्धारण मे प्रमुख भूमिका होती है।

नातेदारी के भेद

नातेदारी के निम्न दो भेद हैं—

(1) विवाह सम्बन्धी नातेदारी और

(2) रक्त सम्बन्धी नातेदारी।

(1) विवाह-सम्बन्धी नातेदारी—नातेदारी मे प्रथम प्रकार का सम्बन्ध वैवाहिक सम्बन्ध है जो सामाजिक या कानूनी आधार पर मान्य होना चाहिए। इसे विवाह सम्बन्धी नातेदारी कहते हैं और इससे सम्बन्धित सम्बन्धियों (पति-पत्नी आदि) को विवाह सम्बन्धी स्वजन कहते हैं। इन सम्बन्धियों को परस्पर संबोधित करने वाली कडी या बन्धन विवाह होता है, जब एक पुरुष का विवाह होता है तो उसका अन्य अनेक व्यक्तियों से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जैसे—पति, दामाद, जीजा, फूफा, मौसा, साढ़ू, बहनोई आदि। इसी प्रकार स्त्री भी पत्नी, बहू, भाभी, चाची, मामी देवरानी, जिठानी, सलेज आदि विवाह के द्वारा बन जाती है। विवाह के द्वारा दो व्यक्ति तथा दो परिवार और उनके सदस्य परस्पर सम्बन्धों मे बंध जाते हैं। ये सम्बन्ध अनेक युगल के रूप में होते हैं, जैसे—पति-पत्नी, दामाद-ससुर, जीजा-साला, जीजा-साली, मौसा-भान्जा, साढ़ू-साढ़ू, साला-बहनोई, सास-बहू, ससुर-पुत्र-वधु, देवर-भाभी, चाची-भतीजा, चाची-भतीजी, मामी-भान्जा, मामी-भान्जी, ननद-भाभी, देवरानी-जिठानी आदि। विवाह द्वारा परस्पर समस्त सम्बन्धी नातेदारी में विवाह सम्बन्धी नातेदार कहलाते हैं।

(2) रक्त-सम्बन्धी नातेदारी—नातेदारी में द्वितीय प्रकार का सम्बन्ध रक्त-सम्बन्ध है जो सामाजिक या कानूनी आधार पर मान्य होना चाहिए। इसे रक्त-सम्बन्धी नातेदारी कहते हैं। इन सम्बन्धियों को परस्पर सम्बन्धित करने वाली कड़ी या बंधन रक्त-सम्बन्ध होता है, इसमें सम्बन्धी जन्म, रक्त तथा गोद सम्बन्धों से सम्बन्धित होते हैं। इस प्रकार के सम्बन्धों का आधार जैविकीय तथा समाज की मान्यता होना आवश्यक है। जैसे—नैतिक तथा अनैतिक सन्तान तथा गोद ली गई सन्तान इसके उदाहरण हैं। गोद ली गई सन्तान जन्म किसी भी परिवार में लेती है तथा सामाजिक तथा कानूनी अधिकार किसी और परिवार में। इसी प्रकार से अनैतिक सम्बन्धो से सम्बन्धित स्त्री-पुरुषो की सन्तान प्राणिशास्त्रीय आधार पर उनकी होते हुए भी समाज तथा कानून उसे अनैतिक सन्तान मानता है। उनमे पिता-पुत्र, माता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है, जबकि गोद ली गई सन्तान के पिता-पुत्र, माता-पुत्र आदि सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं तथा जिस परिवार में जन्म होता है उससे उसके सारे सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं। एक व्यक्ति के रक्त सम्बन्धी पिता, माता, भाई, बहिन, चाचा, ताऊ, बुआ, दादा, दादी, मामा, मौसी आदि होते हैं। रक्त, जन्म तथा गोद सम्बन्धो से सम्बन्धित सम्बन्धी नातेदारी मे रक्त-सम्बन्धी नातेदार कहलाते हैं।

नातेदारी की श्रेणियाँ

सभी समाजो में व्यक्ति अनेक सम्बन्धियो से सम्बन्धित होता है। ये सम्बन्ध किसी से कम तथा किसी से अधिक निकटता के होते हैं। नातेदारी मे इन सम्बन्धो की निकटता तथा दूरी का अध्ययन करने के लिए मुरडॉक ने सम्बन्धियो के निम्न चार प्रकार वर्गीकृत किये गये हैं

मुरडॉक : नातेदारी की श्रेणियाँ

प्राथमिक सम्बन्धी — द्वितीयक सम्बन्धी — तृतीयक सम्बन्धी — दूर के सम्बन्धी
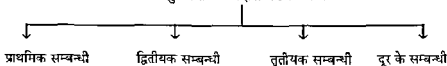
1. प्राथमिक सम्बन्धी (Primary Relatives)—कर्त्ता के प्राथमिक सम्बन्धी वे होते हैं जिनसे कर्ता का सीधा सम्बन्ध होता है। तथा बीच मे अन्य कोई मध्यस्थ सम्बन्धी नहीं होता है। पति तथा पत्नी केवल मात्र ऐसे प्राथमिक सम्बन्धी हैं जो विवाह के बन्धन से परस्पर जुड़े होते हैं। अन्य कोई भी वैवाहिक सम्बन्धी प्राथमिक सम्बन्धी नहीं होता है। अन्य सभी छः प्राथमिक सम्बन्धी रक्त से परस्पर सम्बन्धित होते हैं। ये हैं—पिता, माता, पुत्र, पुत्री, भाई और बहिन। इन्हे निम्न चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—
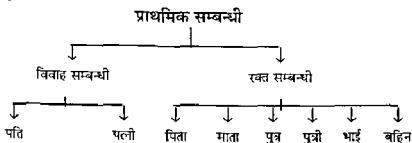
प्राथमिक सम्बन्धियों के युगल निम्न होंगे—(1) पति-पत्नी, पिता-पुत्र, पिता-पुत्री, माता-पुत्र, माता-पुत्री, भाई-भाई, बहिन-बहिन और भाई-बहिन। प्राथमिक सम्बन्धी संख्या में कुल 8 हो सकते हैं।

2. द्वैतीयक सम्बन्धी—कर्त्ता के द्वैतीयक सम्बन्धी वे होते हैं जो कर्त्ता के प्राथमिक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी होते हैं परन्तु कर्त्ता से सीधे सम्बन्धित नहीं होते हैं, जैसे—कर्त्ता के पिता का पिता। कर्त्ता अर्थात् पुत्र का पिता से प्राथमिक सम्बन्ध तथा पिता का अपने पिता (कर्त्ता के दादा) से प्राथमिक सम्बन्ध कर्त्ता के दादा द्वैतीयक सम्बन्धी हो गए। इसी प्रकार अन्य रक्त सम्बन्धी कर्त्ता की दादी, नाना, नानी, ताऊ, चाचा, पोता, पोती सम्बन्धी हैं। इसी प्रकार पत्नी या पति के सभी प्राथमिक सम्बन्धी (जो कर्त्ता के प्राथमिक सम्बन्धी नहीं हैं) आदि द्वैतीयक कर्त्ता के द्वैतीयक सम्बन्धी कहलाते हैं; जैसे—ससुर, सास (पति या पत्नी की माता), साला (पत्नी का भाई), साली, देवर, जेठ आदि। इसी प्रकार सौतेली माता, सौतेला पिता, सौतेला भाई आदि भी कर्त्ता के द्वैतीयक सम्बन्धी होते हैं। द्वैतीयक सम्बन्धी संख्या मे कुल 33 होते हैं।

3. तृतीयक सम्बन्धी—व्यक्ति के तृतीयक सम्बन्धी वे होते हैं जो प्राथमिक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी के प्राथमिक सम्बन्धी होते हैं। जैसे—पिता के पिता का पिता अर्थात् परदादा तृतीयक सम्बन्धी कहलाता है। इसी प्रकार परपोता (बेटे के बेटे का बेटा), परनाना (माता की माता का पिता) आदि। मुरडॉक ने तृतीय सम्बन्धियों की कुल संख्या 151 होती है।

4. दूर के सम्बन्धी—तृतीयक सम्बन्धी के प्राथमिक, द्वैतीयक आदि सम्बन्धी कर्त्ता के दूर के सम्बन्धी कहलाते हैं। इन्हें दूर के सम्बन्धियों की श्रेणी में इसलिए रखा है क्योंकि इनसे कर्त्तव्य और अधिकार के संदर्भ में पारस्परिक सम्बन्ध, अन्तःक्रिया आदि बहुत कम तथा प्रभावहीन-सी होती है।

सम्बन्ध संज्ञाएँ/शब्दावली

व्यक्तियों मे परस्पर सम्बन्ध होते हैं। वे एक-दूसरे से आयु, लिंग, पीढ़ी, आदि के द्वारा सम्बन्धों में बँधे होते हैं। मानव एक ऐसा प्राणी है जिसके पास भाषा है। इस भाषा का प्रयोग मानव ने इन सम्बन्धों तथा सम्बन्धियों को संज्ञाओं के द्वारा व्यक्त करने के लिए किया है। **मजूमदार तथा मदन** के अनुसार, "सम्बन्ध सूचक शब्द ऐसी संज्ञाएँ होती हैं, जिनका प्रयोग विभिन्न प्रकार के सम्बन्धों के उल्लेख के लिए किया जाता है।" **मॉर्गन** ने संसार के अनेक समाजो की नातेदारी शब्दावली के अध्ययन के आधार पर इसे निम्न दो प्रकारों मे विभाजित किया है। ये हैं— (1) वर्गीकृत संज्ञाएँ, और (2) विशिष्ट संज्ञाएँ।

(1) वर्गीकृत संज्ञाएँ—वर्गीकृत संज्ञाएँ वे नातेदारी के शब्द होते हैं जिनमें सम्बन्धियो के एक समूह को सम्बोधित या परिभाषित किया जाता है। ये शब्द सम्बन्धी की तुलना मे सम्बन्ध के द्योतक अधिक होते हैं। वर्गीकृत संज्ञा के अनेक उदाहरण हैं, जैसे—अंग्रेजी भाषा का शब्द अंकल (Uncle) एक वर्गात्मक शब्द है जिसका उपयोग—चाचा, ताऊ, मामा, मौसा, फूफा आदि के लिए किया जाता है। ऐसे ही ग्रांडफादर (दादा और नाना), कजन (चचेरे, ममेरे, मौसेरे भाई-बहिन), पेरेन्ट (पिता व माता) आदि शब्द हैं जो एक से अधिक सम्बन्धियों के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।

(2) विशिष्ट संज्ञाएँ—विशिष्ट संज्ञाएँ नातेदारी की वे संज्ञाएँ अथवा शब्द हैं जो एक विशिष्ट सम्बन्धी के लिए प्रयुक्त की जाती हैं। इसमे सम्बन्धियो के वर्ग को सम्बोधित नहीं किया जाता है बल्कि निश्चित सम्बन्धी को इंगित किया जाता है, जैसे—माता, पिता, दादा, नाना, दादी, नानी, पुत्र, पुत्री, चाचा, ताऊ आदि ऐसी विशिष्ट संज्ञाओ के उदाहरण हैं।

नातेदारी संज्ञाओं के लक्षण

वर्गीकृत सज्ञा तथा विशिष्ट संज्ञाओ मे निम्न लक्षणों के आधार पर अन्तर किया जा सकता है। ये क्रोबर तथा लोई ने दिए हैं— **1. आयु भेद**—विशिष्ट संज्ञा में आयु भेद होता है तथा वर्गीकृत मे नहीं होता है। चाचा तथा ताऊ विशिष्ट संज्ञाएँ हैं। ये क्रमश: पिता के छोटे तथा बड़े भाई के लिए प्रयोग की जाती हैं। इस दृष्टिकोण से मामा, बुआ, मौसी मे यह अन्तर स्पष्ट नहीं होता है, इसलिए ये वर्गीकृत सज्ञाएँ हैं। **2. लिंग भेद**—विशिष्ट संज्ञा में लिंग भेद होता है, जैसे—माता, पिता, बच्चा, बच्ची, पुत्र, पुत्री आदि। अंग्रेजी भाषा की संज्ञाएँ—पेरैण्ट, चाइल्ड, कजन मे लिंग भेद नहीं है। **3. पीढ़ी भेद**—विशिष्ट संज्ञा मे पीढी भेद होता है जैसे—दादा (पिता का पिता), दादी (पिता की माता), नाना (माता का पिता), नानी (माता की माता), आदि। वर्गीकृत संज्ञा मे यह भेद लुप्त हो जाता है, जैसे—ग्राड फादर—पिता और माता दोनो के पिता के लिए प्रयोग होता है, ग्राड मदर—दादी और नानी दोनो के लिए प्रयोग होता है। इसी प्रकार अकल शब्द चाचा, ताऊ, मामा, मौसा, फूफा सभी के लिए प्रयोग किया जाता है। **4. वैवाहिकता**—सम्बन्धियो को दो वर्गों—विवाह सम्बन्धी और रक्त-सम्बन्धी—मे विभाजित किया जाता है। इसी के आधार पर नातेदारी संज्ञाएँ भी वर्गीकृत की जाती हैं। *जब किसी सज्ञा मे यह भेद नहीं रहता है तो वह वर्गीकृत सज्ञा कहलाती है।* जिन समाजो मे ममेरे, फूफेरे भाई-बहिनो का विवाह होता है उसमे भान्जी या बहिन की पुत्री बाद मे पुत्र-वधु बन जाती है। इसलिए ऐसे समाजों मे भान्जी तथा पुत्र-वधु के लिए एक ही सज्ञा का प्रयोग किया जाता है और वह वर्गीकृत सज्ञा होती है। **5. समवाहिता**—एक पीढी में अनेक सम्बन्धी होते हैं। कुछ घनिष्ठ सम्बन्धी होते हैं तो कुछ दूर के सम्बन्धी होते हैं। इसी प्रकार कुछ प्राथमिक, द्वैतीयक तथा तृतीयक सम्बन्धी होते हैं। जब निकटता तथा दूर के घनिष्ठ तथा अघनिष्ठ सम्बन्धियो के लिए एक ही नातेदारी सज्ञा का प्रयोग किया जाता है तो वही वर्गीकृत संज्ञा कहलाती है तथा उसमें समवाहिता होती है। सेमा नागाओ मे माता, चाची, ताई, मौसी के लिए 'अजा' संज्ञा का प्रयोग किया जाता है। इस संज्ञा में प्राथमिक सम्बन्धी (माता), द्वैतीयक सम्बन्धी मौसी तथा तृतीयक सम्बन्धी चाची तथा ताई तीनो को एक वर्ग मे रखा गया है, जबकि सम्बन्धो मे भेद है। **6. सीमा विभाजन**—व्यक्ति के सम्बन्धियो का क्रम पुरुष की दिशा में तथा माता की दिशा मे चलता है। जैसे पिता का प्राथमिक तथा द्वितीयक सम्बन्धी तथा माता के प्राथमिक तथा द्वैतीयक सम्बन्धी के क्रम मे होते हैं तथा उनके लिए भिन्न-भिन्न संज्ञाओ का प्रयोग किया जाता है। हिन्दू समाज मे पिता पक्ष में दादा, दादी तथा माता के पक्ष मे नाना, नानी आदि सम्बन्धी होते हैं। अंग्रेजी भाषा मे इन सम्बन्धियो के लिए ग्राण्ड फादर शब्द का प्रयोग दादा, नाना तथा ग्राण्ड मदर का प्रयोग दादी, नानी के लिए किया जाता है। ये अंग्रेजी के शब्द वर्गीकृत सज्ञाएँ कहलाते हैं क्योंकि इनमे सीमा-विभाजन के नियम का पालन नहीं किया जाता है। **7. ध्रुवता**—समाज में दो सम्बन्धियो में परस्पर सम्बन्धों को प्रदर्शित तथा व्यक्त करने के लिए भिन्न-भिन्न संज्ञाओं को प्रयुक्त किया जाता है। सामान्यतया दो सम्बन्धी आपस मे एक-दूसरे के लिए अलग-अलग संज्ञाओ का

प्रयोग करते हैं। लेकिन कभी-कभी दोनों ही एक-दूसरे के लिए एक ही संबोधन या संज्ञा का प्रयोग करते हैं। दो बहिनों के पति एक-दूसरे के लिए सादू शब्द का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार वर के पिता तथा वधु के पिता एक-दूसरे के लिए समधी तथा उनकी माताएँ एक-दूसरे के लिए समधन शब्द का प्रयोग करती हैं। 8. **वक्ता का लिंग**—पिता को उसका पुत्र तथा पुत्री एक ही संज्ञा—'पिता' संज्ञा—से संबोधन करते हैं। इसी प्रकार दोनों ही लिंग के व्यक्ति अन्य सम्बन्धियों को एक ही संज्ञा से सबोधित करते हैं, जैसे—मामा, मामी, मौसा, मौसी, भानजा, भानजी—एक ही संज्ञा से पुकारते हैं। कुछ जनजातियों में जैसे **हैदा** जनजाति मे पिता को पुत्र एक संज्ञा से तथा पुत्री दूसरी संज्ञा से संबोधित करते हैं। 9. **मृत्यु का तथ्य**—एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति का सम्बन्धी कई प्रकार से होता है। वैवाहिक जीवन साथी के रक्त-सम्बन्धियों से व्यक्ति के सम्बन्ध जीवित अवस्था में एक प्रकार के तथा जीवन साथी की मृत्यु होने पर दूसरे प्रकार के हो जाते हैं। जैसे—कुछ जनजातियों में पति जब जीवित होता है तो पति का छोटा भाई देवर होता है तथा पति की मृत्यु होने पर वही देवर पति बन जाता है जिसे देवर-विवाह कहते हैं। ऐसे अनेक सम्बन्ध हैं जो सम्बन्धी के जीवित होने पर एक प्रकार का तथा मृत्यु होने पर सम्बन्ध बदल जाता है

नातेदारी की रीतियाँ

व्यक्ति समाज मे रहता है। वह अनेक प्रकार से एक-दूसरे से सम्बन्धित होता है। सम्बन्ध स्नेह, प्यार, प्रीति, सम्मान आदि के रूप में होते हैं जो आयु के अन्तर तथा लिंग भेद के अनुसार निश्चित होते हैं। विवाह होने पर पत्नी-पति के सम्बन्धो का प्रतिमान सामने आता है। उनमें परस्पर सम्बन्ध प्रेम-प्यार के होते हैं। इसी के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध एक पुरुष के रूप में ससुराल में श्वसुर, सास, साला, साली आदि से होते हैं जिनके अनुसार उसे व्यवहार करना होता है। इसी प्रकार वधु का अपने ससुराल में श्वसुर, सास, जेठ, देवर आदि से सम्बन्ध कैसे होंगे इनको नातेदारी रीतियाँ निश्चित और संचालित करती हैं। यहाँ पर कुछ महत्त्वपूर्ण नातेदारी की रीतियो का वर्णन किया जा रहा है।

1. परिहार

परिहार दो सम्बन्धियों के बीच सीमित सम्बन्धो को निश्चित तथा नियन्त्रित करता है, जैसे—पुत्र-वधु तथा सास एवं श्वसुर के पारस्परिक सम्बन्ध। कई समाजो मे दामाद तथा सास का सम्बन्ध परिहार माना जाता है। कुछ मानवशास्त्रियों ने परिहार रीतियो की व्याख्या की है तथा उसके महत्त्व पर भी प्रकाश डाला है। **मजूमदार** तथा **मदान** ने लिखा है, "पुत्र-वधु और सास-श्वसुर तथा दामाद और सास-श्वसुर के बीच किसी-न-किसी प्रकार का परिहार सभी समाजो में पाया जाता है।" आपने यह भी लिखा है कि यह सार्वभौम स्वजन प्रथा है।" परिहार के द्वारा सम्बन्धियों पर कुछ व्यवहार सम्बन्धी सीमाएँ लागू की जाती हैं जैसे एक-दूसरे को नहीं देखना, बातचीत नहीं करना, आमने-सामने नहीं आना, सम्बन्धियो के नाम नहीं लेना आदि। सामान्यतया परिहार के सम्बन्ध निम्न सम्बन्धियों के युग्मों में मिलते हैं—(1) सास-दामाद, (2) सास-बहु, (3) श्वसुर-पुत्रवधु, (4) श्वसुर-दामाद, (5) भाई-बहिन, (6) ज्येष्ठ एवं छोटे भाई की पत्नी, (7) बहनोई और पत्नी की बड़ी बहिन।

वैवाहिक सम्बन्धियो—सास-दामाद, सास-बहु, श्वसुर-बहु, श्वसुर-दामाद, ज्येष्ठ एवं छोटे भाई की पत्नी तथा बहनोई और बडी साली मे परिहार सम्बन्ध मिलते हैं। किन्हीं समाजो मे अधिक तो किन्हीं मे कम मात्रा मे परिहार प्रचलित है। हिन्दू समाज में वधु अपने ससुर तथा अन्य वैवाहिक वृद्ध सम्बन्धियो के सामने घूँघट निकालती है। बहु अपने पति के बड़े रक्त सम्बन्धियों श्वसुर, जेठ आदि का नाम नहीं ले सकती है।

परिहार के सम्बन्ध मे विभिन्न मानवशास्त्रियो, समाजशास्त्रियों तथा मनोवैज्ञानिको की व्याख्याएँ मिलकर जो महत्त्व प्रस्तुत करती हैं उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि परिहार व्यक्ति, परिवार तथा समाज मे सन्तुलन तथा शान्ति के लिए आवश्यक है। जनजातियो मे परिहार श्रद्धा, सम्मान तथा आदर को भी प्रदर्शित करने का माध्यम माना जाता है।

2. परिहास या हँसी-मजाक के सम्बन्ध

मजूमदार तथा मदन ने परिहास सम्बन्धो पर प्रकाश डालते हुए लिखा है, "परिहार सम्बन्धो के ठीक विपरीत, परिहास सम्बन्धो द्वारा व्यक्त होने वाली अनन्य प्रगाढ़ता पाई जाती है। परिहास के अन्तर्गत गाली-गलौज, हँसी मजाक, यान सम्बन्धी अश्लील और भद्दे कथन, एक-दूसरे की सम्पत्ति की क्षति, खिल्ली-मजाक आदि का समावेश होता है।"

रेडक्लिफ-ब्राउन के अनुसार, "परिहास-सम्बन्ध दो व्यक्तियो का वह सम्बन्ध है जिसमे प्रथा द्वारा एक पक्ष को यह छूट रहती है और कभी-कभी उससे यह माँग की जाती है कि वह दूसरे पक्ष को तग करे, छेडे या उससे मजाक करे पर दूसरा पक्ष इसका कुछ भी बुरा नहीं माने।"

परिहास समाज मे मनोरजन, निकटता, पारस्परिक स्नेह आदि को भी बढ़ाता है। इसके द्वारा सामाजिक नियन्त्रण एव सुधार भी किया जाता है।

3. माध्यमिक संबोधन

अनेक समाजों मे एक सम्बन्धी अपने निकट सम्बन्धी का नाम नही ले सकता है। सम्बन्धी का नाम लेना या पुकारना निषिद्ध होता है। उसे सम्बोधित करने के लिए व्यक्ति किसी और सम्बन्धी को माध्यम बना कर पुकारता है। इसीलिए ऐसे सम्बोधनो को जिनमे किसी माध्यम का सहारा लिया जाता है माध्यमिक सबोधन कहा जाता है। भारत के ग्रामो मे पत्नी अपने पति का नाम नहीं ले सकती है। पत्नी को जब अपने पति को संबोधन करना होता है तो वह अपने पुत्र या पुत्री का नाम लेकर 'उनके पिताजी' जोड कर सबोधन करती है जैसे यदि पुत्र का नाम 'रामू' हैतो पत्नी अपने पति को 'रामू के पिताजी' कहकर सबोधित करेगी।

मजूमदार और मदन के अनुसार, "सम्पूर्ण ग्रामीण भारत, कुछ एक जनजातियो, जैसे—खासी और ससार के अनेक भागो के आदिम समाजो मे एक ऐसी प्रथा पाई जाती है जिसके अन्तर्गत पिता या माँ एक-दूसरे को नाम से नहीं बल्कि अपने बेटे/बेटी के नाम को साथ जोडकर (जैसे अमुक के पिता या अमुक की माँ) पुकारते हैं। ऐसे अनुनाम के कारण ही इस प्रथा को अनुनामिता कहा जाता है।" लोवी का मत है कि विभिन्न समाजो मे इस प्रथा के विकास के कारण अलग-अलग हैं। आपने कहा है कि कुछ समाजो में इस प्रथा के विकास का कारण पुरुषों या स्त्रियों की गिरी हुई स्थिति है तो कुछ जनजातियो मे संज्ञाओ की कमी के कारण माध्यमिक सबोधनो का प्रचलन बढा है।

4. मातुलेय

नातेदारी व्यवस्था की मातुलेय एक महत्त्वपूर्ण रीति है। इसमें व्यक्ति के जीवन मे जो भूमिका, कर्त्तव्य, अधिकार, उत्तरदायित्व आदि पिता से सम्बन्धित होते हैं वे उससे नही होकर मामा के साथ होते हैं। मातुलेय व्यवस्था में पिता के स्थान पर मामा महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ऐसा मातृसत्तात्मक समाजों में होता है। **हॉबल** ने इसकी संक्षिप्त परिभाषा देते हुए लिखा है, "माता के भाई (मामा) और बहिन की सन्तानो (भान्जा-भान्जी) के बीच विशेष सम्बन्धो को जटिलता मातुलेय कहलाता है।" जिन परिवारो मे सत्ता पिता के स्थान पर मामा के पास होती है, भान्जे-भान्जी मामा के संरक्षकत्व में रहते हैं। सम्पत्ति मामा से भान्जे को हस्तांरित होती है। भान्जे-भान्जियों का दायित्व मामा के कन्धों पर होता है। वंश मामा से भान्जे को हस्तांरित होता है। भान्जा पिता के स्थान पर मामा की सेवा करता है, इस प्रकार की व्यवस्था तथा प्रथा को मातुलेय या मातुल सत्तात्मक, मातुल स्थानीय आदि कहते हैं।

5. पितृश्वसा अधिकार/बुआ अधिकार

पितृश्वसा अधिकार में व्यक्ति के लिए बुआ (पिता की बहिन) का सर्वोपरि स्थान होता है। भतीजा अपनी बुआ की सेवा करता है। बुआ को सम्मान देता हे। बुआ की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी होता है। जिस प्रकार से मातृसत्तात्मक परिवार में मामा महत्त्वपूर्ण होता है तथा मातुलेय परिवार मे मामा सब कुछ होता है। उसी प्रकार से **'बैंक्सद्वीप'** मे बुआ अधिक महत्त्वपूर्ण तथा विशेषाधिकार प्राप्त सत्ताधारी स्त्री होती है जो अपने भतीजे के सारे कर्त्तव्य और अधिकारो का उपयोग करती है। बुआ भतीजे को अपनी सम्पत्ति, सत्ता आदि हस्तान्तरित करती है। बच्चे का नामकरण संस्कार (टोडा) जनजाति मे बुआ सम्पन्न करती है। कुछ जनजातियों में भतीजे का दाह संस्कार बुआ करती है। भतीजे के लिए वधु का चयन तथा विवाह बुआ करती है। जिसमें सभी कर्त्तव्य, अधिकार, वश परम्परा, सम्पत्ति, उत्तराधिकार आदि बुआ-भतीजे के बीच नियन्त्रित, निर्देशित तथा संचालित होते हैं, उसे पितृश्वसा, पितृभागिनी या बुआ अधिकार कहते हैं।

6. सह-प्रसविता या सहकष्टी

सह-प्रसविता प्रथा कुछ जनजातियों मे एक महत्त्वपूर्ण नातेदारी रीति है। **हॉबल** के अनुसार, "यह एक रीति है जिसमे पत्नी के जब सन्तान होती है तब पति बिस्तर पर ऐसे लेट जाता है मानो उसके अभी बच्चा होके चुका है।" सहप्रसविता प्रथा का सम्बन्ध प्रसव काल से है। कुछ जनजातियों, जैसे—खासी, टोडा आदि मे यह प्रथा प्रचलित है। इस प्रथा के अन्तर्गत यह माना जाता है कि पत्नी को जब प्रसव हो तब पति उन सब कष्टों का अनुभव करे, वही सब कुछ खाए पिए, वैसा ही व्यवहार करे जैसा उसकी पत्नी उस काल मे करती है। पति अपनी प्रसवा पत्नी की तरह से उसी कमरे में उसके साथ रहता है, निषेधों का पालन करता है। प्रसव पीडा के कारण पत्नी चिल्लाती हे तो पति भी चिल्लाता है। पति को भी पत्नी की तरह नदी पार नहीं करने दिया जाता है। ऐसा भारत की खासी जनजाति में है। वह भी बच्चा पदा होने तक स्त्री की तरह से कपड़े नहीं धो सकता है। सन्तान पैदा होने के बाद दोनो देवी-देवताओ की पूजा साथ-साथ करने के बाद ही नदी पार कर सकते हैं, कपड़े धो सकते हैं।

सह-प्रसविता के कारण तथा धारणाएँ कुछ विद्वानो ने बताई हैं, (1) **मैलिनोव्स्की** ने इसे एक सामाजिक क्रिया माना है जिसका उद्देश्य पति-पत्नी के वैवाहिक सम्बन्धों को घनिष्ठ

बनाना है तथा पैतृक प्रेम को प्राप्त करना है। (2) **रेगलन** की धारणा है कि वह विवाह संस्था के उद्विकास का एक कारण है। (3) **श्यामा चरण दुबे** के अनुसार, "इस प्रथा के मूल में ऐसा सामाजिक कारण जान पड़ता है कि जो व्यक्ति इतने कष्ट सहता है, वह पुरुष उस सन्तान का पिता बनने का अधिकारी हो जाता है। यह सदैव आवश्यक नहीं है कि यह पिता जैविक पिता भी रहा हो। टोडा समाज में इस प्रथा को धनुष-बाण की भेंट देकर पूरा किया जाता है।" दुबे के अनुसार सह-प्रसविता प्रथा पिता बनने का अधिकार प्राप्त करने की रीति है।

(4) आदिवासियों में अन्ध-विश्वास होता है कि बच्चे पर कोई जादू-टोना नहीं कर दे, कोई कष्ट नहीं आ जाए। इसके लिए उसके पिता को भी सुरक्षित रखने के लिए पति पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिए जाते हैं। (5) आदिम समाजो मे पति द्वारा सन्तान के प्रति अपने कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व व्यक्त करने की सह-प्रसविता एक प्रथा है। (6) आदिवासी मानते हैं कि पत्नी के साथ पति प्रसव के समय रह कर प्रेत-आत्माओ का आकर्षण अपनी ओर खींच लेता है। (7) ऐसा करके पति अपनी पत्नी के प्रसव के कष्ट को कम कर देता है, जो कि सह-प्रसविता की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है। कुल मिलाकर इसे आदिम समाजो की एक अनोखी प्रथा कहा जा सकता है जिसका उनके सामाजिक जीवन मे महत्त्व है।

नातेदारी की भूमिका एवं महत्त्व

विद्वानो ने नातेदारी के निम्न महत्त्व बताए हैं—

1. विवाह का निर्धारण—व्यक्ति जिस समाज का सदस्य है उस समाज में प्रचलित नातेदारी व्यवस्था के आधार पर विवाह तय किये जाते हैं। किसी समाज मे एक प्रकार के विवाह को वरीयता दी जाती है तो दूसरे समाज मे वह विवाह निषिद्ध होता है। यह सब कुछ नातेदारी की परम्परानुसार ही सचालित होता है। नातेदारी व्यवस्था ही विवाह की परिभाषा, विशेषताएँ, उद्देश्य, प्रकार आदि को निर्धारित करती है। इस प्रकार नातेदारी विवाह के निर्धारण में प्रमुख भूमिका निभाती है।

2. परिवार का निर्धारण—परिवार में संगठन, एकता, सहयोग आदि बनाये रखने के लिए अनेक नातेदारी की परम्पराएँ होती हैं। परिवार के विभिन्न सदस्यों के परस्पर सम्बन्ध, कर्त्तव्य, अधिकार, श्रम का विभाजन आदि आयु, लिंग, पीढ़ी आदि लक्षणों के आधार पर किये जाते हैं। नातेदारी इन लक्षणों के आधार पर परिवार मे सदस्यो की स्थिति तथा भूमिका को तय करती है। अगर नातेदारी प्रथाओ का पालन नहीं किया जाये तो परिवार परिवार नहीं कहलायेगा। परिवार को व्यवस्थित, सतुलित, संगठित तथा सरचित बनाये रखने का कार्य नातेदारी के द्वारा ही होता है। नातेदारी '**परिवार का मेरुदंड**' है।

3. वंश का निर्धारण—परिवार मे पति-पत्नी होते हैं। माता-पिता होते हैं। बड़ी पीढ़ी और छोटी पीढी होती है जो वशो से सम्बन्धित होते हैं। इनका वर्गीकरण, प्रकार तथा पूर्वज एवं वशज का क्रम नातेदारी के द्वारा परिभाषित किया जाता है। समाज में व्यवस्था के लिए पितृ-वंश, मातृ-वंश तथा द्वि-वंशों का वर्गीकरण तथा क्रम नातेदारी के स्तरों—आयु-लिंग-पीढ़ी भेद आदि के द्वारा किया जाता है। वंश विभाजन समाज की संरचना तथा संगठन के लिए आवश्यक होते हैं जो नातेदारी की प्रमुख भूमिका के अन्तर्गत आते हैं।

4. उत्तराधिकार एवं पदाधिकार का निर्धारण—नातेदारी व्यवस्था में वंश-परम्परा के अनुसार परिवार के सम्बन्धियों में उत्तराधिकार के क्रम का निर्धारण होता है। नातेदारी यह निश्चित करती है कि एक व्यक्ति की सम्पत्ति तथा पद उसकी मृत्यु के बाद किसको हस्तान्तरित होगा। विभिन्न समाजों में यह भिन्न-भिन्न होता है। पितृवंशीय समाज में नातेदारी के अनुसार पिता के पुत्र को सम्पत्ति तथा उत्तराधिकार हस्तान्तरित होते हैं। मातृवंशीय समाज में माता से पुत्री को उत्तराधिकार हस्तान्तरित होते हैं। इसी प्रकार से सत्ता का हस्तान्तरण नातेदारी ही समाज में संचालित करती है। यह पितृसत्तात्मक, मातृसत्तात्मक, मातुलेय तथा पितृश्वश्रेय होती है। नातेदारी की समाज में वंश तथा उत्तराधिकार को निर्धारित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

5. सामाजिक दायित्वों का निर्वाह—समाजों में नातेदारी व्यक्ति के सामाजिक कर्त्तव्यों को परिभाषित करती है तथा उन्हें पूर्ण करने के लिए सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था करती है। जिस प्रकार से सम्पत्ति के उत्तराधिकारी की वरीयता नातेदारी तय करती है उसी प्रकार से विभिन्न सामाजिक उत्तरदायित्व भी वरीयता के अनुसार नातेदारी तय करती है। किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर उसकी विधवा पत्नी तथा सन्तानों की सुरक्षा का उत्तरदायित्व नातेदारी द्वारा निर्धारण होता है। यह सब सम्बन्धित समाज की नातेदारी प्रथा निश्चित तथा निर्धारित करती है।

6. आर्थिक हितों की सुरक्षा—नातेदारी सामाजिक हितों के साथ-साथ व्यक्ति के आर्थिक हितों, संरक्षण तथा वित्तीय सहायता की व्यवस्था भी करती है। नातेदारी के अनुसार जो सम्बन्धी जितना अधिक किसी से निकट होगा, आर्थिक संकट में वह उतना ही अधिक आर्थिक सहायता करने में तत्पर पाया जायेगा। परम्परागत संयुक्त परिवार में तो सभी सदस्यों की आय एक स्थान पर एकत्र की जाती है तथा मुखिया आवश्यकतानुसार प्रत्येक सदस्य के आर्थिक हितों की रक्षा करता है। कौन किसकी कितनी सहायता करेगा यह नातेदारी की परम्परानुसार निर्धारित होता है।

7. मानसिक सन्तोष—नातेदारी के द्वारा विभिन्न रक्त-सम्बन्धी तथा वैवाहिक-सम्बन्धी आपस में एक-दूसरे से घनिष्ठता अनुभव करते हैं। संयुक्त परिवार के रूप में साथ-साथ एक छत के नीचे रहते हैं। साथ-साथ पूजा-पाठ करते हैं। एक चूल्हे का बना भोजन करते हैं। सम्पत्ति सामूहिक होती है। इस प्रकार से उन्हें आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक सुरक्षा मिलती है। यह व्यक्ति को मानसिक संतोष प्रदान करती है। नातेदारी अनेक रिश्तेदारों को साथ-साथ रहने के लिए बाध्य करती है। जिस व्यक्ति के नाते-रिश्तेदार नहीं होते हैं वह अपने को अकेला अनुभव करता है। उसे मानसिक सन्तोष नहीं मिलता है। नातेदारी के द्वारा, सम्बन्धियो का क्षेत्र व्यापक हो जाता है। उनको विभिन्न प्रकार से मानसिक सन्तोष मिलता रहता है।

नातेदारी से सम्बन्धित संवैधानिक प्रावधान एवं निर्योग्यताएँ

नातेदारी के अन्तर्गत विवाह, परिवार, वंश, उत्तराधिकार एवं पदाधिकार का निर्धारण, गोद लेने की व्यवस्था, सामाजिक एवं आर्थिक दायित्वों का निर्वाह तथा मानसिक सन्तोष आदि आते हैं। भारत में समय-समय पर इन उपरोक्त वर्णित विषयों से सम्बन्धित निर्योग्यताओं के सुधार के लिए अनेक संवैधानिक प्रावधान किए जाते रहे हैं। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण सुधारों का वर्णन प्रस्तुत है—

(1) सती-प्रथा निषेध अधिनियम, 1829—1829 से पूर्व भारत मे सती प्रथा का प्रचलन था। विधवा स्त्री को मृत पति के साथ चिता मे जल जाने के लिए बाध्य किया जाता था। इस प्रथा को रोकने के लिए 1829 मे 'सती प्रथा-निषेध अधिनियम बनाया गया।

(2) हिन्दू विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम, 1856—1856 से पूर्व हिन्दू समाज मे धार्मिक मान्यताओं के आधार पर विधवा विवाह पर पूर्ण प्रतिबन्ध को इस अधिनियम के द्वारा पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान किया गया।

(3) बाल-विवाह विच्छेद अधिनियम, 1929—इस सवैधानिक प्रावधान के द्वारा पूर्व मे प्रचलित बाल विवाहो को रोकने का प्रयास किया गया तथा विवाह कि आयु लड़के के लिए 18 वर्ष तथा लड़की के लिए 15 वर्ष आवश्यक थी। अब कानून द्वारा लड़के की आयु 21 वर्ष तथा लड़की की आयु 18 वर्ष निश्चित की गई है।

(4) हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार, 1937—इस अधिनियम के द्वारा स्त्रियो को सम्पत्ति मे अधिकार प्रदान किए गए। इससे पूर्व इनको सम्पत्ति मे कोई अधिकार नहीं था।

(5) अलग रहने और भरण-पोषण हेतु स्त्रियो का अधिकार अधिनियम, 1946—1946 मे कुछ विशेष परिस्थितियो में पति से अलग रहने वाली स्त्रियों को भरण-पोषण सम्बन्धी अधिकार दिए गए जो निश्चित की गई परिस्थितियो मे ही मिल सकते थे।

(6) विशेष विवाह अधिनियम, 1954—इस अधिनियम के द्वारा विभिन्न धर्मों व जातियो के बीच लोगो को परस्पर विवाह की अनुमति प्रदान कर दी गई है।

(7) हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955—इस अधिनियम मे नातेदारी से सम्बन्धित अनेक सवैधानिक प्रावधान लागू किए गए हैं जो इस प्रकार हैं—

(i) एक विवाह को माफ किया गया है तथा बहु-विवाह को निषेधात्मक श्रेणी मे रखा गया है। (ii) दोनो पक्ष निषेधात्मक सम्बन्धो की श्रेणी मे न आते हो अर्थात् उनमें निकट रक्त सम्बन्ध न हो। (iii) दोनो पक्ष सपिण्ड न हो। (iv) इस अधिनियम की धारा 10 के अनुसार कुछ आधारों पर पति-पत्नी को अलग रहने की आज्ञा दी जाती है। बाद में न्यायिक पृथक्करण की व्यवस्था का प्रावधान भी है। (v) पहले विवाह को जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध माना जाता था परन्तु इस अधिनियम के अन्तर्गत विवाह विच्छेद की व्यवस्था प्रदान की गई है, जिसके निश्चित आधार हैं।

(8) हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956—पहले उत्तराधिकार से सम्बन्धित दो प्रणालियाँ—मिताक्षरा और दायभाग थी। जिनके अनुसार स्त्रियो को सम्पत्ति का उत्तराधिकार प्राप्त नहीं था। इस अधिनियम के पारित होने के बाद मृत की सम्पत्ति पर स्त्रियो को अधिकार प्रदान किया गया है तथा मिताक्षरा और दायभाग के नियमो को समाप्त कर दिया गया है।

(9) हिन्दू नाबालिग तथा संरक्षता अधिनियम, 1956—इस अधिनियम से पूर्व नाबालिग बच्चे के पिता की मृत्यु होने पर संरक्षक बनने का अधिकार केवल पितृपक्ष को ही था। अब इसमें अनेक सुधार किए गए हैं जैसे—सरक्षकों में पिता का पहला स्थान तथा माता का दूसरा होगा। दोनो की मृत्यु की स्थिति मे सरक्षक न्यायालय नियुक्त करेगा।

(10) हिन्दू दत्तक ग्रहण और भरण-पोषण अधिनियम, 1956—इस अधिनियम के द्वारा गोद लेने एवं स्त्रियों तथा उसके आश्रितों के भरण-पोषण के विषय मे व्यवस्थाएँ की गई हैं, जैसे—पहले केवल पुरुष ही गोद ले सकते थे अब स्त्रियाँ भी गोद ले सकती है। लडकी को गोद लेनी हो तो उसके कोई पुत्री, पौत्री या प्रपौत्री न हो। लड़का गोद लेना हो तो उसके कोई पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र न हो। अब लड़कियाँ भी गोद ली जा सकती हैं। पहले ऐसा नहीं था। अविवाहित, विधवा या तलाकशुदा स्त्री भी किसी लडकी या लड़के को गोद ले सकती हैं।

निष्कर्ष: नातेदारी से सम्बन्धित अनेक सवैधानिक सुधार किए गए हैं, जैसे—एक विवाह का प्रचलन, विवाह एक समझौता, विवाह विच्छेद एवं विधवा पुनर्विवाह का प्रावधान, प्रेम विवाह की स्वीकृति, अन्तर्जातीय विवाह की स्वीकृति, वैवाहिक निषधो में एकरूपता आदि। अधिनियमों द्वारा अनेक निर्योग्यताओ को समाप्त भी किया गया है तथा अनेक प्रतिबन्ध भी लागू किए गए हैं।

❑

अध्याय-14

धर्म

(Religion)

मानव जीवन में अनेक ऐसी घटनाएँ घटती रहती हैं जिन पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं होता। अनेक मानवीय प्रयास भी उन्हे नियन्त्रित करने मे सक्षम नहीं हो पाते, उस स्थिति में व्यक्ति के हृदय में यह धारणा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होती है कि कोई-न-कोई ऐसी अति मानवीय, अदृश्य व अलौकिक शक्ति अवश्य है, जो अनेक घटनाओं के लिए उत्तरदायी है। तब व्यक्ति के हृदय मे उसे जानने की व उसे वश मे लाने की अतीव उत्कण्ठा होती है। अति प्राचीन काल से ही मानव इन अलोकिक शक्तियो को वश मे करने का प्रयास करता रहा है, जब वह इसमें समर्थन नहीं हो पाता तो इसके लिए वह सिर झुकाकर, प्रार्थना करके व अपनी असमर्थता स्वीकार करके उस अदृश्य शक्ति सामने अपने को समर्पित करता है। इस समर्पण के परिणामस्वरूप की गई क्रियाओ का नाम ही धर्म है। धर्म अलौकिक शक्ति को समझने के प्रयासो से सम्बन्धित है। धर्म प्राय: सभी समाजो-आदिम, ग्रामीण एवं नगरीय से सम्बन्धित है। धर्म व्यक्ति, समूह और समाज से घनिष्टत: सम्बन्धित है। यह समाज के लिए अनेक कार्य करता है जिनका हमे ज्ञान होना चाहिए।

धर्म का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Religion)

'धर्म' शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत भाषा के 'धृ' शब्द से मानी गई है, जिसका अर्थ है—'धारण करना'। ''धारणाद् धर्ममित्याहु:'' अर्थात् 'धारण करने वाले तत्त्व को धर्म कहा गया है।' वेदो मे 'धर्म' शब्द का प्रयोग धार्मिक क्रिया करने से अर्जित गुण के अर्थ मे हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मण मे इसे समस्त धार्मिक कर्त्तव्यो के अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। सात्विक गुणो को धारण करना धर्म है अर्थात् सभी जीवो के प्रति मन मे दया धारण करना ही धर्म है।

बकेट (Bouquet) के अनुसार 'धर्म' शब्द की उत्पत्ति लेटिन के 'Religio' शब्द से हुई है जो सम्भवत: Log धातु से व्युत्पन्न है और साथ-साथ, गणना अथवा अवलोकन के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। अथवा इसकी व्युत्पत्ति Ligare धातु से हुई है जिसका अर्थ 'सहबन्ध' है।

स्टीफेन फाक्स (Stephen Fuchs) के मत में 'धर्म' (रिलिजन) शब्द की रचना 'रेलिगेयर' शब्द से हुई है जिसका अर्थ बाँधना अर्थात् मनुष्य को ईश्वर से सम्बन्धित करना है।

'धर्म' शब्द का प्रयोग वेद, उपनिषद् एवं धर्म-ग्रन्थो आदि में प्रचुरता से किया गया है। वेदो में ऋत के अर्थ में धर्म का प्रयोग हुआ है। 'ऋत' ऐसा अमूर्त सिद्धान्त है जो सभी लोको

मे समुचित व्यवस्था बनाए रखता है। 'ऋत' को सामान्यत: 'सत्य' माना जा सकता हे। उपनिषद् मे 'धर्म' को जीवन के विभिन्न स्तरों (आश्रमो) से सम्बन्धित कर्त्तव्यो के पालन के अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। धर्मग्रन्थों में धर्म को व्यापक अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। धर्म मानव के कर्त्तव्यों का निर्धारण करता है। इसी प्रकार धर्म को महाभारत में भी 'धारण करने' क अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। धर्म प्रजा को धारण करता हे व सभी प्राणियो की रक्षा करता है। धर्म की अनेक परिभाषाएँ विद्वानो द्वारा दी गई हैं जो इसके स्वरूप को स्पष्ट करेगी। कुछ परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

1. **एडवर्ड टायलर** के मत में, "धर्म आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है।"
2. **मजूमदार** और **मदान** ने धर्म के दो सम्भावित निहितार्थ बताए हैं—प्रथम अर्थ "दैवीय सम्प्रेषण का अवलोकन ओर विश्वास करना है"और द्वितीय अर्थ इसका निहितार्थ "उन आवश्यक क्रियाओ के निष्पादन से है जो व्यक्तियों और अलौकिक शक्तियो को परस्पर वाधती हैं।"
3 **जेम्स फ्रेजर** ने अपनी कृति **'दा गोल्डन बो'** मे धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है, "धर्म को मैं मनुष्य से श्रेष्ठ उन शक्तियो की सन्तुष्टि या आराधना समझता हूँ जिनके सम्बन्ध में यह विश्वास किया जाता है कि वे मानव जीवन को मार्ग दिखाती और नियन्त्रित करती हैं।"
4. **वी. हॉनिगशीम** के अनुसार, "प्रत्येक उम्र मनोवृत्ति को धर्म कहेगे जो इस विश्वास पर आधारित है कि अलोकिक शक्तियों का अस्तित्व है तथा उनसे सम्बन्ध स्थापित करना न केवल महत्त्वपूर्ण है, वरन् सम्भव भी है।"
5 **मैलिनोव्स्की** के मत मे, "धर्म क्रिया का एक तरीका है, और साथ ही विश्वासों को एक व्यवस्था भी, और धर्म एक समाजशास्त्रीय घटना के साथ-साथ एक व्यक्तिगत अनुभव भी है।"
6. **जॉनसन** के अनुसार, "धर्म कम या अधिक मात्रा मे अलौकिक शक्तियो, तत्त्वों तथा आत्मा से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की एक संगठित व्यवस्था है।"
7. **हॉवल** के अनुसार, "धर्म अलौकिक शक्ति मे विश्वास पर आधारित है जिसमें *आत्मावाद और मानावाद दोनों सम्मिलित हैं।*"
8. **मीज** के अनुसार, "धर्म के अन्तर्गत नैतिक नियम, कानून, रीति-रिवाज वैज्ञानिक नियम आदि बहुत-सी धारणाएँ आ जाती हैं।" इस प्रकार मीज ने धर्म शब्द का प्रयोग मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों में किया है।
9 **राधाकृष्णन** ने लिखा है, "जिन सिद्धान्तों का हमें अपने दैनिक जीवन में और सामाजिक सम्बन्धों में पालन करना है, वे उस वस्तु द्वारा नियत किए गए हैं

जिसे धर्म कहा जाता है। यह सत्य का जीवन में मूर्त रूप है और हमारी प्रकृति को नये रूप में ढालने की शक्ति है।"

10 पी.वी. काणे ने अपनी कृति "हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र" में लिखा है, "धर्मशास्त्रों के लेखकों ने धर्म का अर्थ एक मत या विश्वास नहीं माना है, अपितु उसे जीवन के एक ऐसे तरीके या आचरण की एक ऐसी संहिता माना है, जो व्यक्ति के समाज के रूप में और व्यक्ति के रूप में कार्य एवं क्रियाओं को नियमित करता है और जो व्यक्ति के क्रमिक विकास की दृष्टि से किया गया है और जो उसे मानव अस्तित्व के उद्देश्य तक पहुँचाने में सहायता करता है।"

11. स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है, "धर्म वह है जो मानव को इस संसार और परलोक में आनन्द की खोज के लिए प्रेरित करे। धर्म कार्य पर प्रस्थापित है। धर्म मानव को रात-दिन इस आनन्द को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कराता है।"

इस प्रकार धर्म की व्याख्या अनेक विद्वानों द्वारा वर्णित है जिनके आधार पर निष्कर्ष निकलता है कि धर्म मानव के कर्त्तव्यों का निर्धारण करता है, उसे सत्य की ओर उन्मुख करके उसे उचित-अनुचित का बोध कराता है जिससे वह अपने परिवार, समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र के प्रति अपने दायित्वों की पूर्ति कर सके। धर्म सामाजिक जीवन का आधार है, शाश्वत् सत्य है, और उसका उद्देश्य व्यक्ति के श्रेष्ठ विकास में सहयोग देना है, उसमें उन मानवीय गुणों को जागृत करना है जिससे वह अपने परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व के सफल समायोजन में योग दे सके। अन्ततः कहा जा सकता है, "एको धर्मः पर श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा।" अर्थात् एक धर्म ही परम कल्याणकारक, एक क्षमा ही शान्ति का श्रेष्ठ उपाय है।

धर्म की विशेषताएँ अथवा लक्षण
(Characteristics of Religion)

धर्म से सम्बन्धित अनेक परिभाषाओं को देखने के उपरान्त इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

(1) अतिमानवीय शक्ति में विश्वास—धर्म की सर्व प्रमुख विशेषता यह है कि धर्म का आशय यह है कि कोई-न-कोई अलौकिक शक्ति अवश्य है, जो मानव से श्रेष्ठ है, यही शक्ति प्रकृति तथा मानव जीवन को निर्देशित, नियन्त्रित एवं संचालित करती है। यह शक्ति साकार अथवा आकार वाली भी हो सकती है और निराकार भी हो सकती है लेकिन महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मानव की उस अलौकिक शक्ति में अटूट श्रद्धा एवं आस्था होती है।

(2) पवित्रता की भावना—धर्म की यह विशेषता होती है कि उससे सम्बन्धित सभी वस्तुओं, प्रतीकों, क्रियाओं व पुस्तकों आदि को पवित्र माना जाता है, इसलिए दुर्खीम ने यह मत दिया कि धर्म पवित्रता और अपवित्रता में भेद करता है। धर्म से सम्बन्धित सभी वस्तुओं को पवित्र माना जाता है, जैसे—पूजा-पाठ, कीर्तन, कर्मकाण्ड, मन्दिर व मूर्ति आदि सभी के प्रति पवित्रता की भावना विद्यमान रहती है।

(3) धार्मिक क्रियाएँ—धर्म की यह विशेषता है कि व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वासों को विभिन्न धार्मिक क्रियाएँ सम्पन्न करके अभिव्यक्त करता है। प्रत्येक धर्म में जप, तप, पूजा-पाठ, यज्ञ, हवन व कर्म-काण्ड जैसी क्रियाएँ पाई जाती हैं। कुछ धार्मिक क्रियाओं को सभी व्यक्ति कर सकते हैं, किन्तु कुछ विशेष धार्मिक अनुष्ठानों के लिए धार्मिक विशेषज्ञों—पण्डे, पुजारी, मुल्ला व पादरी आदि की आवश्यकता होती है। **जॉनसन** ने धार्मिक क्रियाओं की कुछ विशेषताएँ बताई हैं, वे निम्नलिखित हैं—(i) धार्मिक क्रियाओं में पवित्र पदार्थ उपयोग में लाये जाते हैं, (ii) ये क्रियाएँ कुछ आनन्द देने वाली होती हैं, (iii) धार्मिक कृत्य किसी लक्ष्य की प्राप्ति का एक साधन हैं, (iv) ये क्रियाएँ प्राय: एक लम्बे समय से एक ही प्रकार से सम्पन्न की जाती हैं, (v) ये क्रियाएँ नैतिक क्रियाओं से अलग होती हैं, तथा (vi) इनका सम्बन्ध मोक्ष प्राप्ति से होता है।

इस प्रकार जॉनसन का यह भी कहना है कि धार्मिक क्रियायें अलग-अलग समाजो मे अलग-अलग प्रकार की होती हैं, किन्तु उद्देश्य प्रायः समान होते हैं।

(4) भावनात्मक सम्बन्ध—धर्म हमारी भावनाओ से सम्बन्धित होता है। व्यक्ति उस अलौकिक शक्ति से डरता है और उसे प्रसन्न करके अपना हित कराने के लिए श्रद्धा व भक्ति के साथ उसकी आराधना व अर्चना करता है और उसे विश्वास हो जाता है कि उसका हित अवश्य होगा।

मैलिनोव्स्की ने धर्म की चार विशेषताएँ बताई हैं—(i) धर्म विश्वासों की एक व्यवस्था है, (ii) विश्वास व्यक्ति को निष्क्रिय नहीं रहने देता अर्थात् वह कुछ-न-कुछ धार्मिक क्रियाएँ अवश्य करता है, (iii) व्यक्ति का अपना कोई अलग धर्म नहीं होता, वरन् सम्पूर्ण समाज का एक ही धर्म होता है, और (iv) धर्म को मानना या न मानना व्यक्ति के अनुभवों पर निर्भर करता है।

(5) तर्क का अभाव—धर्म की एक विशेषता यह है कि तर्क के लिए कोई स्थान नहीं होता है। यह तो विश्वास व भावनाओं पर आधारित होता है। विज्ञान भी इस विषय में कुछ नहीं कर सकता। मैलिनोव्स्की ने धर्म और जादू को पवित्र माना है और विज्ञान को अपवित्र। इससे भी धर्म की यह विशेषता स्पष्ट होती है कि विज्ञान के आधार पर इसे सिद्ध अथवा अमान्य नहीं ठहराया जा सकता।

(6) पूजा व प्रार्थना—धर्म की एक विशेषता यह भी है कि इसमें उस अलौकिक शक्ति की प्रसन्नता के लिए अथवा उसके कोप से बचने के लिए पूजा-अर्चना, आराधना, व्रत व उपवास आदि अवश्य किये जाते हैं। सभी समाजो में इसके लिए अनेक विधियाँ प्रचलित हैं; हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि सभी वर्ग के लोगों के अपने-अपने अलग-अलग ढँग हैं कि वे किस तरीके को अपनाकर उस अतार्किक, अतिमानवीय व अलौकिक शक्ति को प्रसन्न करते हैं।

धर्म के प्रमुख तत्त्व
(Elements of Religion)

धर्म का निर्माण करने वाले तत्त्वों के विषय मे विद्वानो में मतभेद हैं। ब्रूम तथा सैल्जनिक धर्म के प्रमुख चार तत्त्वों को मानते हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त भी कुछ तत्त्व हैं उन सभी का उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है—

1. अनुष्ठान (Rituals)—**ब्रूम तथा सैल्जनिक** के मत में अनुष्ठान का अर्थ इस प्रकार है, "धार्मिक अनुष्ठानो का तात्पर्य ऐसी स्वीकृत क्रियाओ से है, जो स्वय पवित्र होती हैं तथा साथ ही किसी पवित्र वस्तु को प्रतीकात्मक रूप से प्रकट करती हैं।" अनुष्ठान अथवा कर्म-काण्ड सभी धर्मों मे पाये जाते हैं और इनका कार्य अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित विश्वासों को प्रकट करना होता है। इसके लिए विभिन्न प्रकार के यज्ञ, हवन व पूजन आदि धार्मिक उत्सवों पर किये जाते हैं। इन अनुष्ठानो का कार्य परम्पराओ को स्थायित्व प्रदान करना अथवा समूह मे एकता बनाये रखना होता है। अनुष्ठान किसी भी सामाजिक रीति को पवित्रता प्रदान करते हैं, साथ ही जो कुछ पवित्र होता है, उसे अनुष्ठान का रूप दिया जा सकता है। जैसे--हिन्दुओ में नवरात्रि के दिनों मे किये जाने वाले व्रत, उपवास, पूजा-पाठ आदि अनुष्ठान की श्रेणी मे आते हैं।

2. विश्वास (Beliefs)—धार्मिक विश्वास सभी धर्मो में पाये जाते हैं। सभी धर्म अलौकिक शक्ति में विश्वास करते हैं क्योंकि उनके मत में अलौकिक शक्ति ही व्यक्ति को सुख-दुःख हानि-लाभ आदि प्राप्त कराती है। विश्वास और अनुष्ठान सभी धर्मों में पाये जाते हैं। विश्वासो को अनुष्ठान अथवा कर्म-काण्ड का घोषणा-पत्र कहा जाता है, क्योकि विश्वास ही अनुष्ठानो को युक्तिसगत बनाते हैं और इनको अनुपालना करना निश्चित करते हैं। अनेक गम्भीर समस्याओ के समाधान मे विश्वासों की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है।

3. अनुभूतियाँ (Feelings)—कर्म-काण्ड का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य यह होता है कि वे व्यक्ति में उचित भावनाओ को जागृत करते हैं। सभी धर्मो की रचना पारलौकिक के प्रति मानसिक अभिवृत्ति से होती है। धार्मिक भावनाएँ ही धर्म के साधनो को समर्थन प्रदान करती हैं। नम्रता, आदर, श्रद्धा और भय आदि धार्मिक भावनाएँ हैं।

4. संगठन (Organization)—प्रत्येक धर्म अपना एक संगठन बनाता है जिसका कार्य धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करना व अपने अनुयायियो से धर्म का पालन कराना होता है। इसके साथ ही यह संगठन धार्मिक विश्वास और परम्पराओ को बनाये रखने, धार्मिक अनुष्ठानो व सिद्धान्तों में विशेषता प्रदान कराने के लिए व्यक्तियो को प्रशिक्षित करने तथा समाज और अन्य समूह के साथ अपने सम्बन्धो को स्पष्ट करने के कार्यों का निर्वाह करता है। आवश्यकता पड़ने पर अनुयायियो को एकत्र करने के कार्य भी संगठन द्वारा सम्पन्न कराये जाते हैं।

(5) निषेध (Taboos)—प्रत्येक धर्म मे कुछ कार्य करणीय होते हैं और कुछ कृत्य अकरणीय होते हैं। अर्थात् प्रत्येक धर्म मे व्यक्ति को कुछ आचरणो को करने की आज्ञा दी जाती है, साथ ही कुछ व्यवहारो को न करने की आज्ञा दी जाती है, जैसे—चोरी नहीं करनी चाहिए, छल-कपट नहीं करना चाहिए, झूठ नहीं बोलना चाहिए—यह सब निषेध कहलाते हैं। इनका उद्देश्य व्यक्ति की धार्मिक पवित्रता को बनाये रखना है।

6. प्रतीक और पौराणिक गाथाएँ (Symbols and Myths)—धार्मिक कृत्यों, अनुष्ठानो व भावनाओं को सरलीकृत रूप में व्यक्त करने के लिए धार्मिक प्रतीकों की आवश्यकता होती है—मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, मूर्ति व विशेष प्रकार की पोषाक आदि धार्मिक प्रतीक होते हैं जो व्यक्ति की धार्मिक आस्था को और दृढ़ीकृत करते हैं। इसी प्रकार लोगों का अपने पूर्वजों के बारे

में विश्वास मिथ कहलाता है। अर्थात् प्रत्येक धर्म अपना कुछ-कुछ इतिहास रखता है जो कथाओं, पौराणिक गाथाओं, ईश्वरीय चमत्कारों व धार्मिक पुरुषों के गुणगान के रूप मे अभिव्यक्त होता है—इनका उद्देश्य व्यक्ति के विश्वास को बनाये रखना होता है।

7. धार्मिक संस्तरण (Religious Hierarchy)—प्रत्येक धर्म मे संस्तरण व्यवस्था विद्यमान होती है। इसमें धार्मिक कृत्यों के विशेषज्ञ, जैसे—पण्डित, पुजारी, शामन, पादरी एवं मौलवी आदि का स्थान सामान्य धर्मानुयायियों की तुलना में उच्च माना जाता है तथा उन्हे कुछ विशेष सुविधाएँ व अधिकार प्रदान किये जाते हैं। इस प्रकार धर्म मे संस्तरण व्यस्था विद्यमान रहती है।

धर्म के कार्य (Functions of Religion)

धर्म का अर्थ आध्यात्मिक शक्ति मे विश्वास है, यह हमारी संस्कृति का एक अंग है और मानव-जीवन के विभिन्न कार्यों का पूरक है—सभी समाजों में धर्म का कोई-न-कोई रूप अवश्य देखने को मिलता है जो उस समाज की संस्कृति व आवश्यकता के अनुरूप होता है। धर्म के प्रमुख कार्य अग्रलिखित हैं—

1. मानसिक तनावों व संघर्षों से मुक्ति—रैडक्लिफ-ब्राउन और मैलिनोवस्की ने धर्म के इस मानसिक कार्य का उल्लेख किया है। व्यक्ति के दिन-प्रतिदिन के जीवन में ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न होती रहती हैं जब उसे क्रोध, घृणा, संघर्ष, तनाव, हीनता व उद्विग्नता आदि का सामना करना पडता है। यदि ऐसी स्थितियाँ बहुत समय तक व्यक्ति के जीवन मे बनी रहे तो उसका मानसिक सन्तुलन बिगड़ जायेगा, वह विक्षिप्त हो जायेगा और उसका सामान्य स्थिति में कार्य करना असम्भव हो जायेगा। इस संघर्षमय स्थिति से उऋण होने के लिए व्यक्ति ईश्वर से प्रार्थना करता है, उस अलौकिक शक्ति के सम्मुख नतमस्तक होता है और ईश्वर के सम्मुख अपनी समस्या प्रकट करने पर स्वयं को तनावरहित अनुभव करता है। इस प्रकार धर्म का कार्य तनावों एव संघर्षों से मुक्ति दिलाना है।

2. सामाजिक मूल्यों व मान्यताओं का संरक्षण—धर्म का एक कार्य यह है कि वह लोगो में पाप-पुण्य व स्वर्ग-नरक की कल्पना पैदा करके लोगों के मन मे भय पैदा करते हुए सामाजिक नियमों को मानने के लिए प्रोत्साहित करता है, बाध्य करता है और प्रेरित करता है। धर्म यह सिखाता है कि सामाजिक मूल्यों व मान्यताओं को मानने वाले को परलोक और इस लोक में सुख मिलता है, शान्ति मिलती है और उन मान्यताओं की अवहेलना करने वालो को इस लोक व परलोक में दण्डित करने का भय दिलाता है।

3. नैतिकता को बनाये रखने में सहायक—धार्मिक नियमों मे नैतिकता होती है। जैसे—झूठ बोलना पाप है, दूसरों को सताना हिंसा है, व सदा सच बोलना चाहिए .. . . आदि नैतिक नियमों में धार्मिक आदर्श छिपे हैं और अनेक बार नेतिक आदर्श व धार्मिक आदर्श समान ही होते हैं।

4. सामाजिक एकता बनाये रखने में सहायक—दुर्खीम का मानना है कि धर्म उन लोगों को एकता के सूत्र में बाँधता है, जो उसमें विश्वास करते हैं। जब कभी धार्मिक दगे अथवा धार्मिक उत्सव होते हैं तो उस धर्म को मानने वालों में एकता होती है। इस तरह सामाजिक

एकता को बनाये रखने में धर्म की अहं भूमिका होती है। समाज मे होम, पूजा-पाठ आदि भी श्रद्धापूर्वक किए जाते हैं, इनसे सामाजिक जीवन सस्कारित बनता है और समाज में एकता स्थापित होती है।

5. विश्वबन्धुत्व की भावना में सहायक—प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति ईश्वर में विश्वास रखता है—अलौकिक शक्ति की उपासना करने वाले सभी व्यक्ति परस्पर विश्वबन्धुत्व की भावना से जुड़े रहते हैं। सबका निर्माणकर्त्ता एक है—इस प्रकार की भावना विश्वबन्धुत्व को बढ़ावा देती है। धर्म ने समय-समय पर मनुष्य की अनेक संकटों से रक्षा की है और आज भी धर्म का महत्त्व कम नहीं है। धर्म ही व्यक्ति को भाईचारे की भावना से समन्वित करता है।

6. सामाजिक नियन्त्रण में सहायक—धर्म यह बताता है कि समाज में व्यक्तियो के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए? कैसे सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए? परिवार के प्रति व्यक्ति के क्या कर्त्तव्य होने चाहिएँ? आदि-आदि, जैसे—माता-पिता की सेवा करना व्यक्ति का धर्म है न करने से पाप लगेगा—ऐसे विचार व्यक्ति को सन्तुलित बनाए रखते हैं, वह कोई गलत कार्य करने से डरता है अतः कहा जा सकता है कि धर्म सामाजिक नियन्त्रण मे सहायक है।

7. सुरक्षा की भावना—धार्मिक व्यक्ति स्वयं को सुरक्षित अनुभव करता है। वह सोचता है कि मेरा ईश्वर है जो मेरी रक्षा करेगा। यह विचार व्यक्ति को सभी संकटों से बचाता है, कठिनाइयो पर विजय प्राप्त कराता है और उसमे सुरक्षा की भावना भरता है।

8. सद्गुणों के विकास में सहायक—धार्मिक व्यक्ति दयावान, ईमानदार, सत्य-प्रिय, अहिंसक और प्रेमी होता है। वह कोई भी अन्याय, अपराध अथवा समाज विरोधी कार्य करने से डरता है तथा धार्मिक नियमो की अनुपालना करता है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति में सद्गुणों को विकसित करता है।

9. पवित्र-अपवित्र का भेदक—धर्म का एक महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि यह पवित्र और अपवित्र मे भेद करता है। धर्म में पवित्र कार्यों को करने की स्वीकृति दी जाती है और अपवित्र कार्यों से बचा जाता है। धार्मिक कृत्य पूजा-पाठ, जप-तप पवित्र कार्य हैं अतः इन्हे करना चाहिए और अधार्मिक कृत्यो से बचना चाहिए क्योंकि वे अपवित्र होते हैं।

हिन्दू धर्म
(Hindu Religion)

भारतवर्ष धर्म-प्रधान देश रहा है जिसमे अनेकानेक धर्म-परम्पराएँ उदित होती रही हैं। इनमे हिन्दू धर्म प्राचीनतम है। इसका उद्गम ऋग्वेद से माना जाता है। उस समय 'आर्य धर्म' के नाम से जाना जाता था और इसको मानने वाले 'आर्य' कहलाते थे। हिन्दू धर्म की व्याख्या करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि हिन्दू किसे कहेंगे ? इसका उत्तर यह है कि हिन्द (भारत) का निवासी हिन्दू और उसका धर्म हिन्दू हुआ। भौगोलिक दृष्टि से लोकमान्य तिलक की व्याख्या सटीक है, जो इस प्रकार है—

आसिन्धोः सिन्धुपर्यन्ता यस्य भारत भूमिका।
"पितृभूः पुण्यभूश्चैव स वै हिन्दुरिति स्मृतः॥

अर्थात् सिन्धु नदी के उद्‌गम स्थान से लेकर सिन्धु (हिन्द महासागर) तक सम्पूर्ण भारत भूमि जिसकी पितृभू (अथवा मातृभूमि) तथा पुण्यभू (पवित्र भूमि) है, वह हिन्दू कहलाता है और उसका धर्म हिन्दू धर्म अथवा हिन्दुत्व है।"

हिन्दू धर्म में प्रत्येक अपने धार्मिक विश्वासों के अनुरूप अर्चना, आराधना आदि करने के लिए स्वतन्त्र है। अपनी इसी विशेषता के कारण हिन्दू धर्म अद्यावधि अपने अस्तित्व को बनाए रखने में सक्षम हो सका है। भारत की अधिकांश जनता हिन्दू धर्म को ही स्वीकार करती है। यद्यपि हिन्दू धर्म के कोई निश्चित सिद्धान्त अथवा मत आदि तो नहीं है, फिर भी कुछ ऐसे मूलतत्त्व हैं जो हिन्दू धर्म का प्राण कहे जा सकते हैं, जो इस प्रकार वर्णित किए जा सकते हैं—
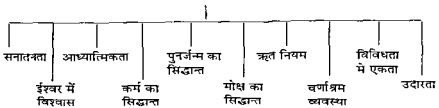
हिन्दू धर्म के मूलतत्त्व (Main Elements of Hindu Religion)

1. सनातनता (Sanatanta)—यद्यपि हिन्दू धर्म का कोई प्रवर्तक नहीं हुआ किन्तु अनादि काल से इसका विकास अक्षुण्ण रूप से होता आ रहा है इस कारण इसे सनातन धर्म कहा जाता है। "एब धर्मो सनातनः"। 'श्रति' 'स्मृति' के आधार पर इस धर्म की प्राचीनता स्पष्ट होती है और प्राचीनता की इस विशेषता के कारण ही इस धर्म ने अनेकानेक वाह्य तत्त्वों को अपने में एकाकार कर लिया। युग- परिवर्तन के साथ भी यह धर्म अपने पथ से विचलित नहीं हुआ। बाह्य आक्रमण व आन्दोलन आदि भी इसके मूलरूप को प्रभावित नहीं कर सके। इसका कारण है कि यह सनातन-सत्य पर आधारित है। इसी से यह धर्म प्राचीनतम, विकासशील सनातन-धर्म कहलाता है।

2. ईश्वर में विश्वास (Faith in GOD)—हिन्दू धर्म का मूलतत्त्व यह है कि यह धर्म स्वीकार करता है कि दृश्यमान जगत की विविधता के पीछे एक आध्यात्मिक एकता है जो एक ईश्वर द्वारा सचालित है, वही उसका नियन्ता है और सारा संसार उसमें मोतियों की माला के धागे के समान पिरोया हुआ है। किन्तु इस ईश्वर का स्वरूप अलग-अलग हो सकता है। इस धर्म में एक ही ईश्वर की सत्ता मे विश्वास करना अनिवार्य नहीं है, विविध देवों के रूप में भी जगत् का नियन्ता परमात्मा ही है अर्थात् कोई भी समुदाय या समाज स्वेच्छा से किसी भी देव की आराधना कर सकता है। इस विषय में किसी को भी कोई आपत्ति नहीं है, यह भी हिन्दू धर्म का मूल तत्त्व है।

3. आध्यात्मिकता (Spirituality)—आध्यात्मिकता भी हिन्दू धर्म का एक मौलिक तत्त्व है। प्रत्येक हिन्दू ईश्वर के आध्यात्मिक स्वरूप को स्वीकार करता है। सभी को उस परम सत्ता की सम्पूर्णता पर विश्वास है और यह जगत् और इसकी समस्त वस्तुएँ उस परम सत्ता की ही अभिव्यक्ति हैं, ऐसा सभी को ज्ञात है। सत्, चित् और आनन्द—ये तीन उस आध्यात्मिक सत्ता के पक्ष हैं जो सच्चिदानन्द स्वरूप है और व्यक्ति सदैव उस आध्यात्मिक या ईश्वरीय दिव्य स्वरूप की अनुभूति करने के लिए प्रेरित रहता है। इस प्रकार हिन्दुओं का जीवन-दर्शन आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है।

4. कर्म का सिद्धान्त (Theory of Karma)—हिन्दू धर्म कर्म के सिद्धान्त मे विश्वास रखता है उसके मत मे प्रत्येक को अपने शुभाशुभ कर्मों का फल अनिवार्यत: भोगना पडता है। कर्म ही व्यक्ति के जीवन को नियन्त्रित करते हैं अर्थात् मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है वह जैसे सद्-असद् कर्म करेगा, उसे उसी प्रकार की भूमिका निभानी होगी। यह कर्म का सिद्धान्त हिन्दुओं को बुरे कर्म करने से रोकता है और सद्कर्मों को करने की प्रेरणा देता है। कर्मों के फल संस्कार रूप मे सुरक्षित रहते हैं जो भावी जीवन को संचालित करते हैं। यह कर्मवाद का सिद्धान्त महत्त्वपूर्ण मूल तत्त्व है। जैसा कि कहा गया है, "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृत कर्म शुभाशुभम्" अर्थात् हर कोई अपने शुभाशुभ कर्मो का अनिवार्य फल भोगता है।

5. पुनर्जन्म का सिद्धान्त (Theory of Rebirth)—पुनर्जन्म का सिद्धान्त कर्मवाद के सिद्धान्त से ही जन्मता है। कर्मवाद के आधार पर व्यक्ति को अपने शुभाशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पडता है और सभी कर्मो का फल एक ही जीवन में मिल पाना सम्भव नहीं होता, अत: उनको भोगने के लिए दूसरा जन्म धारण करना आवश्यक होता है। अत: पुनर्जन्म के सिद्धान्त के अनुसार हमे जो योनि वर्तमान जन्म मे प्राप्त हुई है उसका कारण हमारे पूर्व जन्मो के फल हैं। संचित और क्रियमाण कर्मों के फल भोगने के लिए पुनर्जन्म धारण करना आवश्यक है—यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रत्येक हिन्दू को उसके जीवन मे आने वाली आपत्तियो को सहन करने की शक्ति भी देता है।

6. मोक्ष का सिद्धान्त (Theory of Moksha)—हिन्दू धर्म के अनुसार मानवीय आत्मा भव-बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर मोक्ष की कामना करती है। भव-बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना ही हिन्दुओं का चरम ध्येय है। उनका विश्वास है कि सुख-दु:ख, जन्म-मृत्यु व भौतिक जगत् आदि के चक्र से मुक्त होकर उन्हे ईश्वरीय पूर्णता अवश्य प्राप्त होगी और इस अमरत्व को प्राप्त करना ही मोक्ष है। हिन्दू धर्म के अनुसार इस मुक्ति को प्राप्त करने के साधन अलग-अलग हो सकते हैं, जैसे—राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग एव कर्मयोग आदि, किन्तु साधनो की भिन्नता होते हुए भी साध्य एक ही है अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति। मोक्ष ही मानव-जीवन का परम पुरुषार्थ है। धर्म, अर्थ, काम तीनो ही पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति के लिए ही हैं।

7. ऋत-नियम (Rit Niyam)—वेदो के आधार पर ऋत-नियम हिन्दू धर्म का मूलतत्त्व है। ऋत का अर्थ है—'नैतिक', और वैदिक धर्म में 'ऋत' को सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक शक्तियो का नियन्ता कहा गया है। जैसे जगत् के बाह्य पदार्थ सूर्य, चन्द्र आदि ऋत-

नियम के आधार पर संचालित होते हैं उसी प्रकार इसकी आन्तरिक व्यवस्था भी 'ऋत' के आधार पर टिकी है अर्थात् यह जगत् एक नैतिक व्यवस्था (ऋत) में आबद्ध है। यह नैतिक नियम ही धर्म है—सभी श्रेष्ठजन इन नैतिक नियमों का पालन करते हैं; इसी से अधर्म पर धर्म की विजय सर्वत्र होती देखी गई है। नैतिक नियम मानव-जीवन के लिए सर्वोपरि हैं।

8. वर्णाश्रम-व्यवस्था (Varnashram Vyavastha)—हिन्दू धर्म में वर्णाश्रम-व्यवस्था का विशेष महत्त्व है। इस व्यवस्था के द्वारा समाज और व्यक्ति के जीवन को क्रमश: चार वर्णों एवं चार आश्रमों में बाँटा गया है। वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण में विभाजित किया गया है। इन चारो वर्णो के कार्य क्रमश: (1) बौद्धिक कार्यों की पूर्ति, (2) समाज की सुरक्षा-व्यवस्था, (3) आर्थिक क्रियाओं की पूर्ति तथा (4) सेवा करना है। इसी प्रकार से प्रत्येक हिन्दू के जीवन को चार आश्रमों में बाँटा गया है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। प्रथम दो आश्रम मनुष्य के शारीरिक एवं सामाजिक दायित्वो को निभाने के लिए हैं और बाद के दोनों आश्रम ईश्वर और मानवता के प्रति उच्चतर दायित्वों को निभाने के लिए हैं। चारो आश्रमो का निर्वहन करना ही व्यक्ति का धर्म है। इस आश्रम व्यवस्था का निर्वाह करते हुए व्यक्ति अपने परिवार, समाज, राष्ट्र और अन्त मे विश्व के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। आश्रम-व्यवस्था बताती है कि व्यक्ति का अस्तित्व केवल स्वयं तक सीमित नहीं है वरन् उसका उद्देश्य समाज, राष्ट्र व विश्व के उच्चतम ध्येयो की पूर्ति करना है। इस रूप में वर्णाश्रम-व्यवस्था नैतिक मूल्यो की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करती है।

9. विविधता में एकता (Unity in Diversity)—हिन्दू धर्म का एक महत्त्वपूर्ण मूलतत्त्व यह है कि इसमे विविधता में एकता पाई जाती है। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत अनेक सम्प्रदाय, विचारधाराएँ, रीति-रिवाज आदि पाए जाते हैं, सभी का दृष्टिकोण पृथक्-पृथक् है। अनेक धार्मिक सम्प्रदाय, जैसे—वेदान्ती, अद्वैतवादी, सांख्य व न्याय-वैशेषिक आदि हैं किन्तु कोई भी ऐसी परम्परा नहीं है, जिसको परिपालना करने के लिए कोई हिन्दू बाध्य हो। शैव, वैष्णव, आर्य समाज आदि सभी पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण रखते हुए भी सभी वेद को प्रमाण मानते हैं। वास्तव में हिन्दू धर्म की यह विशेषता ही हमारे जनतन्त्र और धर्मनिरपेक्ष राज्य का मूल सिद्धान्त कही जा सकती है।

10. उदारता (Liberality)—उदारता हिन्दू धर्म की सबसे बड़ी विशेषता कही जा सकती है। परिस्थितियों से अनुकूलन करने की सामर्थ्य, सहिष्णुता और लचीलेपन की विशेषता के कारण ही यह धर्म प्राचीनतम है। विश्व के सभी श्रेष्ठ धर्मो, सन्तों व महापुरुषो की शिक्षाएँ आज भी समादर के साथ यहाँ स्वीकारी जाती हैं। इस धर्म को सहिष्णुता व उदारता का अक्षय-कोष कहा जा सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त मूलतत्त्वों के कारण ही हिन्दू धर्म व्यापक, सशक्त, सनातन एवं चिरायु कहा जा सकता है। अब हिन्दू धर्म के विभिन्न स्वरूपों व लक्षणों पर प्रकाश डाला जाएगा।

हिन्दू धर्म के विविध स्वरूप
(Various forms of Hindu Religion)

हिन्दू धर्म व्यक्ति के कर्त्तव्यो को अत्यधिक महत्त्व देता है और कर्तव्य देश, काल, परिस्थिति और पात्र के अनुसार भिन्नता लिए हुए होते हैं। हिन्दू धर्म में प्रत्येक अपने धार्मिक विश्वास के अनुरूप आराधना, विधि-सस्कार आदि सम्पन्न करने के लिए स्वतन्त्र होता है। अद्यावधि हिन्दू धर्म का अस्तित्व अक्षुण्ण बना हुआ है इसका कारण इसके प्रमुख तीन स्वरूप हैं जो निम्नलिखित हैं—
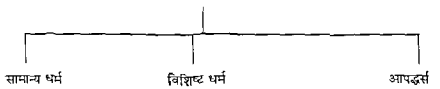
सामान्य धर्म (Samanya Dhatma)

सामान्य धर्म नैतिक नियमो से सम्बद्ध है जिसे 'मानव-धर्म' भी कहा जा सकता है। इन नियमो की परिपालना करना प्रत्येक हिन्दू,—चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, उच्च वर्ग हो अथवा निम्न वर्ग, बाल हो अथवा वृद्ध—का पुनीत कर्त्तव्य है। सामान्य धर्म का आशय है कि सभी धर्म समान लक्ष्य रखते हैं और वह है—मनुष्यो मे सद्गुणो का विकास करना, उसे कल्याण की ओर प्रेरित करना।

श्रीमद्भागवत मे सामान्य धर्म के तीस लक्षण बताए गए हैं—1 सत्य, 2. दया, 3 तपस्या, 4 पवित्रता, 5 कष्ट सहने की क्षमता, 6 उचित-अनुचित का विचार, 7 मन का सयम, 8 इन्द्रियो का संयम, 9 अहिंसा, 10 ब्रह्मचर्य, 11 त्याग, 12 स्वाध्याय, 13. सरलता, 14 सन्तोष, 15 सभी के लिए समान दृष्टि, 16 सेवा, 17 धीरे-धीरे सासारिक भोगो का त्याग, 18 लौकिक सुख के प्रति उदासीनता, 19 मौन, 20 आत्म-चिन्तन, 21 सभी प्राणियो में अपने आराध्य को देखना व उन्हे अन्न देना, 22 महापुरुषो का साथ, 23 ईश्वर का गुणगान, 24 ईश-चिन्तन, 25 ईश-सेवा, 26 पूजा व यज्ञो का निर्वाह, 27 ईश्वर के प्रति दास्य भाव, 28 ईश-वन्दना, 29 सखाभाव, और 30 ईश्वर को आत्मसमर्पण।

मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षणो पर प्रकाश डाला गया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीविद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

सामान्य धर्म को समझने के लिए इनकी विवेचना की जा रही है—

1. धृति (Steadiness)—धृति का अर्थ है अपनी जीभ अथवा जननेन्द्रियों पर संयम रखना। जो व्यक्ति धृति या धैर्य गुण को विकसित कर लेता है, वह धीर कहलाता है। यह धर्म का सामान्य लक्षण है।

2. क्षमा (Forgiveness)—क्षमा से आशय है कि शक्तिशाली होते हुए भी क्षमाशील होना, अर्थात् दूसरों को क्षमा करना व उदारता का व्यवहार करना। अगर व्यक्ति अपनी कमजोरी या मजबूरी के कारण अन्याय सहन करता है तो वह क्षमा या उदारता नहीं कहलाती है। यह नियम साधारण त्रुटियों पर लागू होता है। गम्भीर अपराधो के लिए तो व्यक्ति को दण्ड देना ही चाहिए।

3. काम और लोभ पर संयम (Restraint on Desire and Temptation)—मनुस्मृति के अनुसार व्यक्ति को अपनी कामवासनाओं को मन और कर्म से नियन्त्रित करना चाहिए। इससे जीवन नियमित एवं दोषमुक्त हो जाता है। व्यक्ति की कार्यकुशलता बढ जाती है। ऊपर से साधुवाद दिखाना एवं मन में कामवासना का विचार करना अधिक हानिकारक होता है। कृष्ण ने गीता में इसको 'मिथ्याचार स्थिति' बताया है।

4. अस्तेय (Not Stealing)—अस्तेय का अर्थ 'चोरी नहीं करना' है। नारद-स्मृति में लिखा है कि कोई व्यक्ति पागल या निद्रा में हो और उसकी कोई वस्तु दूसरा व्यक्ति छल-कपट से ले लेता है तो यह चोरी है। महर्षि पतजलि की मान्यता है कि जो व्यक्ति अस्तेय धर्म का पालन करता है उसके पास सम्पूर्ण रिद्धि-सिद्धि आ जाती है।

5. शुचिता या पवित्रता (Sacredness)—पवित्रता या शुद्धि दो प्रकार की होती है—(1) शारीरिक जो स्नान तथा स्वच्छ वस्त्र धारण करने से होती है, तथा (2) मन एवं आत्म-शुद्धि जो सत्य वचन, तप एवं ज्ञान से होती है। शुचिता इसी पवित्रता को कहते हैं। मनुस्मृति के अनुसार सत्य-वचन मन को शुद्ध करते हैं, तप जीवात्मा को पवित्र करते हैं और ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है। अशुचिता मन और विचारों में विकार पैदा करती है तथा शुचिता उच्च विचार का विकास करती है।

6. इन्द्रिय-निग्रह (Sensual Subjugation)—इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना ही इन्द्रिय-निग्रह कहलाता है। गीता में लिखा है, "इन्द्रियों पर नियन्त्रण न रहने से विषयों में आसक्ति बढ़ती है, विषय-कामनाओं की पूर्ति नहीं होने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मूढ़ता आती है, मूढता उत्पन्न होते ही स्मृति-विभ्रम पैदा हो जाता है, स्मृति का नाश होने से बुद्धि नष्ट हो जाती है और बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य का ही सर्वनाश हो जाता है।" महात्मा गाँधी ने भी 'सत्य के प्रयोग' अथवा 'आत्मकथा' मे ऐसा ही लिखा है। मनुस्मृति में भी इन्द्रिय-निग्रह को धर्म को एक महत्त्वपूर्ण विशेषता बताया गया है।

7. 'धी' अथवा 'बुद्धि' (Knowledge)—व्यक्ति मे किसी वस्तु के गुण और दोषों को समझने को शक्ति का विकास ही 'धी' धर्म कहलाता है। बुद्धि के विकास के अभाव मे कर्त्तव्यों की पूर्ति करना कठिन हो जाता है।

8. विद्या (Education)—विद्या से विवेक जागृत होता है। विद्या वह है जो व्यक्ति को काम, क्रोध, लोभ, मोह और मन की कामवासनाओ से मुक्ति दिलाती है। धर्म, अर्थ, काम और

मोक्ष--जैसे चारों पुरुषार्थों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करवाती है। इससे व्यक्ति ज्ञान-मार्ग पर चलकर मोक्ष की प्राप्ति करता है तथा मानव-कल्याण सम्बन्धी आचरण करता है। शास्त्रो मे लिखा है, "नास्ति विद्यासम चक्षु:" अर्थात् विद्या से महत्त्वपूर्ण कोई दृष्टि नहीं है। भारतीय संस्कृति मे "सा विद्या या विमुक्तये" अर्थात् विद्या वह है जो विमुक्ति की ओर ले जाती है—इस रूप में विद्या को परिभाषित किया गया है।

9. सत्य (Truth)— ऋग्वेद मे निम्न शब्दों मे सत्य को ही मनुष्य का परम धर्म बताया गया - "सत्यम् वद् धर्मम् चर।" सत्य धर्म मे सामान्य धर्म के सभी लक्षण आ जाते हैं। महाभारत मे सत्य के निम्न तेरह लक्षण बताए गए हैं--1. निष्पक्षता, 2 इन्द्रियो पर नियन्त्रण, 3 क्षमाशीलता, 4 सहिष्णुता, 5. लज्जा, 6 कष्ट स्वीकारना, 7. दान, 8. ध्यान, 9 उचित-अनुचित कार्यों का ज्ञान, 10 धृति, 11 दया, 12 क्षमा, और 13 अहिंसा। एक प्रकार से सत्य सभी धर्मो का आधार है।

10. अक्रोध (Restraint Anger)—अक्रोध अर्थात् क्रोध नहीं करना, यह इच्छाओं के अपूर्ण रहने पर होता है। क्रोध सभी अवगुणों का स्रोत है। व्यक्ति कर्त्तव्यो की पूर्ति शान्त मन से ही कर सकता है। क्रोध पर नियन्त्रण रखना व्यक्ति के लिए अत्यावश्यक है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के शारीरिक, नैतिक, आत्मिक और आध्यात्मिक विकास के लिए सामान्य धर्म के लक्षणो का पालन करना अत्यावश्यक है। किसी भी समाज के मानक के प्रतिमानो की विशेषताओं मे इन्हे देखा जा सकता है। ये विशेषताएँ सभी धर्मों मे समाजो के संगठन एव व्यवस्था के लिए भी आवश्यक हैं।

(ii) **विशिष्ट धर्म** (Vishishta Dharma)

उन कर्त्तव्यो का पालन करना, जिनका व्यक्ति के लिए समय, स्थान और परिस्थिति के अनुसार आवश्यक होता है, विशिष्ट धर्म कहलाता है। क्योकि यह धर्म व्यक्ति विशेष की आयु, स्वभाव, वर्ण, कुल और व्यवहार आदि से सम्बन्धित होता है इसलिए इसे स्वधर्म भी कहा गया है। विशिष्ट धर्म के महत्त्व के सम्बन्ध मे गीता में लिखा है, "स्वकर्मणा तमभ्यचर्य सिद्धिं विदन्ति मानव:।" अपने धर्म का पालन करने से ही व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी होता है। विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, राज धर्म,युग धर्म, मित्र धर्म, गुरु धर्म आदि आते हैं जो निम्न प्रकार हैं—

1. वर्ण धर्म (Varna Dharma—हिन्दू सामाजिक संरचना मे चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे, बाद मे अस्पृश्य वर्ण और विकसित हो गया था। प्रत्येक वर्ण के कर्त्तव्यो को वर्ण धर्म कहा गया है जो निम्न प्रकार हैं--(1) **ब्राह्मण वर्ण** का धर्म अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ, धार्मिक कार्यों को करना, दान लेना तथा देना आदि था। (2) **क्षत्रिय वर्ण** का धर्म समाज के अन्य वर्णों के जीवन एव सम्पत्ति की रक्षा करना, अध्ययन करना, दान देना, युद्ध

करना शासन करना तथा बाहरी आक्रमणों का शौर्य से सामना करना है। (3) **वैश्य वर्ण** का धर्म पशुपालन, कृषि, उद्योग एवं व्यवसाय से जीविकोपार्जन तथा धनोपार्जन करना है। (4) **शूद्र वर्ण** का धर्म उपर्युक्त तीनो वर्णों की सेवा करना है। पाँचवाँ और अन्तिम—**अस्पृश्य वर्ण** का धर्म सफाई आदि का कार्य करना है। वर्ण धर्म प्रत्येक वर्ण के कार्यो तथा कर्त्तव्यों की व्याख्या करता है।

2. आश्रम धर्म (Ashram Dharma)—हिन्दू समाज में व्यक्ति के जीवन को चार आश्रमों में बाँटा गया है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम। प्रत्येक आश्रम की अवधि आश्रम धर्म के अनुसार 25-25 वर्ष की है। धर्मानुसार इन आश्रमो के कर्त्तव्य निम्न प्रकार हैं—(1) **ब्रह्मचारी का धर्म** गुरु के आश्रम में निवास करना, गुरु की सेवा करना, पवित्र जीवनयापन करना, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, धर्म में निष्ठा रखते हुए विद्या प्राप्त करना आदि हैं। यह आश्रम व्यक्तित्व-निर्माण का काल है। (2) **गृहस्थ का धर्म** प्रतिदिन पाँच महायज्ञ करना, दूसरे आश्रम के सदस्यों को दान एवं सहायता देना, सन्तानोत्पत्ति करना, परिवार के सदस्यों का पालन-पोषण करना आदि हैं। इस आश्रम मे व्यक्ति अर्थ और काम की पूर्ति करता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है। (3) **वानप्रस्थी का धर्म** परिवार, धन और संसार का मोह त्यागकर जंगल में कुटिया बनाकर रहना, अन्य आश्रम के लोगों का मार्गदर्शन करना, सभी के कल्याण के लिए कार्य करना, निष्काम भाव से धर्म-कर्म करना, इन्द्रिय-विषयों पर नियन्त्रण रखना तथा भोग-विलास त्याग देना है। (4) **संन्यासी का धर्म** ससार को पूर्ण रूप से त्यागकर, विरक्त होकर अपनेआप को ईश्वर में लीन कर देना है। संन्यासी का धर्म फल-फूल से जीवनयापन करना या भिक्षा से शरीर की रक्षा करना है। आश्रम धर्म में व्यक्ति के लिए प्रत्येक आश्रम से सम्बन्धित कर्त्तव्य निश्चित किए गए हैं जिनके पालन से व्यक्ति स्वय का विकास, परिवार का पालन, समाज की सेवा करता हुआ मोक्ष की प्राप्ति करता है।

3. कुल धर्म (Kul Dharma)—कुल धर्म के अन्तर्गत कुल, परिवार या संयुक्त परिवार आदि के जो सदस्य होते हैं उनके एक-दूसरे के प्रति जो कर्त्तव्य होते हैं उनको रखा गया है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से कुल के सदस्यों के भूमिका-विन्यास के कर्त्तव्य कुल-धर्म कहलाते हैं। कुल या परिवार के भूमिका-विन्यास हैं—पति-पत्नी, पिता-पुत्र, माता-पुत्र भाई-भाई, भाई-बहिन, बहिन-बहिन, पिता-पुत्री, माता-पुत्री आदि। पिता जो परिवार का मुखिया है उसका कर्त्तव्य—परिवार के सदस्यों का पालन-पोषण करना है। पति के रूप मे उसका धर्म है—पत्नी की आवश्यकताओ की पूर्ति करना। इसी प्रकार पत्नी का कर्त्तव्य या धर्म है—पति की सेवा एवं उसकी इच्छाओं की पूर्ति करना एवं यौनिक पवित्रता बनाए रखना। भाई एवं पुत्र का धर्म है—त्याग, निष्ठा, माता-पिता की सेवा, परिवार के सदस्यों के लिए कल्याणकारी कर्त्तव्य सम्बन्धी कार्य करना। कुल धर्म में व्यक्ति—पिता, पति, भाई, पुत्र आदि के रूप में अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए श्रेष्ठ कार्य करके पापों से मुक्ति पाता है। इसी प्रकार स्त्री—पत्नी,

पुत्री बहिन, माता के रूप में अपने धर्म का पालन करके कुल की खुशहाली में वृद्धि करती है। यही सब कुछ-कुल धर्म कहलाता है।

4. राज धर्म (Raj Dharma)—महाभारत में राजा के सम्बन्ध में निश्चित कर्त्तव्यों को स्पष्ट किया गया है जिनका पालन करना शासक के लिए आवश्यक है। महाभारत के अनुशासन पर्व में लिखा है कि वह राजा मोक्ष का अधिकारी है जो अपने देश और धर्म की रक्षा करता हुआ वीरगति को प्राप्त होता है। राजा का कर्त्तव्य—सैनिकों का सम्मान करना, प्रजा की रक्षा करना, बाहरी आक्रमणों से प्रजा की रक्षा करना, यथोचित व्यवहार करना, दृढ़-प्रतिज्ञ होना आदि है। राज धर्म में एक राजा के सभी कर्त्तव्य आ जाते हैं।

5 युग धर्म (Yug Dharma)—यह काल धर्म भी कहलाता है। मनुस्मृति, पाराशर स्मृति और पद्म पुराण में युग धर्म पर प्रकाश डाला गया है। युग के परिवर्तन के साथ-साथ समाज में परिवर्तन होता है तथा उसकी आवश्यकताओं में परिवर्तन आता है। इसी के साथ-साथ कर्त्तव्यों में परिवर्तन आता है जिनका उल्लेख ही युग धर्म है। सतयुग में तप, त्रेता युग में ज्ञान द्वापर युग में यज्ञ और कलियुग में दान ही युग धर्म है। हिन्दू धर्मशास्त्रियों ने युग की माँग को ध्यान में रखकर जिन कर्त्तव्यों का निर्धारण किया है, वह सब युग धर्म कहलाता है।

6. मित्र धर्म (Mitra Dharma)—हिन्दू धर्म में मित्र धर्म को सर्वोपरि माना गया है क्योंकि मित्रों की परस्पर भूमिका एवं कर्त्तव्य समान स्तर पर क्रियाशील होते हैं। उनमें परस्पर ऊँच-नीच, गरीब-अमीर, आयु भेद, लिंग भेद, पद भेद आदि के अन्तर नहीं होते हैं। मित्र वही है जो संकट में सहायता करे। मित्र का धर्म है कि वह अपने मित्र को उसके कर्त्तव्यों से अवगत कराए, पालन करने के लिए बाध्य करे, मन, वचन, कर्म एवं शरीर से रक्षा करे, दूसरों के सामने मित्र का गुणगान करे, मित्र को उसके अवगुणों से अवगत कराए, आपस में एक-दूसरे से कुछ नहीं छिपाए, पति-पत्नी, भाई-भाई, बहिन-बहिन, हम-आयु के अतिरिक्त कोई भी अच्छा मित्र होकर मित्र धर्म का पालन करके अपना एवं समाज का विकास कर सकता है।

7. गुरु धर्म (Guru Dharma)—समाज में व्यक्ति की अनेक पद एवं भूमिकाएँ होती है, उसी के अनुसार उनके कर्त्तव्य एवं अधिकार निश्चित किए गए हैं जिन्हें विशिष्ट धर्म कहा गया है। इसमें गुरु का पद सर्वश्रेष्ठ अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के समकक्ष रखा गया है। क्योंकि गुरु ईश्वर तक पहुँचने का मार्ग दिखाता है इसलिए गुरु को ईश्वर से भी ऊँचा स्थान दिया गया है। गुरु का धर्म त्याग और अहिंसा के द्वारा शिक्षा का प्रसार करना है। सदैव लोभ, मोह, दम्भ, क्रोध आदि से दूर रहना तथा इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, गुरु के प्रमुख धर्म हैं। शिष्यों के हित की कामना करना, उनसे पराजित होकर भी गर्व करना भी गुरु-धर्म है। गुरु समाज का चलता-फिरता आदर्श रूप होता है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से जो कर्त्तव्य समाज के सदस्यों के विभिन्न पदों एवं भूमिकाओं के अनुसार होते हैं वे सभी विशिष्ट धर्म कहलाते हैं।

(iii) आपद्धर्म (Apat Dharma)

व्यक्ति के जीवन में विपत्ति, कष्ट, बीमारी, संकट, शोक आदि आते रहते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति सामान्य धर्म एवं विशिष्ट धर्म का पालन नहीं कर पाता है। हिन्दू शास्त्रकारों ने ऐसी

विपत्ति या संकट के समय कुछ समाधान एवं परिवर्तन की आज्ञा प्रदान की है जिसे आपद्धर्म कहा गया है। उदाहरण के रूप में जैसे किसी कुल या परिवार में किसी सदस्य की मृत्यु होने पर अन्य सदस्य सामान्य एवं विशिष्ट धर्मो के नियमों मे परिवर्तन कर लेते हैं। परन्तु पुनः सामान्य स्थिति आने पर सामान्य धर्म एवं विशिष्ट धर्म के कर्त्तव्यों का पालन करना अनिवार्य हो जाता है। आपद्धर्म व्यक्ति को आपत्ति काल में उतनी ही छूट देता है जितनी आवश्यकता होती है। आपद्धर्म की प्रकृति को निम्न घटनाओं के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—(1) उपनिषद् में एक ऋषि की घटना का वर्णन है कि वह भूख के कारण मरणासन्न था। उसने शरीर की रक्षा के लिए शूद्र से जूठे उड़द तो लेकर खा लिए लेकिन शूद्र के हाथ का छुआ पानी नहीं पिया क्योंकि पानी तो ऋषि को अन्यत्र भी उपलब्ध हो सकता था। ऋषि ने भूख शान्त करने तथा जीवित रहने के लिए धर्म का उतना ही उल्लंघन किया जितना आपत्ति के निवारण के लिए उचित था। यह घटना कल्याण के "हिन्दू संस्कृति"—विशेषांक, पृ 166 मे वर्णित है। (2) एक बार एक गाय बधिकों से बचकर ध्यान-मग्न मुनि की गुफा में घुस गई। बधिक पीछा करते वहाँ आए और मुनि से गाय के बारे मे पूछताछ की तो मुनि मौन रहे। बधिकों ने गाय को खोज लिया। मुनि झूठ बोलकर गाय को रक्षा कर सकते थे। परन्तु उन्होने ऐसा नहीं किया। इस कारण उनकी सारी तपस्या नष्ट हो गई। धर्मानुसार गाय की रक्षा करना मुनि का परम कर्त्तव्य था तथा गौ-रक्षा के लिए झूठ बोलना पाप नहीं माना जाता। आपद्धर्मानुसार गौ-रक्षा ऋषि का कर्त्तव्य था चाहे झूठ बोलना पड़े। आपत्तिकाल में झूठ बोलना पाप नहीं है। (3) धर्मराज युधिष्ठिर से श्रीकृष्ण ने गुरु द्रोणाचार्य को युद्ध से रोकने के लिए झूठ बुलवाया था— "अश्वत्थामा मारा गया" और उनका अगला आधा वाक्य "वह हाथी हो या मनुष्य" नगाड़ो, शंख आदि के शोर में दबा दिया गया जिसे द्रोणाचार्य नही सुन सके। महाभारत के युद्ध में यह योजनाबद्ध कार्य आपद्धर्म के अनुसार किया गया था।

जब दो धर्मों में टकराव हो तब आपद्धर्म द्वारा संकट को टालने के लिए महत्त्वपूर्ण धर्म की रक्षा करना तथा कुछ समय के लिए दूसरे धर्म के नियमो का त्याग किया जाता है। शास्त्रो मे धर्मसंकट के निवारण को ही आपद्धर्म कहा गया है। हिन्दू धर्म मे आपद्धर्म का प्रावधान होने के कारण ही यह अनेक आक्रमणों, संकटों तथा बाधाओं को समय-समय पर सहन करता हुआ आज भी अपने अस्तित्व को बनाए हुए है। इन विशेषताओं से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दू धर्म की विशेषता इसकी व्यावहारिक्ता एवं उदारता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण ही हिन्दू धर्म का इतिहास अन्य धर्मो एवं सस्कृतियो से कहीं अधिक दीर्घकालीन है।

सामान्य एवं विशिष्ट धर्म में अन्तर

(Difference between Samanya and Vishishta Dharma)

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति को इन दोनों धर्मों का आवश्यक रूप से पालन करना होता है। इन दोनों धर्मों मे उद्देश्य, क्षेत्र, महत्त्व परिवर्तनशीलता, पूजा, व्यक्तिवादिता और मानवता के गुणों के आधार पर निम्न अन्तर किए जा सकते हैं—

सामान्य एवं विशिष्ट धर्म में अन्तर

क्र. सं.	आधार	विशिष्ट धर्म	सामान्य धर्म
1	उद्देश्य	उद्देश्य ईश्वर की प्राप्ति तथा पारलौकिक है। निःश्रेयस की साधना करना है।	उद्देश्य लौकिक जीवन से सम्बद्ध है। व्यक्ति को सामाजिक अनुकूलन के अवसर प्रदान करना तथा अभ्युदय की क्षमता का विकास करना है।
2	क्षेत्र	क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है तथा इसका पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है।	इसका क्षेत्र अपेक्षाकृत एक छोटे समूह के लिए ग्रहणीय होने के कारण सीमित होता है।
3	महत्त्व	तुलनात्मक रूप से यह धर्म कम महत्त्वपूर्ण है। दोनों के सघर्ष की स्थिति मे विशिष्ट धर्म का पालन किया जाता है।	यह सामान्य धर्म की तुलना मे अधिक महत्त्वपूर्ण है। संघर्ष की अवस्था मे विशिष्ट धर्म को प्राथमिकता दी जाती है।
4	स्थिरता	इसके नियम पूर्णतया स्थिर होते हैं। किसी प्रकार का परिवर्तन करना सम्भव नहीं है।	इसमे देश, काल तथा स्थान के अनुसार परिवर्तन करने की कुछ छूट सम्भव है।
5	पूजा	यह देवी-देवताओ की पूजा और ईश्वरीय विश्वास से ही सम्बन्धित है।	यह कर्म-प्रधान धर्म है जिसकी विस्तृत विवेचना गीता में वर्णित है।
6.	प्रकृति	यह समष्टिवादी धर्म है इसका उद्देश्य सम्पूर्ण समाज का कल्याण करना है। इसकी प्रकृति सामाजिक है।	यह प्रत्येक व्यक्ति के कर्त्तव्यों का निरूपण अन्य व्यक्तियो के साथ होने वाले सम्बन्धो के सन्दर्भ मे करता है। इसकी प्रकृति व्यक्तिवादी है।
7	मानवता	यह मानवीय धर्म है। यह मानवीय गुणो का विकास करता है तथा आत्मा के परिष्कार से सम्बन्धित है।	यह उपयोगितावादी धर्म है। इसका उद्देश्य सम्पूर्ण समाज को सगठित रखना तथा समूहो मे सामजस्य स्थापित करना है।

भारतीय समाज पर हिन्दू धर्म का प्रभाव
(Impact of Hindu Religion on Indian Society)

हिन्दू धर्म ने भारतीय समाज एव संस्कृति पर अनेक प्रकार से प्रभाव डाले हैं जिसके कारण ही भारतीय समाज की निरन्तरता सदियों से बनी हुई है। इसने भारतीय समाज के

संगठन, सामाजिक एकता, नियमों एवं नैतिकता, सामाजिक नियन्त्रण, परिवर्तन, व्यक्तियों के चरित्र-निर्माण एवं सद्‌गुणों का विकास, भावात्मक सुरक्षा एवं संस्कृति की रक्षा आदि पर निम्न प्रभाव डाले हैं—

1. सामाजिक संगठन का आधार (Basis of Social Organisation)—भारतीय समाज के संगठन का आधार वैदिक काल से हिन्दू धर्म रहा है। हिन्दू धर्म में वेदों, उपनिषदों, आचार संहिताओं के द्वारा हिन्दुओं के लिए सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म एवं आपद्धर्म के द्वारा सभी प्रकार के कर्त्तव्य और अधिकारों को निश्चित कर दिया गया है। इससे सभी व्यक्ति अलौकिक शक्ति के भय के कारण इनका पालन करते हैं जिसने भारतीय समाज के संगठन को आधार प्रदान करने के साथ-साथ सगठित भी रखा है। जब भी किसी प्रजाति या संस्कृति ने इसे बदलने का प्रयास किया इस सुदृढ़ आधार के कारण वह प्रजाति या संस्कृति इस वृहद् संगठन में विलीन हो गई।

2. सामाजिक एकता में सहायक (Assist in Social Unity)—हिन्दू धर्म के कर्त्तव्य, नियम, मूल्य, आदर्श आदि समाज कल्याण तथा व्यक्तिगत त्याग को प्राथमिकता देकर समाज में एकता को स्थापित करते हैं। हिन्दू धर्म के उत्सव, त्यौहार, व्रत, तीर्थयात्रा, मेले आदि लोगों को परस्पर एक-दूसरे के निकट आने का अवसर प्रदान करते हैं तथा भाईचारा पैदा करते हैं। जाति प्रथा में जजमानी व्यवस्था, एकता का अनोखा उदाहरण है जो कर्म और पुनर्जन्म में विश्वास के कारण विभिन्न जातियों को साथ-साथ रहने के लिए प्रोत्साहित करती है तथा एकता की भावना पैदा करती है।

3. सामाजिक नियम एवं नैतिकता की पुष्टि (Strengthens Social Norms and Morality)—हिन्दू धर्म में अनेक सामाजिक नियम एवं नैतिकता की पुष्टि समय, स्थान एव परिस्थिति के अनुसार प्रदान की गई है। हिन्दू धर्म में धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक नियमों में अन्तर-रेखा खींचना कठिन है। धर्म और विशेष रूप से आपद्धर्म के कारण व्यक्ति कठिन-से-कठिन परेशानियो एवं आपात की स्थिति में धैर्य नहीं छोड़ता है। समाज को बनाए रखने, कर्त्तव्यों का पालन करने तथा वचनबद्धता के पालन करने में लोगों ने अपना तन-मन-धन सब कुछ त्याग दिया है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण हिन्दू समाज में देखे जा सकते हैं।

4. सामाजिक नियन्त्रण का साधन (Means of Social-control)—व्यक्ति धार्मिक नियमों का उल्लंघन इसलिए नहीं करता क्योंकि इन नियमों के पीछे अलौकिक शक्ति का भय होता है। धार्मिक कर्तव्यों का उल्लंघन करना या तोड़ना पाप समझा जाता है। इस धारणा के कारण समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्त्तव्यों का पालन करता है। झूठ बोलने, बेईमानी करने आदि से डरता है। चोरी करना, डाका डालना महापाप समझता है। इस प्रकार से हिन्दू समाज में व्यक्ति नियन्त्रण में रहता है। पाप-पुण्य, कर्म, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक सम्बन्धी विश्वासों ने तो व्यक्ति को नियन्त्रित करके हिन्दू धर्म को सामाजिक नियन्त्रण का सर्वोत्तम साधन बना दिया है।

5. सामाजिक परिवर्तन पर नियन्त्रण (Control on Social-change)—समाज में परिवर्तन सकारात्मक एवं नकारात्मक, हितकारी और अहितकारी दोनों प्रकार के होते हैं। धर्म के भय के कारण भारतीय समाज में परिवर्तन की गति धीमी है। धर्म ने समाज को परम्पराओं मे जकड़ रखा है इस कारण परिवर्तनो पर भी अंकुश रहता है तथा विघटनकारी, नकारात्मक एवं अहितकारी परिवर्तन तो हो ही नहीं पाते हैं।

6. पवित्रता की भावना का प्रसार (Spread of Sacred-feelings)—*दुर्खीम* के अनुसार समाज में दो प्रकार की क्रियाएँ होती हैं—पवित्र और साधारण, या पवित्र और अपवित्र। पवित्र या पावन सामाजिक क्रियाएँ धर्म के द्वारा निर्धारित होती हैं। हिन्दू धर्म में प्रातः काल उठने से लेकर सोने तक, जन्म से लेकर मृत्यु तक ही नहीं पूर्वजन्म, वर्तमान जन्म और अगला जन्म सभी पर धर्म का नियन्त्रण होता है। इस प्रकार धर्म पवित्र क्रियाओ को जन्म देता है उनका विस्तार और प्रसार करता है। व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया को धर्म नियन्त्रित, निर्देशित एवं संचालित करता है। इसीलिए भारतीय समाज धर्म-प्रधान समाज है।

7. व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास (Balanced Development of Personality)—हिन्दू-धर्म कर्म, पुनर्जन्म, भाग्य, पाप, पुण्य आदि विश्वासों एवं धारणाओ पर आधारित होने के कारण तथा वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था के द्वारा व्यक्तित्व का सन्तुलित विकास करता है तथा कष्ट को सहन करने की व्यक्ति मे क्षमता पैदा करता है। व्यक्ति विघटन की स्थिति मे भी भाग्य को कारण मानकर सन्तुलित मानसिक स्थिति में रहता है। दुःख में भी धर्म व्यक्ति को पवित्र सस्कारो के द्वारा सुख प्रदान करता है तथा जीवन से निराश नहीं होने देता है।

8. सद्‌गुणों का विकास (Development of Virtues)—धर्म अनेक प्रकार से व्यक्ति मे सद्‌गुणो का विकास करता है, जैसे—रामलीला, रासलीला, रामायण पाठ, गीता पाठ, भजन-पूजन, व्रत, अनुष्ठान त्यौहार, जीवन के सस्कार आदि के अवसर पर सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म तथा आपद्धर्म के नियम आदि दोहराए जाते हैं। इससे व्यक्ति और समाज मे धर्म द्वारा सद्‌गुणों का प्रसार, प्रचार एवं विकास होता रहता है।

9. कर्त्तव्यों का निर्धारण (Determination of Duties)—हिन्दू धर्म अपने समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए समय, स्थान एवं परिस्थिति के अनुसार कर्त्तव्यों को निर्धारित, नियन्त्रित एवं निर्देशित करता है। ऐसा विशेष रूप से विशिष्ट धर्म करता है। वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, मित्र धर्म आदि इसके उदाहरण हैं। धर्म में महत्त्वपूर्ण लक्षणों का उद्देश्य भी व्यक्ति के कर्त्तव्यों का निर्धारण करने के लिए समय-समय पर किसी-न-किसी रूप में होता रहता है।

10. भावात्मक सुरक्षा (Emotional Security)—वास्तविकता तो यह है कि जब व्यक्ति चारों ओर से निराश हो जाता है तब अन्तिम सहारा उसे धर्म ही नजर आता है जो भावात्मक सुरक्षा एवं सन्तुलन प्रदान करता है। परन्तु हिन्दू धर्म ही एक ऐसा धर्म है जो व्यक्ति को हमेशा भावात्मक सुरक्षा प्रदान करता रहता है। तुलसीदास जी ने लिखा है, "हानि-लाभ,

जीवन-मरण, यश-अपयश, विधि हाथ"। यह धार्मिक विश्वास व्यक्ति को सभी अवस्थाओं में विचलित होने से सुरक्षा प्रदान कर रहा है। हिन्दू धर्म इस प्रकार के विश्वासों, घटनाओं, उदाहरणों से भरा बड़ा हैजिसके सहारे व्यक्ति सभी प्रकार की परिस्थितियों से अनुकूलन कर लेता है। हिन्दू धर्म अनेक प्रकार से भावात्मक एकता को बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहता है।

11. मनोरंजनात्मक कार्य (Recreational Functions)—ऐसा नहीं है कि हिन्दू धर्म व्यक्ति के लिए मात्र प्रतिबन्ध, कर्त्तव्य, पूजा-पाठ और कर्म-प्रधान ही हो बल्कि यह व्यक्ति को अनेक प्रकार से मनोरंजन भी प्रदान करता है। अनेक संस्कारों, उत्सवों, त्योहारो, मेलों, यज्ञ, पूजा-पाठ के द्वारा व्यक्ति, परिवार, ग्राम तथा राष्ट्रों आदि के स्तर पर मनोरंजन प्रदान करता है। हिन्दू समाज में कोई भी कार्य धार्मिक कृत्यों, अनुष्ठानों आदि के बिना सम्पन्न नहीं होता है। इसमें दान-दक्षिणा के साथ-साथ प्रीतिभोज आदि का प्रावधान भी होता है। लोग परस्पर मिलते हैं तथा अनेक प्रकार से मनोरंजन करते हैं।

12. भारतीय संस्कृति एवं समाज की रक्षा (Protection of Indian Society and Culture)—हिन्दू धर्म ने सदियो से भारतीय समाज एवं संस्कृति की रक्षा की है तथा एकीकरण को बनाए रखा है। इसका मुख्य कारण हिन्दू धर्म का उदारवादी होना है। जो भी संस्कृति या प्रजाति बाहर से भारत में आई उसे इस धर्म ने अपने में मिला लिया तथा समाज एवं संस्कृति में बहुलता के विकास के साथ-साथ एकता में वृद्धि की तथा इसकी रक्षा की है। दुबे, पी वी. काणे, हट्टन, घुर्ये आदि अनेक विद्वानों ने लिखा है कि हिन्दू धर्म की प्रमुख भूमिका भारतीय समाज की रक्षा करने में उल्लेखनीय रही है। संसार में अनेक सभ्यताओं और संस्कृतियों की उत्पत्ति, विकास और ह्रास हुआ। मानव इतिहास में वैदिक संस्कृति के समान और कोई संस्कृति इतने दीर्घकाल तक नहीं रह पाई। वैदिक संस्कृति को लगभग पिछले 6,000 वर्षों से निरन्तरता प्रदान करने का श्रेय हिन्दू धर्म को जाता है। हिन्दू धर्म की विभिन्न विशेषताओं ने भारतीय समाज को एकता, निरन्तरता तथा सुदृढ़ता प्रदान की है।

हिन्दू धर्म के दोष
(Demerits of Hindu Religion)

हिन्दू धर्म को अनेक विशेषताओं के होते हुए भी इसमें कुछ दोष भी हैं जिनका अध्ययन करना तथा निवारण करना अत्यावश्यक है। हिन्दू धर्म में दोष उत्पन्न होने का कारण विशेष परिस्थितियाँ रही हैं। जैन और बौद्ध धर्मों के प्रादुर्भाव के बाद हिन्दू धर्म में दोष आने प्रारम्भ हुए थे। जैन और बौद्ध धर्मों ने हिन्दू धर्म की वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था। हिन्दू धर्म की बौद्ध एवं जैन धर्म से रक्षा करने के लिए हिन्दू धर्म में अनेक निषेध लगाए गए, विशेष रूप से शूद्रों एवं अन्त्यजों पर तो अमानवीय निर्योग्यताएँ थोपी गई थीं। स्मृतियों की रचनाओं मे ऐसे प्रतिबन्धों को और बढ़ावा दिया गया। वर्ण को कर्म-प्रधान के स्थान पर जन्म-प्रधान घोषित किया गया। कर्मकाण्डों को महत्त्व दिया गया। मध्यकाल में तो धर्म रूढ़िवादी हो गया।

समाज मे लोग कर्मकाण्डो को प्रथा के रूप मे देखने लगे। आश्रम-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था का महत्त्व कम हो गया। व्यक्ति धर्म के कर्त्तव्य भूल गया। सामाजिक एकता, राष्ट्रीय एकीकरण जैसे मूल्यो का ह्रास हो गया। समाज मे अनेक कुप्रथाएँ—जाति-प्रथा, पर्दा-प्रथा, अन्तर्विवाह, देवदासी प्रथा, अस्पृश्यता, कुलीन विवाह, स्त्रियो की निम्न स्थिति आदि भी प्रचलित हो गई। हिन्दू धर्म का प्रभाव निम्न कारणो से कम होता जा रहा है—

1. धर्म की रूढ़िवादी प्रकृति (Conservative nature of Religion)—हिन्दू धर्म मे अनेक अन्धविश्वासो, कुसस्कारो तथा पाखण्डो का प्रादुर्भाव होने के कारण यह धर्म रूढ़िवादी हो गया है। इसमे नवीन परिस्थितियो के साथ अनुकूलन करने की क्षमता प्राय: समाप्त सी हो गई है। अधिकतर लोग धर्म की मौलिक विशेषताओ से अवगत नहीं है। लोग नास्तिक होते जा रहे हैं।

2. पश्चिमीकरण (Westernization)—भारत मे पश्चिमीकरण के कारण आध्यात्मवाद के स्थान पर भौतिकवाद की दिनो-दिन वृद्धि होती जा रही है। समूहवाद, त्याग, बलिदान,दान आदि के स्थान पर व्यक्तिवाद, स्वार्थ-लोलुपता तथा संकीर्णता बढ़ती जा रही है। धर्म का महत्त्व घटता जा रहा है। लोग भौतिकवादी होते जा रहे है।

3. औद्योगीकरण (Industrialization)—जब से भारत मे औद्योगीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है इसने धन के महत्त्व को बढा दिया है। आज व्यक्ति की सामाजिक परिस्थिति का निर्धारण धन से होने लगा है। समाज का प्रत्येक सदस्य धर्म के कर्त्तव्यो के पालन करने के स्थान पर अधिक-से-अधिक धन कमाना चाहता है। औद्योगीकरण से व्यवसायो की बहुलता हो गई है जिससे जाति और वर्ण पर आधारित व्यवसाय के प्रतिबन्ध कमजोर पड़ गए हैं। इससे धर्म के नियम समाज मे महत्त्व खोते जा रहे हैं तथा नए मूल्य एव लक्ष्य पनप रहे हैं।

4. नैतिकता के दोहरे मापदण्ड (Double standards of Morality)—आज भारत देश मे परिस्थितियाँ बहुत बदल गई हैं। धर्म का प्रभाव कम हो गया है। देश के अधिकतर नागरिक बाहर से तो स्वय को आस्तिक, धर्मपरायण, त्यागी, दानी, कर्त्तव्य-परायण आदि रूपो मे व्यक्त करते हैं लेकिन उनके लक्ष्य तथा साधन भौतिकवादी हैं। अपने स्वार्थ के लिए वे कुछ भी करने को तैयार रहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छाओ को पूर्ति करना चाहता है, व्यक्ति धर्म के प्रति उदासीन है। इस नैतिकता के दोहरे मापदण्ड के कारण हिन्दू धर्म का ह्रास हो रहा है।

5. अशिक्षा (Illiteracy)—देश की अधिकाश जनसख्या अशिक्षित है। मठाधीश, पुरोहित आदि जनसाधारण का धर्म के नाम पर तरह-तरह से शोषण कर रहे हैं। पुरुषार्थ का महत्त्व प्राय: समाप्त-सा हो गया है। स्थानीय एव व्यक्तिगत विश्वास को लौकिकता का रूप प्रदान करके हिन्दू धर्म का अग बनाया जा रहा है। कर्म की प्रधानता गौण हो गई है। सामान्य-धर्म और विशिष्ट-धर्म का स्थान सभी जगह, आपद्धर्म को दिया जा रहा है। आपद्धर्म सकट काल के स्थान पर सामान्य परिस्थितियो मे महत्त्वपूर्ण होता जा रहा है। सभी नैतिक मूल्यो का पतन हो गया है। अशिक्षा के कारण लोग धर्म का अर्थ समझ नहीं पा रहे हैं, जिसका लाभ स्थानीय मन्दिर, मठ, पुरोहित उठा रहे हैं।

हिन्दू धर्म को अपने वास्तविक स्वरूप मे लाने के लिए तथा कमियो को दूर करने के लिए योजनाबद्ध प्रयास करना आवश्यक है क्योंकि इस धर्म से ही मानव-कल्याण सम्भव है। यह धर्म कल्याणकारी है जिसकी श्रेष्ठता का वर्णन मैक्समूलर ने निम्न शब्दो में किया है—

"यदि मुझसे पूछा जाए कि किस आकाश के नीचे मानव मन के सर्वोत्तम पक्ष का पूर्ण विकास हुआ? कहाँ के लोगो ने जीवन की गम्भीरतम समस्याओं पर गहनतम विचार किया? और किन्होने उनमे से कुछ समस्याओ के ऐसे उत्तर खोजे हैं जो प्लेटो और काम्ट जैसे अध्येताओ के लिए भी मान्य हैं, तो मैं भारत की ओर ही संकेत करूँगा। यदि मैं स्वय से ही प्रश्न करूँ कि हम यूरोपवासी (जो केवल यूनानी, रूसी ओर यहूदी, विचारों मे पले हैं) कहाँ के साहित्य से वह विवेक-दृष्टि प्राप्त करें जो हमारे जीवन को अधिक पूर्ण, सर्वतोन्मुखी, अधिक विराट या यो कहें कि सच्चे अर्थों में मानवीय बनाने के लिए अधिक आवश्यक है, कहाँ से मिलेगा हमे वह तत्त्व जो केवल इसी जीवन के लिए नहीं अपितु एक उत्कृष्ट और शाश्वत् जीवन के लिए अनिवार्य है—तो मैं पुन: भारत की ओर सकेत करूँगा।"

इस कथन से हिन्दू धर्म का महत्त्व स्वत: ही स्पष्ट हो जाता है।

❐

अध्याय-15

शिक्षा

(Education)

जन्म के समय प्राणी असामाजिक एव असहाय होता है। उसकी न तो कोई सस्कृति होती है, न कोई आदर्श, किन्तु जैसे-जैसे वह बडा होता जाता है, एक सामाजिक प्राणी के रूप मे समाज के सम्मुख आता है। उसकी शारीरिक आवश्यकताओ की सम्पूर्ति भोजन द्वारा की जाती है, किन्तु उसे सामाजिक और सास्कृतिक मानव बनाने मे शिक्षा की महती भूमिका होती है। शिक्षा व्यक्ति की नैसर्गिक प्रवृत्तियो का शोधन और मार्गान्तरीकरण करके उसे समाज का एक सक्रिय और उपयोगी सदस्य बनाती है, जिससे वह अपने उत्तरदायित्वो का निर्वहन कुशलतापूर्वक कर सकता है। इस रूप मे शिक्षा जीवन की आवश्यकताओ की सम्पूर्ति करने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। जॉन डी वी, ने इसे महत्त्वपूर्ण मानते हुए उचित ही लिखा है, "जिस प्रकार शारीरिक विकास के लिए भोजन का महत्त्व है, उसी प्रकार सामाजिक विकास के लिए शिक्षा का।"

शिक्षा का व्यक्ति का सामाजीकरण करने, समाज का श्रेष्ठ नागरिक बनाने, सामाजिक, आर्थिक एव सांस्कृतिक प्राणी बनाने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इस सदर्भ मे सर्वप्रथम शिक्षा का अर्थ, परिभाषा, देखने का प्रयास किया जाएगा। तत्पश्चात् शिक्षा के प्रकार, इतिहास एवं वर्तमान समय मे उसकी प्रासगिकता पर विचार प्रकट किए जायेगे।

शिक्षा की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Education)— शिक्षा शब्द सस्कृत की शिक्ष् धातु से बना है—'शिक्ष शिक्षणे' जिसका अर्थ है सीखना, अध्ययन करना, ज्ञानार्जन करना। अग्रेजी भाषा के शब्द एजूकेशन (Education) की उत्पत्ति लेटिन भाषा के 'एजूकेटस' शब्द से शुरू हुई जो E + DUCO दो शब्दो के योग से निर्मित है। E का अर्थ—'अन्दर से' और 'DUCO' का अर्थ 'विकास करना, आगे बढना' है, जिसका अर्थ हुआ—"अन्दर से विकास करना'। इसके अनुसार शिक्षा का अर्थ है—"बालक की अन्तर्निहित शक्तियो या गुणों का बाहर की ओर सर्वागीण विकास करना। विद्या या शिक्षा दोनो शब्दो का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है। शिक्षा के सस्कृत और अग्रेजी के व्युत्पत्तिपरक अर्थ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शिक्षा बालक में अन्तर्निहित जन्मजात शक्तियो का प्रकटीकरण है। इस रूप मे शिक्षा विकास की प्रक्रिया है।

शिक्षा की परिभाषाएँ (Definition of Education)—भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार, "विद्ययाऽमृतमश्नुते", "सा विद्याया विमुक्तये", "ऋते ज्ञानात् न मुक्ति" एवं "नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते" आदि रूप में शिक्षा को परिभाषित किया गया है, जिसका अर्थ यही है कि शिक्षा अथवा ज्ञान से अमरत्व की प्राप्ति होती है और यह मुक्ति की ओर ले जाती है।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार, "शिक्षा, मनुष्य मे निहित दैवी पूर्णता का प्रकटीकरण है।"

पाश्चात्य दृष्टिकोण के अनुसार—**बटलर** की परिभाषा समीचीन है, "शिक्षा प्रजाति की आध्यात्मिक सम्पत्ति के साथ व्यक्ति का क्रमिक सामजस्य है।"

टी.पी. नन के अनुसार, "शिक्षा बालक की वैयक्तिकता का पूर्ण विकास है, जिससे वह अपनी पूर्ण योग्यता के अनुसार मानव जीवन को मौलिक योगदान दे सके।"

शिक्षा का अर्थ (Meaning of Education)—शिक्षा को दो अर्थो मे प्रयुक्त किया जाता है—(i) शिक्षा का संकुचित अर्थ और (ii) शिक्षा का व्यापक अर्थ। संकुचित अर्थ के अनुसार शिक्षा हमारी शक्तियो के विकास एवं सुधार हेतु चेतनापूर्वक किया गया प्रयास है, जबकि व्यापक अर्थ के अनुसार शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवनपर्यन्त चलती है तथा जीवन के प्रत्येक अनुभव से उसमे वृद्धि होती है।

व्यापक अर्थ में शिक्षा-समाजशास्त्रीय विचारधारा के अनुसार—"*एक सामाजिक प्रक्रिया*" कही जा सकती है, जिसका अस्तित्व समाज के अस्तित्व पर ही निर्भर करता है। साथ ही यह एक "*गतिशील प्रक्रिया*" भी है, जो समाज के परिवर्तन के साथ परवर्तित होती रहती है। शिक्षा के संकुचित और व्यापक अर्थ के अनुसार इसे तीन प्रकारो मे विभाजित किया जा सकता है—

शिक्षा

औपचारिक शिक्षा | अनौपचारिक शिक्षा | निरौपचारिक शिक्षा

(1) औपचारिक शिक्षा (Formal Education)—औपचारिक अर्थ के अनुसार—यह विद्यालयो में दी जाने वाली शिक्षा है, जो योजनाबद्ध रूप मे किसी निर्धारित अवधि मे दी जाती है ओर कार्यक्रम की समाप्ति पर शिक्षा पूर्ण हो जाती है। *मिल* ने इसे अधिक स्पष्ट किया है, "शिक्षा वह सभ्यता है, जो प्रत्येक पीढी अपने उत्तराधिकारियों को उसे (सभ्यता) बनाए रखने और ऊँचा उठाने की योग्यता करने के उद्देश्य से देती है।" अर्थात् औपचारिक शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें योजनाबद्ध रूप मे बालक को मानसिक दृष्टि से विकसित करने के उद्देश्य से प्रयासरत रहा जाता है अथवा समाज द्वारा विचारपूर्वक आयोजित किए जाने वाले विशेष प्रभाव, जो नवीन पीढ़ी के कल्याणार्थ किए जाते हैं, इसी शिक्षा के अन्तर्गत आते हैं।

(2) अनौपचारिक शिक्षा (Informal Education)—व्यापक रूप मे शिक्षा आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है, जिससे बालक को उसके वातावरण से समायोजित करने योग्य बनाया जा सके। इसीलिए कुछ शिक्षाशास्त्री यह मानते हैं, "*जीवन ही शिक्षा है और शिक्षा ही जीवन*

है।" (Life is Education and Education is Life in itself) डम्विल के अनुसार, "शिक्षा के व्यापक अर्थ मे वे सभी प्रभाव आ जाते हैं, जो व्यक्ति को जन्म से लेकर मृत्यु तक प्रभावित करते हैं।" इस शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य सैद्धान्तिक रूप से बालक का विकास करना है। इसके लिए विशेष समय, स्थान या विशेष व्यक्ति की आवश्यकता नहीं होती, न ही इसके लिए कोई पूर्व योजना, पाठ्यक्रम व शिक्षण-विधि आदि होती है। परिवार, समुदाय राज्य आदि सभी इसके अभिकरण हैं। यह बालक की अन्तर्निहित शक्तियो का अधिकतम विकास करती है।

(3) निरौपचारिक शिक्षा (Non-formal Education)—यह शिक्षा एक प्रकार से औपचारिक और अनौपचारिक शिक्षा का मिश्रित रूप कही जा सकती है, जिसमे शिक्षा की ओपचारिकताएँ, जैसे—पाठ्यक्रम, विद्यालय, शिक्षण विधियाँ, समय आदि शिक्षा के साधनो की कमी हो जाती है। यह शिक्षा उन व्यक्तियो के लिए उपयोगी है, जो विद्यालयी शिक्षा पूरी नहीं कर पाए और बडी उम्र मे पढना चाहते हैं। आज वैज्ञानिक एव तकनीकी विकास के युग मे जहाँ ज्ञान का विस्फोट हो रहा है, इस स्थिति मे निरौपचारिक शिक्षा श्रेयस्कर साधन है। इसमें समय, स्थान, अवधि, पाठ्यक्रम सभी दृष्टियों से शिक्षा मे शिथिलता बरती जाती है। वर्तमान मे प्रौढ़ शिक्षा, पत्राचार कार्यक्रम, इग्नू (IGNOU), 'नॉन फॉरमल एजूकेशन फॉर ड्रॉप आउट' आदि कार्यक्रम इसी विधि द्वारा आयोजित किए जा रहे हैं। इससे उन सभी व्यक्तियो को शिक्षा का लाभ मिलता है, जो किसी कारण समय रहते अपनी शिक्षा पूरी न कर सके।

भारत में शिक्षा का विकास (Development of Education in India)—वैदिक युग एतिहासिक दृष्टि से भारतीय सभ्यता के विकास और प्रसार का प्राचीनतम काल कहा जा सकता है, जिसमे शिक्षा मे 'गुरु-शिष्य' परम्परा प्रचलित थी। गुरु द्वारा मौखिक वार्तालाप, व्याख्या, विचार-विमर्श आदि द्वारा छात्र को शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का उद्देश्य 'मोक्ष की प्राप्ति' करना था। उत्तर-वैदिक युग मे गुरु-शिष्य संवाद, प्रश्नोत्तर, दृष्टात, कथोपकथन एव प्रत्यक्ष निरीक्षण आदि क्रियाओ द्वारा ज्ञान का स्पष्टीकरण किया जाता था। इसमें ग्रंथों की व्याख्या की जाती थी। युद्ध कौशल, नैतिकता आदि का शिक्षा व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करती थी। यह शिक्षा बहुत कम लोगों के लिए थी। प्राय: समाज के समृद्ध और शक्तिशाली वर्ग के बच्चे ही शिक्षा ग्रहण कर सकते थे। उपनिषद् काल में शिक्षा का प्रसार होने के कारण आश्रमों और गुरुकुलों की संख्या में वृद्धि हुई। व्यावहारिक और व्यावसायिक शिक्षण पर भी बल दिया जाने लगा। गुरु-सेवा, शिष्यों मे सामाजिकता, व्यवहार-कुशलता, सहकारिता, सामाजिक व युद्ध-सम्बन्धी व्यवस्था जैसे गुणो का विकास करना इस युग की विशेषता थी। मध्यकाल तक आते-आते शिक्षा के स्वरूप मे परिवर्तन आया। 18वीं शताब्दी के अन्त मे ब्राह्मणो की स्थिति मे परिवर्तन आया। शहरीकरण का रुझान बढा, अनेक रोजगार सामने आने लगे और शिक्षा की प्रक्रिया का विकास होने लगा। अनेक स्वदेशी पाठशालाएँ अस्तित्व मे आने लगीं। 19वीं सदी के प्रारम्भ में ब्रितानिया सरकार का ध्यान शिक्षा पर गया और अनेक पाठशालाएँ उस समय खुली, जिनमे जमींदार, व्यापारी आदि वर्ग के बालक पढने लगे। शिक्षा से सम्बन्धित नीतियाँ बनने लगी। शिक्षा सुविधाओ में विस्तार किया जाने लगा। इस अवधि में शिक्षा का

सार्वजनीकरण करने की बातें रखी गईं। उस काल में सन् 1870 से 1880 के बीच के अनिवार्य शिक्षा कानूनों से प्रेरणा मिली। 1882 में *हण्टर कमीशन* में अनिवार्य शिक्षा की बात कही गई। उसके बाद *गोपालकृष्ण गोखले* एवं *महात्मा गाँधी* ने प्राथमिक शिक्षा को सार्वजनीन बनाने का प्रयास किया। गाँधजी ने वर्धा-योजना बनाई। 20वीं सदी शिक्षा की दृष्टि से श्रेष्ठकाल कहा जा सकता है, जिसमें समाज के सभी वर्गो—अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, स्त्रियाँ, विकलांग आदि को शिक्षा के समान अवसर उपलब्ध कराए जा रहे हैं। इससे सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई है। राष्ट्रीय परिदृश्य मे शिक्षा सबके लिए आवश्यक है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति—यद्यपि शिक्षा के सार्वभौमिकरण के लिए समय-समय पर अनेक नीतियाँ आयोग बनते रहे, जिनमे सबके लिए शिक्षा के समान अवसर सुझाने पर बल दिया गया। विश्वविद्यालय आयोग (1952-53), कोठारी आयोग (1964-66) व शिक्षा नीति-1968 और अन्त में राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 का गठन हुआ तथा 1992 में इसमें पुन: संशोधन हुआ जिसमे शिक्षा के अवसरों की समानता पर विशेष ध्यान दिया गया है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) मे 'समानता के लिए शिक्षा' मे असमानताओं का निवारण और शैक्षिक अवसरो को समान उपलब्धियो पर जोर दिया गया है—इनमे कुछ महत्त्वपूर्ण वर्ग इस प्रकार हैं—

1. महिलाओं की समानता के लिए शिक्षा—नए मूल्यो के विकास हेतु महिलाओं की निरक्षरता के निवारणार्थ तथा शिक्षा मे उनमे प्रवेश की रुकावटों को दूर करने के लिए प्रयासों को आज सर्वाधिक प्राथमिकता दी जा रही है। महिलाओ की व्यावसायिक तकनीकी एवं अन्य क्षेत्रों मे भागीदारी बढ़ाने व समाज मे इनकी स्थिति को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से अनेक कार्यक्रम आयोजित किए जा रहे हैं। इसके लिए अनेक प्रावधान किए गए हैं—

(1) शिक्षा विभाग में महिला विकास के प्रभावी कार्यक्रमों का निर्माण। (2) एन.सी ई.-आर टी. नीपा, प्रौढ़ शिक्षा निदेशालय, यू जी सी , द्वारा राज्य एवं राष्ट्र स्तरो पर विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम, तथा (3) शिक्षण, अनुसन्धान, प्रशिक्षण और प्रसार कार्यक्रमों का क्रियान्वयन।

2. महिला शिक्षा को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से अनेक कार्यक्रम, जैसे—महिला समाख्या (1980) कार्यक्रम, राजस्थान मे नवोदय विद्यालय, बालिका शिक्षा फाउडेशन (1994), दत्तक जानकी योजना (1997-98), सरस्वती योजना (1994-95) व शिक्षा आपके द्वार (सन् 2000) योजनाएँ तथा इन्दिरा गाँधी महिला योजना (1995-96), स्वयसिद्धा योजना (2001) आदि चलाई जा रही हैं। सन् 2001 को *महिला अधिकारिता वर्ष* के रूप मे घोषित किया गया। महिला और बाल-विकास के विभाग द्वारा महिलाओं को *आर्थिक तथा सामाजिक* दोनों दृष्टियों से अधिकार प्रदान करने के उद्देश्य से उन्हे प्रशिक्षण, रोजगार और आय-सृजन, कल्याणकारी और सहायता सेवा आदि के उपाय किए जा रहे हैं। *रोजगार सृजन* हेतु रोजगार-सहायता कार्यक्रम, कृषि, डेयरी, हस्तशिल्प में उन्हे भागीदार बनाया जा रहा है।

कामकाजी महिलाओ के सहायतार्थ सस्ती दर पर उन्हें सुरक्षित आवास व्यवस्था उपलब्ध कराई जा रही है, जिससे उनकी गतिशीलता को और अधिक प्रोत्साहन मिले। इसके साथ ही 'समेकित बाल विकास योजना', 'आँगनबाडी केन्द्र' आदि के माध्यम से बीमार माता व शिशु के लिए शिशु-गृहो की भी व्यवस्था की जा रही है। इन सबका परिणाम यह है कि आज अनेक महिलाएँ शिक्षित, कामकाजी व अन्य सुविधाओ से लाभान्वित हैं।

2. अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ी जातियाँ व अल्पसंख्यकों की शिक्षा—इन सभी अल्प सुविधा प्राप्त वर्गों के लिए शिक्षा द्वारा अनेक प्रावधान किए गए हैं, जैसे—

(1) जनजाति क्षेत्रो मे विद्यालय खोलने को प्राथमिकता देना।

(2) इन बालकों के नामाकन, ठहराव, अध्ययन, समापन की रुकावटो की रोकथाम आदि के लिए योजनाओं का निर्माण।

(3) बडी मात्रा में आवासीय एवं आश्रम विद्यालय खोलना।

(4) इन जातियों के अध्यापको की नियुक्ति करना।

(5) होनहार व शिक्षित युवको को विशेष प्रशिक्षण देना।

(6) छात्रवृत्तियाँ व रोजगार मे आरक्षण करना।

(7) शैक्षिक रूप से पिछडे अल्पसंख्यको के लिए 'सघन क्षेत्रीय कार्यक्रम' तथा

(8) 'मदरसा शिक्षा' के आधुनिकीकरण के लिए वित्तीय सहायता योजना प्रदान करना।

इन लोगो के सामाजिक शैक्षिक उन्नयन हेतु 2001-02 के दौरान 407 करोड रुपये की योजना बनाई गई है। आर्थिक रूप से वंचित समूह के लिए राष्ट्रीय अनुसूचित जाति वित्त और विकास निगम, पिछडा वर्ग वित्त और विकास निगम एवं राष्ट्रीय अल्पसख्यक विकास और वित्त निगम आदि का निर्माण किया गया है, जिससे इन्हे रोजगार सम्बन्धी कार्यो मे सहायता मिल सके। जनजातीय मत्रालय की स्थापना (1999) मे की गई है। इन वर्गों के कल्याण और विकास हेतु 1040 करोड़ रुपये उपलब्ध कराए गए हैं।

(3) विकलांगों की शिक्षा—शारीरिक और मानसिक दृष्टि से अक्षम बालको को स्वस्थ बालको के समान सहभागित्व प्रदान करने के उद्देश्य से शिक्षा में अनेक व्यवस्थाएँ की गई हैं, जैसे—

(1) जहाँ तक सम्भव हो, साधारण विकलांगता वाले बच्चो की शिक्षा अन्य बच्चो के साथ की जाए।

(2) गम्भीर रूप से विकलाग बच्चो के लिए मुख्यालयो पर छात्रावास सहित विशेष विद्यालयो की व्यवस्था की जाए।

(3) शारीरिक रूप से अक्षम बालको के लिए व्यावसायिक शिक्षा मे समुचित प्रबन्ध किए जाएँ।

देश में 2 करोड़ से अधिक बच्चे विकलांग हैं। इन बच्चों के लिए 'समन्वित शिक्षा योजना' 1974 से प्रारम्भ की गई है। नौवीं योजना मे (1997-2002) में समन्वित शिक्षा योजना के लिए एक अरब रुपयों का प्रावधान है। इन बालकों के लिए *समान अवसर, अधिकारो का संरक्षण और पूर्ण भागीदारी अधिनियम, 1995* में बनाया गया था। इन लोगो के लिए *पुनर्वास कार्यक्रम* चलाया जा रहा है। वर्ष 2001-02 के दौरान विभिन्न योजनाओ के तहत इन लोगों के कल्याणार्थ 259 करोड़ रुपये का आयोजना आवंटन किया गया था।

सारांशत: यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में देश में शिक्षा के प्रचार-प्रसार व सार्वजनीन शिक्षा के निमित्त अनेक प्रयास सरकारी स्तर पर किए जा रहे हैं। इसका प्रभाव भी देश पर सकारात्मक रूप से पड़ा है, जो एक सुखद भविष्य का सूचक माना जा सकता है।

वर्तमान में शिक्षा का आकलन—शिक्षा को वर्तमान में समवर्ती सूची का विषय माना गया है, जिसमे केन्द्र और राज्य बराबर के सहयोगी हैं। शिक्षा-प्रणाली और उसके ढाँचे के बारे में फैसले प्राय: राज्य द्वारा तय किए जाते हैं, किन्तु शिक्षा के स्वरूप और उसकी गुणवत्ता का निर्धारण केन्द्र सरकार का दायित्व है।

सन् 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति और 1992 की कार्य-योजना में 21वीं सदी के प्रारम्भ होने से पहले ही देश मे 14 वर्ष तक सभी बच्चों को नि:शुल्क और अनिवार्य शिक्षा उपलब्ध कराने की बात कही गई है। सन् 2000 तक सकल घरेलू उत्पाद (GDP) का 6 प्रतिशत शिक्षा क्षेत्र के लिए आवंटित करने का प्रावधान है। इस राशि का 50 प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा पर व्यय किया जाएगा। नवीं पचंवर्षीय योजना मे शिक्षा खर्च 20,381,64 करोड रुपये रखा गया है। 1999-2000 में कुल केन्द्रीय योजना खर्च का 64 6 प्रतिशत प्राथमिक शिक्षा पर खर्च के लिए निर्धारित किया गया है। 558 45 करोड़ रुपये माध्यमिक शिक्षा के लिए, 110 करोड़ रुपये प्रौढ़ शिक्षा के लिए तथा 452 18 करोड़ रुपये तकनीकी शिक्षा के लिए निर्धारित किए गए हैं।

शिक्षा संस्थाएँ—वर्तमान में प्राथमिक संस्थाएँ (000) 548, मिडिल (000) 144, माध्यमिक/उच्च माध्यमिक (000) 73, कॉलेज-सामान्य शिक्षा के लिए 4,670, व्यावसायिक कॉलेज 1,700, विश्वविद्यालय 181 हैं। भारत की कुल जनसंख्या 1,02,70,15,247 हैं, जिसमे से पुरुष 53,12,77,078 तथा महिलाएँ 49,57,38,169 हैं। शिक्षा दर 65 38 प्रतिशत है। पुरुष शिक्षा दर 75.96 प्रतिशत एवं महिला शिक्षा दर 54.28 प्रतिशत है।

इन सब स्थितियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि शिक्षा पर पर्याप्त व्यय किया जा रहा है। महिला व पुरुष साक्षरता मे वृद्धि हुई है, फिर भी हमारा देश विकासशील देशो की कोटि में आता है। विश्व बैंक ने अपनी वर्ल्ड डवलपमेण्ट रिपोर्ट, 1989 मे प्रति व्यक्ति कुल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) के आधार पर विभिन्न देशों का वर्गीकरण किया है—सामान्यत: वे देश जिनकी वास्तविक प्रति व्यक्ति आय संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रति व्यक्ति आय की एक-चौथाई से कम है, उन्हें अल्पविकसित देशों में रखा जाता है। भारत को अल्पविकसित या

विकासशील देशो की कोटि में रखा गया है, क्योंकि इसका प्रति व्यक्ति कुल राष्ट्रीय उत्पाद कम है और अल्पविकसित देश का अर्थ है कि यहाँ आर्थिक विकास निम्न है। अल्प विकास का प्रमुख कारण अशिक्षा है। अत: अशिक्षा ही जो निर्धनता का भी कारण है। कहने का आशय है कि भारत में अभी भी शिक्षा की दर अन्य देशों की तुलना मे काफी कम है, जिसके कारण यहाँ उच्च तकनीक का अभाव रहता है। लोगो के रहन-सहन का स्तर निम्न होता है। महिला विकास पूर्णत: नहीं हो पाता। यद्यपि निरक्षरता-उन्मूलन की गति में वृद्धि हुई है, जो वर्ष 1991 की अवधि मे 8 64 प्रतिशतांक के सुधारो से वर्ष 2001 की अवधि में और सुधार कर 13.17 प्रतिशतांक हो गई। इसके और भी बढ़ने की सम्भावना है और यह आय में सुधर, शैक्षिक अवसरचना में सुधारो और पूर्ण साक्षरता लाने के उद्देश्य से गैर-सरकारी सगठनों और सरकार द्वारा किए गए प्रयत्नों में प्रतिबिम्बित होती है। इसके उपरान्त भी कुछ और ठोस प्रयासों की आवश्यकता है।

शिक्षा के अधिक उन्नयन के लिए कतिपय सुझाव

(1) यद्यपि वर्तमान मे शिक्षा का पर्याप्त विकास हुआ है, शिक्षितो का प्रतिशत बढ़ा है। फिर भी समानता के लिए शिक्षा का सकल्प अभी अधूरा है। इसका कारण यह है कि सबको शिक्षा ग्रहण करने के अवसरो मे असमानता है। यद्यपि शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार सबको है। अर्थात् हमारे यहाँ सब व्यक्ति समान नहीं हैं क्योंकि कुछ लोगों के पास अच्छी सुविधाएँ हैं, वे लोग सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से दूसरे लोगो की तुलना मे अधिक सम्पन्न हैं। अत: अपनी विशेष उपलब्धियों के कारण अच्छी-से-अच्छी शिक्षा ग्रहण करने मे सक्षम हैं। जबकि दूसरी ओर वे वर्ग भी हैं जो सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से कम विकसित होने के कारण अपने बच्चो को बिना शिक्षा पूरी हुए ही विद्यालय से हटा लेते हैं। इस कारण 'ड्रॉप-आउट' की संख्या भी बढ रही है। अत: समान-असमान का अन्तर शिक्षा मे बाधक है।

(2) शिक्षा के उन्नयन की दृष्टि से अनेक योजनाएँ चलाई जा रही हैं। जिनका उद्देश्य सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से हीन बालको को विशेष शिक्षा सुविधा उपलब्ध कराना है जिससे उन बच्चो मे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अक्षमता का भाव न जगे। आरक्षण-नीति का भी यही उद्देश्य है, किन्तु अनुसूचित जाति-अनुसूचित जनजाति के बच्चो के लिए जो स्थान आरक्षित कराए जाते हैं, सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं, वे बढती हुई असमान परिस्थिति की तुलना मे अपर्याप्त हैं। अनेक बार शिक्षा-सस्थाएँ भी बच्चे के समाज से जुड़ने से बाधक हो जाती हैं और अनेक बार पारिवारिक वातावरण इस प्रकार की प्रगति में बाधक बन जाता है। क्योंकि गरीबी की तुलना में शिक्षा पर लागत अधिक होती है। जो बच्चे आर्थिक तगी में रहते हैं और नौकरी करके माता-पिता का आश्रय बनते हैं, स्कूल उनकी आय मे बाधक ही होता है।

(3) लड़कियो की शिक्षा के विषय मे भी अल्प सुविधा प्राप्त परिवार सजग नहीं हो पाते। क्योंकि लडकियो को घर के काम करने, छोटे बालकों की देखभाल के लिए स्कूली

शिक्षा पूरी करने के पूर्व ही हटा लिया जाता है। अध्ययनों का सार यह है कि 50 प्रतिशत लड़कियाँ प्राथमिक शिक्षा पूरी होने से पूर्व पढ़ने-लिखने से रोक ली जाती हैं। शैक्षिक आयोजन और प्रशासन के राष्ट्रीय संस्थान (नीपा) द्वारा इस क्षेत्र मे कार्य किया गया है। पहली कक्षा मे प्रवेश लेने वाली 10 में से 2 लड़कियाँ ही आठवीं कक्षा तक पहुँच पाती हैं। नामांकन और ठहराव की स्थिति में यद्यपि अब सुधार हुआ है। किन्तु अभी भी काफी अन्तर है। हाँ, मध्यम वर्गीय परिवार अपनी लड़कियों को शिक्षित करना उपयोगी मानते हैं, उनकी आय से परिवार को आगे बढ़ाने में सहायता मिलती है। फिर यह भी सत्य है कि सामाजीकरण की प्रक्रिया मे लड़के और लड़की का अन्तर विद्यमान है।

(4) शिक्षा का प्रश्न रोजगार से भी जुड़ा है। शिक्षा व्यवस्था का यह एक दुर्भाग्य ही है कि वह सब लोगो को रोजगार उपलब्ध कराने में अक्षम है। उच्च शिक्षा का विकास देश में तेजी से हो रहा है यद्यपि यह उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाला भाग बहुत छोटा है। इस पर भी इतना धन व्यय हो रहा है कि जितना कि देश की अधिकांश आबादी वाली प्राथमिक शिक्षा पर किया जाता है। इसका आशय यह है कि अच्छे स्तर की उच्च वर्ग की शिक्षा और जन-शिक्षा को साथ-साथ चलना होगा और इसके लिए प्राथमिक शिक्षा की नीतियों पर विशेष ध्यान देना होगा। असमानताओं की खोज और उनका समाधान करना आवश्यक है, तभी देश आगे बढ़ सकेगा। शिक्षा को रोजगार से जोड़ने के लिए प्राथमिक स्तर से ही प्रयास करना आवश्यक है, शिक्षा के ढाँचे में बदलाव की आवश्यकता है।

(5) हमारे यहाँ शिक्षा औपचारिक रूप से विद्यालयो द्वारा ही दी जाती है, जिसमे शिक्षक द्वारा दिया गया ज्ञान ही छात्र प्राप्त करता है। सीखने का अर्थ यह है कि जिसमें अध्यापक की सहायता के बिना भी ज्ञान प्राप्त किया जा सके। ऐसी शिक्षा को बढ़ावा देने की आवश्यकता है, जिससे वे छात्र जो समयाभाव के कारण पढ़ने से वंचित रह जाते हैं, अपना अध्ययन इन अनौपचारिक संस्थाओ के माध्यम से कर सकें।

यदि इन उपर्युक्त सुझावों को ध्यान में रखकर शिक्षा मे समानता लाने का प्रयास किया जाएगा कि समाज में शैक्षिक अवसरों की समानता को सही रूप में शिक्षा प्राप्त करने के प्रयास के समान अवसर के रूप में लिया जा सकेगा।

❒

अध्याय-16

राजनीति

(Politics)

सभी समाजो (आदिम अथवा आधुनिक) मे किसी-न-किसी प्रकार की राजनीतिक व्यवस्था अवश्य पाई जाती है। राजनीति का सम्बन्ध प्रधानतः समाज मे शक्ति के वितरण, सचालन और नियत्रण से होता है। ऐसा समाज जो बहुत छोटा हो और बन्धुत्व सम्बन्धो पर आधारित हो, जैसे—कुटुम्ब और उसका अन्य परिवारो अथवा कुटुम्बो से किसी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध नहीं होता है तो उनमे राजनीतिक व्यवस्था का अभाव पाया जाता है। अनेक समाजशास्त्रियो और सामाजिक मानवशास्त्रियो ने स्पष्ट किया है कि राजनीतिक व्यवस्था विहीन समाज ससार मे अब नही मिलते है। स्टीवार्ड का कहना है कि जब से समाजो का लिखित लेखा-जोखा रखा गया है तब से अराजनीतिक समाजो का उल्लेख नहीं मिलता है। राजनीतिक सगठन उन सभी समाजो मे होता है जिन समाजो में समूहो का विभाजन बन्धुत्व, आर्थिकी, धर्म, लिग, भ्रातृत्व अथवा समुदाय के आधार पर होता है। ई ई ईवान्स प्रिचार्ड तथा फोर्टीस का कहना है कि शारीरिक बल प्रयोग के माध्यम से प्रभुता स्थापित कर क्षेत्रीय सीमा विशेष मे व्यवस्था स्थापित करना एव बनाए रखना ही मुख्य रूप से राजनीतिक सस्थाओ के अध्ययन का विषय-क्षेत्र और विषय-सामग्री है।

बील्स और हाईजर ने राजनीतिक सगठन के प्रकारों और उत्पत्ति को ध्यान मे रखते हुए इस सम्बन्ध मे निम्न विचार व्यक्त किये हैं—स्थानीय समूह राजनीतिक सगठन के अध्ययन के लिये प्रारम्भ का स्वरूप होता है लेकिन यह आवश्यक नहीं हैं कि ये स्वरूप राजनीतिक इकाई हो। सभी समाज अपने सदस्यो के व्यवहारो पर नियन्त्रण रखते हैं। कुछ समाजो मे परम्परागत अथवा रूढिवादी व्यवहार मिलते हैं। ये व्यवहार किसी समझौते पर आधारित नहीं होते हैं। अधिकतर समाजों में कानून राजनीतिक व्यवस्था और संस्थाओ के द्वारा कार्य करता है। कुछ आदिम समाजो को छोडकर अधिकतर आदिम समाजो मे सामाजिक-व्यवस्था ही राजनीतिक व्यवस्था के कार्य करती है। आदिम समाज बहुत अधिक विकसित नहीं होते हैं। उनकी जनसख्या अधिकाशतः कम होती है। श्रम विभाजन न्यूनतम या नहीं के बराबर होता ह। उनकी तकनीकी कम विकसित होती है। विज्ञान धर्म और जादू के रूप मे मिलता है। अन्धविश्वास का

प्रभाव अधिक मिलता है। उनका भौगोलिक पर्यावरण अनुकूल कम और प्रतिकूल अधिक होता है। उसकी कोई निश्चित सीमा नहीं होती है। इस कारण मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये अधिकतम प्रयास के फलस्वरूप न्यूनतम लाभ प्राप्त होता है। बचत मुश्किल से ही कुछ कर पाते हैं। इसलिये इनकी आर्थिकी संभर्णात्मक होती है। उनके पास सम्पत्ति इतनी नहीं होती है कि इसकी सुरक्षा की कोई विशेष व्यवस्था की आवश्यकता पड़े। इनमें मौलिक प्रथाओं और परम्पराओं का पालन किया जाता है। इनमें नौकरशाही का अभाव होता है। इनमें धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक शक्तियाँ एक ही व्यक्ति (मुखिया) में निहित होती हैं। राजनीतिक व्यवस्था निश्चित उद्देश्य पर आधारित एक विशिष्ट समिति के रूप मे कुछ ही आदिम समाजो मे पाई जाती है। सभी आदिम समाजों में राजनीतिक व्यवस्था तो मिलती है लेकिन राज्य-राजनीतिक व्यवस्था कुछ ही जनजातियो मे पाई जाती है। राज्य-विहीन राजनीतिक व्यवस्था अधिक समाजों में पाई जाती है।

समाज और राजनीति में सम्बन्धों के विकल्प

(Alternatives of Relationship Between Society and Politics)

समाज और राजनीति के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय में विद्वानों में निम्नलिखित चार मत व्यक्त किए हैं—

(1) समाज और राजनीति दोनों एक-दूसरे से पूर्णतः स्वतन्त्र हैं (Society and Politics are Fully Independent from Each Other)—इस मत को व्यक्त करने वाले सामाजिक वैज्ञानिक हैं, जो समाज को राजनीति के दोषों से पूर्णतः अलग रखना चाहते हैं। इन मतावलम्बियों की मान्यता है कि समाज राजनीति को प्रभावित नहीं करता है और न राजनीति समाज को। परन्तु वैज्ञानिको का मत है कि ऐसा कभी भी सम्भव नहीं हो सकता है कि ये एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करे।

(2) राजनैतिक सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति मात्र हैं (Political Relations are Only the Manifestation of Social Relations)—इस मत को मानने वालो की धारणा है कि सामाजिक सम्बन्ध कारण हैं और राजनैतिक सम्बन्ध परिणाम हैं। राजनैतिक सम्बन्धों का निर्धारण सामाजिक सम्बन्ध करते हैं न कि राजनैतिक सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों का। जैसी सामाजिक व्यवस्था होगी उसी के अनुरूप राजनैतिक व्यवस्था का स्वरूप होगा।

(3) सामाजिक सम्बन्ध राजनैतिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति हैं (Social Relations are the Manifestation of Political Relations)—इस विचारधारा को मानने वालों का मत है कि राजनैतिक सम्बन्ध कारण या कारक है और सामाजिक सम्बन्ध उसके परिणाम हैं। इनके अनुसार राजनीति सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना, सामाजिक संगठन और सामाजिक सम्बन्धों की निर्णायक है।

(4) समाज और राजनीति एक-दूसरे से परस्पर सम्बन्धित हैं (Society and Politics are Related to Each Other)—इस मत को मानने वालों का कहना है कि समाज

राजनीति का प्रभावित करती है और राजनीति समाज को। दोनो ही परस्पर एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं और प्रभावित होती हैं। इसे निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। यदि व्यक्ति राजनीति के क्षेत्र मे ऊपर चढना चाहता है तो उसके लिए उसे सत्ता और शक्ति प्राप्त करनी होगी। शक्ति और सत्ता को प्राप्त करने के लिए उसे विभिन्न सगठनो का सहारा लेना होगा। उसे जोड तोड बैठाने होगे। समूह शक्तियो के प्रभावशाली सगठन हैं। इसी प्रकार से जिस समूह सगठन के पास राजनैतिक सत्ता और शक्ति है वह समूह अपने समाज और क्षेत्र मे अधिक प्रभावशाली होगा। जिन समूहो के पास राजनैतिक सत्ता और शक्ति नही है वह प्रभावहीन अथवा कम प्रभावशाली समूह होगा।

राजनैतिक व्यवस्था का वर्गीकरण
(Classification of Political System)

1925 से पहले वैज्ञानिको की ये धारणा थी कि आदिम समाज मे राजनीतिक व्यवस्था तो क्या वहाँ पर कानून भी नहीं थे। आदिम समाजो का संगठन तो साम्यवाद के सिद्धान्त पर आधारित था। लेकिन मैलिनोवस्की ने समाजशास्त्रियो, मानवशास्त्रियो, सामाजिक मानवशास्त्रियो, राजनीतिशास्त्र आदि के वैज्ञानिको का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि आदिम समाजो मे कानून व्यवस्था होती है। उनके कानून, अपराध, न्यायिक व्यवस्था, दण्ड, प्रमाण, प्रथाओ आदि का अध्ययन करना चाहिये। इसके बाद के अनेक विद्वानो ने आदिम समाजो का अध्ययन किया और राजनीतिक-व्यवस्था का भी वैज्ञानिक अध्ययन किया। उसके विभिन्न स्वरूप, प्रकार और अन्य विशेषताओ पर प्रकाश डाला।

हॉबल ने "मैन इन दा प्रिमिटिव वर्ल्ड" मे आदिम राजनीतिक व्यवस्था के प्रकारो का वर्गीकरण दिया है। इनका कहना है कि राज्य का राजनीतिक सगठन तीन प्रमुख सिद्धान्तो पर आधारित होता है–

(1) स्वजन अथवा वशावली सम्बन्धी सिद्धान्त,

(2) भौगोलिक अथवा देशिक सिद्धान्त, और

(3) विशिष्ट हित समितियो का सिद्धान्त।

(1) स्वजन अथवा वंशावली सम्बन्धी सिद्धान्त (Kinship or Genealogical Principle)—आदिम राज्य सामान्यतया स्वजन के सिद्धान्त पर आधारित होता है। आदिम सामाजिक सगठन की विभिन्न छोटी-बडी इकाइयाँ—वश कुल, गोत्र, भ्रातृदल (फ्रेट्री) और द्विअंशीदल (मोइटी) से बनती हैं। प्रत्येक का मुखिया होता है जिसका समूह में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना कर्तव्य होता है। छोटे समूह का मुखिया अपने समूह का प्रतिनिधित्व बड़े समूह मे करता है। हॉबल का कहना है कि सामूहिकता से वे पचायत के अनेक स्वरूप आदिम समाज मे बनाते हैं जो सार्वजनिक मामलो से सम्बन्धित होते हैं। हॉवल ने निम्न चार्ट द्वारा आदिम राजनीतिक व्यवस्था के विभिन्न सगठन के स्तर स्पष्ट किये हैं।

द्विअंशीदल (मोइटी)

भ्रातृदल ↑

(फ्रेट्री)

कुल (क्लान)

↑

वंश

स्वजन सिद्धान्त और सामाजिक-राजनैतिक संगठन

स्रोत : हॉबल, इ. ए. : मैन इन दा प्रिमिटिव वर्ल्ड

इस सिद्धान्त पर आधारित भारत की जनजातियों में अनेक प्रकार मिलते हैं। टी सी दास ने भारत की जनजातियो मे पाये जाने वाले सात प्रकार के संगठन बताये हैं। मजूमदार और मदान का इस सम्बन्ध में कहना है कि इनका वर्गीकरण जनजाति के अन्तर्गत पाई जाने वाली इकाइयों की भिन्नता तथा अन्त: सम्बन्धों की प्रकृति पर आधारित है।

(2) भौगोलिक अथवा देशिक सिद्धान्त पर आधारित सामाजिक राजनैतिक संगठन (The Geographical or The Territorial Principle and Social-Political Organisation)—प्रत्येक समुदाय का भागोलिक क्षेत्र एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है जिसके द्वारा वह दूसरे समुदायों से पृथक् होता है। हॉबल ने इसी विशेषता का उल्लेख करते हुए लिखा कि प्रत्येक राज आदिम और सभ्य दोनो ही की भौगोलिक अथवा देशिक इकाई सगठन का आधार होती है। स्थान के आधार पर कुटुम्ब सबसे छोटी इकाई है। इससे बड़ी इकाई घुमक्कड शिकारियों, कन्द-मूल एकत्र करने और खाना-बदोश जनजातियों में शिविर या खेमा होता है। स्थायी रूप से रहने वाले समाजों मे कई कुटुम्ब एक स्थान पर रहते हैं और बड़ी इकाई ग्राम का निर्माण करते हैं। इससे अगला बडा सगठन समुदाय (Band) होता है जो (घुमक्कड़ समाजों मे) कई शिविर या खेमों में सगठित होकर बनता है। स्थायी रहने वाले समाजों में कई गाँव मिलकर एक बड़ा संगठन बनता है जो जिला कहलाता है। इनसे और बडे सगठन जनजाति या राष्ट्र होते हैं जिनकी सामान्य भाषा और संस्कृति होती है। जनजातियाँ एक-दूसरे से स्थाई या अस्थाई सन्धि करके बड़े संयुक्त राज्य (कानफिडिरेसी) बनाती हैं। सन्धि पर निर्भर ऐसा सगठन जनजातियाँ आक्रमण करने और बाहरी आक्रमणों से सुरक्षा के लिये करती हैं। प्रत्येक जनजाति अपने आंतरिक राजनीतिक मामलों में पूर्ण स्वतन्त्र होती हैं। जब जनजाति या संयुक्त राज्य (कानफिडिरेसी) दूसरों को जीत कर अपने एक स्थायी राज्य व्यवस्था में मिला लेते हैं तो वह विस्तृत राजनीतिक व्यवस्था एक साम्राज्य बन जाती है। हॉबल का कहना है कि ये सभी क्षेत्रीय राज्य के प्रकार एक-न-एक जनजाति या समाज मे पाये जाते हैं। इन्होंने निम्न चित्र मे राज्य के उपरोक्त प्रकारो को स्पष्ट किया है—
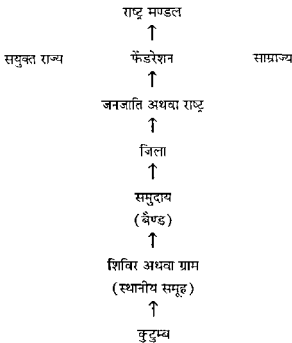
क्षेत्रीय सिद्धान्त पर आधारित सामाजिक-राजनेतिक सगठन

हॉबल : मैन इन दा प्रिमिटिव वर्ल्ड : पृष्ठ 490

(3) विशिष्ट हित समिति के सिद्धान्त पर आधारित सामाजिक-राजनैतिक संगठन (The Social-Political Organisation Based on the Principle of Special Interest Association)—मानव समाज अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये निरन्तर प्रयास करता रहता है। जब समाज छोटा होता है तो श्रम विभाजन न्यूनतम अथवा नहीं के बराबर होता है। जैसे-जैसे जनसख्या बढती है, समाज भी जटिल होता जाता है। श्रम-विभाजन, विशेषीकरण और अन्योन्याश्रितता भी बढ़ती जाती है। समाज की अनेक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये विशिष्ट हित समितियाँ बन जाती हैं। उनका कार्य समाज को निश्चित आवश्यकताओ को पूर्ति करना होता है। राजनीतिक क्षेत्र मे भी ऐसी प्रक्रिया होती है। आधुनिक नगरीय सभ्य समाजो में शान्ति, सुरक्षा, न्यायिक व्यवस्था, कानून का निर्माण इत्यादि कार्य राज्य के विभिन्न अग—कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका करते हैं।

हॉबल ने लिखा है कि आदिम समाजो मे विशिष्ट हित समिति के सिद्धान्त के आधार पर राज्य संगठन के प्रकार सभ्य समाजो की तुलना में पूर्णरूप से कमजोर हैं लेकिन काफी फैले हुए हैं। प्यूब्लो जनजातियो मे धार्मिक भ्रातृत्व के मुखिया पचायतो का निर्माण करते हैं। मैदानो के इण्डियन के सैनिक भ्रातृत्व सरकार के प्रमुख कार्य वेसे ही करते हैं जैसे अफ्रीका और मिलानेसिया के समाज करते हैं। भारत मे जातियाँ अभी तक सरकारी इकाई जैसे कार्य करती रही हैं अब भारत के संविधान ने उन्हे गैर कानूनी घोषित कर दिया है।

हॉबल ने आदिम समाजों की राजनीतिक व्यवस्था का वर्गीकरण तीनों सिद्धान्तों—वंशावली अथवा बन्धुत्व, भागोलिक अथवा देशिक और विशिष्ट हित समितियों के आधार पर बताया है। इनमें से प्रथम दो के आधार पर राजनीतिक संगठनों के प्रकार आदिम समाजों में अधिक स्पष्ट, सुनिश्चित और प्रचलित हैं।

बील्स और हाइजर ने 'एन इन्ट्रोडक्सन टू एन्थ्रोपालॉजी' में समाज के विकास के साथ-साथ राजनीतिक संगठन और राज्य के विकास को भी बताया है। इन वैज्ञानिकों ने भी अन्य वैज्ञानिकों की तरह यह बताया कि प्रारम्भ में सामाजिक संगठन बहुत छोटा होता है। यह सामाजिक संगठन राजनीतिक व्यवस्था विहीन होता है। जैसे-जैसे समाज का आकार बड़ा होता जाता है, राजनीतिक व्यवस्था भी विकसित होती जाती है। जब समाज सम्भर्णात्मक आर्थिकी से अधिशेष आर्थिकी वाला हो जाता है तब राज्य सामाजिक-राजनीतिक संगठन की स्थिति में पहुँच जाता है। अब हम इन प्रकारों को जैसा कि बील्स और हाइजर ने बताया है, देखेंगे।

(1) राजनैतिक व्यवस्था विहीन समाज (Society of Non-Political System)—बील्स और हाइजर ने स्थानीय समूह को इसके अन्तर्गत रखा है। स्थानीय समूहों की विशेषताएँ सामान्य आवास, निश्चित भौगोलिक क्षेत्र, सामान्य भाषा और संस्कृति, सामान्य विचार और सोचने के आधार पर सदस्यों में परस्पर एक लम्बी मित्रता की परम्परा होती है। यद्यपि ये स्थानीय समूह राजनीतिक संगठन के अध्ययन के प्रारम्भिक स्वरूप हैं, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि ये राजनीतिक इकाई हों। अगर इन विशेषताओं वाला बड़ा स्वजन समूह होता है जिसमें नेता भी हो सकते हैं, वह राजनीतिक संगठन नहीं कहलाता है। लेकिन अन्य बड़े समूह जो स्वजन सम्बन्धों के अलावा अन्य सामान्य उद्देश्यों से सम्बन्धित और संगठित होते हैं। जैसे अनेक परिवार या कुल संगठित होकर बड़ा संगठन बनाते हैं। उनका नेता होता है। आर्थिक, सामाजिक और उत्सवों के मामलों, आक्रमण और सुरक्षा में वे संगठित होते हैं। तो यह संगठन वास्तविक राजनैतिक संगठन कहलाता है। राजनीतिक संगठनों वाले समाजों को बील्स और हाइजर ने फिर दो प्रकारों में बाँटा है, जो निम्न हैं—

(2) राजनैतिक संगठन वाले समाज (Society of Political Organisation)—इसके अन्तर्गत इन्होंने समुदाय (बैण्ड), जनजाति अथवा संयुक्त राज्य को रखा है जिनमें जनसंख्या और उसका घनत्व अधिक होता है। इसकी आर्थिकी काफी अच्छी होती है लेकिन विनिमय करने योग्य बचत नहीं हो पाती है। युद्ध अक्सर होते रहते हैं। युद्धों का महत्त्व होता है। युद्ध दूसरों पर धावे के रूप में होता है। दूसरों को जीतना, गुलाम बनाना और आर्थिक शोषण करना नहीं होता है।

(3) विजयी राज्य संगठित समाज (Conquest State Organised Society)—बील्स और हाइजर ने पूर्ण राजनीतिक व्यवस्था के विकास वाले समाज व बताये हैं जो विजयी राज्य हैं। ये विजयी राज्य संगठित समाज जिन लोगों को जीत लेते हैं उन्हें नष्ट नहीं करते हैं। बल्कि जीतकर अपने राज्य की सीमा में मिला लेते हैं। उन्हें तीन वर्ग के रूप में रखते हैं। इस दलित हारे हुए वर्ग का आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण करते हैं। इन

विनिमय के लिये भी काफी बचता है। इनकी आर्थिकी अधिशेष वाली आर्थिकी होती है। शासन की शक्ति अधिकतर एक छोटे वंशानुगत सार के पास होती है।

मैकाईवर, आर एस ने **दा मॉडर्न स्टेट** मे उत्तरी अमेरिका को ईराक्यूस का उदाहरण देकर समझाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार स्वजन सम्बन्धों के द्वारा सामाजिक ढांचा विकसित होकर एक राजनैतिक व्यवस्था बन जाता है। इन्होने कहा कि स्वजन सम्बन्ध समय से सम्बन्धित होते हैं और राजनीतिक सम्बन्ध क्षेत्र से सम्बन्धित होते हैं। इसी वास्तविकता के कारण समय के बीतने के साथ-साथ मानव की चेतना मे पूर्वजो से सम्बन्धित वंशावली धुँधली और अस्पष्ट होती जाती है और स्थानीय तथ्य वर्तमान में प्रभावशाली होता जाता है। व्यक्ति सामान्य हितो और प्रकृति के कारण वर्तमान में राजनीतिक व्यवस्था मे विकसित हो जाते हैं। यह बर्हिविवाह की व्यवस्था बनती है। मैकाइवर ने निम्न चार्ट से इसे स्पष्ट किया है—

आदिम समाज की स्वजन-संयुक्तता के इरोक्विस जनजातियों के उदाहरण
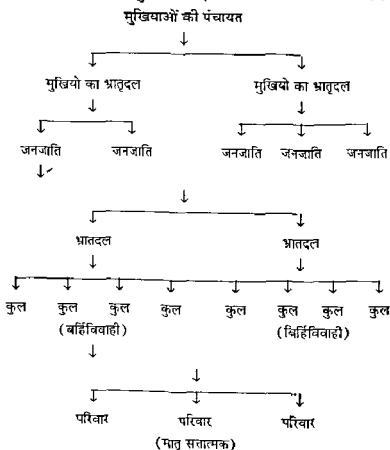
स्रोत : मैकाइवर, आर एस : दा माडर्न स्टेट, पृष्ठ 27

मैकाइवर का कहना है कि सबसे छोटी इकाई परिवार है। इस स्तर पर राजनीतिक संगठन नहीं होता है। कई परिवार मिलकर कुल समूह बनाते हैं। इरोक्विस में ये बहिर्विवाही होते हैं। अर्थात् व्यक्ति स्वयं के कुल में विवाह नहीं कर सकता है। कई कुल समूह भ्रातृदल बनाते हैं। भ्रातृदल से बड़े संगठन जनजाति है। इन स्तरों पर मुखिया होते हैं। कई जनजातियाँ मिलकर मुखियाओ का भ्रातृदल बनाती हैं। मैकाइवर ने इरोक्विस में फेडरल स्तर के राजनीतिक संगठनों के स्वरूप बताए हैं, जिनमें मुखियाओं की पंचायत होती है। इन उपर्युक्त राजनीतिक व्यवस्थाओं के विभिन्न प्रकारो के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आदिम समाजो की राजनीतिक व्यवस्था और सामाजिक संगठनो को मुख्य रूप से तीन प्रकारों में बाँटा जा सकता है, ये निम्नलिखित हैं—(1) वे आदिम समाज जिनमे किसी प्रकार का राजनीतिक सगठन नहीं मिलता है, जैसे—कुटुम्ब, (2) राज्यविहीन राजनैतिक व्यवस्था, और (3) राज्य-राजनेतिक व्यवस्था।

अब हम इन विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं को आदिम समाजों के उदाहरण सहित विस्तार से देखेगे।

(क) राज्य राजनैतिक व्यवस्था
(State Political System)

आदिम समाजों में उन समाजो की राजनीतिक व्यवस्था का जिनमे राज्य का विकास हो चुका है, का अध्ययन करने से पहले यह जान लेना अत्यन्त आवश्यक है कि राज्य कहते किसे हैं? राज्य की कौन-कौन सी प्रमुख विशेषताएँ हैं? इससे आदिम समाजो की राज्य राजनीतिक व्यवस्था का सरल, सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक अध्ययन करना सम्भव हो सकेगा।

अरस्तू ने राज्य की परिभाषा देते हुए बताया है कि राज्य परिवारो और गाँवो का संघ है। इन संघों का जीवन आत्मनिर्भर होता है। इन्होने निम्न शब्दों में राज्य की परिभाषा दी है, "राज्य एक पूर्ण और आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत करने वाला परिवारो और गाँवों का संघ है।"

मैक्स वेबर ने राज्य की परिभाषा निम्न दी है, "वह मानव समिति जो निश्चित क्षेत्र मे .. .. . सफलतापूर्वक कानूनी शारीरिक शक्ति के एकाधिकार का दावा करती है।" इस परिभाषा के अनुसार राज्य एक समिति है जिसकी विशेषताएँ, निश्चित क्षेत्र और उस क्षेत्र में कानूनी शक्ति का एकाधिकार है।

मैकाइवर और पेज ने राज्य के सम्बन्ध मे लिखा कि, "राज्य विशिष्ट गुणों, विशिष्ट साधनों और विशिष्ट शक्ति का एक संगठन है।" गार्नर ने भी राज्य की परिभाषा काफी स्पष्ट और पूर्ण दी है। इनका कहना है कि राज्य व्यक्तियो का वह समूह है जो सामान्यत: एक निश्चित भू-भाग पर रहता है बाह्य नियंत्रण से लगभग पूरी तरह स्वतन्त्र होता है। जिसका अपना एक शासन तन्त्र होता है तथा स्वभाव से ही व्यक्तियों मे इस शासन तन्त्र के प्रति आज्ञा पालन की भावना होती है। लोवी ने 'सोशियल ऑर्गेनाइजेशन' में राज्य को कुछ वैज्ञानिकों को

परिभाषा देने के बाद बताया कि कानून, शक्ति और भौगोलिक सीमा जैसी विशेषताएँ राज समिति को बनाती हैं। इन्ही विशेषताओं के आधार पर अब हम सामाजिक मानवशास्त्रियो, समाजशास्त्रियो और नृतत्वशास्त्रियों के अध्ययन और विचारो के आधार पर ये देखने का प्रयास करेगे कि किन किन जनजातियो मे राज्य-राजनीतिक व्यवस्था पाई जाती है।

(1) निश्चित भू-भाग (Definite Geographical Area)—मानव समाज का प्रकृति मे सीधा और निकट का सम्बन्ध है। मानव समुदाय अपनी प्राथमिक आवश्यकताओ को भौगोलिक पर्यावरण मे उपलब्ध वस्तुओं से पूर्ण करता है। इसलिये प्रत्येक मानव समुदाय का निश्चित भू-भाग से सम्बन्ध होता है। यह सत्य है कि आदिम-समाजो का सगठन स्वजन सम्बन्धो (रक्त विवाह और गोद) पर आधारित होता है लेकिन इनका एक निश्चित भू-भाग भी होना है। घुमक्कड आदिम समाजो मे इसका महत्त्व कम होता है। जैसे-जैसे समाज का सगठन कुटुम्ब या शिविर समूह से बडा होता जाता है, देशिक विशेषता का महत्त्व भी बढता जाता है। भौगोलिक सीमा का महत्त्व छोटे थोडी जनसख्या और जनसख्या के कम घनत्व वाले समुदायो मे कम मिलता है, क्योकि भूमि काफी होती है। परन्तु जिन आदिम समाजो की जनसख्या अधिक होती है वहाँ पर भूमि या निश्चित भू भाग का महत्त्व होता है। ऐसे आदिम समाज हैं जो निश्चित भू-भाग पर राज्य जैसी राजनीतिक व्यवस्था के रूप मे रहते हैं। हूटन, ई ए ने तो ये तक लिखा है कि प्राथमिक वर्ग के प्राणियो (बन्दर, गिब्बन्स, बबून आदि) मे निश्चित और स्पष्ट भौगोलिक सीमा के क्षेत्र का तत्व होता है। हॉबल ने हूटन की उपरोक्त बात उद्धृत करने के बाद लिखा है कि अधिकतर मानव समाज भूमि सम्बन्धी सम्पत्ति, अधिकारो का दावा करते हैं। आस्ट्रेलिया, अफ्रीका के बुशमैन, लका के वेड्डास और तस्मानी स्पष्ट रूप से प्राकृतिक सीमाएँ मानते हैं जो कि स्थानीय समूह सीमा पर आधारित हैं। आस्ट्रेलिया मे एक समुदाय दूसरे समुदाय मे अपना दूत भोजन एकत्र करने की अनुमति माँगने के लिये भेजता है। प्रार्थना की अनुमति देना या नहीं देना जनजाति के प्रौढो पर निर्भर करता है। जनजातियो मे ऐसी परम्परा भी मिलती है कि उसी जनजाति के चोर पर जुर्माना किया जाता है जबकि बाहर के चोर को मृत्यु दण्ड दिया जाता है। इन सब तथ्यो से सिद्ध होता है कि जनजातियो मे निश्चित भू-भाग होता है जिसमे उनकी न्याय व्यवस्था होती है, कानून होता है, कोई सत्ता होती है। यह पच मे या समुदाय के प्रौढ व्यक्तियो की पचायत मे निहित होती है।

हॉबल, बील्स और हाइजर ने तो निश्चित भू-भाग के आधार पर राजनीतिक सगठन के विभिन्न प्रकारो का उल्लख किया है जो हम ऊपर राजनीतिक व्यवस्था के वर्गीकरण के अन्तर्गत देख चुके हैं।

बील्स और हाइजर के अनुसार निश्चित भू-भाग तो प्रत्येक समुदाय मे होता है। राजनीतिक व्यवस्था भी होती है परन्तु जिस समुदाय की राजनीतिक व्यवस्था अधिक विकसित हो जाती है राज्य का रूप बन जाता है। उस जनजाति मे युद्ध के द्वारा सीमा का विस्तार किया जाता है। हराये गये समुदाय को गुलाम बना लिया जाता है। उसका आर्थिक और राजनीतिक शोषण किया जाता है। निश्चित भू भाग प्रत्येक समाज का होता है। आदिम समाजो में जो

घुम्मक्कड़ समाज होते हैं उनमे राजनीतिक व्यवस्था की अनेक विशेषताएँ तो मिलती हैं परन्तु निश्चित भौगोलिक सीमा का लक्षण नहीं मिलता है।

(2) राज्य एक विशिष्ट हित समिति (State is a Special Interrest Association)—अधिकतर आदिम समाजों मे श्रम विभाजन और विशेषीकरण का अभाव होता है। उनमे समाज की व्यवस्था और सुरक्षा मे सम्बन्धित सभी कार्य सामाजिक संगठन और व्यवस्था करती है। हॉबल ने भी इसी वात को ध्यान मे रखते हुये कहा कि आदिम समाजों मे विशिष्ट समितियो के सिद्धान्त के आधार पर राज्य सगठन कम ही मिलता है। सभ्य अथवा नगरीय समाजो में समाज को आवश्यकताओ को पूर्ति मे सम्बन्धित अनेक विशिष्ट सम्थाएँ और समितियाँ होती हैं जैसे आर्थिक या व्यावसायिक ममितियाँ, सास्कृतिक समितियाँ, रोजगार सघ, तकनीकी हित संघ, शैक्षिक सघ, राजनीतिक सघ इत्यादि। राज्य एक ऐसा सघ है जो अन्य सघो पर नियन्त्रण रखता है। इस सम्वन्ध मे स्पष्ट रूप मे राज्य के विभिन्न अंग जैमे न्यायपालिका, कार्यपालिका और व्यवस्थापिका आदिम समाजो मे पूर्ण विकमित रूप में नहीं मिलते हैं जैसे सभ्य या आधुनिक, समाजो मे मिलते हैं। हॉवल ने लिखा है कि जनजाति एक सामाजिक वास्तविकता है जिममें सामुदायिक भावना सामान्य संस्कृति के कारण मिलती है। राज्य एक उप वास्तविकता हे जो कि सामान्य राजनीतिक सगठन होता है जिसमे पूर्ण विकसित सरकार हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है।"

(3) सरकार (Government)—सरकार का काम वडे समाजों के लिये तीन प्रमुख कार्यो को करना होता है। ये तीन प्रमुख कार्य हैं—विधायी, न्यायिक ओर प्रवन्धकारी। ये कार्य सरकार अपने तीन सगठनो द्वारा करती हे। ये तीन महत्त्वपूर्ण संगठन हैं—कार्यपालिका, न्यायपालिका और व्यवस्थापिका। जब समाज काफी विकसित हो जाता है और उमकी आर्थिकी वचत की स्थिति मे पहुँच जाती है, उत्पादन, उपभोग, वितरण आर विनिमय होने लगता है तव समाज में सरकार का अस्तित्व काफी स्पष्ट, मुनिश्चित ओर प्रत्यक्ष एक विशिष्ट समिति के रूप मे पहुँच जाता है। भारत के आदिम ममाजो मे राजनैतिक व्यवस्था तो मिलती है उनका निश्चित भौगोलिक क्षेत्र भी होता है, परन्तु एक राज्य या सरकार के गठन वाला राजनीतिक संगठन भारत की नागा और आसाम की अन्य जनजातियो मे मिलता है। ये जनजातियाँ अपनी सशक्त राजतंत्रीय शासन व्यवस्था के लिये वहुत प्रसिद्ध हैं।

विश्व के विभिन्न प्रदेशो उत्तरी अमेरिका, अफ्रीका, ओसियाना, आस्ट्रेलिया आदि की जनजातियो में सरकार जैसी संस्थाएँ मिलती हैं। उत्तरी अमेरिका की इण्डियन जनजातियाँ जनतान्त्रिक व्यवस्था पमन्द करती हैं। इस ममाज को पुलिस समाज भी कहते हैं। अफ्रीका की जनजातियो मे कई प्रकार की राजनीतिक व्यवम्था के स्वरूप मिलते हैं। राजतन्त्रीय व्यवस्था के स्वरूप मिलते हैं। राजतन्त्रीय राजनीतिक व्यवस्था मिलती है। अफ्रीका में ऐसी भी जनजातियाँ हैं जिनमें सत्ता राजाओ और सैनिकों के बीच वँटी होती है।

अफ्रीका के नीग्रो समाजो में वडे राज्य होते हैं। इनमे केन्द्रीय सरकार होती है। इनमें एक लाख जनसंख्या पर प्रशासकों का होना अपवाद नहीं है। युगाण्डा साम्राज्य में तो एक लाख

से अधिक जनसंख्या थी। आस्ट्रेलिया की जनजातियो में ऐसी राजनीतिक व्यवस्था भी पाई जाती हैं जिसमे सर्वोच्च सत्ता के द्वारा प्रबन्धकारी कार्य किये जाते हैं। हाबल ने लिखा है कि ससार के सभी आदिम समाजों मे सभी प्रकार की सरकारों के प्रकार मिलते हैं।

(4) कानून (Law)—सरकार समाज मे कानून की संस्था के द्वारा कार्य करती है। मजूमदार और मदन ने लिखा है कि, "कानून नामक संस्थात्मक क्रिया को सम्पादित करने वाली समिति को सरकार कहा जाता है। सरकार का अर्थ है—पूरे समाज या इसके किन्हीं प्रतिनिधियो द्वारा सामाजिक प्रचलनो एव कानूनो के समाज-सम्मत प्रशासन की भूमिका का निर्वाह किया जाना।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि कानून राज्य और सरकार का बहुत महत्त्वपूर्ण अग है। आदिम समाज मे कोई-न-कोई सत्ता अवश्य होती है जो कानून को व्यावहारिक रूप देती है। उसके पास सत्ता और शक्ति होती है जिसके द्वारा अगर कोई कानून का उल्लघन करता है तो उसे उसका पालन करने के लिये मजबूर कर सकती है। युगाडा आदिम समाज मे तो जेल की व्यवस्था भी मिलती है। युगाडा मे राजा, मुखिया या परिवार का मुखिया किसी भी दोषी व्यक्ति को कटघरे में रखने का हुक्म देने का अधिकार रखता है। आदिम समाज मे जो कार्य प्रथाएँ करती हैं वही कार्य सभ्य और आधुनिक समाज मे कानून करता है। लोवी ने कहा कि इस सम्बन्ध मे ये अन्तर करना मुश्किल है। प्रथाएँ कहाँ समाप्त होती हैं और कानून कहाँ शुरू होते हैं?

सभ्य समाजो में कानून काफी स्पष्ट, सुनिश्चित और व्यवस्थित होते हैं। नगरीय समाजो मे जैसा कि मैलिनोव्स्की और के डेविस ने लिखा है कि आधुनिक समाजों में न्यायालय, कानून, केन्द्रीय सत्ता, पुलिस, न्यायाधीश इत्यादि अनेक लक्षण होते हैं। अफ्रीका के नीग्रो और अन्य जनजातियो मे ऐसे लक्षण मिलते हैं। यहाँ की जनजातियाँ कानूनी व्यवस्था के मामले मे आदिम नहीं है। लोबी तथा अनेक विद्वानो ने लिखा है कि अगर हम कानून की बहुत वैज्ञानिक परिभाषा के आधार पर आदिम समाजो मे अध्ययन करेगे तो सभी जनजातियो मे कानून नहीं मिलेगा।

लोवी ने लिखा है कि अधिकतर लोगो मे कानून स्वत: विकसित होते हैं न कि नियोजित सोच-विचार के परिणाम होते हैं। इन्होने उदाहरण देकर सिद्ध किया कि जुलु राजा एक वश समूह को पृथक् कुल समूह बनाकर उस वश की लडकी से शादी कर लेता है जबकि बिना अलग कुल बनाये उस वश की लडकी से शादी करना निषेध और अपराध होता है। यह राजा अपने सैनिको को शादी करने से रोक भी सकता है। लोवी ने अनेक उदाहरण देकर यह बताने का प्रयास किया है कि आदिम समाजो मे कानून जो कि राज्य राजनीतिक व्यवस्था की विशिष्ट विशेषता है बहुत विकसित अवस्था मे भी मिलती है।

(ख) राज्य-विहीन राजनैतिक व्यवस्था
(Non-State Political System)

बील्स और हाइजर, हॉबल, मजूमदार और मदन, लोवी एव अनेक अन्य मानवशास्त्रियो, सामाजिक मानवशास्त्रियों और समाजशास्त्रियो ने अपने अध्ययनों और

सर्वेक्षणो के आधार पर स्पष्ट लिखा है कि वर्तमान काल में कोई भी ऐसा सामाजिक सगठन नहीं मिलता हे जिसमें राजनीतिक व्यवस्था नहीं हो। स्टीवार्ड न तो यहाँ तक लिखा है कि आज के मानवों मे और जब से लिखित लेखा-जोखा मिलता है तब से कहीं भी राजनीतिक व्यवस्था विहीन समाज का उल्लेख नहीं मिलता है। हॉबल ने इसी बात को ध्यान मे रखकर राजनीतिक व्यवस्था के दो प्रकारो का उल्लेख किया है—(1) आदिम राज्य और (2) आधुनिक राज्य। आदिम राज्य स्वजन सिद्धान्त पर आधारित होता है। इसके वश, कुल, भ्रातदल और द्विअशोदल प्रत्येक संगठन में मुखिया होता है जो कि अपने-अपने स्वजन समूह मे व्यवस्था रखने और निर्देशन देने का ही कार्य नहीं करते अपितु दूसरे बड़े संगठन मे प्रतिनिधित्व का कार्य भी करते हैं।

वील्स और हाइजर ने कहा कि यदि राजनैतिक व्यवस्था मे दूसरे सामाजिक संगठनो को जीत कर अपने मे मिलाना उद्देश्य नहीं होता है तथा उनका आर्थिक और राजनीतिक शोषण करना नहीं होता है तो ऐसी राजनीतिक व्यवस्था राज्य-विहीन राजनीतिक व्यवस्था कहलाती है। इन वैज्ञानिकों के अनुसार राज्य-विहीन राजनीतिक व्यवस्था वाले सामाजिक संगठनों में आन्तरिक और बाह्य सार्वभौमिक प्रभुसत्ता उतनी स्पष्ट और विकसित नहीं होती है जितनी कि विजित राज्यो मे होती है। अधिकतर आदिम समाजो में राज्य-विहीन राजनीतिक व्यवस्था पाई जाती है। बील्स और हाइजर ने राज्य-विहीन राजनीतिक व्यवस्था वाले सामाजिक संगठन, समुदाय, जनजाति और संयुक्त जन-जाति राज्य बताए हैं।

अधिकतर आदिम समाजो में आधुनिक राज्य और सरकार तथा उनकी विभिन्न सस्थाएँ और सगठन जैसे कार्यपालिका, न्यायपालिका, व्यवस्थापिका इत्यादि नहीं होते हैं। लेकिन जहाँ तक राजनीतिक कार्यों का प्रश्न है आदिम समाजों मे वे कार्य किसी-न-किसी रूप में होते रहते हैं।

थर्नवाल्ड ने टिप्पणी की है कि प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था अपने आप में विशिष्ट होती है फिर भी कुछ ऐसी विशेषताएँ और लक्षण होते हैं जो सभी राजनीतिक व्यवस्थाओ में समान होते हैं क्योंकि समान परिस्थितियों में सभी मानव एक जैसा व्यवहार करते हैं। इस मौलिक तथ्य के आधार पर ही अनेक वैज्ञानिकों ने जैसे मैलिनोवास्की, मैकाइवर, लोवी, हॉबल, बील्स और हाइजर, मजूमदार और मदन आदि ने विश्व के आदिम समाजो की राजनीतिक व्यवस्थाओ का वर्णन किया, चाहे उनमे आधुनिक राज्य न हो।

(1) स्थानीय समुदाय (The Local Community)—राज्य-विहीन राजनीतिक व्यवस्था आदिम समाजों में सामान्य बात है। मुरडोक ने 'सोशियल स्ट्रक्चर' में विभिन्न क्षेत्रों से समाजों को अध्ययन के लिये चुना। सर्वेक्षण के आधार पर इन्होंने बताया कि 39 (16 प्रतिशत) समाज कुल 241 समाजो में से शिविर की स्थिति में मिले। शिविर आदिम समाज का प्रारम्भिक और मौलिक समुदाय होता है। 189 (74 4 प्रतिशत) ग्राम या कस्बे के स्तर के सामाजिक संगठन पाये गये। बहुत थोड़े अर्थात् 13 ऐसे मिले जो अर्द्ध अलग-अलग बिखरे हुए पड़ौसियों के रूप मे बसे हुए पाये गये। इन आँकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि तीन-चौथाई से भी अधिक

आदिम सामाजिक संगठन ग्राम या कस्बे के स्तर के हैं। हॉबल के अनुसार समुदायो की प्रकृति विस्तार की होती है। ग्राम या कस्बे के स्तर के सगठन और बड़े होने की ओर निश्चित झुकाव रखते हैं। छोटे समुदाय बड़े समुदायो जैसे बडे जिले या बड़ी जनजातियो में मिल कर राज्य का विस्तार करते हैं। छोटे-छोटे समुदायों की आन्तरिक और बाहरी सुरक्षा तथा न्यायिक व्यवस्था आदि बडे सगठन करते हैं। हॉबल ने ये भी बताया कि प्रत्येक सात घुम्मकड जनजातीय समाजों में से 6 शिविर स्वतः प्रशासित होते हैं। इनका बडे सगठन-राज्य से थोडा अथवा नहीं के बराबर सम्बन्ध होता है। राज्य विहीन राजनीतिक व्यवस्था वाले अधिकतर समाजों में राज्य की विशेषताएँ तो मिलती हैं लेकिन ये कम विकसित होती हैं।

(2) मुखिया (The Headman)—बील्स और हाइजर ने राजनीतिक व्यवस्था का विकास बताते समय यहाँ तक लिख डाला कि हर सामाजिक संगठन मे हर स्तर पर मुखिया या नेता होता है। कुटुम्ब, कबीला या स्वजन समूह एक समुदाय हो सकता है। उसमे भी मुखिया होता है लेकिन आवश्यक नहीं है कि इसमें राजनीतिक व्यवस्था हो। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुखिया आदिम समाजो में बहुत प्रारम्भ की अवस्था से मिलता है। मुखिया हर स्तर पर मिलते हैं। ये परिवार से लेकर वंश, कुल, गोत्र, भ्रातृदल, द्विअशोदल, जनजाति, ग्राम, जिला, संयुक्त राज्य संघ, राष्ट्र इत्यादि सभी स्तर पर होते हैं। इनके नाम और कार्य हमे भिन्न-भिन्न मिलते हैं। जैसे-जैसे स्तर ऊँचा और बडा होता जाता है बड़ा मुखिया या नेता छोटे मुखिया या नेताओं की सहायता से कार्य करता है। इन मुखियाओं का परस्पर सम्बन्ध इस बात पर भी निर्भर करता है कि राजनीतिक व्यवस्था कैसी है? सरकार किस प्रकार की है? लेकिन सामाजिक मानवशास्त्रियो और समाजशास्त्रियों ने अध्ययनो के आधार पर पाया कि राज्य-विहीन राजनीतिक व्यवस्था मे मुखिया के कार्य और उत्तरदायित्व अधिक होते हैं। आदिम और ग्रामीण समाजो मे अनापचारिक और परम्परागत मुखिया होते हैं। उससे अपेक्षा की जाती है कि वह समाज के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एव अन्य सार्वजनिक कार्यों को देखे। हॉबल के अनुसार आदिम जगत मे मुखिया के पास स्पष्ट सत्ता कभी-कभी ही होती है, फिर भी वह स्थानीय समूह मे केन्द्र होता है। इन्होने निष्कर्ष दिया है कि सरल आदिम समाज हमेशा प्रजातन्त्र होते हैं। विरला ही तानाशाही राजनीतिक नेतृत्व वाली व्यवस्था विकसित हो पाती है।

मजूमदार और मदान ने भारतीय जनजातियो के मुखियाओं से सम्बन्धित काफी जानकारी दी है। इन्होंने लिखा है कि आदिम कानून स्व-जनता सिद्धान्त पर आधारित है। इस कारण सामूहिक दायित्व आदिम कानून की प्रमुख विशेषता है। इसमें मुखिया की भूमिका का वर्णन इन्होंने निम्न शब्दो में किया है, "जनजातीय कानूनो के उल्लंघन की स्थिति मे विभिन्न स्वजन समूहों के प्रतिनिधित्व से बनने वाली गाँव परिषद् न्याय कर्म सपादित करती है। जहाँ मुखिया व्यवस्था होती है वहाँ ऐसे मामलो का निपटारा मुखिया करते हैं। किन्तु इसमे भी परिवार के मुखियाओ या गाँव प्रधानो की राय ली ही जाती है।" मुखिया आर परिषदे साथ-साथ काम करती हैं। आदिम समाज मे ये दोनो राजनीतिक व्यवस्था के प्रमुख अंग होते हैं।

(3) पंचायत (The Council)—किसी-न-किसी रूप म पचायते सभी समाजो म मिलती हैं। यह राजनीतिक व्यवस्था का सार्वभोमिक अग है। सामाजिक सगठन मे चाहे राजनीतिक व्यवस्था राज्य वाली हो अथवा राज्य-विहीन लेकिन पचायत संगठन औपचारिक या अनौपचारिक रूप से सभी मे होता है। इनका सगठन, कार्य विधि, सत्ता और शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। समाज चाहे छोटा हो अथवा बडा, चाहे जनजाति हो अथवा बडा सयुक्त राज्य संघ हो, बिना पंचायत या परिषद् की सलाह के राजनीतिक कार्य नहीं किये जाते हैं। मुखिया, प्रमुख या राजा कोई भी हो वे लोग पचायत से सलाह लेकर कार्य करते हैं।

छोटे आदिम समुदायो, जनजातियो या संयुक्त संघों मे जिनमे राज्य विहीन राजनीतिक व्यवस्था होती है उनमे पुरुष प्रौढ़ों की पचायते होती हैं। ये पंचायते छोटे-मोटे कार्य करती हैं। समुदाय के आपसी झगडो को निपटाती हैं। कोई मारपीट करता है तो उसे दण्ड देती हैं। सामाजिक सुरक्षा और शान्ति कायम रखती हैं। धार्मिक मामलों को देखती हैं। अगर व्यक्तियो मे कर्त्तव्य और अधिकारो सम्बन्धी झगड़े होते हैं तो उनकी सुनवाई करती हैं। गवाहियाँ लेती हैं। परिवार जाति वर्ग, समुदाय एवं अन्य सम्बन्धित स्तरों के मुखिया पंचायत मे अपने-अपने विचार और मत स्वतन्त्र रूप से व्यक्त करते हैं। पचायत के फैसलो को व्यावहारिक रूप देने का दायित्व पंचायत का होता है। अपराधी को सजा देना या उसे समुदाय से बहिष्कृत करना पंचायत का कार्य हे। हॉबल का कहना है कि बुजुर्ग पचायत व्यवस्था आस्ट्रेलिया मे मिलती है जिसमे सभी बड़े लोग पंचायत में भाग लेते हैं।

भारत, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमरीका इत्यादि प्रदेशो की सभी जनजातियों मे पंचायतें मिलती हैं। मजूमदार और मदन ने ऐसी अनेक जनजातियों का उल्लेख किया है जिनमे पंचायत सरकार जेसे कार्य करती हैं, परन्तु उनमें राज्य जैसी संस्था नही मिलती है। इन्हीं के शब्दों मे, "कुछ ऐसे समाज भी हैं जहाँ अधिसत्ता किन्हीं एक या दो व्यक्तियों मे नहीं किन्तु एक परिषद् में निहित होती है, जिनमे सभी सदस्यो के समान अधिकार होते हैं। मुखिया तथा परिपदे प्राय: साथ-साथ काम करते हैं और परिषदें मुखियाओं की सहायता करती हैं। कुछ ऐसे आदिम समाज भी हैं जहाँ सम्पूर्ण अधिसत्ता कुछ गिने-चुने लोगो, पुश्तैनी सामन्तो अथवा आयु, अनुभव, बुद्धि या तथाकथित उन्नत मानधारी विशिष्टताओं वाले व्यक्तियो के हाथ में रहती हैं।"

मजूमदार और मदन ने भारत की नागा एवं आसाम की जनजातियो का उल्लेख किया है जिनमे राजतंत्रीय शासन व्यवस्था के साथ-साथ वृद्धजनों की परिपदे होती हैं जो मुखिया की सहायता करती हैं। मध्यक्षेत्र की जनजातियो में भी अँग्रेजी शासन से पहले ग्राम परिषदे सामूहिक या सामान्य मामलों को निपटाने के लिये अधिसत्ता का उपयोग करती थीं। राजनीतिक व्यवस्था सभी समाजो में होती है। राज्य राजनीतिक व्यवस्था का गठन आधुनिक समाजो के और कुछ विश्व की जनजातियो में मिलता है। राज्यविहीन राजनीतिक व्यवस्था जनजातियों और ग्रामो में होती है।

❑

अध्याय-17

समाज में/और व्यक्ति : समाज; संस्कृति

(The Individual in/and Society; Society Culture)

"समाज में/और व्यक्ति" से तात्पर्य समाज में व्यक्ति, और (2) समाज और व्यक्ति। इस दोनों विषयों को समझने के लिए आवश्यक है कि पहले समाज के अर्थ, परिभाषा, लक्षण, आवश्यक्ता, कार्य, प्रकार आदि को समझा जाए। क्योंकि मानव-समाज अथवा प्राणियो के समाजों से भिन्न है तथा यह सामाजिक-सास्कृतिक समाज है इसलिए मानव-समाज को समझने के लिए आवश्यक है कि सस्कृति के विभिन्न पक्षों, जैसे—अर्थ और परिभाषा, सस्कृति की विशेषताएँ, प्रकार आदि का भी अध्ययन किया जाना चाहिए।

व्यक्ति की समाज पर निर्भरता है या नहीं? अगर है तो कितनी है? क्यो है? तथा समाज की व्यक्ति पर कितनी निर्भरता है? समाज और व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे से किस प्रकार से सम्बन्धित हैं? इसमें पारस्परिक सम्बन्ध या अन्योन्याश्रितता कितनी है? का अध्ययन करने से पूर्व यह अध्ययन करना भी आवश्यक है कि व्यक्ति समाज मे रहकर सस्कृति को कैसे सीखता है। मानव द्वारा सस्कृति से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं के वर्णन और व्याख्या से पूर्व सामाजीकरण की प्रक्रिया का अध्ययन करना भी अत्यावश्यक है।

उपर्युक्त बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए यहाँ पर सम्बन्धित विषयो एवं प्रकरणो की विवेचना अग्रलिखित पृष्ठों एवं अध्यायो मे निम्न प्रकार से प्रस्तुत की जा रही है : समाज, संस्कृति, सामाजीकरण और व्यक्ति और समाज मे सम्बन्ध।

समाज
(Society)

समाज की विस्तृत विवेचना, जैसे—प्रस्तावना, समाजशास्त्र में समाज की अवधारणा, समाज का अर्थ एव परिभाषा, विशेषताएँ, समाज के मूलभूत लक्षण, 'एक समाज' और 'समाज' 'एक समाज' मे अन्तर की विवेचना इस पुस्तक के अध्याय-5 मे की जा चुकी है।

संस्कृति
(Culture)

हॉबल (Hoebel) का कहना है कि संस्कृति अनोखे रूप मे एक नया मानव-सघटना है—अर्थात् मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो संस्कृति का निर्माता है। संस्कृति मानव की सर्वश्रेष्ठ धरोहर है जिसके कारण मानव अनवरत प्रगति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है। यदि मानव

संस्कृति-विहीन हो जाये तो वह पशुवत् हो जायेगा क्योंकि पशु संस्कृति के अधिकारी नही होते। अर्थात् मानव व पशु दोनो के मध्य संस्कृति का ही अन्तर है। संस्कृति न केवल पशु-समाज से मानव को पृथक् करती है अपितु एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से, एक समाज दूसर समाज से संस्कृति के आधार पर ही भिन्नता रखता है। मनुष्य अपनी शारीरिक-मानसिक क्षमताओं के आधार पर ही सस्कृति का निर्माण कर सका है, अनेक विश्वासो, व्यवहार के तरीकों व वस्तुओ का निर्माण कर सका है—लेकिन वे कौनसी क्षमताएँ, योग्यताएँ थीं जो व्यक्ति को पशु जगत् से भिन्न कर सकीं, संस्कृति का निर्माण कर सकीं—उन विशेषताओं को जानना आवश्यक है।

मानव संस्कृति के निर्माता के रूप में
(Man as a Creater of Culture)

ह्वाइट (White) ने पाँच क्षमताओं का उल्लेख किया है जो व्यक्ति की शारीरिक-संरचना के कारण हैं, जिनके कारण मानव संस्कृति का निर्माता बना है और पशु-जगत् से भिन्न श्रेणी मे रखा गया है। निम्नलिखित शारीरिक विशेषताओं के कारण मानव संस्कृति का निर्माता कहा जाता है—

1. सीधे खड़े होने की क्षमता—मनुष्य में सीधे खडे होने की क्षमता पाई जाती है—पशु अपने चारों पैरों से चलते हैं लेकिन मनुष्य दो पैरों से चलता है और दो हाथो को अन्य उपयोगी कार्यों में लगाता है। यह उसकी अनोखी विशेषता है।

2. स्वतन्त्रतापूर्वक घुमाये जा सकने वाले हाथ—मानव के हाथो की बनावट इस प्रकार की है कि प्रत्येक दिशा में इन्हें सुगमता से घुमाया जा सकता है तथा इनकी सहायता से वह वस्तुओं को भी भली-भाँति पकड सकता है। हाथ के अंगूठे की विशेष बनावट भी इसमें सहायक होती है जिसके कारण व्यक्ति अनेक आश्चर्यजनक कार्य कर सकता है—बड़े-बड़े यन्त्र, कल-कारखाने, भवन-निर्माण व कलाकृति आदि का निर्माण तथा लेखन-क्षमता आदि इन्हीं के कारण सम्भव हो सकी है। यदि यह क्षमता व्यक्ति में न होती, तो वह कोई भी रचनात्मक-कार्य करने मे अक्षम रहता।

3. तीक्ष्ण व केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि—मानव के पास तीक्ष्ण व केन्द्रित की जा सकने वाली दृष्टि है जिसके कारण वह घटनाओं को देख सकता है, निष्कर्ष निकाल सकता है, नवीन खोज कर सकता है तथा किसी वस्तु पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है।

4. मेधावी मस्तिष्क—मानव की सर्वाधिक योग्यता मेधावी मस्तिष्क का होना है। मानव मे विचार करने की शक्ति होती है, जिसके कारण वह किसी कार्य की योजना बना सकता है, आविष्कार कर सकता है, कार्य-कारण सम्बन्धो को जान सकता है। इस प्रकार मेधावी मस्तिष्क मानव की सर्वाधिक उपलब्धि है। लिण्टन तथा डार्विन जेमे विद्वानों का मानना था कि मानव तथा उच्चकोटि के स्तनधारी जानवरों में मानसिक क्षमताओं की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं है लेकिन अनेक विद्वान इसे तर्कसंगत नहीं मानते हैं। वास्तविकता तो यह है कि मानव का मस्तिष्क पशुओं की तुलना में अधिक विकसित है, जिसके कारण वह तर्क कर सकता है, विचार कर सकता है तथा संस्कृति का विकास कर सकता है।

5. प्रतीकों के निर्माण की क्षमता—मनुष्य मे यह क्षमता है कि भाषा के माध्यम से वह विचारो का आदान प्रदान कर सकता है और उसके लिए मानव ने प्रतीकों को जन्म दिया है अर्थात् अर्थपूर्ण प्रतीको के माध्यम से अपने विचारो को एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति तक पहुँचा सकता है। भाषा व्यक्ति के ही पास है, पशु समाज के पास ऐसी भाषा नहीं होती कि मानव के समान वे विचार अभिव्यक्त कर सकते हो—वास्तविकता तो यही है कि भाषा का अन्तर मनुष्य को पशु से अलग करता है। पशुओ के पास चूँकि भाषा नहीं है, इसी से उनके पास सस्कृति नहीं है। सस्कृति का सशोधन, सवर्धन, परिमार्जन, हस्तान्तरण आदि भाषा के माध्यम से ही सम्भव हो सकता है। अर्थात् भाषा या प्रतीक मानव को संस्कृति के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।

संस्कृति का सामान्य अर्थ
(Common Meaning of Culture)

सस्कृति शब्द अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होता है—सस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत की सम्+कृ धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'पूरा किया हुआ' या 'परिष्कृत किया गया।' 'सस्कार' शब्द का अर्थ भी इसी प्रकार का है अर्थात् विभिन्न कार्यों को पूरा करना संस्कार कहलाता है। इस प्रकार सस्कृति भी विभिन्न सस्कारो द्वारा सामूहिक जीवन के उद्देश्यो की प्राप्ति कराती है जिनके करने से मानव सामाजिक प्राणी बनता है।

साहित्यकारो ने सस्कृति को सामाजिक शिष्टता एवं बौद्धिक श्रेष्ठता के अर्थ मे प्रयुक्त किया है। समाजशास्त्रियो ने सस्कृति को नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक उपलब्धियो के लिए प्रयोग किया है। इस प्रकार सस्कृति अनेक अर्थों मे विद्वानो द्वारा प्रयुक्त की गई है। वास्तव मे यह व्यक्ति के समग्र जीवन से सम्बन्धित होती है, जो विभिन्न संस्कारों द्वारा संस्कारित होती है और मानव को सस्कारित व सामाजिक प्राणी बनाती है।

संस्कृति का मानवशास्त्रीय अर्थ
(Anthropological Meaning of Culture)

मानवशास्त्रियो ने सस्कृति का विभिन्न अर्थों मे प्रयोग किया है—

(1) टायलर के अनुसार, "सस्कृति वह जटिल समग्रता है, जिसमे ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा एवं इसी प्रकार की अन्य क्षमताएँ व आदते सम्मिलित हैं जिन्हे मनुष्य समाज का सदस्य होने के कारण प्राप्त करता है।"

टायलर की इस परिभाषा के आधार पर स्पष्ट है कि मनुष्य अपने सामाजिक जीवन मे जो कुछ सीखता है या समाज से प्राप्त करता है, वह संस्कृति है या संस्कृति एक सामाजिक विरासत है, समाज द्वारा मानव को दिया हुआ उपहार है।

(2) मैलिनोव्स्की के अनुसार, "सस्कृति व्युत्पन्न आवश्यकताओ की एक व्यवस्था और उद्देश्यात्मक क्रियाओ की एक सगठित व्यवस्था है।" इस परिभाषा के अनुसार संस्कृति मे व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक और अन्य सभी आवश्यकताओ की पूर्ति करने वाले तरीको को लिया गया है।

(3) हॉवल ने कहा है कि ''सस्कृति सम्बन्धित सीख हुए व्यवहार-प्रतिमाना का सम्पूर्ण योग है जो किसी समाज के सदस्या की विशेषताओं को बताता है और इसीलिए प्राणिशास्त्रीय विरासत का परिणाम नही होता।''हॉवल ने इस परिभाषा मे सस्कृति को सामाजिक आविष्कारो का परिणाम बताया हे, वंशानुक्रमण द्वारा इसका निर्धारण नहीं होता।

(4) राल्फ पिडिंगटन के मतानुसार, ''संस्कृति उन भौतिक एवं बौद्धिक माधनों अथवा उपकरणो का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी प्राणिशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओ की सन्तुष्टि करता है और अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।'' पिडिंगटन ने अपनी परिभाषा मे सस्कृति में दो पक्षो को सम्मिलित किया है—(1) भौतिक वस्तुएँ—जिनमे भवन, वर्तन, वस्त्र, औजार आदि आते हैं, और (2) अभौतिक बाते—जिनमे ज्ञान, मूल्य, विश्वास आदि समाहित हें। सस्कृति के दोनो ही पक्ष एक-दूसरे के पूरक हैं।

(5) हरस्कोविट्स के शब्दो मे, ''संस्कृति पर्यावरण का मानव-निर्मित भाग है।'' इस परिभाषा में यह दृष्टव्य है कि हमारे चारो ओर की जितनी वस्तुएँ मनुष्य द्वारा निर्मित हैं वे सभी सस्कृति के अन्तर्गत आती हैं। इन्होने दो प्रकार का पर्यावरण बताया है—(1) प्राकृतिक *पर्यावरण, और (2) सामाजिक पर्यावरण—संस्कृति में सामाजिक पर्यावरण को लिया गया* है—आभूषण, औजार, मकान, परम्परा, विश्वास, कला, धर्म, भाषा आदि सभी मानवकृत होने के कारण सस्कृति का अंग हैं।

(6) गोल्डन वाइजर ने सस्कृति के अन्तर्गत हमारे दृष्टिकोण, विश्वास, विचार, निर्णय, मूल्य व हमारी संस्थाएँ—राजनैतिक व वैधानिक, विज्ञान, दर्शन तथा अन्य बहुत-सी वस्तुओ को समाहित किया है।

(7) लोवी के अनुसार, ''सम्पूर्ण सामाजिक परम्परा ही सस्कृति है।''

(8) लिंटन के मत मे, ''संस्कृति ज्ञान, धारणाएँ एवं प्राकृतिक व्यवहार के प्रतिमानों का कुल योग है जिसके सभी भागीदार होते हे तथा जो हस्तान्तरित की जाती है।''

(9) दुबे के अनुसार, ''सीखे हुए व्यवहार-प्रकारों की उस समग्रता को जो किसी समूह को वैशिष्ट्य प्रदान करती है, संस्कृति की सज्ञा दी जा सकती है।''

इस प्रकार मानवशास्त्रियों के मत में सस्कृति विचार करने, अनुभव करने एवं जीवन व्यतीत करने की एक सम्पूर्ण विधि है।

संस्कृति का समाजशास्त्रीय अर्थ
(Sociological Meaning of Culture)

अनेक समाजशास्त्रियो ने संस्कृति को अनेक रूपो में परिभाषित किया है, जो इस प्रकार है—

(1) मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, ''संस्कृति हमारे दैनिक व्यवहार में कला, साहित्य, धर्म, मनोरंजन और आनन्द मे पाये जाने वाले रहन-सहन और विचार के तरीको मे

हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति है।" इनके मत में संस्कृति व्यक्तित्व से पूर्णतया सम्बन्धित है, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से यह सम्बन्धित है।

(2) गिलिन एव गिलिन ने कहा है कि "संस्कृति प्रत्येक समूह तथा प्रत्येक समाज मे (आन्तरिक एव बाह्य) व्यवहार के ऐसे प्रतिमानों का समूह होता है जो न्यूनाधिक रूप से सदस्यो में सामान्य होते हैं, जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं तथा बच्चो को सिखाये जाते हैं और जिनमें निरन्तर परिवर्तन की सम्भावना बनी रहती है। इन सामान्य प्रतिमानों को संस्कृति कहा जाता है।" इस परिभाषा मे सस्कृति मे समाज के आन्तरिक एवं बाह्य सभी व्यवहार आ जाते हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते हैं।

(3) रॉबर्ट बीरस्टीड के अनुसार, "संस्कृति वह सम्पूर्ण जटिलता है जिसमें वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।" इस प्रकार इनके मत मे संस्कृति जीवन जीने, विचार करने का तरीका है जो एक पीढी से दूसरी पीढी को हस्तान्तरित होता है।

(4) लेंडिस के मत मे, "संस्कृति वह ससार है जिसमें एक व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक निवास करता है, चलता-फिरता है और अपने अस्तित्व को बनाए रखता है।"

(5) टालकॉट पारसन्स ने सस्कृति को ऐसे पर्यावरण के रूप मे परिभाषित किया है जो मानव क्रियाओ के निर्माण मे मौलिक है। अर्थात् इनके मत मे संस्कृति मानव के व्यक्तित्व एवं क्रियाओं का निर्धारण करती है।

(6) फेयर चाइल्ड के अनुसार, "प्रतीकों द्वारा सामाजिक रूप से प्राप्त और सचारित सभी व्यवहार प्रतिमानों का सामूहिक नाम सस्कृति है।"

(7) ब्रूम एवं सेल्जनिक संस्कृति को सामाजिक विरासत मानते हैं। इस प्रकार सभी समाजशास्त्री सस्कृति को समाज की धरोहर के रूप मे मानते हैं।

सस्कृति की मानवशास्त्रीय एवं समाजशास्त्रीय परिभाषाओ के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सस्कृति मे विश्वास, विचार, प्रथाएँ, कानून, आदर्श, कला, निपुणता आदि सभी समाहित हैं, साथ ही भवन, यंत्र, चित्रकला आदि भी इसी के अन्तर्गत आते हैं। निष्कर्षत: सस्कृति भौतिक एव अभौतिक तत्त्वो की वह सम्पूर्णता है जिसे समाज का सदस्य होने के कारण हम प्राप्त करते हैं। इसमें सम्पूर्ण जीवन के तरीके, मानवकृत सामाजिक पर्यावरण भी आता है। इस प्रकार ससार मे जो कुछ मनुष्य ने अपनी बुद्धि व अनुभव से बनाया है, सस्कृति का ही अंग है।

भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति
(Material and Non-Material Culture)

अमेरिकन समाजशास्त्री ऑगबर्न ने सस्कृति के दो भाग किये हैं—(1) भौतिक सस्कृति, (2) अभौतिक संस्कृति।

भौतिक संस्कृति (Material Culture)—भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्य के द्वारा निर्मित वस्तुओं को लिया जाता है जिनका निश्चित आकार होता है तथा इनमें मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। भवन, अस्त्र, शस्त्र, आभूषण, मशीनें, आवागमन के साधन सन्देशवाहन के साधन, कृषि आदि के साधन-सभी संस्कृति का भौतिक पक्ष हैं—अर्थात् वे सभी

भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति में अन्तर

भौतिक संस्कृति	अभौतिक संस्कृति
1. भौतिक संस्कृति मूर्त होती है।	1 अभौतिक संस्कृति अमूर्त होती है।
2. भौतिक संस्कृति व्यक्ति के बाह्य जीवन से सम्बन्धित है।	2 अभौतिक संस्कृति का सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक जीवन से है।
3. परिवर्तन बड़ी तीव्र गति से होते हैं।	3. परिवर्तन की गति अति मन्द होती है।
4. भौतिक संस्कृति शीघ्र ग्राह्य है। अर्थात् सांस्कृतिक सम्पर्क से ये शीघ्र ग्रहण की जा सकती है।	4 अभौतिक संस्कृति को शीघ्रता से ग्रहण नहीं किया जा सकता है।
5 यह मापनीय है।	5 यह मापी नहीं जा सकती।
6. इसकी प्रकृति सरल है।	6. यह जटिल प्रकृति की है।
7. भौतिक संस्कृति संचयी होती है। आविष्कारो से इसमे वृद्धि होती जाती है।	7. अभौतिक संस्कृति मे न तो वृद्धि होती है न ही इसका संचय किया जाता है।
8. इसका मूल्यांकन लाभ अथवा उपयोगिता के आधार पर किया जाता है।	8. अभौतिक संस्कृति का मूल्यांकन उपयोगिता के आधार पर नहीं किया जा सकता है।

साधन जो मानव द्वारा निर्मित हैं तथा मूर्तरूप में हैं, भौतिक संस्कृति के अंग हैं। भौतिक संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएँ हो सकती हैं—(1) भौतिक संस्कृति मूर्त होती है। (2) इसे मापा जा सकता है अथवा भौतिक संस्कृति मापनीय है। (3) भौतिक संस्कृति संचयी है। (4) इसकी उपयोगिता का मूल्यांकन किया जा सकता है। (5) भौतिक संस्कृति शीघ्रता से परिवर्तनशील है। (6) एक स्थान से दूसरे स्थान पर इसका प्रसार आसानी से होता है अतः इसका ग्रहण भी आसानी से किया जा सकता है।

अभौतिक संस्कृति (Non-Material Culture)—अभौतिक संस्कृति मे वे सभी बातें समाहित हैं जो अमूर्त हैं। मैकाइवर आदि कुछ समाजशास्त्री तो संस्कृति के अमूर्त रूप को ही संस्कृति मानते हैं—इसके अन्तर्गत उन सभी सामाजिक तथ्यों को लिया जाता है जिनका तोल-माप नहीं हो सकता, जो अमूर्त होते हैं, जिन्हे हम केवल अनुभव कर सकते हैं। सोरोकिन तो इसी गुण के आधार पर इसे भावात्मक संस्कृति कहते हैं। अभौतिक संस्कृति हमे विरासत में प्राप्त होती है—विचार, विश्वास, मानदण्ड, व्यवहार, मूल्य, प्रथा, रीति-रिवाज, कानून,

साहित्य, ज्ञान, भाषा आदि इसी के अंग हैं—अभौतिक संस्कृति सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है—अभौतिक संस्कृति की निम्नलिखित विशेषताएँ हो सकती हैं—

(1) यह अमूर्त होती है। (2) इसे मापा नहीं जा सकता है। (3) इसकी उपयोगिता का मूल्यांकन प्रकट रूप से नहीं किया जा सकता। (4) अभौतिक संस्कृति जटिल होती है। (5) इसमे परिवर्तन बड़ी धीमी गति से होते हैं। (6) सास्कृतिक प्रसार से इसे उसी रूप मे ग्रहण नहीं किया जा सकता। (7) अभौतिक सस्कृति का सम्बन्ध मानव के नैतिक एवं आध्यात्मिक जीवन से है।

अन्त मे यह कहा जा सकता है कि भौतिक एवं अभौतिक सस्कृति दोनों का साथ-साथ प्रयोग किया जाता है। यदि भौतिक सस्कृति विकसित होती है तो अभौतिक संस्कृति का विकास भी स्वतः ही हो जाता है। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं।

संस्कृति के लक्षण

(Attributes of Culture)

संस्कृति को विस्तार से जानने के लिए प्रसिद्ध समाजशास्त्री मजूमदार एवं मदान ने अपनी पुस्तक 'सामाजिक मानवशास्त्र परिचय' में सस्कृति के कुछ लक्षणो का विवेचन किया है जो इनके अनुसार नृतत्ववेत्ताओं द्वारा किए गए तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर स्थापित संस्कृति के लक्षणों के बारे मे कुछ सामान्यीकरण है, ये निम्नलिखित प्रकार से है—

(1) संस्कृति की स्वाभाविक विशिष्टता एवं प्रज्ञप्ति (Ethos and Eidos of Culture)—मानवशास्त्री क्रोबर ने सस्कृति के दो पक्षो पर ध्यान केन्द्रित किया है—(1) ईथोस और ईडोस। इन्होने माना है कि संस्कृति का निर्माण इन दोनो पक्षो से मिलकर होता है। संस्कृति के घटको से प्रकट होने वाला इसका औपचारिक व्यक्त रूप ईडोस (प्रज्ञप्ति) है तथा सस्कति का दूसरा पक्ष जो उसके गुणों, प्रेरक मान्यताओ और इसकी अभिरुचियो को निर्धारित करता है ईथोस (स्वाभाविक विशिष्टता) कहलाता है।

बटेसन का मानना है कि प्रत्येक संस्कृति को दो पक्षों मे विभाजित किया जा सकता है—इनमें ईथोस कहा जाने वाला प्रथम पक्ष वह है जिसकी रचना एक संस्कृति की सम्पूर्ण भावात्मक साग्रहता से होती है। ईडोस कहे जाने वाले दूसरे पक्ष में एक संस्कृति में प्रचलित संज्ञानात्मक प्रक्रिया से उत्पन्न साग्रहता को लिया जा सकता है। अर्थात् संस्कृति के दो पक्ष हैं—एक बाह्य अथवा औपचारिक पक्ष जिसे स्पष्टतया देखा जा सकता है। संस्कृति का दूसरा पक्ष आन्तरिक गुणों वाला है जिसमे अभिरुचियाँ, मान्यताएँ आदि आती हैं। इसे इस रूप मे और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है कि संस्कृति का ईथोस पक्ष अमूर्त है और ईडोस पक्ष मूर्त है।

(2) संस्कृति के व्यक्त एवं अव्यक्त तत्त्व (Explicit and Implicit Elements of Culture)—**क्लूखॉन** ने सस्कृति के तत्त्वों को दो रूपो में विभाजित किया है—(1) व्यक्त तत्त्व (2) अव्यक्त तत्त्व। मानव इन्द्रियो द्वारा हम सस्कृति के व्यक्त रूप को देख सकते हैं। कुछ

ऐसे अव्यक्त तत्त्व भी हैं जिनको किसी विशेष प्रशिक्षण के पश्चात् ही अवलोकित किया जा सकता है क्योंकि ये तत्त्व मानव-व्यवहार मे निहित अभिप्रेरकों एवं मनोवेगों के रूप में होते हैं जिनसे व्यक्ति स्वयं भी प्राय: परिचित नहीं होते। **कीसिंग** ने भी संस्कृति के इन दोनों पक्षो पर प्रकाश डाला है। 1. व्यक्त तत्त्वों में उन तत्त्वों को लिया जा सकता है जिन्हे देखा, छुआ व सुना जा सकता है, ये मूर्त तत्त्व होते हैं जिनमे मानव-निर्मित भौतिक वस्तुएँ आती हैं। 2 अव्यक्त तत्त्वों में विश्वास, मूल्य, न्याय, प्रेरणा, समन्वय आदि को लिया जा सकता है, जो अमूर्त होते हैं।

(3) संस्कृति-निर्धारणवाद (Culture Determinism)—कार्ल मार्क्स के दृष्टिकोण के अनुसार सांस्कृतिक विचारधाराएँ, सामाजिक एव राजनैतिक सरचनाएँ सभी आर्थिक सगठन के आधार पर निर्मित होती हैं। इसके विपरीत संस्कृति-निर्धारणवादियो के मतानुसार न केवल आर्थिक संगठन अपितु समाज भी संस्कृति द्वारा ही निर्धारित होता है। **टायलर** के मतानुसार संस्कृति मनुष्य को समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त होती है किन्तु संस्कृति-निर्धारणवादियों का मानना है कि संस्कृति की अभिवृद्धि एव क्रियाशीलता संस्कृति के नियमों द्वारा ही संचालित होती है। संस्कृति की व्याख्या तो मानव-शारीरिकी, मानव मनोविज्ञान और मानव-समाज भी नहीं कर सकते। संस्कृति-निर्धारणवादी समाज के सभी पक्षों—धर्म, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था आदि को परिवर्तित एवं निर्धारित करने के लिए संस्कृति को ही प्रमुखता देते हैं। संस्कृति-निर्धारणवादियों में **लेसली ह्वाइट** का नाम सर्वप्रमुख है।

किन्तु संस्कृति-निर्धारणवादी संस्कृति को ही सब कुछ मानने लगे हैं जबकि स्थिति इस प्रकार की नहीं है। मानव संस्कृति का केवल वाहक एवं दास ही नहीं है, वह उसका निर्माता भी है।

(4) संस्कृति बनाम व्यक्ति (Culture Vs Individual)—**लिण्टन** के अनुसार परम्परावादी व्यक्तियों के लिए संस्कृति निर्देशक की भूमिका अदा करती हैं। सस्कृति ही उनके लिए व्यवहार के प्रतिमान तय करती है तथा उनके व्यक्तिगत एवं सामाजिक अस्तित्व के लिए आवश्यक रचनातन्त्र प्रदान करती है। संस्कृति मनुष्य को मुक्ति प्रदान करने वाली है क्योंकि उसके बिना मनुष्य का जिन्दा रहना मुश्किल है। वह उसे जैविक निर्धारणवाद से मुक्त करती है लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि मनुष्य भी संस्कृति के प्रति अपने दायित्वो को पूर्ण करे, इसका मूल्य चुकाए।

यदि कोई मनुष्य समाज से लाभ प्राप्त करना चाहता है तो उसे समाज द्वारा स्वीकृत जीवन-पद्धति का अनुसरण करना पडता है और प्राय: प्रत्येक मनुष्य ऐसा ही करता है। इस प्रकार संस्कृति मनुष्य की निर्देशिका है। वह उसे मुक्त करती है साथ ही अपने अधीन भी रखती है।

मनुष्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समाज को जड न होने दें और ऐसा करने के तरीके भी स्वयं संस्कृति ही बताती है, उसी की सीमा में रहकर उनका प्रयोग करना होता है।

टायनबी ने इस प्रकार के लोगों को **'सृजनशील अल्पसंख्यक'** कहा है। ये लोग अपने नवीन विचारों का परीक्षण संस्कृति के अन्तर्गत ही करते हैं। ये संस्कृति को नष्ट नहीं करना चाहते वरन् रचनात्मक शक्ति द्वारा उसे बदलना चाहते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि कोई व्यक्ति आगे आए व इन साधनों का प्रयोग करे।

(5) संस्कृति एवं सभ्यता (Culture and Civilization)—महान् विद्वान् मॉर्गन का कहना है कि मानव समाज तीन अवस्थाओं में उद्विकसित हुआ है—(1) असभ्यावस्था (2) बर्बरावस्था (3) सभ्यावस्था। सभ्यता समाज के उद्विकास की ही एक अवस्था है जिसमें धातु-कर्म, विज्ञान, लेखन आदि का विकास हुआ, बाद में सभ्यता एक विशेष प्रकार की संस्कृति का बोध कराने लगी। कुछ अमेरिकन समाजशास्त्री, जैसे—मैकाइवर तथा जर्मन आदर्शवादी संस्कृति और सभ्यता के बीच एक विशेष प्रकार का अन्तर करते हैं। ये विद्वान् संस्कृति को मनुष्य की नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक उपलब्धि मानते हैं, ये संस्कृति को प्रतीकों और मूल्यों की परिचायिका मानते हैं। इनके मत में संस्कृति प्राथमिक और आधारभूत वस्तु है, हमारे अन्तर में विद्यमान है और जो कुछ हम हैं वही संस्कृति है। यह प्रगति और अवनति दोनों का कारण हो सकती है। इसकी तुलना में सभ्यता गौण है। यह हमसे बाहर स्थित है। प्रौद्योगिकी, भौतिक-संस्कृति और सामाजिक संस्थाओं से इसका निर्माण होता है। यही सांस्कृतिक जीवन के साधनों या उपकरणों की समग्रता है, जो कुछ हमारा है वही यह सभ्यता है—यह सचयीमान है, अपने आप न तो इसकी प्रगति होती है न अवनति।

संस्कृति और संस्कृति संकुल (Culture and Culture Complex)—संस्कृति हमारी सम्पूर्ण जीवन-पद्धति से सम्बन्धित है तथा यह कई तत्त्वों से मिलकर निर्मित होती है, जैसे—पूजा, आराधना, कर्मकाण्ड, पत्थर के उपकरण बनाना आदि। इसी प्रकार का प्रत्येक तत्व संस्कृति विशेषक या संस्कृति-तत्त्व कहा जाता है। इस प्रकार के कुछ तत्त्व जब अर्थपूर्ण ढंग से जुड़े हुए होते हैं तथा सम्पूर्ण संस्कृति का एक भाग होते हैं तो संस्कृति-सकुल कहलाते हैं। इस प्रकार संस्कृति-संकुल विभिन्न संस्कृति-विशेषकों का अर्थपूर्ण संयोग है जो सम्पूर्ण संस्कृति का ही एक भाग होता है।

नृतत्ववेत्ताओं ने जो संस्कृति के लक्षण बताए हैं उन्हें **मजूमदार और मदान** के अनुसार स्पष्ट किया जा चुका है किन्तु अनेक विद्वान् संस्कृति की अन्य अनेक विशेषताएँ मानते हैं जो इसके स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करती हैं, वे विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—

संस्कृति की विशेषताएँ
(Characteristics of Culture)

संस्कृति की अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जो इसकी वास्तविक प्रकृति को स्पष्ट करने में सहायक होती हैं। इसमें से प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—
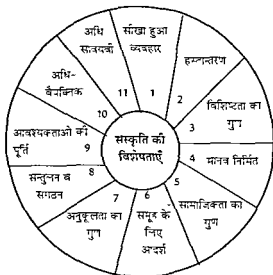
(1) **सीखा हुआ व्यवहार** (Learned Behaviour)—**हॉवल** की परिभाषा के अनुसार, "संस्कृति सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का सम्पूर्ण योग है जो कि प्राणिशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं, बल्कि किसी समाज के सदस्यों की विशेषता है।" इससे संस्कृति की यह विशेषता स्पष्ट होती है कि संस्कृति सीखी जाती है, वह शारीरिक विशेषताओं के समान वंशानुक्रमण द्वारा प्राप्त नहीं होती। मनुष्य जन्म के समय किसी संस्कृति को नहीं जानता। धीरे-धीरे व्यक्ति का सामाजीकरण होता है और वह उस समाज के व्यवहार-प्रतिमानों को सीखता है और उन सीखे हुए व्यवहार-प्रतिमानों का योग ही संस्कृति कहा जा सकता है। अतः यह कहा जा सकता है कि जो व्यवहार किसी समाज या समूह की विशेषता होते हैं वही संस्कृति के अन्तर्गत आते हैं, जैसे—प्रथा, रूढ़ियाँ, जनरीतियाँ, परम्पराएँ आदि—साथ ही वे व्यवहार जो व्यक्तिगत होते हैं या व्यक्ति विशेष तक ही सीमित होते हैं, वे संस्कृति नहीं हो सकते हैं। अतः यह कहा गया है कि सभी प्रकार के सीखे हुए व्यवहार संस्कृति के अंग नहीं हैं अपितु संस्कृति में वही व्यवहार-प्रतिमान सम्मिलित हैं जो किसी समूह या समाज के सदस्यों द्वारा स्वीकृत एवं मान्यता प्राप्त हैं।

(2) **हस्तान्तरण** (Transmission)—सीखे जाने के गुण के कारण ही संस्कृति की यह भी विशेषता है कि इसे एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को अथवा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित भी किया जा सकता है। इस संचरण की प्रक्रिया में भाषा महत्त्वपूर्ण साधन है जो केवल मानव की ही विशेषता है। चूँकि मानवेतर प्राणी भाषा नहीं जानते इसलिए वे अपनी संस्कृति का संचारण भी नहीं कर सकते। मानव भाषा के माध्यम से ही अपने ज्ञान को आगे आने वाली पीढ़ी को हस्तान्तरित कर देता है। लेखन-कला (जो भाषा का ही लिखित रूप है) के द्वारा संस्कृति का संचय किया जा सकता है जिसमें व्यक्ति अपने अनुभवों को भी सम्मिलित कर सकता है। इस तरह नई पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से प्राप्त ज्ञान व अनुभवों को अपनी आगे की

पीढ़ी के लिए हस्तान्तरित करती जाती है और इस तरह मानव-ज्ञान व अनुभव संस्कृति को बढ़ाते जाते हैं और वह संचयी (Cumulative) होती जाती है अर्थात् विगत अनुभवों से लाभान्वित होकर भावी पीढ़ी को उन्नत बनाया जा सकता है; उदाहरणार्थ—एक बार पहिए का आविष्कार हो जाने के उपरान्त व्यक्ति को क्रमशः बैलगाड़ी, रेल, बस, स्कूटर, हवाई जहाज आदि बनाने के लिए पुराने अनुभवों व ज्ञान से सहायता मिली, यह संस्कृति के हस्तान्तरण का परिणाम है।

3. विशिष्टता का गुण (Quality of Distinctiveness)—चूँकि प्रत्येक समाज की अपनी अलग विशेषताएँ होती हैं; उसकी सामाजिक, भौगोलिक परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं अतएव वहाँ की संस्कृति भी अलग विशेषता लिए हुए होती है। अर्थात् हर समाज की सामाजिक आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं और उन सामाजिक आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप प्रत्येक समाज दूसरे समाज से संस्कृति में भिन्नता रखता है, उदाहरणार्थ—पाश्चात्य समाजों मे सर्दी अधिक होने के कारण हर समय मनुष्य जूते, मोजे आदि पहिने रहते हैं इसी कारण वहाँ की संस्कृति में रसोई में जमीन में बैठकर खाना खाने व बनाने की व्यवस्था नहीं है—हर कार्य मेज-कुर्सी पर बैठकर होता है, इसके विपरीत भारत मे अधिक सर्दी हर मौसम मे न पड़ने के कारण भोजन बनाने व खाना जमीन पर बैठकर किया जाता है अतः यहाँ की संस्कृति में पाश्चात्य संस्कृति से भिन्नता भौगोलिक परिस्थितियो के कारण है। अर्थात् संस्कृति पूर्णतः सामाजिक आवश्यकताओं का परिणाम होती है। कुछ क्षेत्रों में संस्कृति सर्वत्र समान भी दिखाई देती है, जैसे—परिवार, विवाह, प्रथाएँ, कानून, नातेदारी, जन-रीतियाँ, रूढ़ियाँ आदि समान ही मिलती हैं। इसी आधार पर मुरडॉक एवं वील्स आदि का मानना है कि ऊपरी तौर पर संस्कृतियों में विभिन्नता दिखाई देती है किन्तु गहराई से देखने पर उनमे समानता ही दृष्टिगोचर होती है। अतः यह निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सभी संस्कृतियों में कुछ तत्त्व समानता लिए हुए होते हैं तथा कुछ तत्त्व भिन्नता लिए हुए होते हैं।

(4) मानव निर्मित (Man made)—मनुष्य मे वह अनोखी क्षमता विद्यमान है कि उसे संस्कृति का निर्माता कहा जा सकता है। मनुष्य को यह क्षमता उसकी शारीरिक संरचना के कारण है—विकसित मस्तिष्क, तीक्ष्ण दृष्टि, हाथो की बनावट, सीधे खड़े होने की क्षमता, अँगूठे व गर्दन की संरचना आदि उसे अन्य प्राणियों से भिन्नता प्रदान करती हैं जिनके कारण ही वह अपने अनुभवो का प्रयोग कर सका है, नवीन आविष्कार कर सका है और अपनी संस्कृति का निर्माता बन सका है। अतः कहा जा सकता है कि संस्कृति केवल मानव-समाज में ही विद्यमान है किसी मानवेतर समाज में नहीं।

(5) सामाजिकता का गुण (Quality of Sociality)—चूँकि संस्कृति मानव की आवश्यकताओं के अनुरूप होती है, साथ ही वह सामाजिक आविष्कार का परिणाम होती है, अतः संस्कृति की प्रकृति सामाजिक है। संस्कृति व्यक्ति-विशेष की नहीं होती वरन् वह सम्पूर्ण समाज की होती है, वह समाज की सम्पूर्ण जीवन-विधि की प्रतिनिधि होती है क्योंकि उसका जन्म सामाजिक आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप होता है। परम्परा, धर्म, भाषा, कला-दर्शन आदि सम्पूर्ण समाज की विशेषताओं को प्रकट करते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि संस्कृति व्यक्तिगत नहीं है, अपितु उसमें सामाजिकता का गुण निहित होता है।

(6) **समूह के लिए आदर्श** (Ideal for the group)—संस्कृति हर समाज व समूह की अलग होती है और वह समूह अपनी सस्कृति को एक आदर्श मानता है और उसके अनुसार ही व्यवहार करता है। इसी कारण जब दो संस्कृतियों की परस्पर तुलना की जाती है तो प्रत्येक समूह अपनी संस्कृति को दूसरी सस्कृति से आदर्श व श्रेष्ठ मानता है और उसी के अनुसार व्यवहार करने का प्रयास भी करता है। हिन्दू, मुस्लिम, दक्षिण भारतीय आदि सभी स्वयं की संस्कृति को उच्चादर्श मानते हैं।

(7) **अनुकूलता का गुण** (Quality of adapatability)—संस्कृति की यह विशेषता है कि वह परिस्थितियों के अनुसार अपने आपको अनुकूलित कर लेती है। इसका कारण यह है कि संस्कृति गतिशील होती है, स्थिर नहीं—इसी गतिशीलता के परिणामस्वरूप वह समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेती है। उदाहरण के लिए, रेगिस्तान व बर्फीले प्रदेशो में रहने वालो की सस्कृति मे पर्याप्त अन्तर भौगोलिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप आता रहता है और उस भोगोलिक पर्यावरण से अनुकूलन भी वहाँ के लोग कर लेते हैं और तदनुरूप उनकी सस्कृति बन जाती है। उसी प्रकार टुण्ड्रा-निवासियों की संस्कृति वहाँ के बर्फीले वातावरण के अनुरूप हो जाती है अर्थात् संस्कृति अपने भौगोलिक पर्यावरण के अनुरूप परिवर्तित हो जाती है यह उसका विशेष गुण होता है। किन्तु भौगोलिक पर्यावरण कुछ सीमा तक ही संस्कृति को प्रभावित कर सकता है क्योंकि सांस्कृतिक परिवर्तन की गति धीमी होती है।

(8) **सन्तुलन व संगठन** (Equilibrium and Organization)—संस्कृति अनेक इकाइयो का समन्वित रूप है और ये इकाइयाँ पारस्परिक रूप से सम्बन्धित व अन्तःनिर्भर होती हैं अर्थात् संस्कृति की विभिन्न इकाइयाँ परस्पर एक-दूसरे से गुंफित होती है और उनका संगठित रूप ही सम्पूर्ण संस्कृति मे एक प्रकार का सन्तुलन तथा सगठन लाता है। इसका कारण यह है कि इन इकाइयों का अस्तित्व शून्य मे नहीं होता, बल्कि सम्पूर्ण सांस्कृतिक ढाँचे के अन्तर्गत व्यवस्थित रूप से ये परस्पर सम्बद्ध होती हैं। प्रत्येक इकाई का ढाँचे के अन्दर एक निश्चित कार्य व स्थिति होती है, फलस्वरूप सम्पूर्ण सास्कृतिक ढाँचे मे सन्तुलन व संगठन बना रहता है।

(9) **आवश्यकताओं की पूर्ति** (Satisfies needs)—मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज मे उसकी अनेक प्रकार की आवश्यकताएँ होती हैं, जैसे—शारीरिक, मानसिक, सामाजिक आदि जिनकी पूर्ति के लिए उसने संस्कृति निर्मित की है। संस्कृति ही मानव की प्राणिशास्त्रीय एवं सामाजिक दोनो प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति कराती है। समाजविद् **मैलिनोव्स्की एवं रेडक्लिफ-ब्राउन** संस्कृति को जीवन व्यतीत करने को एक सम्पूर्ण विधि मानते हैं, जो व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति करती है। यदि संस्कृति, निरन्तर अपने समाज के सदस्यों की महत्त्वपूर्ण शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति करने में असफल रहती है तो सम्पूर्ण सस्कृति ही समाप्त हो सकती हैं—उदाहरण के लिए मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही नवीन-नवीन आविष्कारों का निर्माण होता रहता है और वे आविष्कार संस्कृति का ही अंग होते हैं।

(10) **अधि-वैयक्तिक** (Super-individual)—**क्रोबर** ने संस्कृति की यह विशेषता बताई है कि संस्कृति अधि-वैयक्तिक ही नहीं, अधिसावयवी भी है। संस्कृति की ये दोनों ही विशेषताएँ महत्त्वपूर्ण हैं। सर्वप्रथम देखें कि संस्कृति को अधि वैयक्तिक क्या कहा गया है? संस्कृति एक व्यक्ति की नहीं, अपितु सम्पूर्ण समाज अथवा समूह की होती है। यद्यपि मनुष्य ही संस्कृति का निर्माता है इसके उपरान्त भी संस्कृति की निरन्तरता अथवा उसका अधिकार व्यक्ति-विशेष पर निर्भर नहीं है, वह तो सम्पूर्ण समूह की विशेषता है—प्रथाएँ, रूढ़ियाँ परम्पराएँ आदि किसी व्यक्ति विशेष द्वारा नहीं, अपितु सम्पूर्ण समूह द्वारा निर्मित होती है। यह बात भले ही है कि किसी का अनुभव, सहयोग इन्हे आगे बढाने मे सहायक रहा हो। लेकिन यह अक्षरशः सत्य है कि संस्कृति अनेक व्यक्तियो की अन्तःक्रिया एव विचार विनिमय के माध्यम से एक पीढ़ी मे दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती है, कोई भी व्यक्ति इसमे अपना योगदान दे सकता है—संस्कृति का निर्माण, विकास, परिमार्जन, संशोधन एव परिवर्धन होना एक स्वाभाविक क्रिया है जिसे नियन्त्रित करने की क्षमता किसी व्यक्ति मे नहीं हो सकती। इसी रूप मे संस्कृति को अधि वैयक्तिक कहा गया है।

11. **अधि-सावयवी** (Super Organic)—क्रोबर ने संस्कृति को अधि सावयवी भी कहा है। अधि-सावयवी कहने का आशय है कि प्राणिशास्त्रीय या जैविक (सावयवी) क्षमताएँ और संस्कृति (अधि-सावयवी) भिन्न भिन्न प्रकार की प्रघटनाएँ है। संस्कृति को जैविकीय से ऊँचा माना गया है क्योंकि संस्कृति ही मानव जीवन को नियन्त्रित निर्देशित करती है। इससे प्रभावित हुए बिना मानव का अस्तित्व नहीं है संस्कृति के अनुसार ही उसे चलना पड़ता है। साथ ही केवल जैविकीय या सावयवी घटनाएँ भी संस्कृति की जनक नहीं हो सकती क्योकि संस्कृति वंशानुसंक्रमण द्वारा किसी व्यक्ति को प्राप्त नहीं होती। वंशानुसंक्रमण मे यह क्षमता नहीं कि उनके माध्यम से सांस्कृतिक लक्षण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित हो इस कारण भी संस्कृति अधि सावयवी है।

इस प्रकार प्राणिशास्त्रीय क्षमताएँ संस्कृति से भिन्न होने के कारण तथा शारीरिक विशेषताओ के समान सांस्कृतिक विशेषताएँ वंशानुक्रम से व्यक्ति को प्राप्त न होने के कारण संस्कृति अधि-सावयवी है। संस्कृति ही व्यक्ति के जीवन को दिशा-निर्देश देती है तथा उसे नियन्त्रित भी करती है।

❐

अध्याय-18

सामाजीकरण : अर्थ, प्रक्रिया एवं सिद्धान्त

(Socialization : Meaning, Process and Theories)

सामाजीकरण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा बालक सामाजिक प्राणी की श्रेणी में आता है। जन्म के समय नवजात शिशु रक्त-माँस से निर्मित सावयव शरीर मात्र होता है जिसमे केवल मूल प्रवृत्तियाँ और सवेग होते हैं, धीरे-धीरे शिशु समाज के सम्पर्क मे आता है, तब उसमे मानवोचित गुणों का विकास होता है। वह समझने लगता है कि उसे किस व्यक्ति के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, व्यक्ति उससे क्या अपेक्षाएँ रखते हैं तथा वह व्यक्तियों से क्या चाहता है। यह सब सामाजिक-सम्पर्क के परिणामस्वरूप ही वह सीखता है अथवा यह सीखने की क्षमता उसमे सामाजिक-सम्पर्क के कारण ही विकसित होती है और तब वह समाज का एक सक्रिय सदस्य बन जाता है। समाज के रीति-रिवाज, नियम, मूल्य, प्रथाएँ आदि ग्रहण कर एक संस्कृत प्राणी बन जाता है। उसकी यही विकास की प्रक्रिया ही 'समाजीकरण' कहलाती है। सक्षेप मे कहें तो सामाजीकरण की प्रक्रिया ही शिशु को सामाजिक प्राणी बनाती ह, इसके अभाव में वह सामाजिक प्राणी नहीं बन सकता। अनेक उदाहरण इस प्रकार के हैं कि जिनमे नवजात शिशु को जंगली जानवर उठाकर ले गए और बाद में वे बालक जगली जानवरों जैसे ही चलने-फिरने, खाने-पीने लगे। इससे भी स्पष्ट होता है कि जन्म के समय शिशु एक जीवित प्राणिशास्त्रीय इकाई मात्र होता है जिसमें किसी भी प्रकार के सामाजिक गुण नहीं होते। धीरे-धीरे वह सांस्कृतिक और भौतिक वातावरण को हृदयगम करता है, उसमें सामूहिक भावना विकसित होती है, अन्यो से सहयोग करना सीखता है, उसमें सामाजिक चेतना का विकास होता है और वह समाज का एक महत्त्वपूर्ण सदस्य बन जाता है।

सामाजीकरण का अर्थ और परिभाषा

(Meaning and Definition of Socialization)

समाजीकरण का शाब्दिक अर्थ 'नवजात शिशु को सामाजिक प्राणी बनाने की प्रक्रिया' से लिया जाता है। प्रमुखतया 'सामाजीकरण' को दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है: एक तो मार्क्सवादी अर्थशास्त्रीय अर्थ जिसमें सपत्ति पर समाज के अधिकार के अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है, जैसे—बैंकों, कारखानों आदि उत्पादन के साधनों पर समाज का स्वामित्व होना चाहिए, दूसरे समाजशास्त्रीय सदर्भ में इसका अर्थ व्यक्ति को समाज का क्रियाशील

सदस्य बनाने के उद्देश्य से सामाजिक मूल्यो को सीखने से लिया जाता है। यहाँ 'सामाजीकरण' के सम्प्रत्यय को समाजशास्त्रीय-सदर्भ मे ही देखा जाएगा जिसमे सामाजीकरण ऐसी प्रक्रिया मानी जाती है जिसमे व्यक्ति समाज के आदर्शो, मानदण्डो, मूल्यों और उद्देश्यो आदि को सीखता है अथवा ग्रहण करता है।

1 **टालकट पार्सन्स**—''सामाजीकरण मे व्यक्ति द्वारा सामाजिक मूल्यो को सीखने और उन्हे आभ्यान्तरीकरण करने को कहा जाता है।'' इस परिभाषा मे सामाजीकरण मे व्यक्ति द्वारा मूल्यों को सीखना ही पर्याप्त नहीं, अपितु उन्हे हृदयगम अथवा आभ्यान्तरीकरण करना भी निहित है।

2 **जॉनसन के अनुसार**—''सामाजीकरण सीखने की वह प्रक्रिया है, जो सीखने वाले को सामाजिक भूमिकाओं का निर्वाह करने योग्य बनाती है।''

3. **ए. डब्ल्यू. ग्रीन** के मत मे, ''सामाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा बालक सास्कृतिक विशेषताओ— आत्मत्व, और व्यक्तित्व—को प्राप्त करता है।''

4 **फिचर** के मत मे सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक व्यवहारो को स्वीकारता है और उनसे अनुकूलन करना सीखता है।

5. **किम्बाल यंग** सामाजीकरण को ऐसी प्रक्रिया मानते हैं जिसके द्वारा व्यक्ति सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्र मे प्रवेश करता है तथा समाज के विभिन्न समूहो का सदस्य बनता है, एव जिसके द्वारा उसे समाज के मूल्यो और मानको को स्वीकार करने की प्रेरणा मिलती है।

6 **ब्रूम** और **सेल्जनिक** सामाजीकरण के दो पूरक मानते हैं—एक सस्कृति का हस्तातरण और दूसरा—व्यक्तित्व का विकास। इसका अर्थ है कि सामाजीकरण की प्रक्रिया ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सस्कृति का हस्तातरण करती है और सस्कृति को सीखकर ही बालक के व्यक्तित्व का विकास होता है।

7 **गिलिन और गिलिन**—''सामाजीकरण से हमारा तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जिसके द्वारा व्यक्ति समूह मे एक क्रियाशील सदस्य बनता है, समूह की कार्य-विधियो से समन्वय स्थापित करता है, उसकी परम्पराओं का ध्यान रखता है और सामाजिक परिस्थितियो से अनुकूलन करके अपने साथियो के प्रति सहन शक्ति की भावना विकसित करता है।''

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामाजीकरण के द्वारा सामाजिक मूल्यों को सीखा जाता है एव उनका आभ्यंतरीकरण किया जाता है। यह सीखने की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य समाज की सामाजिक और सास्कृतिक विशेषताओ को ग्रहण करके समाज का सदस्य बनता है। इसी के द्वारा वह सामाजिक मानदण्डो को सीखता है और समाज के साथ अपना अनुकूलन करता है। साराशत: यह कहा जा सकता है कि सामाजिक मूल्यों, लोकाचारो, जनरीतियो, आदर्श, और मानदण्डो को सीखने की प्रक्रिया ही सामाजीकरण है जो व्यक्ति को समाजोचित व्यवहार करना सिखाती है।

सामाजीकरण की विशेषताएँ
(Characteristics of Socialization)

सामाजीकरण के अर्थ एवं परिभाषा के उपरांत इसकी प्रमुख विशेषताओं पर विचार किया जाएगा। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं--
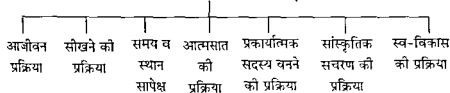
1. आजीवन-प्रक्रिया (Lifelong Process)—सामाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है। शिशु जन्म से लेकर मृत्यु तक अनेक प्रस्थितियाँ धारण करता है और उनके अनुरूप अपनी भूमिकाएँ निभाता है। उदाहरण के लिए—बचपन में वह पुत्र-पुत्री के रूप मे माता-पिता, भाई आदि के साथ व्यवहार करना सीखता है, बड़े होकर अनेक नए पदों के अनुरूप भूमिका का निर्वाह करना सीखता है। समाज में व्यक्ति को अनेक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, जैसे—अध्यापक के रूप में, पदाधिकारी के रूप मे, यात्रा करते समय, सामान खरीदते एवं बेचते समय उसको अलग-अलग भूमिकाएँ होती हैं जिनके अनुसार उसे व्यवहार करना होता है। कहने का आशय यह है कि सामाजीकरण आजीवन चलने वाली प्रक्रिया है जिसमे जीवन-पर्यन्त नवीन परिस्थितियाँ एवं भूमिकाएँ आती हैं, जिनके अनुसार व्यक्ति को समाजोचित व्यवहारो को सीखना होता है।

2. सीखने की प्रक्रिया (Learning Process)—सामाजीकरण सीखने की एक प्रक्रिया है। इस सीखने की प्रक्रिया में सामाजिक मूल्यो, मानदण्डों, प्रतिमानो एवं समाज-स्वीकृत व्यवहारों को लिया जा सकता है जो वास्तव में व्यक्ति का सामाजीकरण करते हैं क्योंकि ये क्रियाएँ समाजोचित और समाज-सम्मत हैं जिन्हें सीखकर व्यक्ति समाज का प्रकार्यात्मक सदस्य बन जाता है। उदाहरण के लिए—बड़ो का आदर करना, छोटो को स्नेह देना आदि समाजोचित क्रियाएँ हैं जो व्यक्ति को समाज का क्रियाशील सदस्य बनाती हैं, जबकि गाली देना, झगडा करना, चोरी करना और खून करना आदि क्रियाएँ समाज-सम्मत न होने से सामाजीकरण की प्रक्रिया में नहीं आतीं अत: सामाजीकरण में वही सीखना आता है जो समाज द्वारा स्वीकृत है, सभी प्रकार की बातें सीखना सामाजीकरण नहीं है।

3. समय व स्थान सापेक्ष (Related to Time and Space)—सामाजीकरण का अर्थ व्यक्ति को सामाजिक प्राणी बनाने की प्रक्रिया से लिया जाता है। चूँकि समाज मे परिवर्तन होते रहते हैं अत: उसके अनुरूप सामाजीकरण की प्रक्रिया बदलती रहती है जो समय व स्थान सापेक्ष होती है। समय-सापेक्ष का अर्थ है कि दो भिन्न-भिन्न समयों मे समाजो मे भिन्न-भिन्न विषयवस्तु हो सकती है। उदाहरणार्थ—प्राचीनकाल के भारत के मूल्य, मान्यताएँ आधुनिक समय मे पूर्णतया

बदल चुके हैं। प्राचीन समय मे रसोई मे जूते-चप्पल ले जाना वर्जित था, कच्चा भोजन भी रसोई के बाहर नहीं जा सकता था, वहीं जमीन पर बैठकर खाया जाता था किन्तु आज के समय मे इन भोजन सम्बन्धी नियमो को न तो स्वीकारा जाता है, न ही आधुनिक पीढी से इसकी अपेक्षा रखी जा सकती है। इसी तरह से अभिवादन के तरीके, वस्त्र आभूषण आदि के विचारों मे भी पर्याप्त परिवर्तन आ चुका है क्योकि वर्तमान समय मे ये व्यवहार अनपेक्षित हैं।

सामाजीकरण स्थान-सापेक्ष भी है। अर्थात् एक स्थान पर जिन व्यवहारो को मान्यता प्रदान की जाती है किसी अन्य स्थान पर वही व्यवहार अमान्य ठहराए जाते हैं। उदाहरणार्थ—उत्तर भारत मे विवाह के अवसर पर वधु सिर पर पल्ला लेती है जबकि दक्षिण भारत में एवं ईसाई समाज में खुले सिर से विवाह सस्कार का रिवाज है बल्कि यह कहा जा सकता है कि उनमे सिर ढँकने को अशुभ समझा जाता है जबकि उत्तर भारत में सिर न ढँकना शुभ नहीं माना जाता। इससे यह अर्थ निकला कि जो व्यवहार एक स्थान-विशेष पर उचित एव मान्य हो सकता है, वही व्यवहार दूसरे स्थान पर अनुचित एव अमान्य हो सकता है।

4. सस्कृति के आत्मसात् की प्रक्रिया (Process of Cultural Assimilation)—सामाजीकरण सस्कृति को स्वांगीकरण अथवा आत्मसात्करण करने की प्रक्रिया है। सस्कृति के दो रूप हैं—(i) भौतिक सस्कृति, (ii) अभौतिक सस्कृति। भौतिक सस्कृति के अंतर्गत मानव द्वारा निर्मित मूर्त वस्तुएँ आती हैं, जैसे—मकान, फर्नीचर, रेडियो, टेलीविजन व कपडे आदि। सस्कृति के अभौतिक रूप के अतर्गत अमूर्त वस्तुओ को लिया जाता है, जैसे—सामाजिक रीतिरिवाज, मूल्य, मानदण्ड, लोकाचार व प्रथाएँ आदि। सामाजीकरण सस्कृति के दोनो रूपों—भौतिक और अभौतिक—के आत्मसात्करण का नाम है अर्थात् व्यक्ति सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सास्कृतिक मूल्यो, मान्यताओ, मानदण्डो, समाज-स्वीकृत व्यवहारो एवं मूर्तरूपों को सीखता है और धीरे धीरे वह सस्कृति उसके व्यक्तित्व का ही अग बन जाती है। इसीलिए कहा जाता है कि संस्कृति को आत्मसात् करने की प्रक्रिया ही सामाजीकरण है।

5. प्रकार्यात्मक सदस्य बनने की प्रक्रिया (Process of Becoming a Functioning-member)—सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति समाज का क्रियात्मक सदस्य बनता है। प्रारम्भ मे बालक प्राणिशास्त्रीय इकाई के रूप में ससार मे आता है। बाद मे धीरे-धीरे वह समाज के कार्य-कलापों में भाग लेना सीखता है। पद-प्रस्थिति के अनुसार भूमिका-निर्वाह करना सीख जाता है, उसका सामाजीकरण हो जाता है और वह अन्य व्यक्तियो की अपेक्षाओ के अनुसार व्यवहार करने लगता है। यदि व्यक्ति का सामाजीकरण नहीं होगा तो वह समाज की परम्पराओ, मानदण्डो व मूल्यो के अनुरूप सामाजिक व्यवहार नहीं कर सकेगा। परिणामस्वरूप उसे अवमानना सहनी पड सकती है। तात्पर्य यह है कि सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही व्यक्ति समाज-सम्मत व्यवहार करना सीखता है और समाज का क्रियात्मक सदस्य बनता है।

6. सांस्कृतिक संचरण की प्रक्रिया (Process of Cultural Transmission)—कोई समाज या समूह एक पीढी से दूसरी पीढी तक सस्कृति का संचरण सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही करता है। नई पीढी पुरानी पीढी से सस्कृति को ग्रहण करती है जिससे समाज की अनवरतता

अथवा निरंतरता बनी रहती है, यदि संस्कृति का संचरण एक पीढी से दूसरी पीढ़ी को न होता तो न तो समाज की निरंतरता बनी रहती और न ही संस्कृति जीवित रह पाती। सामाजीकरण के द्वारा सस्कृति का हस्तान्तरण या संचरण एक पीढ़ी से दूसरी पीढी को होता है।

7. स्व -विकास की प्रक्रिया (Process of Self-development)—सामाजीकरण के द्वारा व्यक्ति में स्वयं के प्रति चेतना तथा जागरूकता का विकास होता है। व्यक्ति मे इस ज्ञान का विकास होता है कि समाज के अन्य मदस्य उसके सम्बन्ध मे क्या सोचते हैं। सामाजीकरण की प्रक्रिया की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यही है कि इसके द्वारा व्यक्ति स्वयं का मूल्यांकन दूसरे व्यक्तियों की दृष्टि से करना सीखता है। इसी को समाजशास्त्रियों, जैसे—मीड, कूले और दुर्खीम आदि ने 'स्व का विकास' कहा है जो कि सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है।

सामाजीकरण के उद्देश्य
(Aims of Socialization)

ब्रूम तथा सेजनिक ने सामाजीकरण में चार प्रमुख उद्देश्यों को बताया है, जो निम्नलिखित हैं—

सामाजीकरण के उद्देश्य
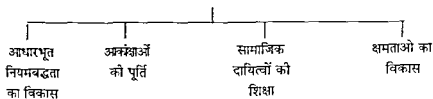
1. आधारभूत नियमबद्धता का विकास (Inculcates Basic Disciplines)—जीवन को सुचारूप से जीने के लिए अनुशासन एवं नियमबद्धता की आवश्यकता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति मे नियमबद्धता का विकास होता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया परिस्थिति के अनुसार अपने लक्ष्यों में संशोधन, स्थगन करना भी सिखाती है। इसी कारण व्यक्ति समाज के नियमों को ग्रहण करता है और अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। इस कारण सामाजीकरण का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन में नियमबद्धता एवं अनुशासन की प्रेरणा देना है। जिससे सामाजिक जीवन सुचारूप से चलता रहे।

2. आकांक्षाओं की पूर्ति (Fulfilment of Aspirations)—अनुशासन के साथ-साथ सामाजीकरण व्यक्ति की आकांक्षाओं की पूर्ति भी करता है। अनुशासन और आकांक्षाओ की पूर्ति परस्पर सम्बन्धित हैं—अनुशासन ही आकांक्षाओ की पूर्ति में सहायक होता है। आकांक्षाएँ भी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में सचरित होती हैं। उदाहरण के लिए, यदि किमी समाज मे तकनीकी ज्ञान को महत्त्व दिया जाता है तो उस समाज के सभी व्यक्ति इन्जिनियर बनने की आकाक्षा करेंगे। इसी प्रकार धर्मप्रधान समाज में लोग पुरोहित बनना चाहते हैं। इस प्रकार सामाजीकरण

का उद्देश्य व्यक्ति मे आकाक्षाओ मे रूप का निर्धारण करके उनकी आदर्श पूर्ति मे सहायक होना होता है।

3. सामाजिक दायित्वों की शिक्षा (Education of Social Responsibility)—सामाजीकरण द्वारा व्यक्ति यह सीखता है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे वह अन्य व्यक्तियो के साथ किस प्रकार सामञ्जस्य स्थापित करे, साथ ही यह भी सीखता है कि अन्य व्यक्तियो के साथ अनुकूलन करने के लिए उसे किस प्रकार की भूमिका निभानी चाहिए। भूमिका ही यह निश्चित करती है कि उसमे किस प्रकार के विचार, मनोवृत्तियाँ, गुण आदि होने चाहिएँ। इसका आशय है कि सामाजीकरण द्वारा व्यक्ति को सामाजिक भूमिका-निर्वाह करना भी सिखाया जाता है क्योंकि समाज मे व्यक्ति अनेक लोगो के सम्पर्क में आता है जिनके साथ उसकी अनेक प्रकार की भूमिकाएँ होती हैं जिन्हे सामाजीकरण द्वारा ही व्यक्ति सीखता है।

4. क्षमताओ का विकास (Development of Skills)—सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति मे इस प्रकार की क्षमताएँ अथवा योग्यताएँ विकसित होती हैं जिनके द्वारा वह स्वय को समाज के अनुकूल बना लेता है। उदाहरणार्थ—बड़ों का सम्मान करना, अभिवादन का तरीका, खाना खाने के तरीके आदि को व्यक्ति अनुकरण द्वारा सीख लेता है क्योकि ये योग्यताएँ व्यक्ति के सामाजिक जीवन को प्रभावित करती हैं। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता-प्राप्ति के लिए सामाजिक कुशलताओ का विकास करना सामाजीकरण का उद्देश्य है।

सामाजीकरण की प्रक्रिया
(Process of Socialization)

सामाजीकरण की प्रक्रिया बालक के जन्म के पश्चात् प्रारम्भ होती है। जन्म के समय बच्चा न तो सामाजिक होता है न समाज-विरोधी, बल्कि वह केवल जैविकीय प्राणी होता है अर्थात् जन्म के समय उसमे इस प्रकार की क्षमताएँ होती हैं जो उसे सामाजिक मानव बना सकती हैं। इन्हीं क्षमताओ के कारण वह व्यक्तित्व का विकास कर पाता है।

टालकाट पारसन्स ने कहा है कि बच्चा उस पत्थर के समान होता है जिसे जन्म के समय सामाजिक तालाब मे फेक दिया जाता है जहाँ रहकर वह अपना सामाजीकरण करता है और समाज का सदस्य बन जाता है।

जॉनसन के मतानुसार बालक का मस्तिष्क नमनीय होता है जिसमें सीखने की पूरी क्षमता होती है। इसी कारण उसे जैसा सिखाया जाये, वैसा ही वह सीख जाता है। लेकिन सीखने की प्रक्रिया मे 'समय' को भी एक प्रमुख कारक जॉनसन ने माना है; जैसे—हर उम्र में सीखने की क्षमता बराबर नहीं होती। बडी उम्र की तुलना मे छोटी उम्र मे अधिक शीघ्रता से सीखा जाता है। इसके साथ ही सीखने की प्रक्रिया में क्रमबद्धता होती है; जैसे—भाषा सीखने के पूर्व अक्षर ज्ञान सीखना आवश्यक होता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया के विषय मे अनेक मनोवैज्ञानिकों व समाजशास्त्रियों ने प्रकाश डाला है, जिनमे जीन प्याजे, फ्रॉयड, जॉनसन, पारसन्स आदि प्रमुख हैं। इनके विचारो को निम्नलिखित रूप मे व्यक्त किया जा सकता है—

प्याजे के विचार (Views of Pieget)—प्याजे ने बाल-मनोविज्ञान का बड़े विस्तार से गहन अध्ययन किया है और उसके आधार पर उन्होंने सीखने की प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक आधार पर छ: अवस्थाओं में बाँटा है, जो निम्नलिखित हैं—

(1) प्रथम अवस्था में स्तन-पान के समय बालक मे सनसनी का बोध होता है। (2) दूसरी अवस्था में बालक किसी एक बिन्दु से किसी वस्तु को देखता है लेकिन आँखों से ओझल होने पर उसे ढूँढता नहीं है। (3) तीसरी अवस्था में बालक जो कुछ भी देखता है उसे पकड़ने का प्रयास करता है। यह अवस्था तीन से छ: माह के बीच की है जब बच्चा ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त सूचनाओं को समायोजित करने लगता है, जैसे-भूख लगने पर बोतल को मुँह मे लेना, किसी वस्तु के सामने आ जाने पर उस स्थान पर दृष्टि रखना तथा जो कुछ उसकी पहुँच में है उसे पकड़ने की कोशिश करना आदि कार्य बच्चे द्वारा किए जाते हैं। (4) चौथी अवस्था में बच्चा उस पदार्थ की खोज करता है जो उसके सामने से अदृश्य कर दिया जाता है; जैसे—छिपे खिलौने को बिस्तर के नीचे तलाशना आदि। यह अवस्था 9-10 माह के बीच की होती है। (5) पाँचवीं अवस्था में बालक स्थान-परिवर्तन के क्रम को समझने की कोशिश करता है। यह अवस्था 12 से 18 माह के बीच की होती है। (6) छठी अवस्था में बालक पदार्थ का चित्रण करता है और उसकी अनुपस्थिति में भी उसके विषय मे कल्पना कर लेता है। प्याजे के अनुसार यह अवस्था 15 से 19 माह के बीच की है।

सामाजीकरण के सोपान
(Stages of Socialization)

सामाजीकरण की प्रक्रिया अनेक सोपानो में सम्पन्न होती है जिसके विषय में अनेक मनोवैज्ञानिको व समाजशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड ने बालक के सामाजीकरण को 7 अवस्थाओं मे बाँटा है, जबकि जॉनसन ने चार सोपानो का उल्लेख किया है जिसे उन्होने पारसन्स से लिया है। पारसन्स द्वारा वर्णित सामाजीकरण की प्रक्रिया के चार सोपान निम्नलिखित हैं—

पारसन्स के अनुसार सामाजीकरण की प्रक्रिया के सोपान हैं :

मौखिकावस्था	शौच सोपान	मातृरति सोपान	किशोरावस्था
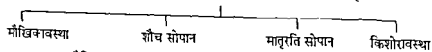
1. मौखिकावस्था (Oral-stage)—सामाजीकरण की प्रथम स्थिति मौखिकावस्था है जिसमे मानव-शिशु को सभी आवश्यकताओं की पूर्ति केवल मौखिक रूप से होती है। भूख लगना, सर्दी लगना, कष्ट होना, गर्मी लगना आदि प्रत्येक कार्य में उसे तनाव होता है। परिणामस्वरूप वह रोता है, चिल्लाता है जिससे उसके तनावों का अन्त हो जाता है। बालक इस समय अपनी भूख, प्यास आदि के संकेत देने लगता है, केवल मौखिक रूप से वह दूसरों पर आश्रित रहता है। पारसन्स के मत में वह दूसरे लोगो के लिए मनोरंजन की वस्तु होता है। माता के साथ शिशु का तादात्म्य हो जाता है क्योंकि वह उसके सुख-दु:ख का पूरा ध्यान रखती है।

इस समय बच्चा किसी से भी किसी प्रकार का आन्तरीकरण नहीं कर पाता। उसके लिए माता और स्वयं में भी कोई अन्तर नहीं होता। कुछ समय बाद बच्चा अपनी भूख पर कुछ नियन्त्रण करना सीख जाता है और माता के सम्पर्क से आनन्द का भी अनुभव करने लगता है। यह अवस्था 18 माह तक चलती है। जिसमें बच्चा चलना-फिरना सीख जाता है। फ्रॉयड ने भी इस अवस्था का वर्णन किया है जिसे उन्होंने 'प्राथमिक परिचय' (Primary Identification) कहा है।

2. शौच सोपान (Anal-stage)—समाजीकरण की दूसरी अवस्था शौच-अवस्था है जिसमें बच्चे से यह अपेक्षा की जाती है कि शौच-सम्बन्धी क्रियाओं को स्वयं करे; जैसे—हाथ साफ करना, कपड़े गन्दे न करना, शौच का स्थान, समय आदि का ध्यान रखना आदि कार्य बच्चा करने लगता है। विभिन्न समाजों में इस अवस्था का समय भिन्न-भिन्न आयु मे प्रारम्भ होता है। जैसे—ग्रामीण बालकों मे 4-5 वर्ष की आयु तक बालक अर्द्धनग्न अवस्था में नि:संकोच रह लेते हैं जबकि शहरी समाज में बहुत शीघ्रता से वे शौच-प्रशिक्षण प्राप्त करके सभी क्रियाओं को करना सीख लेते हैं।

इस अवस्था मे बच्चा माता से सबसे अधिक प्यार करता है। माँ भी उसे अत्यधिक प्यार करती है। वह बच्चे को सही व गलत कार्य मे विभेद करना सिखाती है। सही कार्य करने पर वह प्यार करती है व गलत कार्य करने पर उसे डाँटती है। इस प्रकार माँ उसे अपनी संस्कृति के मूल्यों के अनुसार व्यवहार करना भी सिखाती है। इस अवस्था मे माँ को 'साधक नेता' (Instrumental leader) की भूमिका निभानी होती है। अर्थात् एक ओर वह बच्चे की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूर्णरूप से उत्तरदायी होती है तो दूसरी ओर वह परिवार में भी बच्चे का प्रतिनिधित्व करती है। अत: माँ जितनी अधिक सामाजिक मूल्यों से परिचित होगी, बच्चे को वह उतना ही प्रशिक्षित कर सकेगी। माँ की भूमिका इस अवस्था में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होती है। उसे बच्चे को शौच-प्रशिक्षण देने, दूध की आदत छुड़ाने, सामाजिक व्यवहार आदि सिखाने में कष्ट भी होता है लेकिन फिर भी शिशु का माता के साथ ही तादात्म्य होता है क्योंकि माता भावात्मक भूमिका भी निभाती है। इस अवस्था के अन्त तक बच्चा खेलने, बोलने आदि के कारण अन्य लोगों के भी सम्पर्क मे आता है और धीरे-धीरे अन्य लोगों से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करता जाता है। यह अवस्था लगभग तीन वर्ष की अवस्था पूरी होते-होते समाप्त हो जाती है जिसमें बालक जितने अधिक व्यक्तियों के सम्पर्क में आता जायेगा उसके सामाजिक सम्बन्ध उतने ही अधिक दृढ़ होते जायेंगे जिनके कारण उसे नवीन प्रस्थितियाँ व भूमिकाएँ भी मिलती रहेगी।

3. मातृरति सोपान (Oedipus-stage)—यह अवस्था सामान्यतया चौथे वर्ष के प्रारम्भ से लेकर बारह या तेरह वर्ष की आयु तक रहती है। इस अवस्था में बालक यौन-भेद की ओर सहज आकर्षण का अनुभव करता है। यही वह समय है जब उसमे—(1) ऑडिपस कॉम्प्लेक्स (Oedipus complex), और (2) इलेक्ट्रा कॉम्प्लेक्स (Electra complex)—दो प्रकार की ग्रन्थियाँ जन्म लेती हैं। ऑडिपस कॉम्प्लेक्स का अर्थ है कि लड़का अपनी माँ से प्यार करता है। इलेक्ट्रा कॉम्प्लेक्स से तात्पर्य है कि लड़की अपने पिता से अधिक प्यार करती है। यह करीब 12 वर्ष की अवस्था में होता है। अर्थात् लड़के व लड़कियाँ क्रमश: अपनी माता व पिता से तो प्यार करना चाहते हैं लेकिन माता-पिता का परस्पर प्यार करना उन्हें अच्छा नहीं लगता।

मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड ने इस विषय मे विस्तार से लिखा हैं। उन्होंने अपने सम्पूर्ण अध्ययन में सैक्स इन्सटिंक्ट (Sex instinct) या काम-प्रवृत्ति को प्रमुखता दी है। उन्होने कहा है कि बच्चों में यौन-भावना जागृत हो जाती है जिसके कारण लड़के अपनी माँ से व लड़कियाँ अपने पिता से प्यार करती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में यौन-भावना इतनी अधिक विकसित हो जाती है कि वे अपने माता-पिता तक से ईर्ष्या करने लगते हैं।

इस अवस्था में सामाजीकरण की प्रक्रिया दो रूपो में होती है—(1) सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण, तथा (2) सामाजिक समूहों से तादात्म्यीकरण।

(1) पिता, भाई, चाचा आदि परिवार के सभी सदस्यों के अनुरूप बनना सामाजिक भूमिका से तादात्म्यीकरण है, जबकि (2) अपने लिंग के सदस्यों, स्कूल के साथियों, मित्रों के अनुरूप कार्य करना सामाजिक समूह से तादात्म्यीकरण है।

इस स्तर पर बालक प्रत्येक क्रिया करते समय दूसरों के अनुरूप बनने का प्रयत्न करता है इसी अनुरूपता में उसे माता का स्थान पिता से भिन्न दिखाई देने लगता है। यद्यपि माँ की भूमिका सामाजीकरण की प्रक्रिया में सर्वाधिक प्रभावी होती है लेकिन यह तादात्म्यीकरण की प्रक्रिया तब अधिक सफल होती है जब परिवार में चार परिस्थितियाँ सम्भव हों —(क) पुत्र को पिता का और पुत्री को माता का पूरा स्नेह मिले (ख) बालक जिस सदस्य को अपना आदर्श मानता हो, उसका बच्चे से घनिष्ठ सम्बन्ध हो, (ग) परिवार के अन्य सदस्य बच्चे को पिता में निष्ठा रखने को प्रोत्साहित करते हों, तथा (घ) पिता का माँ से सम्मानपूर्ण व्यवहार हो।

यह स्थिति बालक को भावात्मक सुरक्षा प्रदान करती है तथा उसे कुण्ठाओं से बचाती है और यही सुरक्षा सामाजीकरण की सफलता की प्रथम आधारशिला है।

4. किशोरावस्था (Adolescent-stage)—यह सोपान युवावस्था के प्रथम चरण से होता है। सामाजीकरण की प्रक्रिया में यह स्तर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। एक किशोर के लिए यह अवस्था मानसिक एवं सामाजिक रूप से संघर्ष एवं तनाव की होती है, क्योंकि शारीरिक रूप से उसमें अनेक परिवर्तन इस समय होते हैं, मानसिक रूप से उसमें चिन्तन, मनन व निर्णय लेने की क्षमता उत्पन्न हो जाती है। सामाजिक रूप से उसे अनेक सम्बन्ध निबाहने होते हैं। इसके साथ ही जीवन साथी का चुनाव, व्यवसाय का चुनाव, परिवार की जिम्मेदारी आदि अनेक कार्यों के कारण उसमें तनाव हो जाता है। उस पर माता-पिता द्वारा लगाए गए अनेक नियन्त्रण भी उसे भारी संघर्ष व तनाव में डाल देते हैं। इस समय किशोर परिवार के अतिरिक्त पड़ौस, विद्यालय, साथी-समूह आदि के सम्पर्क में अधिक रहता है जिनके साथ उसे समायोजन करना होता है। क्या उचित है, या क्या अनुचित है, किन नियमों की पालना करनी है, किन्हें निषेध करना है? यह सब स्थितियाँ उसे सामाजीकरण करना सिखा देती है। उसमे नैतिकता का विकास हो जाता है। इस प्रकार किशोरावस्था में किशोर सांस्कृतिक मूल्यों, अनुभवों द्वारा समाज के साथ अपना सामाजीकरण कर लेता है तथा व्यक्तिगत अनुभव उसमें आत्म-नियन्त्रण की क्षमता भी उत्पन्न कर देते हैं।

ये उपर्युक्त चार सोपान सामाजीकरण में प्रमुख रूप से महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु चूँकि सामाजीकरण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है अत: अन्य सोपान भी सामाजीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, जो निम्नलिखित हैं—

5. युवावस्था (Youth-stage)—युवावस्था मे व्यक्ति किसी पद पर कार्यरत हो जाता है, विवाह हो जाता है तथा अनेक पदों को प्राप्त कर लेता है, जैसे—वह पति, पिता, भाई, चाचा अनेक पद ग्रहण कर लेता है, नई-नई प्रस्थितियाँ प्राप्त कर लेता है, उनमे व्यवहार करना सीख जाता है। उस पर अनेक उत्तरदायित्व आ जाते हैं जिनके कारण उसे कई बार भूमिका-संघर्ष का सामना करना पडता है क्योकि विभिन्न प्रस्थितियो का एक साथ पालन करना कठिन होता है।

6. प्रौढावस्था (Adult-stage)—इस अवस्था मे व्यक्ति पर और अधिक जिम्मेदारियाँ आ जाती हैं, जैसे—बच्चो की शिक्षा, विवाह एवं उनमें व्यवसाय की जिम्मेदारी, जिनके सबके साथ उसे सामाजीकरण करना होता है। जॉनसन के अनुसार वयस्को का सामाजीकरण सरल होता है क्योकि—(1) वयस्क उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कार्य करने को प्रेरित होता है जिसे वह स्वय देख चुका है, (2) जिस नई प्रस्थिति को वह आन्तरीकृत करने का प्रयास करता है, पुरानी प्रस्थिति से उसमे काफी समानता होती है, तथा (3) सामाजीकरण करने वाला भाषा के माध्यम से आसानी से बोधगम्य कर सकता है। इन तीनो से सामाजीकरण की प्रक्रिया सरल हो जाती है।

7. वृद्धावस्था (Old-stage)—सामाजीकरण की प्रक्रिया वृद्धावस्था मे भी चलती रहती है। इस अवस्था मे व्यक्ति मे अनेक परिवर्तन आ जाते हैं, वह व्यवसाय से सेवा-निवृत्त हो जाता है, पराश्रित रहना पड़ता है, परिवार की वृद्धि से वह दादा, नाना तक बन जाता है। अधिक कार्य न कर सकने के कारण वह अपने को भार समझने लगता है। पीढ़ीगत भेद के कारण नवीन पीढी से उसका सामञ्जस्य नहीं हो पाता जिससे वह कुण्ठाग्रस्त हो जाता है लेकिन फिर भी उसे सबके साथ अपना सामाजीकरण करना होता है जो उसे कुछ-न-कुछ सिखाते ही रहते हैं—इस प्रकार सामाजीकरण की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

गिलिन एव गिलिन ने अपनी कृति 'कल्चरल सोशियोलोजी' में बालक के सामाजीकरण की प्रक्रिया तीन चरणो मे बताई है—(1) बालक, (2) युवा, और (3) प्रौढ।

बाल्यावस्था मे बालक सर्वप्रथम माता-पिता के संपर्क मे आता है। माता-पिता से उसे प्रेम, अधिकार, निर्देश और संरक्षण प्राप्त होता है और वह इन्हीं व्यवहारो को अन्यों के प्रति दर्शाता है। माता-पिता के अतिरिक्त अन्य बालक—उसके भाई-बहिन अथवा उसका साथी-समूह—उसके विकास में सहयोग देते हैं। स्कूल जाने के योग्य होने पर विद्यालय के बालक, शिक्षक, संचार माध्यम जैसे—रेडियो, टेलिविजन, सिनेमा एवं अन्य प्रौढ़ व्यक्ति जिनके संपर्क में बालक आता है—उसके सामाजिक विकास में अपना योगदान देते हैं, क्योंकि सभी के व्यवहारों के प्रति उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। कहानियाँ आदि पढ़ना, पड़ौसियो से सीखना, आदतों का विकास करना आदि अनेक स्थितियाँ बालक को सामाजीकृत बनाने में योगदान देती हैं।

युवावस्था में किशोर को अनेक नवीन समझौते करने पड़ते हैं। उसके शारीरिक अंगों (नए अवयवों) का विकास उसमें एक अप्रत्याशित भय पैदा करता है। विपरीत लिंग के प्रति उसका सामञ्जस्य, बड़ों का व्यवहार, नए सामाजिक सम्बन्ध उसके साथी-समूह के साथ उसके सम्बन्ध आदि उसके सामाजीकरण को प्रभावित करते हैं। युवावस्था मे अनेक सामाजिक अभिकरण—जैसे—समूह-टोली, राजनैतिक सम्बन्ध, धर्म, बड़े समाजों से सम्पर्क, माता-पिता

एवं संचार साधन—रेडियो, टी वी., सिनेमा आदि के सम्पर्क से उसका सामाजीकरण प्रभावित होता है। इसके अतिरिक्त उसकी स्वयं की प्रकृति—मैं-मुझ को को समझने की स्थिति जो इस उम्र में विकसित होती है—उसके विकास में कभी-कभी बाधक बनती है। किशोरावस्था को तनावों व संघर्षों का काल इसीलिए कहा जाता है।

प्रौढ़ावस्था मे व्यक्ति परिपक्व हो जाता है—उसका विवाह होता है, बच्चे होते हैं, स्वयं का व्यवसाय अपनाना पड़ता है, इसके लिए उसे समाज पर आश्रित रहना होता है अतः उसके सामाजीकरण मे अनेक अभिकरण योगदान करते हैं। धर्म, पड़ौस, रहने का स्थान, व्यवसाय, पत्नी और बच्चो से सामञ्जस्य करके चलना पड़ता है। जहाँ पहली दो अवस्थाओं में माता-पिता के साथ बालक की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है, वहीं इस अवस्था मे पत्नी के साथ उसके सम्बन्ध महत्त्वपूर्ण होते हैं। यदि पत्नी के साथ उसका सामंजस्य सही नहीं होता तो उसका प्रभाव उसके सामाजीकरण पर भी पड़ता है। गिलिन एवं गिलिन द्वारा विचारित 'व्यक्ति का सामाजीकरण' को आगे चित्र द्वारा दर्शाया जा रहा है—

स्रोत:—जे.एल गिलिन एवं जे.पी. गिलिन: 'कल्चरल सोशियोलॉजी ' पृ. 647
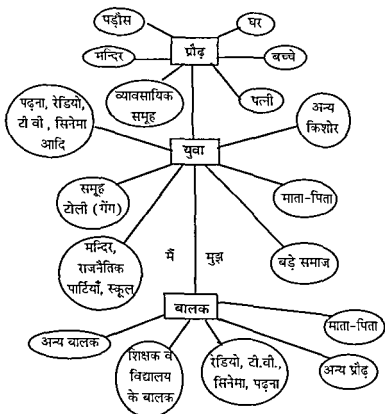
सामाजीकरण के सिद्धांत
(Theories of Socialization)

व्यक्ति का सामाजीकरण किस प्रकार से होता है, इसे जानना एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अनेक समाजशास्त्रियो और मनोवैज्ञानिकों ने इस पर विचार किया है और सामाजीकरण के सिद्धान्तो का उल्लेख किया है। ये सिद्धांत 'आत्म' या 'स्व' के विकास (Development of self) के आधार पर विकसित किए गए हैं। 'स्व' अथवा 'आत्म' को समझाते हुए डेविस ने कहा है कि 'स्व' सामाजीकरण का केन्द्र बिन्दु है इसका उद्भव और क्रमिक विकास होता है और 'स्व' के ज्ञान के बाद ही व्यक्ति को व्यक्तित्व मिलता है। इस 'स्व' का विकास बालक के अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आने के बाद ही होता है। यह सम्पर्क पहले शारीरिक स्तर का होता है और इस स्तर पर अनेक स्रोतो द्वारा शिशु में स्थायित्व और निरन्तरता आती है। इनमे पहला स्रोत शरीर, दूसरा स्रोत वातावरण और तीसरा स्रोत उसके साथी हैं। ये सभी मिलकर आदतों के निर्माण में सहयोग करते हैं। शारीरिक स्तर से इतर भी एक पृथक् सरचना होती है, जो जन्म के समय विद्यमान नहीं रहती, किंतु सामाजिक अनुभव से विकसित होती है। डेविस का कहना है कि शरीर के विभिन्न अवयव, जैसे—नाखून, दाँत, आदि नष्ट हो सकते हैं किन्तु इनके अनुरूप 'आत्म अथवा स्व' नष्ट नहीं होता। 'आत्म' या 'स्व' तो एक मानसिक तत्त्व है शारीरिक सत्ता नहीं। यह हो व्यक्ति को समाज में अन्त:क्रिया करने योग्य बनाता है। 'स्व' बालक को स्वय उसके संदर्भ मे, और दूसरों की दृष्टि में उसके अस्तित्व का ज्ञान कराता है।

अब क्रमशः मीड, कूले, दुर्खीम और फ्रॉयड के सिद्धांतो के आधार पर सामाजीकरण को समझने का प्रयास किया जाएगा।

1. मीड का सिद्धांत
(Mead's Theory)

जी एच मीड ने 'माइण्ड, सेल्फ एण्ड सोसाइटी' में सामाजीकरण का सिद्धान्त दिया है। समाजीकरण के सिद्धांत विषयक विचारों में मीड के मत में आत्मचेतना (Self–Consciousness) 'स्व' (Self) की संरचना का अधार है, जो सामाजिक अन्त:क्रिया के कारण उत्पन्न होती है। इस 'स्व' के विकास के सम्बन्ध मे मीड का मानना है कि इसकी उत्पत्ति और विकास सामाजिक अनुभवों और क्रिया की प्रक्रिया से होता है। जन्म के समय बालक एक जैविकीय प्राणी मात्र होता है जिसमे बौद्धिक क्षमता का अभाव होता है, उसकी क्रियाएँ उस समय आन्तरिक प्रेरणाओ से प्रेरित होती हैं। धीरे-धीरे वह समाज के सम्पर्क मे आता है और सम्पर्क के कारण उसमे यह समझ आ जाती है कि उसे लोगों के साथ किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए अथवा लोग उससे कैसे व्यवहार की अपेक्षा करते हैं। इस स्थिति में भाषा आवश्यक होती है। भाषा की सहायता से ही बालक दूसरों की भूमिका को अपनाता है। उदाहरण के लिए—बच्चा खेल में दूसरों की भूमिका को अपनाता है, स्वय माता या पिता बनकर गुड्डे-गुड़िया को प्यार करता है, उसको दूध पिलाने, नहलाने आदि का कार्य करता है। माता-पिता उसके साथ जैसा व्यवहार करते हैं वैसा ही व्यवहार

वह गुड्डे-गुड़ियों के साथ करता है। दूसरों की भूमिका का निर्वाह बालक अपने द्वारा करता है क्योंकि बालक का 'स्व' दूसरे लोगो के व्यवहार से प्रभावित होता है। इसे मीड ने 'सामान्यीकृत अन्य' (Generalized-others) की संज्ञा दी है। 'सामान्यीकृत अन्य' का अर्थ किसी व्यक्ति की स्वयं के बारे में उस धारणा से है जो दूसरे लोग उसके बारे मे रखते हैं। इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि दूसरे लोग उसके बारे में जो अपेक्षाएँ रखते हैं और उसके बारे मे जो निर्णय लेते हैं, उसका आभ्यन्तरीकरण बालक कर लेता है, उसे ही 'सामान्यीकृत अन्य' कहा गया है।

मीड ने आत्मचेतना के विकास को स्पष्ट करने के लिए दो शब्दो—'मैं' (I) और 'मुझे' (Me) का महत्त्व स्पष्ट किया है। 'मैं' से तात्पर्य व्यक्ति द्वारा दूसरो के प्रति किए जाने वाले व्यवहार से है और 'मुझे' से तात्पर्य व्यक्ति द्वारा किए गए व्यवहार पर दूसरो की प्रतिक्रिया से है जिसे वह आभ्यन्तरीकृत करता है। 'मैं' और 'मुझे' में अन्तःक्रिया होने का परिणाम 'स्व' का विकास है जिससे व्यक्ति का सामाजीकरण होता है। अर्थात् 'सामाजीकरण' की प्रक्रिया मे 'मैं और मुझे' दो 'स्व' मिले रहते हैं। एक 'स्व' (मैं) समाज के साथ सहयोग करता है और दूसरा 'स्व'(मुझे) वह है जिसके विषय मे व्यक्ति जागरूक है। उदाहरण के लिए—कोई भी सामूहिक कार्य करते समय व्यक्ति अन्य लोगो के विचारो को जान लेता है और उनके विचारों को समझकर वह यह भी जान जाता है कि लोग उससे क्या अपेक्षाएँ रखते हैं और उन अपेक्षाओ के अनुरूप ही व्यक्ति प्रतिक्रियाएँ करता है और तभी वह 'सामाजीकृत व्यक्ति' बनता है। इसमें 'मैं और मुझे' दोनों मे 'स्व' का सम्मिलित रूप निहित है। दूसरे शब्दों मे इसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि सामाजीकरण की प्रक्रिया में 'मैं' और 'मुझे' के मध्य अन्तःक्रिया होती है जिससे 'स्व' का विकास होता है। यदि व्यक्ति दूसरों के व्यवहारो के अनुरूप व्यवहार नहीं करता है तो उससे उसका व्यक्तित्व सही रूप मे विकसित नहीं होता और संघर्ष से बचने के लिए आवश्यक है कि 'मैं और मुझे' को इस रूप मे स्वीकृत किया जाए जिससे व्यक्ति 'स्व' को विकसित कर सके। सारांशतः यह कहा जा सकता है कि **मीड के मत में सामाजीकरण का तात्पर्य 'स्व' का विकास है। 'स्व' की उत्पत्ति सामाजिक अनुभव और सामाजिक अंतःक्रिया से होती है जिसके लिए भाषा का ज्ञान होना आवश्यक है। इस प्रकार 'स्व' दूसरे लोगों के व्यवहार से प्रभावित होने लगता है जिसे 'सामान्यीकृत अन्य' की संज्ञा दी जाती है।** तब व्यक्ति में **आत्मचेतना का भी विकास होता है।** इस आत्मचेतना के विकास में 'मैं और मुझे' दो शब्दों का अत्यधिक महत्त्व होता है। 'मैं' दूसरो के प्रति किया गया व्यवहार है और 'मुझे' व्यक्ति द्वारा किए गए व्यवहार पर दूसरो की प्रतिक्रिया है जिसे आभ्यन्तरीकृत करने पर ही समाजीकरण की प्रक्रिया चलती रहती है।

2. कूले का सिद्धांत
(Cooley's Theory)

चार्ल्स कूले का सामाजीकरण का सिद्धांत उनकी कृति 'ह्यूमन नेचर एण्ड द सोशियल आर्डर' में दिया गया है जिसे **'आत्मदर्पण दर्शन सिद्धांत'** (Looking Glass Self Theory) के नाम से जाना जाता है। कूले ने 'आत्मदर्पण दर्शन सिद्धांत' को व्यक्ति और समाज के मध्य

के सम्बन्धो के आधार पर स्पष्ट किया है—उनका कहना है कि व्यक्ति के 'स्व' का विकास उसके समाज के सम्पर्क मे आने पर ही होता है। समाज उसके लिए एक दर्पण का कार्य करता है। जैसे कोई व्यक्ति दर्पण मे अपनी छवि निहार कर अपना मूल्यांकन कर लेता है कि उसने कैसे कपड़े पहने हैं अथवा कैसे सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग किया है और वह कैसा प्रतीत हो रहा है (सुन्दर अथवा असुन्दर), ठीक उसी भाँति एक बच्चा भी समाजरूपी दर्पण में स्वयं को छवि को देखता है और उसके आधार पर अपने बारे मे यह धारणा वना लेता है कि वह कैसा है? इसके आधार पर ही उस बालक मे श्रेष्ठता अथवा हीनता के विचार उदय होते हैं। अर्थात् स्वयं के विषय में दूसरो की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप व्यक्ति मे 'स्व' का निर्माण होता है।

कूले के मतानुसार आत्म-दर्पण-दर्शन में तीन स्थितियाँ आती हैं—प्रत्येक बच्चा यह सोचता है—(1) दूसरे लोग मेरे बारे मे क्या सोचते हैं? (2) दूसरो की राय के आधार पर मैं अपने बारे मे क्या सोचता हूँ? (3) अपने बारे मे सोचकर मैं स्वयं को कैसा मानता हूँ?

अर्थात् प्रत्येक बच्चा इस समाज के विषय मे यह जानना चाहता है कि अन्य लोग उसके बारे मे क्या सोचते हैं, दूसरो की राय के आधार पर वह अपने बारे में क्या सोचता है और उसके आधार पर वह अपने आपको कैसा मानता है—श्रेष्ठ अथवा हीन।

कूले के मत मे 'स्व' समाजीकरण का आधार है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से पूर्णतया सम्बन्धित हैं। व्यक्ति जव 'स्व' के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेता है और वह अपना सम्बन्ध अन्यो से स्थापित करता है तो उसे पता लगता है कि अन्य लोग उसके बारे मे क्या सोचते हैं और उसे स्वयं की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। यह स्थिति ही उसके 'स्व' की निधारिक है। अर्थात् कूले के मत मे 'स्व' एक प्रकार का दर्पण है जिसमे अन्य लोगो की धारणाएँ स्पष्ट दिखाई देती हैं और उसके आधार पर व्यक्ति स्वय के बारे में अनुमान लगा देता है और समाज के साथ अपना अनुकूलन करने का प्रयास करता है।

कूले का मानना है कि व्यक्ति अपने बारे मे जो धारणा बनाता है उसमे दूसरों की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है अर्थात् समाज की राय के आधार पर ही व्यक्ति स्वय को श्रेष्ठ अथवा हीन मानता है। इस प्रकार अपने बारे में दूसरो की प्रतिक्रिया से ही व्यक्ति का 'स्व' निर्मित होता है किंतु कई बार इससे भिन्न स्थिति भी हो सकती है जब दूसरो के द्वारा बनाई गई किसी व्यक्ति के विषय मे राय उसके स्वयं के सोच से भिन्न होती है। अर्थात् व्यक्ति दूसरो के द्वारा बनाई गई राय को गलत समझ लेता है और उस स्थिति मे 'स्व' का निर्माण गलत धारणा पर निर्भर होता है। उदाहरण के लिए—किसी स्त्री की प्रशंसा करके बारम्बार उसे सुन्दर कहा जाए तो वह वास्तव मे स्वय को सुन्दर समझकर उसके अनुकूल आचरण करेगी, किन्तु कभी-कभी इससे विषम स्थिति भी हो सकती है जब किसी सुन्दर लड़की से बचपन से ही यह कहा जाए कि वह कुरूप व भद्दी है, तो ऐसी परिस्थिति में वह लड़की सुन्दर होते हुए भी स्वयं को कुरूप समझने लगेगी। इससे निष्कर्ष यह निकला कि व्यक्ति की स्वय-विषयक धारणा सदैव वस्तुनिष्ठ ही हो यह आवश्यक नहीं है। दूसरो के द्वारा स्वयं के प्रति की गई प्रतिक्रिया के आधार पर व्यक्ति स्वयं का मूल्यांकन करता है अथवा 'स्व' का निर्माण करता है। हॉरटन व हट ने कूले के सिद्धांत की यही व्याख्या

की है। उनके मत में कूले ने ठैकरे की 'वेनिटी फेयर' नाम कृति से 'लुकिंग ग्लास सैल्फ' शब्द को लिया है। ठैकरे ने कहा है, "संसार एक दर्पण है जो प्रत्येक व्यक्ति को उसका स्वयं का चेहरा परावर्तित करता है। आप भौंहें चढ़ाइए तो इसमें आप चिड़चिड़े दिखाई देंगे, आप इसकी ओर तथा इसके साथ हँसिये तो यह आपका खुशमिजाज व कृपालु साथी होगा।"

'स्व' भी इसी प्रकार का दर्पण है जिसमें किसी व्यक्ति को अन्य लोगों की राय स्वयं के बारे में प्रतिच्छाया के रूप मे दिखाई पड़ती है, उनके आधार पर वह अपने बारे में अनुमान लगा लेता है। अपनी कमियों को दूर कर वह आवश्यक सामाजिक गुणों को विकसित कर लेता है। इस प्रकार समाज से अनुकूलन कर लेता है और स्वयं को सामाजिक पर्यावरण के अनुरूप ढालने का प्रयास करता है।

4. फ्रॉयड का सिद्धांत
(Freud's Theory)

सिगमण्ड फ्रॉयड (Sigmund Freud) एक मनोवैज्ञानिक थे। आपने सामाजीकरण के सिद्धान्त को मानसिक क्रियाओ के आधार पर स्पष्ट किया है। इससे पूर्व मीड और कूले ने 'आत्म' को सामाजिक अन्तःक्रिया का परिणाम माना। मानसिक क्रियाओं के आधार पर फ्रॉयड ने मस्तिष्क को तीन क्षेत्रों में विभाजित किया है—

(1) चेतन मन (Conscious Mind)

(2) अवचेतन मन (Sub-Conscious Mind)

(3) अचेतन मन (Un-Conscious Mind)

फ्रॉयड के अनुसार मन का वह भाग जो पूर्ण सचेतावस्था में होता है—चेतन मन कहलाता है। इस क्षेत्र में मानसिक क्रियाएँ सर्वाधिक तीव्र होती हैं अर्थात् चेतनावस्था मे सभी बातें व्यक्ति को याद रहती हैं।

अर्द्धचेतन अथवा अवचेतनावस्था मन की वह स्थिति है जिससे व्यक्ति तुरंत परिचित नहीं होता, किंतु वह विचार जो अर्द्धचेतन मन में है, कुछ क्षणो में ही चेतन में आ जाता है। स्मरण शक्ति, विचार एवं तर्क शक्ति की सहायता से यह चेतन स्तर में आ जाता है।

अचेतन मन के विषय में फ्रॉयड का कहना है "**हमारे व्यक्तित्व का एक बड़ा भाग अचेतन में दबा रहता है।**" फ्रॉयड ने इसकी तुलना समुद्र में तैरते हुए हिमखण्ड से की है, जिसका एक बड़ा भाग पानी के अन्दर रहता है, तथा कुछ भाग पानी के ऊपर दिखाई देता है। इसका अर्थ है कि मानव-व्यवहार का अध्ययन बाह्य-व्यवहार के आधार पर नहीं किया जा सकता क्योंकि मानव-व्यवहार का अधिकांश भाग अचेतन शक्तियों द्वारा संचालित होता है। अनेक दमित इच्छाओं, तथा भावनाओ का दबाव मनुष्य के उस व्यवहार पर पड़ता है, जिसे हम देखते हैं। अनायास मुख से असंगत बात निकल जाना (Slip of tongue), स्वप्न मे किसी समस्या का समाधान कर लेना आदि व्यवहार अचेतन-मन की सत्ता के कारण होते हैं।

फ्रॉयड के अनुसार समस्त मानसिक और शारीरिक व्यवहार के पीछे काम-प्रवृत्ति (Sex Instinct) काम करती है जिसको उन्होने 'लिबिडो' (Libido) नाम दिया है। ये काम-प्रवृत्ति उन समस्त प्रवृत्तियों को शक्ति प्रदान करती है, जो प्रेम एवं आत्मानुभूति से सम्बन्धित हैं। मित्रता, स्नेह, सहानुभूति, वात्सल्य व कामुकता आदि सभी प्रेम से सम्बन्धित व्यापारो की उत्पत्ति 'लिबिडो' से होती है।

'लिबिडो' के आधार पर **फ्रॉयड** ने दो प्रकार की ग्रंथियाँ बताई हैं— (1) ऑडीपस कॉम्प्लेक्स (Oedipus Complex) जिसके कारण माता अपने बेटे से प्यार करती है, (2) दूसरी ग्रथि इलेक्ट्रा कॉम्प्लेक्स (Electra Complex) है जिसके कारण पिता-पुत्री के मध्य यौन-आकर्षण होता है—इन दोनो ग्रथियो का आधार काम-प्रवृत्ति है—ऐसा फ्रॉयड का मानना है।

फ्रॉयड ने अन्य समाजशास्त्रियो द्वारा दी गई अवधारणा ''समाजीकृत स्व'' को नकारा और माना कि 'समाज' और 'स्व' मे कोई तालमेल नही होता है। आपने समाजीकरण का सिद्धान्त निम्न तीन अवधारणाओ पर आधारित माना है—(1) इड (Id) (2) अहम् (Ego) (3) पराअहम् (Super Ego), जो निम्नलिखित हैं—

(1) इड (Id)—इसका कार्य-क्षेत्र अचेतन मन है। यह व्यक्ति की समस्त मानसिक क्रियाओ का आधार है और इसका सम्बन्ध मूल-प्रवृत्तियो और जन्मजात प्रवृत्तियो से है। 'इड' को काम-प्रवृत्ति का भण्डार कहा जाता है। इसमे समस्त दमित इच्छाएँ, विचार, और अनुभूतियाँ आदि रहते हैं। इसका सामाजिक और नैतिक मूल्य नहीं होता है। ये तर्कहीन होता है, यथार्थ से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता। यह सुखवादी सिद्धात (Hedonism) द्वारा शासित होता है अर्थात् हर स्थिति मे सतुष्टि चाहता है।

(2) अहम् (Ego)—यह सामान्य विवेक है। इसका बहुत बडा भाग चेतन और तार्किक प्रवृत्ति का है। इसका सम्बन्ध वातावरण-जन्य वास्तविकता से होता है। इसमें आत्मनिष्ठता होती है। तर्क-वितर्क से इसका सम्बन्ध होता है और यह बाह्य यथार्थ और मूल प्रवृत्यात्मक व्यवहार का नियत्रण करता है। इस प्रकार 'अहम्' मन का शासक है। यह व्यक्ति को सामाजिक परिस्थिति के अनुसार व्यवहार करने का निर्देश देता है।

(3) पराअहम् (Super Ego)—फ्रॉयड के अनुसार पराअहम् का सम्बन्ध नैतिक आदर्शो और मान्यताओ से होता है। बाह्य वातावरण, व्यक्ति, समाज, परिवार आदि के भाव इसके द्वारा प्रकट होते हैं। पराअहम् का कार्य 'अहम्' पर नियत्रण रखना है। समाज-विरोधी कार्यों पर नैतिक बधन लगाना और नैतिक मन और धारणा का विकास करना—इसी का कार्य है। व्यक्ति को सामाजीकरण की प्रक्रिया मे पराअहम् विशेष रूप से सहायक होता है।

इन तीनो के आधार पर सामाजीकरण की प्रक्रिया इस प्रकार हो सकती है—

(i) यदि अहम् (Ego) इड (id) को अपने वश में रखता है और 'पराअहम्' से शासित होकर कार्य करता है तो व्यक्ति समाज-सम्मत कार्य करेगा और व्यक्ति का सामाजीकरण सही दिशा में होगा।

(ii) यदि 'इड'(Id) अहम् (Ego) पर प्रभावी हो जाएगा और पराअहम् की बात न मानेगा अर्थात् व्यक्ति 'इड' के अनुसार आचरण करेगा तो व्यक्ति समाज-विरोधी कार्य करेगा और उसका सामाजीकरण गलत दिशा में होगा।

(iii) यदि 'इड', 'अहम्' और 'पराअहम्'—तीनों में संघर्ष हो जाता है और कोई एक निर्णय नहीं हो पाता तो व्यक्ति का व्यक्तित्व विकृत हो जाता है। इसे उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—माना कि किसी व्यक्ति को रास्ता चलते एक पर्स पड़ा मिलता है— अब 'अहम्' कहता है यह पर्स अपना नहीं है अत: मुझे नहीं लेना चाहिए। लेकिन 'इड' कहता है कि इसमे रुपए होंगे जिनकी मुझे जरूरत है अत: यह पर्स मुझे उठा लेना चाहिए, किन्तु 'पराअहम्' कहता है कि इस पर्स को पुलिस या ऐसे व्यक्ति को दे दो जिससे वह सम्बन्धित व्यक्ति के पास पहुँच जाए। अहम् विश्लेषण करके निर्णय लेता है कि उसे पर्स सम्बन्धित व्यक्ति तक पहुँचवा देना चाहिए। यह निर्णय समाज-सम्मत है किन्तु कभी-कभी 'इड' के प्रभावी होने पर वह पर्स को चुपचाप उठाने का कार्य भी कर लेता है क्योंकि 'इड' सुखवादी सिद्धांत को मानता है। कभी-कभी निर्णय नहीं हो पाता कि क्या करना चाहिए, तब मनुष्य संघर्ष की स्थिति में आ जाता है, इस प्रकार सामाजीकरण की प्रक्रिया फ्रॉयड के अनुसार इड, अहम् और पराअहम् के आधार पर चलती है।

फ्रॉयड के अनुसार 'इड' और 'अहम्' के सम्बन्ध की तुलना 'घोड़े' और 'सवार' से की जा सकती है। 'इड' एक प्रकार से घोड़ा है जिस पर 'अहम्' सवार है। यह 'अहम्' रूपी सवार 'इड' रूपी घोड़े को मंजिल तक ले जाता है। 'पराअहम्'—सड़क पर स्थित ट्रेफिक इन्स्पेक्टर के समान है जो त्रुटि करने पर सही दिशा प्रदान करता है। इस प्रकार 'इड' और 'अहम्' दोनों 'पराअहम्' के नियन्त्रण में रहते हैं। पराअहम्—समाज के मूल्य, रीति-रिवाज व नैतिक आदर्श है जिनका विकास प्रारम्भ से ही माता-पिता द्वारा किया जाता है और समाज के व्यवहार और मानदण्ड निश्चित किए जाते हैं।

'इड' और 'पराअहम्' दोनों में सदैव सघर्ष की स्थिति बनी रहती है क्योंकि समाज यौन-इच्छाओं व आक्रामक भावनाओं (जो 'इड' द्वारा प्रेरित हैं) पर प्रतिबध लगाता है और 'इड' को इसमें हार होती है किंतु 'इड' कभी-कभी 'पराअहम्' (समाज के रीति-रिवाज) को नकार कर समाज-विरोधी कार्य करा लेता है।

वास्तव में 'अहम्' के सम्मुख बहुत कठिन कार्य होता है क्योंकि उसे एक प्रकार से तीन स्वामियों को संतुष्ट करना पड़ता है।—(1) इड, जो कि मूल-प्रवृत्तियाँ हैं, (2) वास्तविक बाह्य जगत्, और (3) पराअहम्। एक ही परिस्थिति में ये 'अहम्' से भिन्न-भिन्न कार्य कराना चाहते हैं। यदि 'अहम्' उन्हें संतुष्ट नहीं कर पाता तो उस स्थिति में व्यक्तित्व विकृत हो जाता है। संक्षेप में फ्रॉयड के अनुसार 'पराअहम्' और 'इड' के परस्पर संघर्ष की प्रक्रिया द्वारा ही व्यक्ति का सामाजीकरण होता है।

प्रायः बाल्यावस्था मे बालक 'इड' से प्रभावित होकर व्यवहार करता है क्योंकि उस समय वह सामाजिक व्यवहारो को नहीं समझता। बाद में बडा होकर माता-पिता, भाई-बहिन, पड़ौसी व अन्य के सम्पर्क मे आने पर सामाजिक मूल्यो, आदर्शों से परिचित हो जाता है और वह यह समझने लग जाता है कि कौनसा व्यवहार समाज-सम्मत है, कौनसा नहीं। वह 'पराअहम्' के अनुसार आचरण करता है, 'इड' को नहीं मानता और उसका सामाजीकरण सही दिशा मे होता है।

इस प्रकार फ्रॉयड का सामाजीकरण का सिद्धात 'कूले' व 'मीड' के सिद्धांत का विरोधी है। जहाँ कूले के मत मे 'स्व' सामाजिक अतःक्रिया का परिणाम है, वहाँ फ्रॉयड ने 'इड', 'अहम्' और 'पराअहम्' के आधार पर सामाजीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। फ्रॉयड के मत में मानव के व्यवहार और प्रेरणाएँ अचेतन होती हैं और अचेतन शक्तियो द्वारा संचालित होती हैं। आपके मत मे मानव का समस्त व्यवहार काम-प्रवृत्तियो द्वारा तय होता है।

सामाजीकरण के प्रमुख अभिकरण अथवा संस्थाएँ
(Major Agencies or Institutions of Socialization)

सामाजीकरण की प्रक्रिया जीवन-पर्यन्त चलती रहती है जिसमे अनेक संस्थाएँ एव समूह योगदान करते हैं। इन्ही सस्थाओ में बच्चा समय-समय पर भिन्न-भिन्न जानकारियाँ प्राप्त करता है जिससे वह समाज के साथ अपना सामाजीकरण कर पाता है—इन सस्थाओं मे परिवार, पडौस, मित्र-मण्डली आदि प्रमुख हैं—व्यक्ति इन सस्थाओ से जितना अधिक सामञ्जस्य कर लेता है, सामाजीकरण की प्रक्रिया उतनी ही पूर्ण होती है—सामञ्जस्य न होने पर व्यक्तित्व का विकास पूर्ण नहीं हो पाता। सामाजीकरण की सस्थाएँ दो प्रकार की हैं—(1) प्राथमिक सस्थाएँ, (2) द्वैतीयक सस्थाएँ

प्राथमिक सस्थाओं मे परिवार, मित्रो का समूह, पड़ौस, नातेदारी और विवाह को लिया जा सकता है और द्वितीयक सस्थाओं मे शिक्षण सस्थाएँ, राजनैतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक संस्थाएँ, व्यवसाय-समूह, अजनबी से व्यवहार को लिया जा सकता है, इसे निम्नलिखित प्रकार से दिखाया जा सकता है—

सामाजीकरण की संस्थाएँ

- प्राथमिक सस्थाएँ
  - परिवार
  - मित्र-समूह
  - पडौस
  - नातेदारी समूह
  - विवाह
- द्वैतीयक सस्थाएँ
  - शिक्षण संस्थाएँ
  - राजनैतिक संस्थाएँ
  - आर्थिक सस्थाएँ
  - धार्मिक संस्थाएँ
  - सांस्कृतिक संस्थाएँ
  - व्यवसाय समूह
  - अजनबी से व्यवहार
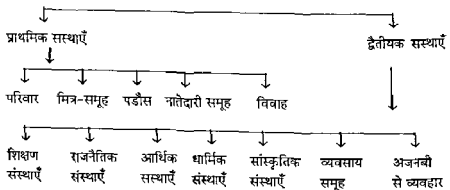
इनका विस्तार से उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से किया गया है—

(1) प्राथमिक संस्थाएँ (Primary Institutions)—प्राथमिक संस्थाओं में वे अभिकरण आते हैं जहाँ बालक के जीवन का प्रारम्भ होता है। वास्तव में बालक के व्यक्तित्व का निर्माण इन्हीं सस्थाओं मे होता है—इनमें प्रमुख संस्थाएँ निम्नलिखित हैं—

1. परिवार (Family)—बच्चा परिवार मे जन्मता है, वहीं से उस पर प्राथमिक व अस्थाई प्रभाव पड़ता है—परिवार मे अपने भाई, बहिन, माता-पिता तथा अन्य सदस्यो के सम्पर्क में आता है। उनका स्नेह बच्चे को प्रभावित करता है, वह उन्हीं के व्यवहारों को सीखता है, उनका अनुकरण करता है। धीरे-धीरे वह परिवार के आचार-विचार, रीति-रिवाज, प्रथा, संस्कृति को सीख लेता है और उसका सामाजीकरण हो जाता है। परिवार सभी समाजों मे सामाजीकरण की आधारभूत सस्था है।

पारसन्स ने व्यक्तित्व-निर्माण के लिए परिवार को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना है। **टरमन** ने तो परिवार के महत्त्व को इतना अधिक माना कि उसने निष्कर्ष दिया कि केवल वही बच्चे वैवाहिक जीवन को सुखमय बना सकते हैं जिनके माता-पिता का पारिवारिक जीवन सुखी था।

हैली और **ब्रोनर** का मानना है कि अधिकतर बालापराधी उन्हीं परिवारो मे मिलते हैं जहाँ सामाजिक या पारिवारिक सम्बन्ध बाधापूर्ण हों।

जेल्डिच ने 56 समाजो का अध्ययन करके माता-पिता की भूमिका का पता लगाया और बताया कि सभी समाजो में पिता को साधक-नेतृत्व और माता को भावात्मक-नेतृत्व प्रदान किया जाता है जिससे उनका पारिवारिक जीवन सुखमय होता है।

परिवार के सभी सदस्यो में यदि पारस्परिक प्रेम, सहयोग, त्याग, सेवा, कर्तव्यनिष्ठा आदि गुण होते हैं तो बालक का सामाजीकरण अच्छा होता है क्योंकि भावात्मक सुरक्षा का प्रमुख स्थल परिवार ही होता है। पारिवारिक आदर्श, मूल्य बच्चे के विकास मे सहायक होते हैं। परिवार ही उसे आदश नागरिक बनाता है। जो परिवार विघटित होते हैं उनमें अधिकतर बच्चे अपराधी प्रवृत्तियाँ विकसित कर लेते हैं। संगठित परिवार मे बच्चा सहयोग, त्याग, प्रेम, दया, सहिष्णुता आदि गुणों को सीखता है इसीलिए कहा जाता है कि, 'परिवार शिशु की प्राथमिक पाठशाला है।'' अथवा 'बच्चा परिवार का ही प्रतिरूप है।'

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि परिवार बालक के व्यक्तित्व को विकसित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है इसी कारण व्यक्ति के सामाजीकरण में परिवार की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है।

2. मित्र समूह (Peer-Group)—मित्रों का समूह भी सामाजीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण माना गया है—बच्चा घर से बाहर निकलकर अपने साथियों में खेलता है जहाँ वह अनेक प्रकार के व्यवहारो को सीखता है—खेल के नियम, अनुशासन, नेतृत्व के गुण, अन्य साथियो से अनुकूलन करना आदि वह अपने साथी-समूह में ही सीखता है। खेलते समय उसमे परस्पर सहयोग, प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, सहकारिता आदि के गुण विकसित होते हैं।

ब्रूम तथा सेल्जनिक ने मित्रो के समूह को महत्त्वपूर्ण माना है। उन्होने मित्रों के समूह के निम्नलिखित महत्त्व बताए हैं—

(क) आधुनिक समय मे छोटे परिवार होने के कारण तथा बाह्य समाज से कम सम्पर्क होने के कारण मित्रो का समूह महत्त्वपूर्ण है।

(ख) खेल आदि के समय मित्र-मण्डली से वह ज्ञान प्राप्त हो जाता है जो परिवार से नहीं मिल पाता क्योंकि परिवार का ज्ञान पुराना हो चुका होता है।

(ग) आज बच्चे उच्च स्तर को प्राप्त करना चाहते हैं। परिवार उन्हें वे नवीन मान्यताएँ व मूल्य प्रदान नही कर पाता जिन्हे वे अपने साथियो के समूह मे जाकर सीख लेते हैं। इस प्रकार खेल के साथी अथवा मित्र-मण्डली बच्चे का सामाजीकरण सरलता से कर देते है।

3. पड़ौस (Neighbourhood)—पडौस भी सामाजीकरण का महत्त्वपूर्ण साधन है। पडोस का प्रभाव ग्रामीण जीवन मे अधिक होता है। शहरो मे तो एक मकान मे रहकर भी व्यक्ति एक-दूसरे के लिए अपरिचित रहता है। पडास भी व्यक्ति को व्यवहार करना सिखाता है कि कौनसा व्यवहार करना अपेक्षित है और कैसा आचरण अपेक्षित नही है। पडौसियो से सम्पर्क, भाईचारे का व्यवहार, स्नेह, सहयोग, सहकारिता आदि गुणो को विकसित करता है जिससे बालक का सामाजीकरण अच्छा होता है।

4. नातेदारी समूह (Kin-Group)—नातेदारी समूह मे रक्त-सम्बन्धी, रिश्तेदार तथा विवाह के सम्बन्धी सभी व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। व्यक्ति अपने कुटुम्बीजनो, सम्बन्धियो के सम्पर्क से भी अनेक व्यवहार सीखता है। भिन्न-भिन्न लोगो के साथ विभिन्न भूमिकाएँ निभाने के कारण व्यक्ति अपना सामाजीकरण कर लेता है।

5. विवाह (Marriage)—विवाह के कारण व्यक्ति के व्यवहारो मे पर्याप्त अन्तर आ जाता है—पति पत्नी के भूमिका-निर्वाह मे अनेक नए दायित्व आ जाते हैं। नई परम्पराएँ, मान्यताएँ, विचारधाराएँ उत्पन्न होती है, जिनसे जितना अधिक अनुकूलन हो सकता है, सामाजीकरण की प्रक्रिया भी उतनी ही सफल होती है। पारिवारिकता की भावना त्याग को बढावा देती है, कर्त्तव्य-बोध जागृत करती है। नई प्रस्थितियाँ व भूमिकाएँ विवाह के उपरान्त ही ग्रहण की जाती हैं जिनके साथ तादात्म्य व आन्तरीकरण करना होता है। इस प्रकार विवाह-सम्बन्ध जीवन को अत्यधिक प्रभावित करते हैं।

(2) द्वैतीयक संस्थाएँ (Secondary Institutions)—प्राथमिक संस्थाओ के अतिरिक्त द्वैतीयक सस्थाएँ भी सामाजीकरण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं जो किन्हीं विशिष्ट उद्देश्यो की पूर्ति के लिए निर्मित की जाती हैं। इसमे निम्नलिखित सस्थाओ को सम्मिलित किया जा सकता है—

1. शिक्षण संस्थाएँ (Educational Institutions)—स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालय बालक को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। पुस्तके बालक मे सैद्धान्तिक ज्ञान का प्रसार करती हैं। शिक्षको का सम्पर्क विद्यार्थी को नवीन ज्ञान प्रदान करता है, उनमे से ही कोई शिक्षक 'आदर्श' भी बन जाता है जिसका अनुकरण बच्चा करना चाहता है। अध्यापक-छात्र सम्बन्ध, मित्र-मित्र

सम्बन्ध, छात्र-छात्र सम्बन्ध भी शिक्षण संस्थाएँ ही विकसित करती हैं। ये संस्थाएँ ही व्यक्ति को समाज का उपयोगी सदस्य बनाती हैं और उसका सामाजीकरण करती हैं।

2. राजनैतिक संस्थाएँ (Political Institutions)—राजनैतिक संस्थाएँ व्यक्ति को शासन, कानून, अनुशासन आदि सिखाती हैं। ये व्यक्ति को उसके कर्त्तव्यों और अधिकारो के प्रति और भी सजग करती हैं जिससे व्यक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है। ये संस्थाएँ समाज की दिशा का ज्ञान कराती हैं जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपना सामाजीकरण कर सकता है।

3. आर्थिक संस्थाएँ (Economic Institutions)—आर्थिक संस्थाएँ व्यक्ति को व्यावसायिक एवं जीवन-यापन का दिशा-निर्देश कराती हैं, जहाँ व्यक्ति प्रतिस्पर्धा, सहकारिता, समायोजन, व्यवस्था आदि सीखता है तथा समाज से अपना अनुकूलन कर लेता है। आर्थिक जीवन किस प्रकार सफल हो सकता है, इसकी जानकारी इन्हीं संस्थाओं द्वारा प्राप्त होती है।

4. धार्मिक संस्थाएँ (Religious Institutions)—धार्मिक संस्थाओं द्वारा व्यक्ति शान्ति, सच्चरित्रता, नैतिकता, पवित्रता तथा आदर्श जैसे गुणो को विकसित करता है। सामाजीकरण मे इन धार्मिक संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है क्योंकि कोई भी समाज बिना धर्म के नहीं रह सकता। धार्मिक संस्थाएँ सिखाती हैं कि मन्दिर या पवित्र स्थल पर कैसा व्यवहार करना चाहिए। इस प्रकार ये संस्थाएँ व्यक्ति को धार्मिक-शास्त्रों से अवगत कराती हैं।

5. सांस्कृतिक संस्थाएँ (Cultural Institutions)—सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा व्यक्ति समाज की संस्कृति से परिचित होता है। बड़े-बड़े नगरों मे कवि-सम्मेलन, नाटक, गोष्ठियाँ आदि आयोजित की जाती हैं जिनमें व्यक्तियों को उस समाज की संस्कृति से अवगत कराया जाता है। कला, भाषा, रीति-रिवाज, परम्परा, वेशभूषा आदि की जानकारी इन्हीं सस्थाओं द्वारा प्राप्त होती है। इस प्रकार सामाजीकरण की प्रक्रिया मे इन संस्थाओ का बहुत योगदान होता है।

6. व्यवसाय-समूह (Occupational-Group)—व्यक्ति जिस पद पर कार्यरत होता है वहाँ के लोगों के साथ अपना सामाजीकरण कर लेता है। उदाहरण के लिए—दफ्तर, फैक्ट्री आदि में अपने अधिकारी से व्यवहार करना तथा अन्य बराबर अथवा निम्न पद वालों से व्यवहार करने की जानकारी यहीं से मिलती है। नवीन कार्यों की जानकारी भी इन्हीं संस्थाओ से ही मिलती है।

7. अजनबी से व्यवहार (Behaviour with Unknown)—प्राथमिक परिचितों के अतिरिक्त अपरिचितों से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, किस प्रकार सम्बोधन करना चाहिए इसकी योग्यता होना आवश्यक है। समाज का सदस्य होने के नाते व्यक्ति इन सबसे अपना सम्बन्ध स्थापित करता है तथा अजनबी व्यक्तियो के साथ भी अपना सामाजीकरण कर लेता है।

इस प्रकार प्राथमिक एव द्वितीयक संस्थाओ के माध्यम से व्यक्ति समाज मे अपना सामाजीकरण करना सीख लेता है। निष्कर्षत: उपर्युक्त सभी अभिकरण सामाजीकरण के साधन हैं।

□

अध्याय-19

व्यक्ति और समाज में सम्बन्ध

(Relationship Between Individual and Society)

मानव एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्राणी है इसलिए व्यक्ति और समाज के मध्य अनेक दृष्टिकोणों से घनिष्ट सम्बन्धो को देखा जा सकता है। जैसा कि हम पिछले सामाजीकरण के अध्याय मे पढ़ चुके हैं कि मानव जन्म के बाद संस्कृति को सीखता है और समाज का सदस्य बनता है। पारसन्स ने लिखा है कि जब सस्कृति का आन्तरीकरण होता है तो व्यक्तित्व व्यवस्था का निर्माण होता है। इसी प्रकार से जब सस्कृति का सस्थापन होता है तब सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है। इस प्रकार से व्यक्ति और समाज मे घनिष्ट सम्बन्ध सस्कृति के माध्यम से स्थापित होते हैं। मानव ने संस्कृति का निर्माण करके अपने समाज को सामाजिक-सास्कृतिक समाज बनाया है। व्यक्ति समाज मे रहकर धीरे-धीरे सामाजिक प्राणी बनता है। व्यक्ति भाषा और प्रतीको के माध्यम से सस्कृति को आत्मसात करता है तथा सामाजिक प्राणी बनता है। इसी प्रकार से अनेक व्यक्ति परस्पर प्रक्रियाएँ करके समाज का निर्माण करते हैं। यहाँ हम व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन निम्न प्रकार से करेगे—(1) व्यक्ति की समाज पर निर्भरता, (2) समाज की व्यक्ति पर निर्भरता, और (3) व्यक्ति और समाज मे पारस्परिक निर्भरता।

व्यक्ति और समाज में सम्बन्ध

व्यक्ति की समाज पर निर्भरता	समाज की व्यक्ति पर निर्भरता	व्यक्ति और समाज मे पारस्परिक निर्भरता
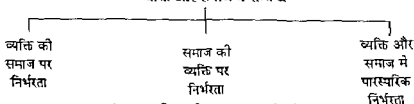
(1) व्यक्ति की समाज पर निर्भरता

(Dependence of Individual on Man)

मानव अन्य प्राणियों की तुलना मे अधिक कमजोर प्राणी है। वह अपने पालन-पोषण, आवश्यकताओ की पूर्ति तथा अस्तित्व को बनाए रखने के लिए माता-पिता और अन्य परिजनो पर आश्रित होता है। भोजन, वस्त्र और आवास के लिए वह अन्यो पर आश्रित रहता है। उसका शारीरिक, मानसिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक आदि का विकास समाज में रहकर ही सम्भव

होता है। अगर व्यक्ति जन्म के बाद परिवार और समाज मे नहीं रह पाता है तो उसके व्यक्तित्व का विकास भी नहीं हो पाता है। समाजशास्त्रियों ने कुछ ऐसे बालकों का अध्ययन किया है, जो शिशु अवस्था मे किन्हीं कारणों से अलग-थलग जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य थे। उनका विकास नहीं हो पाया। वो पशुवत् ही रहे, ऐसे बालकों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—
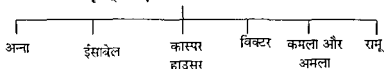
(1) अन्ना (Anna)—किंग्सले डेविस ने इस लड़की का अध्ययन किया। इस लड़की का पता 1938 में अमेरिका मे लगा। यह अवैध सन्तान थी। अवैध सन्तान होने के कारण इसके दादा ने इसे प्रारम्भ के छ: वर्षो तक एक पृथक् कमरे मे बन्द रखा। इस काल मे उसे मानव सम्पर्क में नहीं आने दिया। उसे कुछ भी नहीं सिखाया। जब इस लड़की का पता चला तो *अध्ययन करने पर ज्ञात हुआ कि वह चल नहीं सकती है, बोल नहीं सकती है, वह पशु-तुल्य* है, उसमे मानव-समाज के बच्चो जैसे कोई लक्षण नहीं हैं। उसे अनेक बाते सिखाने का प्रयास किया गया। साढ़े चार वर्ष बाद मृत्यु के समय तक उसने अपनी परिस्थितियों के अनुरूप अच्छी प्रगति कर ली थी। कुछ रंगो को पहिचानने लगी थी, बात कर सकती थी, शब्दो को दोहरा सकती थी। दाँत साफ कर लेती थी। हाथ धो लेती थी। उसका विकास दो-तीन साल के औसत बच्चे जैसा हो पाया था। यह उदाहरण स्पष्ट करता है कि सामाजिक सम्पर्क के अभाव में बालक का विकास नहीं हो पाता है।

(2) ईसाबेल (Isabelle)—डेविस ने लिखा है कि ईसाबेल भी लगभग उन्हीं दिनो तथा उन्हीं समान परिस्थितियों मे मिली थी, जिन परिस्थितियों में अन्ना मिली थी। इसकी आयु भी साढे छ: वर्ष की थी तथा इसे भी अन्ना को भाँति अवैध सन्तान होने के कारण पृथक् परिस्थितियो में रखा गया था। ईसाबेल की माता गूँगी और बहरी थी। ईसाबेल और उसकी माँ अपना अधिकतर समय एक अंधेरे कमरे मे साथ-साथ व्यतीत करती थी। जिसके कारण ईसाबेल को भाषा सिखाने का कोई अवसर नहीं मिला। वह अपनी माता से इशारों से संचार करती थी। सूर्य की किरणो के अभाव और अपूर्ण भोजन के मिलने के कारण वह बहुत कमजोर थी। उसका अपरिचितों विशेष रूप से पुरुषों के साथ, जंगली-जानवरों जैसा डरपोक और हिंसात्मक व्यवहार था। उसको अधिक क्रियाएँ बहरे बच्चों जैसी थीं। उसे प्रशिक्षित करने की योजना बनाई। धीरे-धीरे वह सिखने लगी। दो माह बाद यह वाक्य बनाने लगी। नौ माह बाद वह लिखने-पढ़ने लगी। इसको सात माह बाद उसकी शब्दावली 1,500-2000 शब्दो की हो गई। वह जटिल प्रश्न भी पूछने लगी थी।

डेविस ने सारांश में लिखा कि पृथक् रहने पर बालक भी कुछ नहीं सीख पाता है, लेकिन व्यवस्थित प्रशिक्षण से उसका विकास हो जाता है।

(3) कास्पर हाउसर (Kasper Hauser)—एक 17 वर्ष का लड़का कास्पर हाउसर, 1828 मे न्यूरेम्बर्ग में मिला। उसे राजनैतिक कारणों से मानव के सम्पर्क से पृथक् रखा गया था।

वह चल नहीं पाता था। उसका मस्तिष्क एक शिशु जैसा था। वह दो एक अर्थहीन वाक्यांश बडबडाता था। वह जीव और निर्जीव मे अन्तर नहीं कर सकता था। पाँच वर्ष बाद उसे मार दिया गया। मृत्युपरान्त डॉक्टरी जाँच से पता चला कि उसके मस्तिष्क का विकास साधारण से कम था।

(4) विक्टर (Victor)—एक लडका फ्रास के अवेरान जंगल मे मिला। जब वह मिला वह पूर्ण रूप से जगली था। पशुओ के जैसे चलता-फिरता था। वह हमारी तरह से उठना-बैठना, चलना, खाना-पीना, बोलना, बातचीत करना आदि बिल्कुल नहीं जानता था। *इटार्ड* (Itard) ने उसका पालन-पोषण किया और इस बालक का नाम विक्टर रखा। विक्टर ने पालन-पोषण के द्वारा खाना पीना, चलना, उठना बैठना, नहाना और कपड़े पहिनना आदि सीखा लेकिन वह बोलना नही सीख सका। वह इशारो से अपनी बात समझाता था। यह बालक अपनी आयु के अन्य बच्चो से काफी पिछड़ा हुआ था। बाल्यकाल मे उसे मानव सम्पर्क नहीं मिलने के कारण वह पिछड गया।

(5) कमला और अमला बालिकाएँ (Kamla and Amla Children)— *मैकाइवर* और *पेज* ने यह स्पष्ट करने के लिए व्यक्ति अपने विकास के लिए समाज पर निर्भर करता है, दो बालिकाओ का उल्लेख किया है। ये दोनो हिन्दू बालिकाएँ, 1920 मे भेडिये की माद मे मिलीं। उस समय इनकी आयु 8 वर्ष और 2 वर्ष थी। छोटी बालिका अमला की मृत्यु मिलने के कुछ महीनो बाद हो गई। बडी बालिका कमला 1929 तक जीवित रही। वह चारों हाथ-पैरो से चौपाए जानवरो की तरह से चलती थी। वह भाषा नहीं जानती थी। भेडियो की तरह से घुर्राती थी। वह मानवो से अन्य बेपालतू जानवरो की तरह से डरती थी। जब वह मिली थी उस समय उसमे मनुष्यो जैसे व्यवहार के कोई लक्षण नहीं थे। उसे बहुत ही सावधानीपूर्वक प्रशिक्षित किया गया, जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु के समय तक उसने मनुष्यो की तरह से खाना, कपड़े पहिनना और कुछ बोलना सीख लिया था। जब वह मिली थी उस समय उसमें "मानवीय स्वचेतना नहीं थी" मानव-समाज के सम्पर्क मे आने के परिणामस्वरूप उसमे व्यक्तित्व के लक्षण उभरने लगे थे।

(6) रामू (Ramu)—रामू भेडिये की माद मे पला था। इसका लखनऊ मे 1954 में पता चला था। यह नगा रहता था। कच्चा माँस खाता था। उसे भाषा का कोई ज्ञान नहीं था। इस रामू बालक का व्यवहार पूर्णत: भेड़ियो के जैसा था। इसमे मनुष्य जैसा व्यवहार करने वाले कोई लक्षण नहीं थे। बाद मे प्रयास करने पर वह मानवो जैसे कुछ लक्षण सीख पाया था। प्रारम्भ मे इसमे मानवो जैसे गुणो के अभाव के कारण भेड़िये की माद मे पलना था तथा मानव सम्पर्क का अभाव था।

मैकाइवर और *पेज, किग्स्ले डेविस* तथा अन्य समाजशास्त्रियो एव सामाजिक मानवशास्त्रियो की मान्यता है कि व्यक्ति का एक सामाजिक-सास्कृतिक प्राणी के रूप विकास समाज मे रहकर ही सम्भव है, उपरोक्त वर्णित उदाहरणों को देकर डेविस, मैकाइवर और पेज ने सिद्ध कर दिया है कि मानव के व्यक्तित्व एवं मानवोचित गुणो का विकास मानव समाज में हो सम्भव है। अन्यत्र नहीं। जन्म के समय मानव शिशु मे सामाजिक-सास्कृतिक गुणो की अपनी जैविक क्षमताएँ तो विद्यमान होती हैं, परन्तु अन्य जीवो की तरह से उसमें जैविक-सामाजिक गुण विद्यमान नहीं होते

हैं। *डेविस* ने लिखा है कि अन्य जीवो के समाज *'संन्यासी समाज'* (Solitry Society) है। उन्होंने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि समाज का कार्य जनसंख्या को बनाए रखना, जनसंख्या में श्रम का विभाजन करना, समूह की एकता बनाए रखना तथा सामाजिक व्यवस्था की निरन्तरता को बनाए रखना है। अन्य जीवों की जनसंख्या या समाज मे ये सभी कार्य जीवों द्वारा जो समाज मे किए जाते हैं, उनका संचालन, निर्देशन, नियंत्रण जीवो में विद्यमान वाहकाणुओ द्वारा होता है लेकिन मानव समाज में जन्म के बाद व्यक्ति को सामाजीकरण के द्वारा इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए सिखाया जाता है, तभी वह समाज का उपयोगी सदस्य बनकर उपर्युक्त वर्णित कार्यो मे अपना उत्तरदायित्व पूर्ण कर पाता है।

लेस्ले व्हाइट ने लिखा कि सभी मानवीय व्यवहारों की उत्पत्ति प्रतीकों के द्वारा होती है। ये प्रतीक ही थे, जिन्होंने हमारे मानव सदृश पूर्वजो को मानव और मानव से इन्सान बनाया है। सभी सभ्यताएँ प्रतीको से उत्पन्न हुई हैं। ये प्रतीक ही हैं जो शिशु को मेधावी मानव को मानव जाति या इन्सान में परिवर्तित करते हैं। सभी मानवीय व्यवहार प्रतीको से बनते हैं और प्रतीको पर आधारित होते हैं। मानवीय व्यवहार प्रतीकात्मक व्यवहार होते हैं और प्रतीकात्मक व्यवहार मानवीय व्यवहार होते हैं। ये तथ्य सिद्ध करते हैं कि व्यक्ति समाज पर पूर्ण रूप से आधारित रहा है। ये प्रतीकात्मक व्यवहार वंशानुगत नहीं होते है। ये सामाजिक-सांस्कृतिक होते हैं, जिन्हे शिशु समाज का सदस्य होकर सीखता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्तित्व के विकास के लिए सामाजिक वातावरण अत्यावश्यक है। अगर शिशु को परिवार एवं समाज से पृथक् रखा जाएगा तो उसके व्यक्तित्व का विकास कभी नहीं होगा। प्रारम्भ मे शिशु अपनी आवश्यकताओं, परेशानियो और मनोभावों को मात्र रोकर या मुस्करा कर प्रकट करता है। धीरे-धीरे वह इशारों एवं प्रतीको को समझने और सीखने लगता है। बाद में वाक्य बनाने लगता है। वह अपने सम्बन्धियों का अनुकरण करने लगता है। धीरे-धीरे वह खाना-पीना, उठना-बैठना, चलना-फिरना, बोलना-चालना आदि सीखता है। इस प्रकार से समाज में रहकर उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। सामाजिक वातावरण के अभाव में वह सब कुछ नहीं सीख पाएगा जो उसे समाज मे जीवनयापन करने के लिए सीखना आवश्यक है।

व्यक्ति समाज मे रहकर ही सामाजिक विरासत प्राप्त करता है। सामाजिक विरासत दो प्रकार की होती हैं—भौतिक सामाजिक विरासत और अभौतिक सामाजिक विरासत। मानव की वे सब उपलब्धियाँ जिन्हें हम देख सकते हैं, छू सकते हैं और जो जगह घेरती हैं, जैसे—मकान, वस्त्र, भोजन, वाहन, सभी सुख-सुविधाओ के साधन, उपकरण आदि भौतिक विरासत के अन्तर्गत आती हैं। वे उपलब्धियाँ जिन्हें देख-छू नहीं सकते हैं परन्तु वे हम पर नियंत्रण रखती हैं, जिन्हें हम अनुभव कर सकते हैं जो अमूर्त हैं, जैसे—जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रुढियाँ, कानून, धर्म, आदर्श, आचार आदि अभौतिक विरासत कहलाती हैं। इन्हीं के द्वारा व्यक्ति और मानव समाज की संरचना का गठन होता है, जिसे व्यक्ति समाज मे रहकर सीखता है, प्राप्त करता है और अपना जीवन व्यतीत करता है। सामाजिक विरासत से व्यक्तित्व का निर्माण होता है। समाज व्यक्ति को सामाजिक विरासत पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्रदान करता है। इसलिए व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक अपने व्यक्तित्व के निर्माण और अस्तित्व के लिए समाज पर आश्रित रहता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति पूर्ण रूप से अपने समाज पर निर्भर होता है। समाज के अभाव मे वह पशु–तुल्य रह जाता है। व्यक्ति अपने अस्तित्व, व्यक्तित्व निर्माण, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और मानसिक सुरक्षा, स्वस्थ्य, मनोरंजन, प्राथमिक और द्वैतीयक आवश्यकताओ की पूर्ति आदि के लिए समाज पर आश्रित होता है।

समाज की व्यक्ति पर निर्भरता

(Dependence of Society on Man)

मानव समाज की व्यक्ति पर निर्भरता का अध्ययन एव व्याख्या अनेक दृष्टिकोणों, आधारो एव पक्षो से कर सकते हैं। मानव समाज का शाब्दिक अर्थ है—मानव का समाज अर्थात् वह समाज जो मानव का है। इसलिए मानव के अभाव मे मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समाज का अर्थ है सामाजिक सम्बन्धों का जाल। सामाजिक सम्बन्धो के जाल का निर्माण—दो या दो से अधिक सदस्यो मे परस्पर प्रतिक्रिया, अन्तःक्रिया, सामाजिक सम्बन्ध, सगठनात्मक-विघटनात्मक सामाजिक प्रक्रियाओ आदि के द्वारा होता है। मानव समाज के सदस्य होते हैं व्यक्ति। व्यक्तियो के बीच मे सामाजिक क्रियाएँ ही सामाजिक सम्बन्धो का जाल अर्थात् मानव समाज का निर्माण करती है। इसलिए व्यक्तियो तथा उनके मध्य सामाजिक सम्बन्धो के जाल के अभाव मे मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। मानव समाज या सम्बन्धो के जाल मानवो पर आधारित होते हैं।

अगर हम मैकाइवर और पेज के द्वारा दी गई समाज की परिभाषा का विश्लेषण करें तो उससे भी स्पष्ट हो जाता है कि मानव समाज व्यक्तियो पर आधारित होता है। परिभाषा है, "समाज रीतियो तथा कार्य-प्रणालियों की सत्ता तथा पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहो तथा विभाजनो की, मानव व्यवहार के नियत्रणो तथा स्वतत्रताओ की एक व्यवस्था है।" पहला प्रश्न यह उठता है कि ये रीतियाँ, कार्य-प्रणालियाँ, सत्ता, पारस्परिक सहयोग, समूहो तथा विभाजनो, मानव व्यवहार के नियत्रणों एव स्वतत्रताओं की व्यवस्था का निर्माता कौन है? उत्तर है मानव। दूसरा प्रश्न उठता है कि यह व्यवस्था किसके लिए है? उत्तर है समाज के सदस्यो के लिए। समाज के सदस्य हैं मानव, इसलिए निष्कर्ष यही निकलता है कि समाज व्यक्तियों के लिए है। व्यक्तियो के द्वारा निर्मित है और व्यक्तियो का है।

समाज एक जटिल व्यवस्था है। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और यह हमेशा बदलता रहता है। लेकिन समाज की इन विशेषताओं का आधार व्यक्ति है। इसको निरन्तर परिवर्तित करने वाले समाज के सदस्य भी व्यक्ति हैं। इस जटिल व्यवस्था और सम्बन्धो के जाल के निर्माता इसके सदस्य व्यक्ति हैं जो निरन्तर परस्पर क्रियाएँ करते रहते हैं और उनकी क्रियाएँ निरन्तर प्रक्रियाओं के रूप में गतिशील और परिवर्तित होती रहती है। हम समाज की विशेषताओ की कल्पना मानव के अभाव मे नहीं कर सकते हैं। समाज की विशेषताओ का निर्माता और वाहक मानव है। समाज मानव का है। मानव के लिए है और मानव के द्वारा है। अतः इस समाज के अस्तित्व की कल्पना मानव के अभाव मे कैसे कर सकते हैं।

यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि मानव-समाज अन्य जीवो के समाज से इस बात मे भिन्न है कि मानव के पास में संस्कृति और मानव समाज जैविक समाज नहीं है बल्कि सामाजिक-

सांस्कृतिक समाज है। पारसन्स ने लिखा है कि जब संस्कृति को व्यक्ति आन्तरीकरण कर लेता है तो उसेक व्यक्तित्व व्यवस्था का निर्माण होता है। दूसरी ओर जब संस्कृति का समाज में संस्थापन हो जाता है तथा सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होता है। निष्कर्ष यह निकलता है कि मानव के समाज की सामाजिक व्यवस्था के लिए संस्कृति का संस्थापन होना आवश्यक है। संस्थापन संस्कृति का होता है। संस्कृति का संस्थापन तभी सम्भव है जब इसका निर्माण हो। संस्कृति का निर्माता मानव है। इसलिए मानव के अभाव में सामाजिक व्यवस्था की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

किंग्स्ले डेविस ने समाज की चार मौलिक आवश्यकताओं का वर्णन किया है जो किसी भी समाज की स्थायित्व और निरन्तरता के लिए आवश्यक है। ये हैं—जनसंख्या, विशेषीकरण, एकता और निरन्तरता। (1) समाज में अनेक सदस्य (जनसंख्या) होने चाहिए। (2) उनमें श्रम का विभाजन और विशेषीकरण होना चाहिए। (3) समाज के बने रहने के लिए सदस्यों मे एकता या संगठन होना चाहिए और (4) अन्तिम—निरन्तरता के लिए वृद्ध सदस्यों की मृत्यु होने पर नवीन सदस्यों का जन्म एवं पालन-पोषण होते रहना चाहिए। अगर समाज मे लोग ही नहीं होगे तो अन्य आवश्यकताओं का पूर्ण होना असम्भव है। इसलिए मानव समाज का अस्तित्व और निरन्तरता व्यक्तियो पर आधारित है। व्यक्तियों के अभाव मे मानव समाज की कल्पना नहीं की जा सकती है। मानव समाज की निरन्तरता के बने रहने के लिए व्यक्तियों में प्रजनन की क्रिया का होना आवश्यक है। इस क्रिया के अभाव मे भी समाज की निरन्तरता का बना रहना सम्भव नहीं है।

मानव समाज को डेविस ने सामाजिक-सास्कृतिक समाज बताया जिससे आपका तात्पर्य यह है कि मानव समाज की सरचना और कार्य संस्कृति के द्वारा निर्मित और सचालित होते हैं। इस सस्कृति का निर्माता मानव है। मानव अपनी प्रमुख पाँच जैविक विशेषताओ-सीधे खड़े होने की क्षमता, घूमता हुआ अँगूठा और हाथ, दिव्य चक्षु, बुद्धि और भाषा के आधार पर संस्कृति का निर्माता है। इसलिए मानव समाज सस्कृति के निर्माता (मानव) पर अनेक बातो के लिए निर्भर है।

समाज की निरन्तरता के लिए आवश्यक है कि सामाजिक विरासत पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहे। इस हस्तान्तरण का कार्य मानव अपनी भाषा सीखने की क्षमता और बुद्धि के द्वारा करता है। अत: समाज अपनी विरासत को बनाए रखने एवं पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करने के लिए मानव पर आधारित रहता है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध हो जाता है कि समाज अपने निर्माण, संगठन, सन्तुलन एकीकरण और निरन्तरता के लिए मानव पर निर्भर है।

व्यक्ति और समाज में पारस्परिक निर्भरता
(Mutual Dependence Between Individual and Society)

अब तक हमने अध्ययन की सुविधा के लिए क्रमश: (1) व्यक्ति की समाज पर निर्भरता, (2) समाज की व्यक्ति पर निर्भरता, का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन किया। लेकिन वास्तविकता यह है कि व्यक्ति और समाज पारस्परिक रूप से दोनों एक-दूसरे पर निर्भर हैं। ये आपस में एक-दूसरे से सगुफति हैं तथा अन्योन्याश्रित हैं। एक के अभाव मे दूसरे का कोई अस्तित्व नहीं है। हमने देखा कि व्यक्तियों के अभाव मे समाज का निर्माण नहीं हो सकता

है। उसी प्रकार मे व्यक्ति के भोजन, वस्त्र ओर आवास की व्यवस्था समाज के बिना नही हो सकती है। समाज व्यक्ति के अस्तित्व के लिए उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि व्यक्तियों का समूह, समाज क निर्माण, सगठन एकता, सन्तुलन और निरन्तरता के लिए आवश्यक है। व्यक्ति समाज की इकाई है तो समाज इन व्यक्ति रूपी इकाइयो का पूर्ण रूप है। अनेक व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे से सामाजिक क्रियाएँ करते हैं। सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वही समाज उनकी प्रस्थिति और भूमिकाओ को निश्चित, निर्देशित और सचालित करता है। व्यक्तियों की प्रस्थितियो को समाज निश्चित करके सामाजिक श्रेणियाँ ओर उनका उच्चता और निम्नता के आधार पर स्तरीकरण करके सामाजिक सरचना का निर्माण करता है।

व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ को पूर्ण करने के लिए साधनो की खोज और आविष्कार करता है, वहीं समाज उन साधनों को मान्यता प्रदान करके जनरीति, प्रथा, रूढ़ियो और सस्था का स्वरूप प्रदान करता है। समाज व्यक्ति को उसकी आवश्यकताओ को पूर्ति करने के लिए सांस्कृतिक लक्ष्य और सस्थागत साधनो के विकल्प प्रदान करता है। व्यक्ति समाज मे रहकर ही अपना अस्तित्व बनाए रख पाता है। व्यक्ति अपनी तीन मौलिक आवश्यकताएँ अपने अस्तित्व को बनाए रखने, अपने-आपको व्यक्त करने और लैंगिक इच्छा की पूर्ति के लिए समाज मे रहकर ही सुचारु रूप से पूर्ण करता है। समाज से अलग होकर वह इन आवश्यकताओ की पूर्ति नहीं कर सकता है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति और समाज परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। परस्पर निर्भर हैं। एक के अभाव में दूसरे को कल्पना नहीं की जा सकती है।

❑

अध्याय-20

सामाजिक नियन्त्रण : प्रकार एवं साधन

(Social Control : Forms and Agencies)

सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा समाजशास्त्र मे उतनी ही मौलिक और महत्त्वपूर्ण हे जितनी सामाजिक व्यवस्था और सामाजीकरण की अवधारणाएँ हैं। सामाजिक व्यवस्था के बने रहने के लिए आवश्यक हे कि समाज के प्रत्येक मदस्य अपेक्षित व्यवहार करें जो उन्हें मामाजीकरण के द्वारा सिखाए गए हैं। जब व्यक्ति अपेक्षित व्यवहार की तुलना मे वास्तविक व्यवहार बहुत अलग हट कर करता है तो सामाजिक व्यवस्था का मतुलन बिगड़ने लगता है। समाज में अव्यवस्था होती है तथा समाज असंतुलित होने लगता है। समाज में व्यवस्था बनी रहे। समाज संतुलित रहे, सभी व्यक्ति और समाज के मदस्य उनमे जो व्यवहार अपेक्षित है उसके अनुरूप व्यवहार करें। अपेक्षित व्यवहार और वास्तविक व्यवहार मे कम-से-कम अन्तर हो। इस सबके नियन्त्रण, मचालन, निर्देशन आदि के लिए एव समाज की निरन्तरता और संतुलन के लिए आवश्यक है कि इसके लिए समाज मे कोई मामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था हो। कुछ अभिकरण हो जो व्यक्तियों पर नियन्त्रण रखें। सामाजिक नियन्त्रण का अध्ययन उतना ही महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है जितना समाज का अध्ययन। इसी महत्व को ध्यान में रखते हुए सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ, प्रकार, स्वरूप और अभिकरणो (साधनो) का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अध्ययन करना अन्यावश्यक है।

सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of Social Control)

मामाजिक नियन्त्रण की परिभाषाएँ अनेक समाजशास्त्रियो और विद्वानों ने दी हैं। अधिकतर समाजशास्त्रियों ने मामाजिक नियन्त्रण को प्रक्रिया बनाया है तो किसी ने इसे तरीका बनाया है। अलग-अलग विद्वानों ने इसे साधनो की व्यवस्था, दबाव का प्रतिमान या मूल्यों और आदर्शों का सक्लन बनाया है। लेकिन सबका यही कहना है कि मामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य समाज को बनाए रखना है। अब हम विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे तथा निष्कर्ष निकालने का प्रयास करेंगे कि सामाजिक नियन्त्रण का समाजशास्त्रीय अर्थ क्या है?

(1) रॉस (Ross)—आपके अनुमार, "सामाजिक नियन्त्र" का तात्पर्य उन सभी शक्तियों से है जिनके द्वारा समुदाय व्यक्ति को अपने अनुरूप बनाता है।"

(2) हिलर (Hiller)—आपकी परिभाषा बहुत छोटी परन्तु सारगर्भित है। "सब के हित के लिए कुछ का नियमन ही सामाजिक नियन्त्रण है।"

(3) टालकट पारसन्स (TalcottParsons)—आपने सामाजिक नियन्त्रण की परिभाषा अपनी पुस्तक *'सोशियल सिस्टम'* मे देते हुए लिखा, "सामाजिक नियन्त्रण वह सामान्य प्रक्रिया है जिसके द्वारा अपेक्षित व्यवहार और किए गए व्यवहार के बीच अन्तर को कम-से-कम किया जाता है।"

(4) पी. एच. लैण्डिस (P H Landis)—इन्होने अपनी कृति 'सोशियल कन्ट्रोल' मे लिखा है—"सामाजिक नियन्त्रण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जाती है और बनाए रखी जाती है।"

(5) मैकाइवर और पेज (MacIver and Page)—इन दोनो समाजशास्त्रियो ने *'सोसायटी'* कृति में सामाजिक नियन्त्रण को परिभाषा निम्न प्रकार से दी है—"सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ उस तरीके से है जिससे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की एकता और उसका स्थायित्व बना रहता है। इसके द्वारा यह समस्त व्यवस्था एक परिवर्तनशील सन्तुलन के रूप में क्रियाशील रहती है।"

(6) एच. सी. ब्रियरली (H C Brearly)—आपके अनुसार, "सामाजिक नियन्त्रण नियोजित या अनियोजित प्रक्रियाओ और अभिकरणो (साधनो) के लिए एक सामूहिक शब्द है जिनके द्वारा व्यक्तियो को यह सिखाया जाता है, उनसे आग्रह किया जाता है अथवा बाध्य किया जाता है कि वे अपने समूह की रीतियो तथा सामाजिक मूल्यों के अनुसार कार्य करें।"

(7) गुरविच—आपने सामाजिक नियन्त्रण की परिभाषा अपने लेख *'सोशियल कन्ट्रोल'* मे दी है। यह लेख **गुरविच** और **मूर** द्वारा सम्पादित पुस्तक *'ट्वन्टीयथ सैन्चुरी सोशियोलाजी'* मे प्रकाशित हुआ है। परिभाषा इस प्रकार है, "सामाजिक नियन्त्रण का सम्बन्ध उन सभी प्रक्रियाओं और प्रयत्नों से है जिनके द्वारा समूह अपने आन्तरिक तनावों और संघर्षों पर नियन्त्रण रखता है और इस प्रकार रचनात्मक कार्यो की ओर बढ़ता है।"

(8) गिलिन और गिलिन (Gillin and Gillin)—"सामाजिक नियन्त्रण सुझाव, अनुनय, प्रतिरोध, उत्पीड़न तथा बल-प्रयोग जैसे साधनो की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज किसी समूह के व्यवहार को मान्यता-प्राप्त प्रतिमानो के अनुरूप बनाता है अथवा जिसके द्वारा समूह सभी सदस्यो को अपने अनुरूप बना लेता है।"

(9) ऑगबर्न तथा निमकॉफ (Ogburn and Nimkoff)—आप दोनो ने सामाजिक नियन्त्रण की परिभाषा, *'ए हैंड बुक ऑफ सोशियोलाजी'* मे निम्नलिखित दी है, "किसी भी समाज द्वारा, व्यवस्था और स्थापित नियमो को बनाए रखने के लिए, डाले गए दबाव के प्रतिमान को उस समाज की नियन्त्रण व्यवस्था कहा जाता है।"

(10) बोटोमोर (Bottomore)—"सामाजिक नियन्त्रण का अभिप्राय मूल्यों और आदर्शो के उस सकलन से है, जिसके द्वारा व्यक्तियो और समूहों के बीच के तनावों और सघर्षों को दूर अथवा कम किया जाता है जिससे कि किसी अधिक समावेशी समूह की दृढ़ता बनायी रखी जा सके।"

उपर्युक्त विद्वानो ने सामाजिक नियन्त्रण की संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक दोनो विशेषताओ का उल्लेख किया है। सारांश मे यह कहा जा सकता है कि सामाजिक नियन्त्रण एक

सामाजिक प्रक्रिया है जो सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखती है। पारसन्स की परिभाषा सबसे उपयुक्त परिभाषा है जिसके अनुसार सामाजिक नियन्त्रण अपेक्षित-व्यवहार और वास्तविक-व्यवहार की दूरी को कम करता है तथा अन्तर को बढ़ने नहीं देता है। इन परिभाषाओ के आधार पर सामाजिक नियन्त्रण की **आवश्यकता, उद्देश्य, कार्य, स्वरूप** और **महत्व** स्पष्ट हो जाते हैं। ये निम्नलिखित हैं—

1. *पारसन्स, लैण्डिस, गुरविच, ब्रियरली* आदि के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण एक सामाजिक प्रक्रिया है जो सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखता है।

2 *मैकाइवर और पेज, गिलिन और गिलिन* के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण एक विधि, तरीका या साधनों की व्यवस्था है।

3. *रॉस* के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण शक्तियाँ हैं जो व्यक्ति को समाज के अनुसार ढालती हैं।

4 *पारसन्स* का कहना है कि नियन्त्रण अपेक्षित-व्यवहार और वास्तविक-व्यवहार के अन्तर को कम करता है।

5. समाज के दबाव के प्रतिमान सामाजिक नियन्त्रण हैं।

6 सब का हित करने के लिए किया गया नियमन ही सामाजिक नियन्त्रण कहलाता है।

7. सामाजिक नियन्त्रण व्यक्तियों को सामाजिक प्रतिमानों के अनुसार व्यवहार करने के लिए प्रभाव डालता है।

8. समाज की स्थिरता और एकरूपता बनाए रखने का कार्य सामाजिक नियन्त्रण करता है।

9 समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण—व्यक्ति, समूह और समाज—तीनों स्तरों पर नियन्त्रण बनाए रखता है।

10 सामाजिक नियन्त्रण विभिन्न सदस्यों में परस्पर सहयोग को बढ़ता है।

11. सामाजिक नियन्त्रण का प्रमुख कार्य समाज में संघर्ष और तनाव को घटाना है।

12 सामाजिक नियन्त्रण पुरस्कार देकर सामाजिक प्रतिमानो का पालन करने के लिए प्रेरणा देता है।

13. सामाजिक नियन्त्रण दण्ड देकर सामाजिक प्रतिमानो का उल्लंघन करने वालो पर नियन्त्रण रखता है।

सामाजिक नियन्त्रण और सामाजीकरण
(Social Control and Socialization)

सामाजिक नियन्त्रण और सामाजीकरण के परस्पर सम्बन्धों को अनेक विद्वानों ने बताया है। **फिचर** (Fitcher) ने अपनी पुस्तक *'सोशियोलॉजी'* में सामाजिक नियन्त्रण और सामाजीकरण के परस्पर सम्बन्धों को निम्नलिखित शब्दो में स्पष्ट किया है—*"सामाजिक नियन्त्रण सामाजीकरण की प्रक्रिया का ही विस्तार है।"* बच्चे को सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सामाजिक प्रतिमान प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, संस्था, नियम, कानून, जनरीतियाँ, व्यवहार करने के तरीके आदि सिखाए जाते हैं तथा बड़े होने पर यह अपेक्षा की जाती है कि वह उन सबका पालन करे। जो व्यक्ति पालन नहीं करता है उसे सामाजिक नियन्त्रण द्वारा पालन करने के लिए दबाव डाला जाता है। आवश्यकता पड़ने पर दण्ड भी दिया जाता है। इस प्रकार जो कार्य सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा अपूर्ण रह जाता है उसे सामाजिक नियन्त्रण समय-समय पर पूरा करता है। इसलिए यह कथन सत्य-वचन है कि

सामाजिक-नियन्त्रण सामाजीकरण की प्रक्रिया का हर एक प्रकार से विस्तार है।

अगर सामाजीकरण बहुत अच्छा हो जाए तो सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। सामाजिक नियन्त्रण और सामाजीकरण परस्पर ऐसी घनिष्ठ सम्बन्धित प्रक्रियाएँ हैं कि एक के सफलतापूर्वक होने पर दूसरी प्रक्रिया का विशेष की न्यून आवश्यकता पड़ती है तथा एक के असफल होने पर दूसरी प्रक्रिया का महत्व बढ़ जाता है। जब सामाजीकरण अच्छा नहीं होता है तो सामाजिक नियन्त्रण की विशेष आवश्यकता पड़ती है। सामाजीकरण समाज के अपेक्षित व्यवहारों को सीखने की प्रक्रिया है। अपेक्षित-व्यवहारों और वास्तविक-व्यवहारों में अन्तर तो रहता है लेकिन जब यह अन्तर बढ़ जाता है तो सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता पड़ती है। एक बढ़ता है तो दूसरा घटता है। जब सामाजीकरण ठीक से नही होता है तो व्यक्ति का व्यवहार अपेक्षित-व्यवहार से ज्यादा विपथगामी हो जाता है। सामाजिक नियन्त्रण द्वारा व्यक्ति को इस अन्तर को कम करने के लिए बाध्य किया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण जितना अधिक कठोर होगा, व्यक्ति के व्यवहार उतने ही अधिक समाज के मानदण्डो के अनुरूप होंगे। इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण और सामाजीकरण की प्रक्रियाएँ एक-दूसरे पर आधारित हैं।

सामाजीकरण की प्रक्रिया जन्म से लेकर मृत्यु तक चलती है। जब बच्चा समझदार हो जाता है, पारितोष और दण्ड में अन्तर समझने लग जाता है, तब सामाजीकरण की प्रक्रिया के साथ साथ सामाजिक नियन्त्रण की प्रक्रिया भी चलती है। सामाजीकरण मे पारितोष और दण्ड के द्वारा बच्चे को सामाजिक मूल्यो, आदर्शो, प्रतिमानों, प्रथाओ, खाने-पीने के तरीके, व्यवहार करने के तरीके आदि सिखाए जाते हैं। पारितोष और दण्ड सामाजिक नियन्त्रण के ही साधन हैं जो सामाजीकरण की प्रक्रिया मे भी सहायक कारक हैं। यही सत्य ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने व्यक्त करते हुए लिखा है *कि सामाजिक-नियन्त्रण सामाजीकरण की असफलता को रोकता है और जिन लोगों ने सफल सामाजीकरण किया है उन्हे सहायता देता है।* सामाजीकरण और सामाजिक-नियन्त्रण के कुछ अभिकरण समान हैं, जैसे—परिवार, मित्र-समूह, पड़ौस आदि। कई बार तो सामाजीकरण और सामाजिक-नियन्त्रण की प्रक्रियाओ को अलग करना कठिन हो जाता है। फ्रॉयड ने भी बताया है कि सामाजीकरण के द्वारा 'परा अहम्' का विकास किया जाता है जो आगे चलकर व्यक्ति की इड-प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखने का कार्य करता है। सामाजीकरण में सामाजिक-नियन्त्रण के साधन सहायता करते हैं, वहीं सामाजीकरण भी सामाजिक-नियन्त्रण के महत्त्व और आवश्यकता को कम या अधिक करता है।

सामाजीकरण और सामाजिक नियन्त्रण में अन्तर

आधार	सामाजीकरण	सामाजिक नियन्त्रण
1. आयु/अवस्था	सामाजीकरण की प्रक्रिया शिशु अवस्था से प्रारम्भ हो जाती है और आजन्म चलती है।	सामाजिक नियन्त्रण का प्रभाव तब प्रारम्भ होता है जब शिशु दण्ड और पारितोष मे अन्तर समझने लगता है। यह युवा अवस्था में अधिक प्रभावी होती है।
2. समूह के प्रकारों से सम्बन्ध	सामाजीकरण की प्रक्रिया में प्राथमिक समूहों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है जैसे परिवार, पड़ौस आदि।	नियन्त्रण में द्वैतीयक समूहों की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण होती है, जैसे—राज्य, अदालत, पुलिस थाना आदि।

3. औपचारिकता	सामाजीकरण की प्रक्रिया अनौपचारिक होती है जिसमे व्यक्ति स्वत: अनेक बातें सीखता है।	सामाजिक नियन्त्रण औपचारिक प्रयासों द्वारा विशेष रूप से कार्यान्वित किया जाता है, जैसे—राज्य कानून बना कर कार्य करता है।
4. चेतना	सामाजीकरण की प्रक्रिया अचेतन अधिक होती है। स्वत:ही सीखने वाली प्रक्रिया है।	सामाजिक नियन्त्रण चेतन प्रक्रिया है। व्यक्ति ज्यादातर सोच-विचार कर आगे बढ़ता है पकड़े जाने पर दण्ड पाता है।
5. पारितोष/दण्ड	सामाजीकरण में पुरस्कार, हास्य, शिक्षा, प्रशंसा तथा हल्का दण्ड आदि का उपयोग किया जाता है।	सामाजिक नियन्त्रण में जुर्माना तथा कठोर कारावास के अतिरिक्त मृत्युदण्ड भी दिया जाता है।
6. व्यापकता	सामाजीकरण केवल व्यक्ति से सम्बन्धित होता है इसमें व्यक्ति को उपयोगी सदस्य बनाया जाता है।	सामाजिक नियन्त्रण का सम्बन्ध व्यक्ति, समूह तथा पूरे समाज को व्यवस्थित और सगठित रखने के लिए होता है।
7. पक्ष	सामाजीकरण का सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक पक्ष अर्थात् पराअहम् के विकास से है।	सामाजिक नियन्त्रण का सम्बन्ध व्यक्ति, समूह तथा समाज के बाह्य पक्ष एवं वास्तविक व्यवहार से है जिसे नियन्त्रित रखना आवश्यक होता है।

सामाजिक समस्यायें, विपथगमन एवं सामाजिक नियन्त्रण
(Social Problems, Deviation and Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण का सामाजिक समस्याओं और विपथगमन से घनिष्ठ तथा सीधा सम्बन्ध है। समाज में सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था न तो बहुत कठोर और सख्त ही होनी चाहिए और न ही बहुत कमजोर होनी चाहिए। जब सामाजिक नियन्त्रण और उसके साधन निष्क्रिय और शिथिल पड़ जाते हैं तो उसी अनुपात मे समाज में सामाजिक समस्याएँ और विपथगामी व्यवहार भी बढ़ जाते हैं। दूसरी ओर जब समाज में विपथगामी व्यवहार और सामाजिक समस्याएँ बढ़ जाती हैं तो सामाजिक नियन्त्रण भी कठोर हो जाता है। इनमें परस्पर आदर्श संतुलन कभी भी नहीं रहता है।

सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य विपथगामी व्यवहार को रोकना है। समाज मे नियमों को लागू करना तथा विभिन्न अपराधों को नहीं होने देना है। समाज में सगठन बनाए रखने के

लिए अपेक्षित व्यवहारो को करवाने पर बल देना आवश्यक है जो सामाजिक नियन्त्रण करता है। अपराधियो को उनके द्वारा किए गए अपराध के अनुसार दण्ड दिया जाता है। जॉनसन ने सामाजिक नियन्त्रण और विपथगामी व्यवहार के सम्बन्धों पर विशेष लिखा है। आपका कहना है कि विघटन और सामाजिक नियन्त्रण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। विपथगामी व्यवहार ही सामाजिक समस्याएँ पैदा करते हैं।

विपथगमन में सहायक कारक (Factors Facilitating Deviation)—**जॉनसन** ने अपनी पुस्तक 'सोशियोलॉजी' मे विपथगामी व्यवहार के ग्यारह कारको का उल्लेख किया है। ये निम्नलिखित हैं—
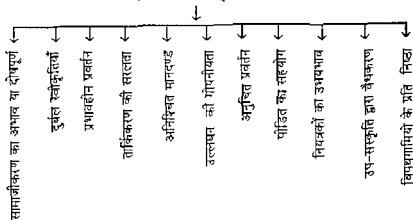
1. सामाजीकरण का अभाव या दोषपूर्ण (Faulty or Lacking Socialization)—विपथगामी व्यवहार व्यक्ति तब करता है जब या तो उसने सामाजीकरण के द्वारा समाज विरोधी बाते सीख ली हैं अथवा उसका सामाजीकरण हुआ ही नहीं। इस प्रकार सामाजीकरण की प्रक्रिया मे दरारें पडने के कारण अधिकतर विपथगमन होता है।

2. दुर्बल स्वीकृतियाँ (Weak Sanctions)—स्वीकृतियो से अर्थ उस व्यवस्था से है कि जब किसी व्यक्ति को गलत कार्य के लिए दण्ड तथा अच्छे कार्य के लिए पुरस्कार प्रदान किया जाए। जब इसमें कमी आ जाती है तब व्यक्ति विपथगामी व्यवहार करता है। व्यक्ति सही व्यवहार इसलिए नहीं करता क्योंकि न उसे उचित पुरस्कार मिलता तथा न ही गलत व्यवहार करने पर दण्ड।

3. प्रभावहीन प्रवर्तन (Poor Enforcement)—जब कानून को व्यवहार में कठोरता से लागू नहीं किया जाता है तो लोग विपथगामी व्यवहार करते हैं, जैसे—स्कूटर, मोटर साइकिल आदि दो-पहिया वाहन चलाते समय हेलमेट पहिनना चाहिए। सरकार नहीं पहिनने वालो का चालान नहीं करती है तो चालक तथा सवारी हेलमेट नहीं पहिन कर विपथगामी व्यवहार करते हैं और दुर्घटना घटने पर मौत का शिकार हो जाते हैं।

4. तार्किकीकरण की सरलता (Ease of Rationalization)—व्यक्ति विपथगामी व्यवहार करने के बाद उस गलत व्यवहार को तर्क के आधार पर सही ठहरा देता है। अगर तर्क सरलता से मिल जाते हैं तथा लोग भी स्वीकार कर लेते हैं तो यह स्पष्टीकरण आगे चलकर विपथगामी व्यवहारों को बढ़ावा देता है। "वे मुझ पर थोप रहे हैं, मैं विवश था, मैंने यह अपने लिए नहीं किया। गलती इन्हीं की थी, यह तो एक सौदा है, यह सब भाग्य की बात है।" ये नारे विपथगामी व्यवहार को प्रोत्साहन देते हैं।

5. सामाजिक मानदण्डों की अनिश्चित सीमा (Infinite Range of the Social Norm)—पारसन्स ने बताया कि क्रान्तिकारी राजनैतिक कोटि का विपथगमन समाज के वैध मूल्यो और अपने बीच की खाई (विपथगमन व्यवहार) को सामान्यतया पाट लेता है। देश-भक्ति या स्वतन्त्रता की परिभाषा स्पष्ट नहीं है। इस प्रकार विपथगामी व्यवहार भी नैतिक बन जाता है।

6. उल्लंघन की गोपनीयता (Secrecy of Violations)—उल्लंघन समाज के सामने आना चाहिए अन्यथा वह अन्दर ही अन्दर बढ़ता है। भारत में दहेज प्रथा, महिलाओं पर अत्याचार, शराबखोरी आदि इसके उदाहरण हैं। विपथगामी व्यवहार गोपनीय रहते हैं तो दण्ड भी नहीं दिया जा सकता।

7. अनुचित व भ्रष्ट प्रवर्तन (Unjust or Corrupt-enforcement)—कानून को सही तरीके से लागू नहीं करने से अपराध बढते हैं। लोगों का विश्वास कानून से उठ जाता है। पुलिस अपराधी को छोड़ देती है तो लोगों को अपराध करने के लिए बढ़ावा मिल जाता है।

8. पीड़ित का सहयोग (Co-operation of the Victim)—जो अपराध के कारण क्षतिग्रस्त हुआ है अगर वह कोई कार्यवाही नहीं करता है, अपराधी को पकड़वाने में मदद नहीं करता है तो इससे अपराध तथा विपथगामी-व्यवहार को बढावा मिलता है।

9. सामाजिक नियन्त्रणकर्त्ताओं का उभयभाव (Ambivalence of the Agents of Social-control)—जिन पर सामाजिक नियन्त्रण को बनाए रखने का दायित्व है और वे ध्यान नहीं देते हैं और अपराधी को नहीं पकडते हैं तो इससे विपथगामी व्यवहार बढ जाता है। अगर बच्चा गलती करता है और उससे कुछ नहीं कहेंगे तो विपथगामी-व्यवहार बढ़ेंगे ही।

10. विपथगमन का उप-संस्कृति द्वारा वैधकरण (Sub-Culture Legitimation of deviation)—समाज में अनेक समूह होते हैं। कोई अपराधी समूह है वह अपने सदस्यों के अपराध को गलत नहीं मानता है तो उससे विपथगामी-व्यवहार बढ़ते हैं। ठग समाज मे अपराध को बुरा नहीं मानते थे।

11. विपथगामी समूहों के प्रतिनिष्ठा की भावना (Sentiments of loyality to deviant Groups)—अनेक विपथगामी समूह (अपराधी समूह) अपने सदस्यों को अपने समूह के प्रति वफादार रहने की प्रेरणा देते हैं तथा समूह के बाहर जाने नहीं देते। मार डालने की

धमकी देते हैं। इससे भी विपथगामी-व्यवहारो की संख्या बढ़ती है।

जॉनसन ने विपथगामी-व्यवहार के कारण संस्थात्मक, व्यावहारिक, परिस्थितिगत आदि बताए हैं। सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था स्वयं भी ऐसे व्यवहार को प्रोत्साहित करने के कारण शिथिलता के कारण बन जाती है।

सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता एवं महत्त्व
(Need and Importance of Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण समाज के अस्तित्व के लिए अत्यन्त आवश्यक है। सामाजिक व्यवस्था, सगठन, एकता, निरन्तरता, सतुलन आदि तभी बना रह सकता है जब सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था भी सुदृढ तथा प्रकार्यात्मक हो। **लैण्डिस** का कथन है कि "मानव नियन्त्रण के कारण मानव है।" मार्क्स का भी कहना है कि मानव को अवसर मिलते ही वह नियमो का उल्लघन तुरन्त करता है। इस आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता तथा महत्त्व विषय का गहराई से अध्ययन करना चाहिए। सामाजिक नियन्त्रण की आवश्यकता के निम्नलिखित आधार हैं—

(1) व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण (Control Over Individual Behaviour)—व्यक्ति के व्यवहारो पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। समाज मे अधिकतर व्यक्ति नियन्त्रण के शिथिल होते ही मनमानी करने लग जाते हैं। पारसन्स का कहना है कि व्यक्ति से निश्चित व्यवहारो की अपेक्षा की जाती है। उनका वह तब तक ध्यान रखता है जब तक उस पर दबाव रहता है। इसलिए सामाजिक नियन्त्रण व्यक्ति से अपेक्षित व्यवहार करवाने के लिए आवश्यक है। लैण्डिस का भी कहना है कि मानव नियन्त्रण के कारण मानव है।

(2) सामाजिक सुरक्षा (Social Security)—समाज के सगठन बने रहने के लिए आवश्यक है कि उसके सदस्यो को भोजन, वस्त्र और आवास सम्बन्धी सुरक्षा प्रदान की जाए। सभी लोगो के हितों का ध्यान रखा जाए। सामाजीकरण के द्वारा ही व्यक्ति को शारीरिक तथा सम्पत्ति सम्बन्धी सुरक्षा प्रदान की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरो को लूट न ले इसके लिए अपराधियो पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। सामाजिक नियन्त्रण ही इस कार्य को व्यवस्थित और क्रमबद्ध विधि से समाज मे सम्पन्न करता है।

(3) समूह की एकता बनाए रखना (Maintains Group Unity)—समूह समाज की सबसे छोटी इकाई है। इसकी एकता बनी रहनी आवश्यक है। जटिल समाज मे जनसंख्या के बढ़ने, श्रम के विभाजन, विशेषीकरण आदि के बढने से सदस्य एक-दूसरे पर निर्भर हो जाते हैं। एक-दूसरे की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए कार्य करते हैं। समूह के सदस्य परस्पर एक सूत्र में बँधे रहे, इसके लिए आवश्यक है कि सभी सदस्य परस्पर अपने-अपने उत्तरदायित्वों को निष्ठा से पूरा करें। सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था इसका संचालन, निर्देशन तथा नियन्त्रण करती है तथा समूह की एकता बनाए रखने का महत्वपूर्ण कार्य करती है।

(4) समाज में एकरूपता बनाए रखना (Maintains Social Homogeneity)—सामाजिक संगठन के अपने मूल्य, आदर्श, प्रतिमान, रूढ़ियाँ, कार्य-प्रणालियाँ, परम्पराएँ, विश्वास आदि होते हैं। संगठन तभी बना रह सकता है जब सम्बन्धित सभी सदस्य इनका पालन करें तथा ध्यान रखें। उनका कोई उल्लंघन नही करें। सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न साधन; जैसे—समाज परिवार, कानून, सरकार, पुलिस आदि के द्वारा सदस्यों को इन्हें ध्यान रखने के लिए दबाव डाला जाता है। इससे सामाजिक सगठन के सदस्यों, समूहों तथा वृहद् स्तर पर समाज मे एकरूपता बनी रहती है। सामाजिक नियन्त्रण सभी सदस्यों में इस सन्दर्भ में एकरूपता बनाए रखने का महत्वपूर्ण कार्य बहुत अच्छे ढंग से करता है।

(5) सहयोग (Co-operation)—व्यक्ति अकेला अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। वह समूह तथा समाज में रह कर परस्पर एक-दूसरे से सहयोग करके आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। सामान्यतया व्यक्ति सहयोग करना कम या बन्द कर देता है। वह तब तक ही ठीक से सहयोग करता है जब तक उस पर किसी सत्ता या शक्ति का नियन्त्रण हो। सामाजिक नियन्त्रण विभिन्न अभिकरणों द्वारा व्यक्तियो, समूहो तथा अनेक छोटी-बड़ी समाज की इकाइयों पर नियन्त्रण तथा दबाव के द्वारा सहयोग बनाए रखता है। उससे सामूहिक जीवन व्यवस्थित और संतुलित बना रहता है।

(6) परम्पराओं की रक्षा (Protection of Tradition)—समाज में अनेक कार्य, आचरण, व्यवहार, कार्य-प्रणालियाँ लक्ष्य आदि परम्पराओं द्वारा निश्चित होते हैं। सामाजीकरण द्वारा व्यक्ति को परम्पराओ का ज्ञान कराया जाता है। ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जाती हैं। इनका समाज में पालन होना अत्यन्त आवश्यक होता है। इनका उल्लंघन होने से समाज की व्यवस्था तथा संगठन बिगड़ जाता है। एकता नष्ट हो जाती है। सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा परम्पराओं को समाज में कार्यान्वित किया जाता है। उससे सामाजिक संगठन, व्यवस्था, संरचना तथा संतुलन बना रहता है। अगर सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था नहीं हो तो समाज की परम्पराओ का लोग ध्यान नहीं रखे जिससे नियमहीनता तथा विघटन की स्थिति आ सकती है। सामाजिक नियन्त्रण सभी सदस्यो को परम्पराओ के अनुसार जीवन निर्वाह करने के लिए बाध्य करता है। उल्लंघन करने वाले को न्यायोचित दण्ड देता है। *इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण समाज के अस्तित्व का* एक प्रकार से पर्याय ही है।

सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप (प्रकार)
(Forms or Types of Social Control)

समाज की व्यवस्था, संगठन, एकीकरण, संतुलन आदि के लिए आवश्यक है कि समाज के सभी सदस्य परस्पर अपेक्षित व्यवहार के अनुसार सामाजिक उत्तरदायित्वो तथा

कर्त्तव्यों को पूरा करे। मानव का स्वभाव ही ऐसा है कि जब तक उस पर किसी-न-किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रखा जाता है तो वह सामाजिक प्रतिमानों के विरोध में क्रिया करनेलग जाता है। सभी समाजो में व्यक्ति और समूहो पर सामाजिक नियन्त्रण रखने के लिए कोई-न-कोई व्यवस्था अवश्य होती है। *विभिन्न समाजशास्त्रियो, सामाजिक मानवशास्त्रियों तथा* विद्वानो ने अपने-अपने दृष्टिकोण से सामाजिक नियन्त्रण के प्रकारों का वर्णन किया है। कुछ महत्वपूर्ण सामाजिक नियन्त्रण के आधार और प्रकार अग्रलिखित हैं—

सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप (प्रकार)

क्र.सं.	वैज्ञानिक	स्वरूप का आधार	नियन्त्रण के प्रकार		
			(1)	(2)	(3)
1	कूर्ल व बर्नाडे	चेतनता	चेतन	अचेतन	
2	कार्ल मौनहिम	प्रत्यक्षता	प्रत्यक्ष	अप्रत्यक्ष	
3	किम्बाल यंग	सकारात्मकता	सकारात्मक	नकारात्मक	
4	जार्ज गुरविच	संगठन	संगठित	असंगठित	सहज
5		औपचारिकता	औपचारिक	अनौपचारिक	
6	लेपियर	तंत्र	सत्तावादी	लोकतांत्रिक	
7.	गिडिंग्स	पुनर्बलन	पुरस्कार	दण्ड	

(1) चेतन और अचेतन नियन्त्रण (Conscious and unconscious control)—**कूले** और **बर्नार्ड** ने सामाजिक नियन्त्रण के दो स्वरूप बताए हैं—चेतन और अचेतन। मूल्यो द्वारा सामाजिक नियन्त्रण होता है। जब समाज के सदस्य सामाजीकरण द्वारा मूल्यो, आदर्शों, व्यवस्था करने के तरीको आदि को आत्मसात कर लेते हैं तो ये व्यक्ति के व्यवहार का समय-समय पर अचेतन रूप से नियन्त्रण करते रहते हैं। इस प्रकार से जो नियन्त्रण होता है उसे कूले और बर्नार्ड ने अचेतन सामाजिक नियन्त्रण की सज्ञा दी है। सडक पर बाएँ चलना इसका उदाहरण है।

सामाजिक जीवन मे अनेक ऐसे अवसर आते हैं जब व्यक्ति को संस्थागत साधनो का चुनाव करना पडता है। व्यवहार करने से पहले सोचना पड़ता है कि क्या उचित है और *क्या अनुचित?* दैनिक जीवन मे हर पल क्रिया करने से पहले निर्णय लेना पड़ता है कि क्या उचित है और क्या अनुचित? इस प्रकार व्यक्ति पर चेतन रूप से नियन्त्रण जो रहता है उसे कूले तथा बर्नार्ड ने चेतन सामाजिक नियन्त्रण कहा है। *जाति के प्रतिबन्धो* छुआछूत, ऊँच-नीच, सामाजिक सम्बन्धो के प्रतिबन्ध आदि चेतन सामाजिक नियन्त्रण के उदाहरण हैं। आदिम समाज तथा ग्रामीण समाजो में अचेतन सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप अधिक विद्यमान होते हैं तथा नगर और महानगर में चेतन सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप अधिक सक्रिय होते हैं।

(2) प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियन्त्रण (Direct and indirect control)—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूपो का वर्णन **कार्ल मॉनहीम** ने अपनी कृति *'मैन एण्ड सोसायटी'* में किया है। प्रत्यक्ष सामाजिक नियन्त्रण वह है जिसमे निकट के सम्बन्धी या लोग जैसे—जो माता, पिता, भाई, बहिन, मित्र, गुरुजन, पड़ौसी के प्रभाव के फलस्वरूप व्यक्ति पर नियन्त्रण रहता है। इसमें आमने-सामने का सम्बन्ध तथा लिहाज प्रभावशाली शक्ति होती है जो व्यक्ति पर नियन्त्रण रखती है। इस प्रत्यक्ष प्रकार के सामाजिक नियन्त्रण मे सम्मान, आलोचना, प्रशंसा या बहिष्कार आदि द्वारा क्रिया का मूल्याकन किया जाता है जिमके प्रभाव से व्यक्ति नियन्त्रण में रहता है। यह नियन्त्रण का प्रकार सामाजीकरण की प्रक्रिया के ममय वहुत प्रभावशाली रूप से कार्य करता है।

मॉनहीम के अनुसार अन्य विभिन्न समूहों, संगठनो, संस्थाओ, भौतिक और सामाजिक इकाइयों द्वारा कार्यान्वित किया गया सामाजिक नियन्त्रण अप्रत्यक्ष सामाजिक नियन्त्रण कहलाता है। द्वैतीयक समूहो द्वारा निर्देशित और संचालित सामाजिक नियन्त्रण इसके अन्तर्गत आते हैं। इसमें व्यक्ति के अनेक व्यवहारों को नियन्त्रित किया जाता है। व्यक्ति के सूक्ष्म और छोटे-छोटे व्यवहार तक नियन्त्रित किए जाते हैं। धीरे-धीरे समय के व्यतीत होने के साथ-साथ ये व्यवहार मूल्यों के अंग बन जाते हैं तथा अचेतन व्यवहार बन जाते हैं।

(3) सकारात्मक और नकारात्मक नियन्त्रण (Positive and Negative Control)—**किम्बाल यंग** ने *'ए हैण्डबुक ऑफ सोशियल साइकोलॉजी'* मे सामाजिक नियन्त्रण के दो स्वरूप—सकारात्मक और नकारात्मक—बताए हैं। जब पुरस्कार देकर व्यक्ति को समाजसम्मत व्यवहार करने के लिए प्रेरणा दी जाती है और पुरस्कार पाने के उद्देश्य से व्यक्ति अपना व्यवहार ठीक कर लेता है तो ऐसे सामाजिक नियत्रण को किम्बाल यंग सकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण के अन्तर्गत रखते हैं। पुरस्कार—धन्यवाद, प्रशसा या वस्तु-किसी भी रूप में हो सकता है। परिवार, समूह, समाज, राष्ट्र आदि स्तरो पर अनेक पुरस्कार देने की व्यवस्था है। उससे यह प्रभाव पड़ता है कि अनेक लोग पुरस्कार पाने के लिए अच्छे कार्य करते हैं। परीक्षा में प्रथम स्थान आने पर, खेल में जीतने पर तथा अनेक प्रकार के पुरस्कारो की व्यवस्था समाज मे होती है।

नकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण के लक्षण, कार्य-प्रणाली और उद्देश्य सकारात्मक *नियन्त्रण से बिल्कुल भिन्न तथा विपरीत हैं। नकारात्मक नियन्त्रण मे पुरस्कार के स्थान पर* दण्ड की व्यवस्था होती है। दण्ड की प्रकृति अपराध की गम्भीरता के अनुसार होती है। दण्ड का उद्देश्य लोगो में भय पैदा करना होता है कि भविष्य में वैसा अपराध करने की कोई हिम्मत नहीं कर सके। दण्ड—जुर्माना, कारावास या दोनो या फाँसी—किसी भी प्रकार का हो सकता है। आदिम समाजों में दण्ड दमनात्मक होता है जो नकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण का ही उदाहरण है।

(4) संगठित, असंगठित एवं सहज नियन्त्रण (Organized, Un-organized and Spontaneous Control)—जार्ज गुरविच ने अपने लेख *'सोशियल कन्ट्रोल'* (जो गुरविच और मूर द्वारा सम्पादित पुस्तक *'ए ट्वन्टीयथ सेन्चुरी, सोशियोलॉजी'* में सामाजिक नियन्त्रण के प्रकारो, स्वरूपों तथा साधनों पर विस्तार से लिखा है। आपने अन्य विद्वानो द्वारा चर्चित सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न प्रकारो की भी व्याख्या इस लेख में की है। आपका कहना है कि कोई भी सामाजिक नियन्त्रण का प्रकार निम्नलिखित कोई भी तीन में से एक होता है—सगठित, असगठित तथा सहज। गुरविच ने इनकी निम्नलिखित रूप में व्याख्या की है। संगठित सामाजिक नियन्त्रण उसे कहते हैं जिसमें अनेक अभिकरणों (एजेन्सियों) और नियमो द्वारा एक निश्चित सामाजिक संरचना के व्यक्तियो का व्यवहार नियन्त्रित किया जाता है। इस नियन्त्रण में प्रतीकात्मक तथा औपचारिक प्रतिमान होते हैं जिनमें नियम समाहित होते हैं और वे सगठित होते हैं। परिवार, जाति, शिक्षण सस्था, कार्यालय आदि इसके उदाहरण हैं। असंगठित सामाजिक नियन्त्रण के अन्तर्गत समाज के सांस्कृतिक प्रतीक और नियम आते हैं। लोकाचार, परम्पराएँ, सामाजिक प्रतिमान इसके उदाहरण हैं। गुरविच ने लिखा है कि कुछ सामाजिक नियन्त्रण के साधन तथा अभिकरण उपर्युक्त दोनो स्वरूपो में नहीं आते हैं, वे सहज सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप हैं। व्यक्तियो के अनुभव और उनकी आवश्यकताओं के अनुसार जो नियन्त्रण किया जाता है वह सहज नियन्त्रण का स्वरूप है। व्यक्ति स्वयं परिस्थिति के अनुसार अपने व्यवहार पर नियन्त्रण रखता है। कई ऐसी परिस्थितियाँ होती हैं जिनमे जनरीति, संस्था या संस्कृति नियन्त्रण की परिभाषा नहीं करती हैं। सहज सामाजिक नियन्त्रण परिस्थिति के अनुसार निश्चित होता है।

(5) औपचारिक और अनौपचारिक नियन्त्रण (Formal and Informal Control)—औपचारिकता के गुण के आधार पर नियन्त्रण के दो स्वरूप निश्चित होते हैं—औपचारिक और अनौपचारिक। औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण लिखित कानूनों के द्वारा किया जाता है। व्यक्ति अगर इन लिखित कानूनों का उल्लंघन करता है तो लिखित तथा निश्चित दण्ड के प्रावधान के अनुसार उसे दण्ड दिया जाता है। औपचारिक नियन्त्रण से सम्बन्धित अनेक बातें होती हैं; जैसे—सम्बन्धित सत्ता, सस्था, दण्ड की व्यवस्था, दण्ड देने की कार्यवाही का निश्चित स्वरूप, उल्लंघन करने वाले को पकडना, अपराध सिद्ध करना आदि-आदि। इसमें व्यक्ति अपराधी तब तक नहीं कहलाता जब तक कि उसका अपराध सिद्ध नहीं हो जाता।

अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण जैसा कि नाम से स्पष्ट है, इसमें कोई औपचारिकता के गुण अथवा लक्षण नहीं होते हैं। समूह अपने कल्याण के लिए अनौपचारिक नियन्त्रण का विकास कर लेता है। इसका सम्बन्ध अधिकतर प्राथमिक समूह तथा समाज से होता है जिसमें व्यक्ति अपना अधिक समय व्यतीत करता है। जनरीतियाँ, प्रथाएँ, लोकाचार, नैतिकता, धर्म, जनमत आदि इसके उदाहरण हैं। व्यक्ति अपने निकट के सम्बन्धियो, समूहों के दबाव के कारण अनौपचारिक नियन्त्रण के प्रभाव में रहता है तथा उल्लंघन नहीं करता है।

गुरविच के वर्गीकरण के अनुसार संगठित और असंगठित के लक्षण क्रमशः औपचारिक और अनौपचारिक से मिलते हैं।

(6) सत्तावादी और लोकतान्त्रिक नियन्त्रण (Autocratic and Democratic Control)—लेपियर (Lapiere) ने अपनी पुस्तक *'थ्योरी ऑफ सोशियल कन्ट्रोल'* मे सामाजिक नियन्त्रण के दो स्वरूप बताए हैं—सत्तावादी तथा लोकतान्त्रिक। जब जन-सामान्य की इच्छाओ के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो वह सत्तावादी नियन्त्रण कहलाता है। यह नियन्त्रण समाज में प्रचलित नियन्त्रण के साधनों और स्वरूपो के विरुद्ध होता है। निरकुश, तानाशाह, स्वेच्छाचारी शासक, एकाधिपत्य सत्ताधारी शामक आदि इस नियन्त्रण का प्रयोग करते हैं।

लोकतान्त्रिक नियन्त्रण में जनता का विश्वास प्राप्त किया जाता है। इस नियन्त्रण में जनता का बहुमत महत्त्वपूर्ण होता है। प्रजातन्त्रीय देशों में लोकतन्त्रीय नियन्त्रण होता है। यह नियन्त्रण एक प्रकार से व्यक्तियों द्वारा, व्यक्तियों के और व्यक्तियों पर होता है। लोकतान्त्रिक नियन्त्रण के प्रमुख साधन वार्तालाप, सामाजिक प्रोत्साहन, ऐच्छिक आज्ञाकारिता, अनुनय आदि हैं।

(7) पुरस्कार एवं दण्ड द्वारा नियन्त्रण (Control by Reward and Punishment)—गिडिंग्स ने—पुरस्कार और दण्ड—दो स्वरूप सामाजिक नियन्त्रण के बताए हैं। ये दोनो प्रकार कुछ-कुछ किम्बाल यग द्वारा बताए गए सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप—सकारात्मक और नकारात्मक से मिलते-जुलते हैं। समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि सदस्य नियमों का पालन करें। उच्च श्रेणी का अपेक्षित व्यवहार करें। इसके लिए धन्यवाद, प्रशंसा, पदक, पारितोष, प्रमाण-पत्र आदि देकर अच्छे व्यवहार करने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। इससे एक ओर तो सदस्य पुरस्कार प्राप्त करने के लिए परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करते हैं तथा दूसरी ओर विपथगामी व्यवहार नहीं करते हैं। इस प्रकार के सामाजिक नियन्त्रण को गिडिंग्स पुरस्कार द्वारा नियन्त्रण का स्वरूप की संज्ञा देते हैं। इसके विपरीत दूसरा नियन्त्रण का स्वरूप दण्ड द्वारा सामाजिक नियन्त्रण का है जिसमें नियम, कानून, प्रथा, जनरीति, लोकाचार आदि का उल्लंघन करने पर आलोचना, जुर्माना, जेल या दोनो, फाँसी आदि दण्ड दिए जाते हैं। दण्ड के भय से व्यक्ति नियन्त्रित रहता है।

(8) नियन्त्रण के अन्य स्वरूप (Other forms of Control)—**गुरविच** ने अपने लेख *'सोशियल कन्ट्रोल'* में यहाँ तक लिखा है कि सामाजिक नियन्त्रण के अनेक स्वरूप हैं। इन्होंने इस लेख में अनेक विद्वानों—इ. ए. रॉस, डब्ल्यू जी. समनर, गिडिग्स, वेस्टरमार्क, बार्न्स, कूले, मीड, दुर्खीम, पार्क, बर्गेस, लम्ले, बर्नार्ड आदि के अध्ययनों से सामाजिक नियन्त्रण से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण विचार, निष्कर्ष तथा स्वरूप उद्धृत किए हैं। एक स्थान पर तो यह भी लिखा है कि जितने सामाजिक नियन्त्रण के साधन हैं उतने ही नियन्त्रण के प्रकार हैं। इन्हीं के शब्दों में, "सामाजिक नियन्त्रण के उतने ही प्रकार देखे जा सकते हैं जितने प्रकार के मूल्य, आदर्श और विचारों की व्यवस्थाएँ हैं।"

संक्षिप्त में इतना ही उल्लेख करना काफी होगा कि कुछ निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण नियन्त्रण के स्वरूप जानने योग्य हैं। गिलिन और रॉनहार्ट ने (1) शिक्षा व समाजीकरण और (2) सामाजिक निर्देश (पुरस्कार और दण्ड) बताए हैं; तो हेज ने (1) पुरस्कार और दण्ड और (2) सुझाव और अनुकरण, तथा लम्ले ने शारीरिक शक्ति और प्रतीक; फिचर ने समूह नियन्त्रण और संस्थात्मक नियन्त्रण का उल्लेख किया है।

अत: यह कहा जा सकता है कि सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूपों का कोई भी वर्गीकरण पृथक् रूप से अन्य वर्गीकरणों से अलग नहीं है। यह निष्कर्ष निकालना किसी सीमा तक उपयोगी होगा कि सामाजिक नियन्त्रण के प्रकार द्विभाजी (द्विभाग) हैं जिनके एक छोर पर—चेतन, प्रत्यक्ष, संगठित, औपचारिक आदि सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप रखे जा सकते हैं तथा दूसरे छोर पर अचेतन, अप्रत्यक्ष, असंगठित, अनौपचारिक आदि। ये सभी प्रकार एक-दूसरे की सीमाओं में प्रवेश कर जाते हैं। किसी एक स्वरूप का वर्णन अन्य से स्वतन्त्र होकर नहीं किया जा सकता है। गुरविच के अनुसार सामाजिक नियन्त्रण विषय पर काफी काम करना बाकी है अभी तो केवल शुरूआत ही हुई है।

सामाजिक नियन्त्रण के साधन, अभिकरण अथवा विधियाँ
(Means, Agencies or Methods of Social Control)

अभिकरण व साधन दोनों को प्राय: एक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है किन्तु गहराई से देखने पर इनमें पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। अभिकरण का अर्थ उन समूहों तथा संगठनों से है जो नियमों को समाज पर लागू करते हैं, उदाहरण के लिए—परिवार, राज्य, शिक्षण-संस्थाएँ आदि। अभिकरण सामाजिक नियन्त्रण के मूर्त माध्यम हैं जो प्रथाओं, रूढ़ियों, नियमों, लोकाचारों आदि को समाज में कार्यान्वित करते हैं। साधन से आशय उन विधियों या तरीकों से है जिनके द्वारा कोई भी अभिकरण अपनी नीतियों और आदेशों को लागू करता है—प्रथा, परम्परा, लोकाचार, जनमत, कानून, पुरस्कार व दण्ड, हास्य, व्यंग्य, प्रचार आदि सामाजिक नियन्त्रण के साधन कहे जायेंगे।

चूँकि सभी अभिकरण व साधन मिलकर ही सामाजिक नियन्त्रण रख पाते हैं अत: सभी का वर्णन निम्नलिखित रूप में किया जायेगा और इस बात पर प्रकाश डाला जायेगा कि ये अभिकरण एवं साधन किस प्रकार समाज में नियन्त्रण रखते हैं।

सामाजिक नियंत्रण के अभिकरण एवं साधन

- जनरीतियाँ
- प्रथायें
- लोकाचार
- संस्था
- कानून
- जनमत
- धर्म एवं नैतिकता
- परिवार
- शिक्षा
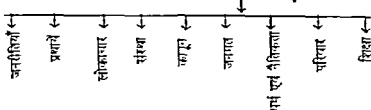
(1) जनरीतियाँ (Folkways)—**समनर** के अनुसार, जनरीतियाँ सामाजिक नियन्त्रण के प्रमुख साधन हैं। उनके अनुसार, "जनरीतियाँ प्राकृतिक शक्तियो के समान होती हैं, जिनका पालन व्यक्ति अचेतन रूप में करता है।" जनरीतियो को **मैकाइवर एवं पेज** ने इस प्रकार परिभाषित किया है—"जनरीतियाँ समाज में व्यवहार करने की स्वीकृत एवं मान्यता प्राप्त विधियाँ हैं।"

गिलिन एवं **गिलिन** ने अपनी पुस्तक *'कल्चरल सोशियोलॉजी'* में जनरीतियों के विषय में इस प्रकार लिखा है—"जनरीतियाँ नित्यप्रति के जीवन मे आचरण का वह प्रतिमान हैं जो समूह में अज्ञात रूप में बिना किसी पूर्व योजना अथवा निश्चित् विचारों के उत्पन्न होते हैं।"

जनरीतियों की उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि जनरीतियाँ स्वत: उत्पन्न होती हैं और समाज द्वारा स्वीकृति प्राप्त होने के कारण ये व्यक्ति के व्यवहारों को प्रभावित करती हैं। जनरीतियाँ सामाजिक नियन्त्रण के प्रभावपूर्ण साधन हैं। ये सामाजिक ढाँचे को व्यवस्थित रखती हैं। नमस्कार करना, किसी की वस्तु का उपयोग उससे पूछकर करना, सड़क के एक ओर चलना आदि सामाजिक नियन्त्रण की प्रारम्भावस्था है क्योंकि ये सामाजिक उपयोगिता से सम्बन्धित हैं। जनरीतियों का पालन व्यक्ति अचेतन रूप में ही करने लगता है क्योंकि इनके उल्लंघन पर समाज द्वारा व्यक्ति की निन्दा या परिहास किया जाता है। इस प्रकार जनरीतियाँ सामाजिक नियन्त्रण के शक्तिशाली साधन हैं।

(2) प्रथायें (Customs)—प्रथाएँ भी सामाजिक नियन्त्रण के महत्त्वपूर्ण साधन के रूप मे प्रयुक्त होती हैं। वे सभी आदर्श व नियम जो एक लम्बे समय से कार्य करते आ रहे हैं, प्रथा का रूप ले लेते हैं अथवा कहा जा सकता है कि जनरीतियाँ ही जब अत्यधिक व्यवहार में आ जाती हैं तो प्रथाएँ बन जाती हैं। **जिसबर्ट** ने अपनी पुस्तक *'फाउण्डेशन ऑफ सोशियोलॉजी'* में प्रथा को इस रूप में परिभाषित किया है, "प्रथा व्यवहार का वह स्वरूप है जो आदत का रूप ले लेता है तथा समाज के अधिकांश सदस्यों द्वारा उसका पालन किया जाता है।" इस प्रकार जिसबर्ट प्रथा को आदत के रूप में स्वीकार करते हैं। **सापिर** ने प्रथा को इस रूप मे स्पष्ट किया है, "प्रथा शब्द का प्रयोग आचरण के प्रतिमानों की सम्पूर्णता के लिए किया जाता है जो परम्पराओं द्वारा उत्पन्न होते हैं और एक समूह की स्थाई विशेषता बन जाते हैं। इस प्रकार प्रथाएँ अर्थपूर्ण और अवैयक्तिक होती हैं।"

बोगार्डस के अनुसार, "प्रथाएँ समूह के द्वारा स्वीकृत नियन्त्रण की ऐसी विधियाँ हैं जो इतनी सुदृढ़ हो जाती हैं कि उन्हें बिना विचारे ही मान्यता दे दी जाती है और इस प्रकार ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं।"

बोटोमोर ने आधुनिक समय में प्रथाओं के महत्त्व पर विचार करते हुए कहा है, "आधुनिक औद्योगिक समाजों में प्रथा की महत्ता उपेक्षणीय से कहीं परे है क्योंकि धर्म व भौतिकता का अधिक भाग प्रथागत है बौद्धिक नहीं तथा साधारण सामाजिक आदान-प्रदान का नियमन अधिकांशत: प्रथा तथा जनमत से होता है।"

मैकाइवर व पेज ने भी प्रथाओ को महत्त्वपूर्ण बताया है। उनके मत मे, "प्रथाएँ हमारे जीवन के प्रत्येक अवसर से सम्बन्धित हैं।"

इस प्रकार प्रथाएँ बचपन से ही व्यक्ति को इतना प्रभावित करती हैं कि वे उसकी आदत बन जाती हैं, व्यक्ति बिना सोचे-विचारे इन्हे स्वीकार कर लेता है। अपनी ही जाति में विवाह करना, पर्दा-प्रथा, दहेज प्रथा, श्राद्ध-तर्पण आदि करना प्रथा के अन्तर्गत आता है। इनके द्वारा सामाजिक नियन्त्रण इस रूप मे किया जाता है, जैसे—

(1) सामाजिक सीख के रूप में प्रथाएँ व्यक्ति के व्यवहारो को नियन्त्रित करती हैं। पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरण के कारण व्यक्ति उन व्यवहारो को तुरन्त सीख लेता है जिनका प्रचलन प्राचीन समय से होता आ रहा है। अचेतन रूप से ही व्यक्ति प्रथाओं का पालन कर सामाजिक नियन्त्रण को बनाए रखता है।

(2) प्रथाएँ सामाजिक रूप से सभी व्यक्तियो द्वारा समान रूप मे स्वीकार की जाती हैं। ये व्यक्ति पर मनोवैज्ञानिक रूप से नियन्त्रण रखती हैं इसीलिए व्यक्ति अचेतन रूप मे ही समान व्यवहार करता है, इससे सामाजिक नियन्त्रण बना रहता है।

(3) प्रथाएँ हमे सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती हैं कोई नवीन परिवर्तन आने पर व्यक्ति उसका सामना इन्हीं प्रथाओ के आधार पर कर लेता है और समाज से स्वयं को अनुकूलित कर लेता है। इस प्रकार हमारे व्यवहार को परिस्थिति के अनुसार अनुकूलन कराने मे और सामाजिक अनुकूलन मे प्रथाएँ सहयोगी होती हैं।

(4) प्रथाएँ सामाजिक दृष्टि से उपयोगी एवं समूह के लिए कल्याणकारी होती हैं। साथ ही व्यक्तित्व-निर्माण का भी ये सक्षम साधन होती हैं जिससे सामाजिक नियन्त्रण स्वतः ही बना रहता है। इस प्रकार प्रथाएँ समाज में ऐसे गुणों को विकसित करती हैं जो समाज के लिए उपयोगी एवं कल्याणकारी होते हैं। परिणामस्वरूप सामाजिक नियन्त्रण स्वतः बना रहता है।

(3) लोकाचार (Mores)—लोकाचार सामाजिक-नियन्त्रण के साधन हैं—सर्वप्रथम समनर ने Mores या 'लोकाचार' शब्द का प्रयोग किया था। इनमें उचित एवं अनुचित का भाव जुड़ा रहता है। साथ ही लोकाचारो मे समूह-कल्याण की भावना निहित होती है।

ग्रीन के मत मे, "कार्य करने की वे सामान्य विधियाँ लोकाचार कहलाती हैं, जो जनरीतियो की अपेक्षा अधिक उचित समझी जाती हैं तथा जिनका उल्लंघन करने पर अधिक कठोर और निश्चित दंड दिया जाता है।" इस प्रकार ग्रीन ने लोकाचारो को जनरीतियो की तुलना में अधिक प्रभावपूर्ण और स्वीकृत विधि माना है।

लोकाचार दो प्रकार के होते हैं—(1) सकारात्मक और (2) नकारात्मक। सकारात्मक लोकाचार कुछ कार्य करने का आदेश देते हैं, जैसे—सच बोलना चाहिए, ईमानदार होना चाहिए, जीवों पर दया करो, माता-पिता की आज्ञा मानो आदि-आदि। नकारात्मक लोकाचार कुछ कार्यों को करने से रोकते हैं; जैसे—झूठ मत बोलो, हिंसा मत करो, चोरी नहीं

करनी चाहिए आदि-आदि। लोकाचारों का प्रभाव आन्तरिक एवं अनौपचारिक होता है। लोकाचारों का पालन करना नैतिक दृष्टि से उचित माना जाता है। लोकाचार अथवा रूढ़ियाँ व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। **समनर** ने इन्हें जनकल्याण की भावना से जोडते हुए कहा है—"जब जनरीतियाँ अपने साथ उचित रहन-सहन का दर्शन तथा जनकल्याण की भावना सम्मिलित कर लेती हैं तो वे लोकाचार बन जाते हैं।" अत: लोकाचार सामाजिक नियन्त्रण के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। **डेविस** का मानना है कि "सामान्य व्यक्तियों के मन मे लोकाचारों से बड़ा कोई न्यायालय नहीं है और सामान्य प्रकृति के समाजो में लोकाचार के अतिरिक्त दूसरे नियमो की आवश्यकता भी अनुभव नहीं की जाती, क्योंकि लोकाचारो को 'उचित' सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं होती बल्कि ये अपनी अधिकार शक्ति से ही जीवित रहते हैं।" इस प्रकार लोकाचार सामाजिक नियन्त्रण के महत्त्वपूर्ण साधन कहे जा सकते हैं।

(4) संस्था (Institution)—संस्था किन्हीं निश्चित नियमों द्वारा कार्य करने की पद्धति है। संस्था को परिभाषित करते हुए **ग्रीन** ने लिखा है, "एक संस्था किसी इकाई में जनरीतियों और रूढ़ियों (लोकाचारो) का ऐसा संगठन है जो अनेक सामाजिक कार्यों की सेवा करता है।" **बोगार्डस** के मत में, "संस्था समाज का वह ढाँचा है जो मुख्य रूप से सुव्यवस्थित विधियों द्वारा लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगठित किया जाता है।"

सदरलेण्ड तथा **अन्य** के मतानुसार, "समाजशास्त्रीय सम्भाषण मे एक संस्था उन जनरीतियों और रूढ़ियों (लोकाचारों) का समूह है जो मानवीय उद्देश्य की प्राप्ति में केन्द्रित हो जाता है।" इन सभी समाजविदों के मत में संस्था किसी विशेष मानवीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए निर्मित जनरीतियों और लोकाचारों अथवा रूढ़ियों का समूह होता है।

समनर ने इसे अधिक स्पष्टतया समझाया है। उनके अनुसार, "संस्था एक विचारधारा और एक ढाँचे से मिलकर बनती है।" इस प्रकार संस्था में स्थायित्व, अनौपचारिकता तथा व्यवहार की एकरूपता सम्मिलित होती है। संस्थाओं में विवाह, परिवार, सरकार, धर्म व व्यापार सम्मिलित किये जा सकते हैं। संस्थाएँ सामाजिक नियन्त्रण के महत्त्वपूर्ण साधन हैं क्योंकि ये समाज में कायदे-कानून को व्यवहार में लाती हैं। इसी आधार पर **लुण्डबर्ग** का मानना है कि "सामाजिक संस्थाएँ समाज की मूलभूत आवश्यकताओ व कानून-कायदों को व्यवहार में लाने का साधन हैं।" इनके द्वारा सामाजिक नियन्त्रण स्पष्ट रूप से होता है क्योंकि ये समाज के लिए मानदण्डों का निर्धारण करती हैं इसीलिए इन्हें सामाजिक मानदण्डों के वाहक के रूप में माना जाता है।

(5) कानून (Law)—कानून सामाजिक नियन्त्रण का औपचारिक साधन है। कानून के पीछे राज्य की शक्ति होती है और इसका उल्लंघन करने पर राज्य द्वारा एक निश्चित दण्ड दिया जा सकता है। यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है। कानून सामूहिक जीवन को नियन्त्रित करते हैं—इनका कार्य समाज के व्यक्तियों को उनके अधिकारों और कर्त्तव्यों से

अवगत कराना है। इसी कारण ये समाज-विरोधी कार्यों के प्रति दण्ड का निर्धारण करते हैं तथा इसकी (कानून की) अवहेलना करने वालो को उचित दण्ड देते हैं। कानून सभी समाजो मे समान नही होते। आदिम समाजो मे इनका अलिखित या प्रथागत रूप मिलता है जबकि विकसित एव सभ्य समाजो में इनका लिखित रूप दिया जाता है, लेकिन अलिखित कानून भी किसी भी रूप मे लिखित कानून की तुलना मे कम प्रभावशाली नहीं होते हैं। रॉस कानून को सामाजिक नियन्त्रण का सर्वाधिक विशेषीकृत एवं अत्यधिक स्पष्ट इजन के रूप में मानते हैं, जिसको स्वय समाज क्रियाशील बनाता है।

इस प्रकार कानून सामाजिक नियन्त्रण मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। मैलिनोव्स्की के मत मे कानून की शक्ति सामाजिक नियन्त्रण में इसके विभिन्न कार्यों से सम्बन्धित है। वे कानून का मौलिक कार्य व्यक्ति के स्वाभाविक उद्वेगों और मूल प्रवृत्तियो के प्रभाव को कम करना मानते हैं। वास्तव मे कानून का कार्य व्यक्तियो को इस रूप में सहयोग देना है जिससे वे अपने स्वार्थों को भुलाकर सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त कर सकें।

रास्की पाउण्ड ने सामाजिक नियन्त्रण को बनाए रखने में कानून की प्रमुख तीन भूमिकाएँ मानी हैं—(1) शक्ति के व्यवस्थित प्रयोग द्वारा सामाजिक सम्बन्धो मे समायोजन बनाए रखना, (2) सामाजिक विवादो को सुलझाने के लिए समाज द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों को लागू करना, और (3) प्रशासनिक ढाँचे को सुदृढ बनाना।

अत: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि कानून व्यक्ति के व्यवहारो को इस रूप मे नियन्त्रित करते हैं जिससे सामाजिक-व्यवस्था स्वयमेव नियन्त्रित एव सुचारु रूप से चलती रहे।

(6) जनमत (Public Opinion)—जनमत से अभिप्राय किसी विषय पर 'जनता' की राय जानने से है। 'जनता' से अर्थ यहाँ व्यक्तियो के उस समूह से है जो दूर रहकर भी किसी समस्या पर अपना सामान्य मत व्यक्त करना चाहते हों। जनमत सामाजिक नियन्त्रण का अनौपचारिक साधन है। **बोटोमोर** का मानना है कि "जनमत व्यक्तियो के व्यवहारो को प्रतिबन्धित व निर्देशित करता है।"

जिन्सबर्ग के अनुसार, "जनमत का अर्थ समाज में प्रचलित उन विचारो अथवा निर्णयों से है जिनका निर्माण कुछ निश्चित ढंग से किया जाता है, जिनमें कुछ स्थायित्व होता है तथा जिनके निर्माता उसे इसलिए सामाजिक मानते हैं, क्योकि वह बहुत से व्यक्तियो के सामूहिक निर्णय का परिणाम है।"

डेविस के मत मे "जनमत एक सामूहिक उपज है। यह व्यक्तियों का संयुक्त मत है, *जिसका निर्माण जनता के विभिन्न मतो द्वारा होता है।"*

किम्बाल यंग के अनुसार, "जनमत किसी निश्चित समय में जनता के द्वारा व्यक्त किए गए मतो को कहा जाता है।"

उपर्युक्त सभी परिभाषाओ का सार यह है कि जनमत सामाजिक नियन्त्रण की एक विधि के रूप में व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखने का प्रमुख माध्यम है जो प्रशंसा

अथवा निन्दा के रूप में व्यवहारों को नियन्त्रित करता है क्योंकि व्यक्ति किसी व्यवहार को करते समय यह अवश्य ध्यान रखता है कि अन्य व्यक्ति उस व्यवहार को कैसा समझ रहे हैं। इस रूप में यह सामाजिक नियन्त्रण का सशक्त साधन होता है।

जनमत समाज पर इस रूप में भी नियन्त्रण रखता है कि कोई विशेष संस्था अथवा समिति जो किसी विशिष्ट हित की पूर्ति करती है, वह किसी दूसरे के हित के लिए हानिकारक न हो। कभी-कभी यह शासन-तन्त्र पर भी नियन्त्रण रखता है और यह स्पष्ट करता है कि सामूहिक हित सर्वोपरि हैं। इस प्रकार जनमत सामाजिक नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण साधन है जो व्यक्ति को अनुशासन में रहने व अपने व्यवहारों पर नियन्त्रण रखने का कार्य करता है।

(7) धर्म एवं नैतिकता (Religion and Morality)—

धर्म—धर्म एवं नैतिकता दोनों साथ-साथ प्रयुक्त होने वाले सम्प्रत्यय हैं और दोनों ही सामाजिक नियन्त्रण के प्रबल साधन हैं। धर्म के सम्बन्ध में अनेक विद्वानो ने अपने-अपने महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किए हैं और बताया है कि धर्म मानव का अलौकिक शक्ति से सम्बन्ध स्थापित करता है अर्थात् यह अलौकिक विश्वासों और ईश्वरीय सत्ता पर आधारित होता है जिसके नियमों को व्यक्ति ईश्वरीय शक्ति के भय के कारण मानता है। इसमे पाप व पुण्य की भावना भी जुड़ी रहती है।

व्यक्तियो का यह विश्वास होता है कि धर्म के आदेशों व निर्देशों का पालन करना पुण्य का कार्य है जिसका सम्बन्ध 'स्वर्ग' से भी होता है और इसके आदेशों की अनुपालना न करने पर व्यक्ति पाप का भागी बनता है और उसे नरक भोगना पड़ता है। यही मान्यता व्यक्ति को सद्कार्य करने को प्रेरित करती है—धर्म के अभाव मे अनैतिकता, क्रूरता, अराजकता आदि की वृद्धि होती है।

धर्म को परिभाषित करते हुए **जॉनसन** ने कहा है, "धर्म कर्म या अधिक मात्रा में अधि-प्राकृतिक तत्त्वों, शक्तियो तथा आत्मा से सम्बन्धित विश्वासों और आचरणों की एक संगठित व्यवस्था है।"

टायलर के अनुसार, "धर्म आध्यात्मिक शक्ति मे विश्वास है।"

निष्कर्षत: धर्म अलौकिक शक्ति मे विश्वास का नाम है। धर्म सार्वभौमिक है अर्थात् सभी समाजों में इसका कोई-न-कोई रूप अवश्य मिलता है। यह पवित्रता से भी सम्बन्धित होता है। धर्म से सम्बन्धित अनेक कथाएँ, किंवदंतियाँ व वार्ताएँ आदि मिलती हैं जिनका सार समाज विरोधी कार्य करने पर ईश्वरीय सत्ता द्वारा दण्ड मिलने से सम्बन्धित होता है—जिसके कारण व्यक्ति अपने व्यवहारों पर अंकुश लगा लेता है। इस प्रकार यह सामाजिक-नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण साधन होता है।

नैतिकता—धर्म से ही जुड़ा हुआ शब्द 'नैतिकता' है। नैतिकता का अर्थ उचित व अनुचित का विचार करना है। **डेविस** के अनुसार, "नैतिकता कर्त्तव्य की आन्तरिक भावना है, जिसमें उचित-अनुचित का विचार सन्निहित है।"

मैकाइवर एवं **पेज** ने कहा है, "सही अर्थ मे नैतिकता के नियम वह नियम समूह है जिससे व्यक्ति का अतःकरण सत्य-असत्य का ज्ञान करता है।"

जिसबर्ट भी नैतिकता को नियमो की वह व्यवस्था बताते हैं जो अच्छे-बुरे से सम्बद्ध होती है तथा जिसका अनुभव अन्तरात्मा के द्वारा होता है।

इन परिभाषाओ के सार रूप मे यह कहा जा सकता है कि **नैतिकता** व्यक्ति की अन्तरात्मा से सम्बन्धित होती है जो उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य और अच्छे-बुरे आदि मे भेद करना सिखाती है। यह उपदेशात्मक होती है, जैसे—अच्छे कार्य करो, ईमानदार होना चाहिए, बड़ो का सम्मान करना चाहिए आदि आदि—ये नियम पवित्रता, न्याय और सत्य पर आधारित होते हैं।

नैतिकता धर्म से सम्बन्धित होती है—क्योंकि कुछ नियम ऐसे होते हैं जो धर्म और नैतिकता दोनो क्षेत्रो मे आते हैं और अनेक धार्मिक नियमो की अनुपालना करना व्यक्ति का नैतिक कर्त्तव्य होता है, किन्तु दोनो के मध्य अन्तर होता है।

मैकाइवर और पेज ने इन दोनो के मध्य स्पष्ट अन्तर बताया है। इनके अनुसार—

(1) धर्म का सम्बन्ध अलौकिक शक्ति से है जबकि नैतिकता समाज विशेष के नियमो से सम्बन्धित होती है।

(2) धर्म के समक्ष किसी प्रकार के प्रश्न नही किये जा सकते जबकि नैतिकता को चुनौती भी दी जा सकती है।

(3) धर्म, श्रद्धा एवं विश्वास पर आधारित है, नैतिकता तर्क एवं विवेक पर आधृत है।

(4) धर्म अपरिवर्तनशील प्रकृति का है, नैतिकता की प्रकृति परिवर्तनशील है।

(5) धर्म की पालना न करने पर व्यक्ति अपनी ही दृष्टि मे गिर जाता है। नैतिकता का पालन न करने पर समाज द्वारा आलोचना की जाती है।

(6) धर्म का सम्बन्ध जन्म से है अर्थात् जन्मना ही वह किसी धार्मिक समूह का सदस्य होता है, नैतिकता विवेक से सम्बन्धित है।

(7) धर्म का क्षेत्र संकीर्ण है, नैतिकता विवेक पर आधारित होन के कारण विस्तृत क्षेत्र वाली है।

धर्म व नैतिकता दोनो कुछ अर्थों मे समानता व कुछ अर्थों मे भिन्नता रखते हैं किन्तु सामाजिक नियन्त्रण दोनो के द्वारा होता है, उदाहरण के लिए—धर्म मानव-व्यवहार पर नियन्त्रण करता है, उसमे सद्‌गुणो का विकास करता है, सुरक्षा की भावना उत्पन्न करता है, इससे पवित्रता की भावना भी विकसित होती है। धर्म व्यक्ति मे धार्मिक सस्कार जगाता है, उसे मनोवैज्ञानिक सतुष्टि प्रदान करता है—इन सबके कारण व्यक्ति समाजसम्मत व्यवहार करता है क्योकि उसे भय रहता है कि उचित मार्ग पर चलने पर ही मुझे स्वर्ग मिलेगा, परिणामस्वरूप सामाजिक नियन्त्रण स्वयमेव हो जाता है।

नैतिकता भी सामाजिक नियन्त्रण में सहायक सिद्ध होती है। व्यक्ति उचित, विवेकपूर्ण व समाज-सम्मत कार्य करना चाहता है जिससे उसे सामाजिक मान्यता मिले। चोरी करना, दूसरों को सताना, झूठ बोलना आदि समाज विरोधी कार्य हैं जो नैतिकता के विरुद्ध भी हैं। व्यक्ति इन्हें करते हुए डरता है कि समाज उसका परिहास करेगा, दंडित करेगा आदि। इस तरह नैतिकता में समूह-कल्याण की भावना भी समाहित होती है। इस रूप में धर्म एवं नैतिकता दोनों ही सामाजिक नियन्त्रण के सशक्त साधन कहे जा सकते हैं क्योंकि ये व्यवहार के मानदण्ड निश्चित कर उन्हे (व्यक्तियो को) मन-वाछित व्यवहार करने से रोकते हैं।

(8) परिवार (Family)—परिवार सामाजिक नियन्त्रण का अनौपचारिक किन्तु प्राथमिक साधन है। व्यक्ति के सामाजीकरण में परिवार की अह भूमिका है। सामाजीकरण द्वारा व्यक्ति सामाजिक मूल्यों, नैतिकताओं, आदर्शों व नियमों आदि से अवगत होता है और उन्हीं के अनुसार आचरण करने लगता है जिससे सामाजिक नियन्त्रण बना रहता है। परिवार बालक की प्रथम पाठशाला है जहाँ वह आदर्श नागरिकता का पाठ पढता है तथा मानवोचित गुणों को सीखता है। परिवार प्राथमिक समूह की भूमिका के रूप मे बालक को पारस्परिक-घनिष्ठता की शिक्षा भी देता है क्योंकि बच्चा प्रारम्भ से परिवार के सदस्यो—माता-पिता, भाई, बहिन आदि के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आता है जहाँ वह स्नेह, प्रेम, प्रशंसा, निन्दा, अपमान् आदि के द्वारा व्यवहारो पर नियन्त्रण करना सीखता है, परस्पर-सहयोग, सहायता आदि सीखता है जो आगे चलकर सामाजिक-व्यवस्था बनाए रखने में सहायक होते हैं—इस प्रकार परिवार वह स्थल है जहाँ प्रारम्भ से ही बालक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में अनेक जनरीतियों, लोकाचारो, धार्मिक अनुष्ठानो आदि को अपने बड़ों से सीख लेता है जिससे उसमें साहचर्य, सहयोग, पारस्परिक त्याग तथा धार्मिक विश्वास आदि की भावना स्थाई रूप ले लेती है जिससे व्यक्ति समाज के साथ अपना सामाजीकरण कर लेता है और सामाजिक-निथन्त्रण में अपनी अहं भूमिका निभाता है। परिवार की सामाजिक-नियन्त्रण के रूप मे भूमिका को हम अग्रलिखित रूपों में स्पष्टतया देख सकते हैं—

(1) परिवार सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सामाजिक नियन्त्रण करने का प्रबल साधन है क्योंकि परिवार सामाजीकरण की प्रमुख संस्था है और सामाजीकरण वह प्रक्रिया है जहाँ व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास किया जाता है। सामाजीकरण में व्यक्ति के नैतिक गुणों का विकास होता है उसमें आत्म-नियन्त्रण की भावना पैदा होती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति सामाजिक-नियमों की परिपालना करने में सक्षम बनता है।

(2) परिवार अपने सदस्यो को विभिन्न परिस्थितियो में समायोजन करना सिखाता है। मानव-जीवन में आने वाली प्रत्येक परिस्थिति का सामना करना व्यक्ति परिवार के माध्यम से ही सीखता है जो सामाजिक दृष्टि से व्यवस्था को बनाये रखने मे सहयोगी प्रतीत होता है।

(3) परिवार उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना सिखाता है। प्राथमिक स्तर पर व्यक्ति अपने माता-पिता के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को निभाता है और आगे चलकर सामाजिक-

स्तर पर समाज के प्रति उसके क्या कर्तव्य हैं, इसकी जानकारी प्राप्त करता है, जिससे व्यक्ति अपने कर्तव्यों की अनुपालना करता हुआ सामाजिक नियन्त्रण को बनाए रखता है।

(4) परिवार अनेक रूपों में सामाजिक नियन्त्रण का एक शक्तिशाली अधिकरण माना जाता है। परिवार मे रहकर ही व्यक्ति, शिक्षा-सम्बन्धी, वैवाहिक जीवन सम्बन्धी, आर्थिक दृष्टि से एवं सुरक्षात्मक दृष्टि से अनेक ऐसे गुणों को सहज ही आत्मसात् कर लेता है जिसमे भविष्य मे सामाजिक गुणो को विकसित करने में तथा सामाजिक नियन्त्रण को बनाए रखने मे अपना पूरा-पूरा सहयोग करता है। इसीलिए कहा जाता है कि परिवार सामाजिक नियन्त्रण का केन्द्र-बिन्दु है जहाँ पर व्यक्ति अपना चतुर्मुखी विकास करके समाज का एक उपयोगी सदस्य बनता है।

(9) शिक्षा (Education)—शिक्षा सामाजिक-नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण साधन है—शिक्षा व्यक्ति का चहुँमुखी विकास करती है, शिक्षा द्वारा ही प्राणी सामाजिक प्राणी बनता है अन्यथा तो वह जैविकीय प्राणी है। व्यक्ति का सामाजीकरण शिक्षा द्वारा ही होता है और चूँकि सामाजीकरण की प्रक्रिया आजीवन चलती रहती है अतः शिक्षा भी अनवरत चलने वाली क्रिया मानी जाती है। शिक्षा की अनेक परिभाषाएँ मनीषियो द्वारा बताई गई हैं जो यह स्पष्ट करती है कि यह मानव के लिए कितनी उपादेय है।

महात्मा गाँधी ने कहा है, "शिक्षा से मेरा अभिप्राय बच्चे के शरीर, मन और आत्मा में विद्यमान सर्वोत्तम गुणो का सर्वांगीण विकास करना है।"

भारतीय संस्कृति मे शिक्षा की परिभाषा इस प्रकार दी गई है, 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् विद्या वह है जो हमे मुक्ति की ओर ले जाती है अर्थात् अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाने का कार्य शिक्षा करती है।

टी. रेमण्ड के अनुसार, "शिक्षा विकास की वह प्रक्रिया है जिससे मनुष्य बाल्यावस्था से प्रौढावस्था तक क्रमशः विभिन्न तरीकों से अपने-आपको भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक पर्यावरण से अनुकूलित कर लेता है।"

जिसबर्ट के मत मे, "शिक्षा का अर्थ उसे ग्रहण करने वालों में उन आदतों और दृष्टिकोणो को विकसित करना है, जिनके द्वारा वह भविष्य का सफलतापूर्वक सामना कर सके। इनमे शिक्षा ग्रहण करने वालो के द्वारा उनके समाज में प्रचलित मूल्यो के अनुकूल ज्ञान एव अनुभव प्राप्त करना भी सम्मिलित है।"

इस प्रकार शिक्षा अनवरत चलने वाली प्रक्रिया है। यह दो/तीन प्रकार की मानी जा सकती है—(1) औपचारिक शिक्षा, (2) अनौपचारिक शिक्षा तथा (3) गैर-औपचारिक शिक्षा।

(1) औपचारिक शिक्षा (Formal Education)—औपचारिक-शिक्षा शिक्षण सस्थाओं द्वारा दी जाती है जिसमे प्रवेश एव परीक्षा के नियम होते हैं, शिक्षा प्राप्त कर लेने

पर औपचारिक रूप से उपाधि या प्रमाण-पत्र दिए जाते हैं। औपचारिक शिक्षा निश्चित नियमो के आधार पर संचालित होती है और शिक्षण-संस्थाओ में पढ़ने के लिए भी निश्चित चरणो से गुजरना पड़ता है; जैसे—विद्यालय, महाविद्यालय उसके पश्चात् विश्वविद्यालय। क्रमश: इस रूप में प्राथमिक स्तर से लेकर स्नातकोत्तर या उसके उपरान्त अध्ययन करना होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि औपचारिक शिक्षा में शिक्षण संस्थाओं में पढ़ने का एक निश्चित समय होता है।

(2) गैर-औपचारिक शिक्षा (Non-formal Education)—गैर-औपचारिक शिक्षा से आशय उस शिक्षा से है जिसमें औपचारिकताएँ कम हो जाती हैं। यद्यपि शिक्षा किसी-न-किसी अभिकरण द्वारा ही प्राप्त की जाती है लेकिन वहाँ पर प्रवेश के नियम, पाठ्यक्रम, परीक्षा की विधि, समय, स्थान आदि सभी विषयों में औपचारिकताएँ न्यून या अतिन्यून हो जाती हैं। टेलिविजन के प्रोग्राम, खुले-विश्वविद्यालय एवं पत्राचार आदि इसके उदाहरण हैं जिनमें शिक्षा प्रदान करने में किन्हीं विशेष नियमों की आवश्यकता नहीं होती। उम्र की सीमा भी नहीं होती।

(3) अनौपचारिक शिक्षा (Informal Education)—यह शिक्षा आजीवन चलती रहती है। किसी प्रकार की औपचारिकताएँ इसमें नहीं होतीं। यह किसी शिक्षण-संस्था द्वारा नहीं प्राप्त की जाती अपितु परिवार, मित्र-मण्डली आदि से सम्पर्क के कारण अनेक नई बाते सीखने को मिलती हैं। कुछ बातें व्यक्ति अपने व दूसरो के अनुभव से भी सीखता है। यह शिक्षा आजीवन चलती है और विभिन्न परिस्थितियों से समायोजन करना सिखाती है।

शिक्षा द्वारा सामाजिक नियन्त्रण (Social Control Through Education)—सभी प्रकार की शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यह व्यक्ति का सामाजीकरण करती है। शिक्षा ही व्यक्ति मे आदर्श नागरिक के गुणो का विकास करती है। यह परिस्थितियो के अनुसार व्यक्ति का समायोजन कराती है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति मे चिन्तन, तर्क एवं निर्णय लेने की क्षमता विकसित होती है जिससे व्यक्ति में सद्-असद् के मध्य भेद कर सकने की योग्यता उत्पन्न होती है और समाज के प्रति कल्याण की भावना जागृत होती है। इस प्रकार अनेक रूपो में शिक्षा सामाजिक नियन्त्रण में सहायक होती है। इसे निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है—

(1) शिक्षा व्यक्ति को सामाजिक नियमों की जानकारी देती है। सही रूप में व्यक्ति का सामाजीकरण कर व्यक्ति को विपथगामी व्यवहार से रोकने का काम भी शिक्षा ही करती है। **बोटोमोर** ने कहा है कि शिक्षा बच्चे के प्रारम्भिक सामाजीकरण का सबसे दृढ़ आधार है। व्यक्ति को सामाजिक मूल्यों, आदर्शों और विश्वासों से शिक्षा ही अवगत कराती है। शिक्षा ही व्यक्ति को समाज-सम्मत कार्य करने की ओर उन्मुख करती है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति आत्म-नियन्त्रण करना सीखता है जिससे संघर्षपूर्ण स्थिति में भी नियन्त्रण बना रहता है। इस तरह शिक्षा ही सामाजीकरण का आधार है।

(2) शिक्षा व्यक्ति का बौद्धिक विकास करती है जिससे व्यक्ति उचित-अनुचित में भेद करना सीखता है। शिक्षा द्वारा व्यक्ति सामाजिक मानदण्डों के अनुरूप व्यवहार करना सीखता है। शिक्षा व्यक्ति मे तर्क व निर्णय क्षमता विकसित करती है। इसी कारण व्यक्ति कठिन से कठिन स्थितियो मे भी विवेक से काम लेता है। इस प्रकार जब व्यक्तिगत स्तर पर सही निर्णय की क्षमता विकसित हो जाएगी तो सामाजिक स्तर पर भी नियन्त्रण बना रहेगा।

(3) शिक्षा हमारी सस्कृति का हस्तातरण करती है। हम शिक्षण-सस्था, परिवार आदि के माध्यम से एक पीढी से दूसरी पीढी को सस्कृति सचरित करते हैं, शिक्षा संचयी होती ह जिसमे प्रत्येक पीढी अपनी ओर से कुछ न-कुछ ज्ञान जोडती है। यदि सस्कृति का सचरण न हो तो प्रत्येक पीढी को अपने जीवन को जीने के नए नियम बनाने पडेगे जो कठिन कार्य है। शिक्षा सस्कृति का हस्तान्तरण कर समाज को व्यवस्थित एव नियन्त्रित बनाए रखती है।

(4) शिक्षा व्यक्ति को उसकी योग्यता के आधार पर समाज में स्थान प्रदान कराती है। इस प्रकार स्तरीकरण का मापदण्ड प्रस्तुत करती है। बोटोमोर कहते हैं, "शिक्षा स्तरीकरण की व्यवस्था मे व्यक्तियो का स्थान और उनके अधिकारो का निर्धारण करती है। शिक्षा व्यक्ति को समाज मे अर्जित स्थिति प्रदान करती है, व्यक्ति को उसकी योग्यतानुसार सुधार के लिए प्रोत्साहित करती है। इस रूप मे सामाजिक जीवन को व्यवस्थित व नियन्त्रित करती है।

(5) शिक्षा तनावो के क्षण मे व्यक्ति में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करती है। अनेक पुराने व नवीन विचारो और मान्यताओ मे जब टकराव हो जाता है तो इससे समाज में तनाव की स्थिति आ जाती है तब शिक्षा के आधार पर ही व्यक्ति अतार्किक बातो को त्यागकर, आधुनिक और प्राचीन मे समन्वय स्थापित कर, सामाजिक नियन्त्रण को बनाए रखता है।

(6) शिक्षा व्यक्ति को परिस्थितियो से अनुकूलन करने में सहयोग देती है। शिक्षित व्यक्ति परिस्थितियों को या तो अपने अनुसार बनाकर अथवा परिस्थिति के अनुसार स्वयं को बनाकर बदलते वातावरण से अपना सामञ्जस्य बिठा लेता है जिससे सामाजिक नियन्त्रण बना रहता है।

(7) शिक्षा से ही व्यक्ति मे नैतिक गुण जैसे—प्रेम, सहयोग, दया, ईमानदारी, बन्धुत्व, अनुशासन आदि का विकास होता है जिससे व्यक्ति जैविकीय मानव से सुसंस्कृत मानव बनता है। इन गुणो के विकास से सामाजिक व्यवस्था व सामाजिक नियन्त्रण भी सुदृढ बना रहता है।

साराशत: यह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सभी साधन एव अभिकरण सामाजिक नियन्त्रण मे अपनी सशक्त एवं प्रबल भूमिका निभाते हैं जिससे सामाजिक व्यवस्था सुदृढ बनी रहती है।

❐

अध्याय-21

सामाजिक प्रतिमान (मानदण्ड)

(Social Norms)

मानव समाज अन्य प्राणियो के समाज से इसी बात में भिन्न है कि मानव समाज का नियन्त्रण, निर्देशन तथा संचालन सामाजिक प्रतिमानो के द्वारा होता है। सामाजिक प्रतिमान के अनेक पर्याय हैं, जैसे—सामाजिक मानक, सामाजिक मानदण्ड, सामाजिक आदर्श आदि। अगर हमें मानव समाज को समझना है तो सामाजिक प्रतिमान को समझना अत्यन्त आवश्यक है। अनेक समाजशास्त्रियों—किंग्सले डेविस, मैकाइवर और पेज, वीरस्टीड और लैण्डिस—ने कहा है कि सामाजिक प्रतिमानों के अभाव मे समाज सगठित और व्यवस्थित नही रह सकता। व्यक्ति समाज में सामाजिक प्रतिमानों की सहायता से सम्बन्ध स्थापित करता है ओर अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करता है।

सामाजिक प्रतिमान के अनेक प्रकार हैं जो सामाजिक जीवन को सम्भव बनाते है। सामाजिक प्रतिमानों का निर्माण धीरे-धीरे व स्वत: होता है। इसके विकास के अनेक चरण हैं। जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, सस्था, कानून आदि सामाजिक नियम या सामाजिक प्रतिमान हैं जो मान्य तथा अपेक्षित व्यवहार को प्रकट करते हैं। ये समाज द्वारा और समाज के लिए मान्य होते हैं। अनेक समाजशास्त्रियो ने सामाजिक प्रतिमान की व्याख्याएँ की हैं, सामाजिक प्रतिमानो के अर्थ ओर परिभाषा पर अपने समाजशास्त्रीय मत व्यक्त किए हैं। इनको स्पष्ट रूप से समझाने के लिए प्रतिमानों की विशेषताओं और प्रकारो की विवेचना की है। अब हम सामाजिक प्रतिमानो के ही कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं की समाजशास्त्रीय विवेचना तथा मूल्याकन करेंगे। सर्वप्रथम सामाजिक प्रतिमानों के अर्थ एवं परिभाषा पर प्रकाश डाला जायेगा।

सामाजिक प्रतिमान का अर्थ और परिभाषा
(Meaning and Definition of Social Norms)

सामाजिक प्रतिमान की समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अनेक विद्वानों ने परिभाषाएँ दी हैं। इनमे उल्लेखनीय समाजशास्त्री स्वयं विद्वान् किंग्सले डेविस, राबर्ट वीरस्टीड, वर्टन राइट, वुड्स, लैण्डिस, हारालाम्बोस आदि हैं। इनकी अग्रलिखित परिभाषाएँ हैं—

बर्टन राइट का कहना है, "सामाजिक प्रतिमानो की एक सामान्य परिभाषा यह है कि वे व्यवहार के उचित तरीको को बताते हैं।"

राबर्ट बीरस्टीड ने अपनी कृति *'द सोशियल आर्डर'* मे लिखा है, "सामाजिक प्रतिमान, सक्षिप्त मे कार्य-प्रणालियों की प्रमाणित पद्धतियाँ हैं। कार्य पूर्ण करने की एक विधि है जो हमारे समाज द्वारा मान्य है।"

जे. आर. लेण्डिस ने अपनी पुस्तक 'सोशियोलोजी' मे कहा है, "प्रतिमान एक विशेष स्थिति मे एक व्यक्ति के द्वारा किस प्रकार का व्यवहार प्रमाणित और अपेक्षित है, को प्रकट करते हैं।"

हारलाम्बोस ने *'सोशियोलॉजी'* में बताया है, "ऐसे निर्देश, प्रत्येक संस्कृति में बडी संख्या मे मिलते हैं जो व्यवहार को विशिष्ट परिस्थितियो मे निर्देशित करते हैं। ऐसे निर्देशों को ही सामाजिक प्रतिमान या आदर्श-नियम कहते हैं।"

एस. एफ. जे. वुड्स ने अपनी पुस्तक *'इन्ट्रोडक्टरी सोशियोलॉजी'* में लिखा है, "सामाजिक प्रतिमान वे नियम हैं जो व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं, व्यवस्था में सहयोग करते हैं और किसी विशिष्ट परिस्थिति में व्यवहार की भविष्यवाणी करना सम्भव बनाते हैं।"

किंग्सले डेविस ने अपनी कृति *'ह्यूमन सोसायटी'* मे सामाजिक प्रतिमान की परिभाषा इस प्रकार दी है, "ये (सामाजिक प्रतिमान) नियन्त्रण हैं। इन्हीं नियन्त्रणों के द्वारा मानव समाज अपने सदस्यो के व्यवहार को इस प्रकार संचालित करता है कि वे सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्रिया करते हैं चाहे कभी उनकी जैविक आवश्यकताएँ ही पूरी न हो पाएँ।"

उपर्युक्त विद्वानो की परिभाषाओ से स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक प्रतिमान प्रमाणित और समाज द्वारा मान्यता प्राप्त आवश्यकताओ को पूर्ण करने की कार्य-प्रणालियाँ हैं। ये व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित, निर्देशित और संचालित करती हैं। सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखती हैं। सामाजिक प्रतिमान समाज के ऐसे नियम हैं जो समाज के सदस्यों को मार्गदर्शन प्रदान करते हैं। विशिष्ट परिस्थितियों मे व्यवहार की भविष्यवाणी को सम्भव बनाते हैं। इसीलिए **किंग्सले डेविस** ने सार रूप मे कहा है, **"सामाजिक प्रतिमानों के अभाव मे मानव समाज सम्भव नहीं है।"** इन्हीं के शब्दों मे, "अगर कोई सामाजिक प्रतिमान नहीं होगे, तो कोई मानव समाज भी नहीं होगा।" इसी से मिलता-जुलता कथन वीरस्टीड का निम्नलिखित है, "बिना प्रतिमानो के सामाजिक जीवन असम्भव होगा तथा समाज में कोई व्यवस्था नहीं रह पाएगी।"

सामाजिक प्रतिमान और व्यक्ति तथा सामाजिक प्रतिमान और सामाजिक व्यवस्था परस्पर घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। व्यक्ति और सामाजिक व्यवस्था को प्रतिमान एक-दूसरे से जोड़ते हैं। अगर सामाजिक प्रतिमान का पालन व्यक्ति नहीं करे तो उससे व्यक्ति और समाज दोनों का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। अगर सभी व्यक्ति मनमाने ढंग से व्यवहार करेंगे तो कोई भी किसी की परवाह नहीं करेगा। ऐसी स्थिति मे अराजकता ही अराजकता हो जाएगी। दुर्खीम ने अपने अध्ययनो तथा अवलोकन के आधार पर लिखा है कि समाज में नियमो का होना आवश्यक है।

व्यक्ति नियमों के अनुसार क्रिया करेंगे तो समाज व्यवस्थित रहेगा। उन्होंने सामाजिक प्रतिमान का एक विशेष प्रकार सामूहिक प्रतिनिधान का विस्तार से विवेचन किया है। सामूहिक प्रतिनिधान व्यक्ति के बाह्य और व्यक्ति पर नियन्त्रण रखने वाले सामाजिक तथ्य हैं जिनके द्वारा समाज संतुलित रहता है। ये प्रभावशाली सामूहिक चेतना होते हैं। समाज के सभी सदस्य इनका पालन करते हैं। ये समाज के प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान रहते हैं। व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित रखते हैं। सामाजिक व्यवस्था को संतुलित रखते हैं। सामाजिक प्रतिमान व्यक्ति का पथप्रदर्शन, समाज की रक्षा और सामाजिक नियन्त्रण करते हैं। उनकी अनेक विशेषताएँ हैं। यहाँ हम कुछ विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

सामाजिक प्रतिमानों की विशेषतायें
(Characteristics of Social Norms)

सामाजिक प्रतिमान की अनेक विशेषताएँ हैं। इन विशेषताओं के विवेचन से सामाजिक प्रतिमान को समझना सरल हो जाएगा। यह स्पष्ट हो जाएगा कि सामाजिक प्रतिमान क्या हैं? इनके कार्य क्या-क्या हैं? ये समाज के लिए कितने महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक हैं? सामाजिक प्रतिमान और समाज तथा व्यक्ति के साथ इनका परस्पर कितना सम्बन्ध है आदि-अदि। सामाजिक प्रतिमान की निम्नलिखित प्रमुख-प्रमुख विशेषताएँ मैकाइवर और पेज, मर्टन, डेविस, वीरस्टीड, गिलिन और गिलिन, पारसन्स आदि अनेक समाजशास्त्रियों ने बताई हैं—

सामाजिक प्रतिमान की विशेषताएँ

↓

एकता | प्रकार्यात्मक सार्वभौमिकता | अपरिहार्यता | नियंत्रण के साधन | अन्योन्याश्रितता | संघर्षों से रक्षा | पथ-प्रदर्शन | सापेक्षता | अनुकूलनता | व्यावहारिकता | सामाजिक नियम | लिखित/अलिखित | नैतिकता | व्यवहार के अंग | सामाजिकता | अधि-वैयक्तिता
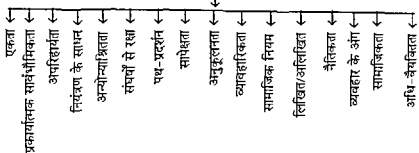
(1) एकता (Unity)—सामाजिक प्रतिमान समाज के सदस्यों को संगठित रखते हैं। *दुर्खीम, डेविस, रेडक्लिफ-ब्राउन* आदि ने लिखा है कि सामाजिक प्रतिमान सदस्यो मे एकता पैदा करते हैं। जब सभी सदस्य प्रतिमानों का पालन करते हैं तो समाज में एकता बनी रहती है।

(2) प्रकार्यात्मक सार्वभौमिकता (Functional Universality)—सामाजिक प्रतिमान विश्व के सभी समाजों में तथा सभी कालो में किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। समाज मे कोई भी सामाजिक प्रतिमान ऐसा नहीं होता है जो समाज के सदस्यों के लिए कोई न कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं करता हो, ऐसा *दुर्खीम, डेविस, मैलीनोवस्की, क्लूखान* आदि ने अपनी-अपनी कृतियों में लिखा है। परन्तु *मर्टन* का कहना है कि यह आवश्यक नहीं

है कि सामाजिक प्रतिमान केवल सगठनात्मक कार्य ही करें, ये दुष्कार्य भी कर सकते हैं; जैसे—धर्म परिवार-नियोजन में बाधक है। पर्दा प्रथा, जाति प्रथा, दहेज, वैधव्य, बाल विवाह ऐसे कुछ उदाहरण हैं जो दुष्कार्य होते हुए भी ये करते है।

(3) अपरिहार्यता (Indispensability)—सामाजिक प्रतिमान के बिना सामाजिक उद्देश्य, सामाजिक संगठन, सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति, सामाजिक नियन्त्रण, सघर्षो से रक्षा, पथ-प्रदर्शन, अनुकूलनता आदि पूरे नहीं हो सकते। इसलिए डेविस तथा मूर आदि का कहना है कि सामाजिक प्रतिमान अपरिहार्य हैं। इन्हे सामाजिक व्यवस्था से अलग नहीं किया जा सकता। जहाँ समाज है वहाँ सामाजिक प्रतिमान है। सामाजिक प्रतिमान नहीं, समाज नहीं। लेकिन मर्टन का कहना है कि एक सीमा तक ऐसा है। सामाजिक प्रतिमान तथा इनके द्वारा सम्पन्न कार्य दो अलग-अलग तथ्य हैं। सामाजिक प्रतिमान के विकल्प भी हैं तथा इनके द्वारा सम्पन्न कार्य भी अन्य साधनो द्वारा पूरे किये जा सकते हैं, जैसे—धर्म सामाजिक-नियन्त्रण करता है वही सामाजिक नियन्त्रण कानून, अदालत, सेना, पुलिस आदि भी करती है।

(4) नियन्त्रण के साधन (Means of Control)—सामाजिक प्रतिमान सामाजिक नियन्त्रण के अच्छे साधन हैं, जैसे—धर्म सामाजिक-नियन्त्रण रखता है। आदिम तथा जनजातीय समाजो मे सामाजिक प्रतिमान ही सामाजिक नियन्त्रण के साधन हैं। ये व्यक्ति, समूह तथा समुदाय को नियन्त्रित रखते हैं। इनका समाज मे विशेष प्रभाव होता है। लोग इसका उल्लंघन करते हुए डरते हैं। ये समाज को नियन्त्रित रखते हैं।

(5) अन्योन्याश्रितता (Interdependence)—सामाजिक प्रतिमान समाज के सदस्यो द्वारा बनाए जाते हैं। ये व्यक्ति से प्रभावित होते हैं। दूसरी ओर जब इनका अस्तित्व समाज में प्रभावशाली बन जाता है तब ये व्यक्ति को प्रभावित करते हैं। उस पर नियन्त्रण रखते हैं। इनके दबाव के कारण व्यक्ति नियमो मे बँध जाता है। इस प्रकार सामाजिक प्रतिमान व्यक्ति, समूह, समुदाय तथा अन्य सामाजिक लक्षणों को प्रभावित करते हैं तथा प्रभावित होते हैं। अन्योन्याश्रितता इनकी प्रमुख विशेषता है। *आगस्त काम्ट, मैकाइवर एव पेज, डेविस* का यही कथन है।

(6) संघर्षो से रक्षा (Protection from Conflicts)—समाज के विभिन्न सदस्यों, समूहो, वर्गों, जातियो, समुदायो, श्रेणियो आदि मे जब सघर्ष पैदा हो जाता है तो उनसे सामाजिक व्यवस्था तथा सगठन के अस्तित्व की रक्षा का कार्य सामाजिक प्रतिमान करते हैं। अनेक सामाजिक प्रतिमानो की सार्वभौमिक विशेषताएँ समाज को रक्षा करती हैं। शाश्वत मूल्य संघर्ष को दूर करने मे सहायक होते हैं। ऐसा *दुर्खीम, मैक्स वेबर, मर्टन, मैकाइवर और* पेज आदि ने बताया है।

(7) पथ-प्रदर्शन (Guidance)—सामाजिक प्रतिमान समाज के सदस्यों का कदम-कदम पर पथ प्रदर्शन करते हैं। व्यक्ति या समूह जब अन्य व्यक्तियो या समूह से अन्त:क्रिया करते हैं तब सामाजिक प्रतिमान उन्हे निश्चित पद और भूमिका प्रदान करते हैं तथा सामाजिक क्रिया तथा व्यवहार को सम्भव बनाते हैं। व्यक्ति प्रतीको, भाषा, संकेतो आदि के द्वारा सामाजिक प्रतिमानो का चुनाव करता है तथा उनके अनुसार सामाजिक प्रक्रिया मे सहभागिक बनता है। कदम-कदम पर निर्णय लेता है। स्थिति का मूल्यांकन करता है। यह सब प्रतिमान सम्भव करते हैं। ऐसा *कूले, मीड, पारसन्स* आदि ने लिखा है।

(8) सापेक्षता (Relativity)—सामाजिक प्रतिमानों का प्रभाव आयु, लिंग, जाति, धर्म, प्रजाति, वर्ग, शिक्षा आदि के अनुसार भिन्न-भिन्न पड़ता है। ये सभी व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न मात्रा में लागू होते हैं। एक प्रतिमान भी एक ही समाज में भिन्न-भिन्न कालों में बदल जाता है। इसलिए सामाजिक-प्रतिमान सापेक्ष होते हैं। ये समय-सापेक्ष, स्थान-सापेक्ष, समाज-सापेक्ष आदि हो सकते हैं।

(9) अनुकूलनता (Adoptation)—सामाजिक प्रतिमान आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। ये आवश्यकताएँ व्यक्तिगत, सामूहिक और सम्पूर्ण समाज की होती हैं। इसलिए सामाजिक प्रतिमान आवश्यकताओं में परिवर्तन आने के साथ-साथ बदलते रहते हैं। समय के साथ-साथ सामाजिक आवश्यकताएँ, उद्देश्य आदि बदलते हैं। उनके साथ-साथ प्रतिमानो मे भी परिवर्तन होता रहता है। जिस समाज में सामाजिक प्रतिमान नई-नई आवश्यकताओं, उद्देश्यो, उपयोगिताओं, परिस्थितियों के अनुसार अनुकूलन नहीं कर पाते हैं वे अन्य समाजों से पीछे रह जाते हैं। समाज के साथ जो प्रतिमान अनुकूलन नहीं कर पाते हैं तो वे प्रतिमान अपना महत्त्व खो देते हैं तथा समाज में उनका पालन नहीं होता है।

(10) व्यावहारिकता (Practicability)—सामाजिक प्रतिमान उपयोगी, व्यावहारिक तथा वास्तविक परिस्थितियों से सम्बन्धित होते हैं। इसका मुख्य कारण इनकी उत्पत्ति और विकास की प्रक्रिया है। समाज के सदस्य केवल उन्हीं प्रतिमानों को मान्यता देते हैं जो समाज-सापेक्ष होते हैं। जो समाज के लिए उपयोगी होते हैं। जो प्रतिमान समाज की महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओ की पूर्ति करते हैं। इसलिए सामाजिक प्रतिमान उपयोगी और व्यावहारिक होते हैं। जिनमें ये विशेषता नहीं होती है वे समाज से हट जाते हैं।

(11) सामाजिक नियम (Social Norms)—सामाजिक प्रतिमान एक प्रकार के सामाजिक नियम हैं। सामाजिक प्रतिमानों से तात्पर्य उन सामाजिक नियमों से है जिनका ध्यान तथा पालन विशिष्ट समाज के लगभग सभी सदस्य करते हैं। सभी सदस्यों से यह आशा की जाती है कि वे उनका पालन करें। सामाजिक प्रतिमानों की सामाजिक नियमों के रूप में समाज में पालन करने की अपेक्षा का गुण बहुत महत्त्वपूर्ण है। सामाजिक प्रतिमानों में उद्देश्य, कार्य सम्पन्नता, उपयोगिता, महत्त्व आदि के अनुसार सामाजिक नियमों के अनेक प्रकार होते हैं। कोई बड़े नियम और कोई छोटे नियम होते हैं। उनका महत्त्व भी उसी के अनुसार कम या अधिक होता है।

(12) लिखित/अलिखित (Written/Unwritten)—सामाजिक प्रतिमानों को लिपि के आधार पर मुख्य रूप से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(1) लिखित और (2) अलिखित। अधिकतर सामाजिक प्रतिमान अलिखित होते हैं। जैसे-जैसे समाज सरल से जटिल, परम्परागत से आधुनिक और जनजाति से ग्राम तथा महानगर मे विकसित हो जाता है, सामाजिक प्रतिमान अलिखित से लिखित रूप में विकसित और परिवर्तित होते जाते हैं। जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ तथा संस्थाएँ सामाजिक प्रतिमान के अलिखित प्रकार हैं जो आदिम और ग्रामीण समाज में अधिक तथा महानगर में कम मिलते हैं। ये कथन सापेक्ष है। इसी प्रकार कानून लिखित सामाजिक प्रतिमान है जो महानगरीय समाजों में अधिक होते हैं।

(13) नैतिकता (Morality)—सामाजिक प्रतिमान नैतिकता की भावना से जुड़े होते हैं। इस विशेषता के कारण समाज के सभी सदस्य सामाजिक प्रतिमानों का ध्यान रखते हैं। उनके अनुसार व्यवहार करते हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इनका पालन करना अपना परम कर्त्तव्य समझते हैं।

(14) व्यवहार के अंग (Parts of Behaviour)—प्रश्न यह उठता है कि मानव सामाजिक प्रतिमानो का पालन क्यो करता है? मानव सामाजिक प्रतिमानों का पालन इसलिए करता है कि ये मानव व्यवहार के अभिन्न अंग के रूप मे समाज में सदियो से पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते चले आ रहे होते हैं तथा मानव इनका आदी (अभ्यस्त) हो जाता है। व्यक्ति बिना किसी दबाव तथा जोर-जबरदस्ती के सामाजिक प्रतिमानों का पालन करता है। अत: ऐसा लगता है मानो सामाजिक प्रतिमान मानव-व्यवहार के अभिन्न अंग हैं।

(15) सामाजिकता (Sociability)—सामाजिक प्रतिमान के अन्तर्गत जनरीति, प्रथा, रूढियाँ, परम्पराएँ, कानून, परिपाटी, शिष्टाचार तथा सम्मान आदि का समावेश होता है जो यह स्पष्ट कर देता है कि सामाजिक प्रतिमानों मे सामाजिकता का गुण विद्यमान होता है क्योंकि ये लोकाचार, प्रथा, रूढ़ियाँ आदि किसी व्यक्ति विशेष की चीज नहीं होती हैं। ये समूह की आदत का विकसित रूप होती हैं। ये सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होती हैं। इसलिए सामाजिक प्रतिमान सामाजिकता के गुण वाले होते हैं। दुर्खीम ने लिखा है कि सामाजिक प्रतिमानो में व्यक्तिगत व्यवहारो पर सामाजिक दबाव डालने की शक्ति होती है। इसी दबाव के कारण समाज के सदस्यो के व्यवहारों में समानताएँ अधिक होती हैं तथा भिन्नताएँ न्यून। इससे समाज मे सन्तुलन तथा स्थिरता बनी रहती है।

(16) अधि-वैयक्तिक (Super-Individual)—सामाजिक प्रतिमान अनेक व्यक्तियों के अनुभव, आदत तथा व्यवहार का परिणाम होते हैं। व्यक्तिगत व्यवहार, आदते आदि व्यक्ति की मृत्यु के साथ समाप्त हो जाते हैं। परन्तु सामाजिक प्रतिमान निरन्तर पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होते रहते हैं। इसलिए ये व्यक्ति से ऊपर तथा उच्च होते हैं। ये व्यक्ति के आचरण, व्यवहार, लक्ष्य, उद्देश्य, विचार आदि को नियन्त्रित रखते हैं। दुर्खीम, मीड, फ्रॉयड, कूले आदि ने लिखा है कि व्यक्ति सामाजीकरण द्वारा जो कुछ सीखता है आगे चलकर वह उनसे नियन्त्रित रहता है। सामाजिक प्रतिमान की अधि-वैयक्तिक विशेषता व्यक्ति और समूहो को संगठित रखती है।

सामाजिक प्रतिमान के विरोधाभास
(Paradoxes of Social Norms)

सामाजिक प्रतिमानो की विशेषताओ को अच्छी तरह से समझने के लिए आवश्यक है कि हम इससे सम्बन्धित निम्नलिखित तीन महत्त्वपूर्ण विरोधाभासो की भी व्याख्या करें—

(1) सामाजिक प्रतिमान व्यक्ति के अनुभव मे सार्वभौमिक हैं फिर भी प्रत्येक समाज मे इसका एक विशिष्ट प्रतिमान है। संसार मे जहाँ-जहाँ भी मानव रहता है वहाँ-वहाँ पर सामाजिक प्रतिमान हैं। विभिन्न समाजों की प्रथाओं, जनरीतियों, परम्पराओं, रूढ़ियों, संस्थाओ आदि की परस्पर तुलना करें तो पाएँगे कि वे भिन्न-भिन्न हैं। कोई भी दो प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, संस्थाएँ आदि एक-सी नहीं मिलेगी।

(2) सामाजिक प्रतिमान स्थिर हैं, फिर भी ये परिवर्तनशील हैं। सामान्य रूप से अवलोकन करने से ऐसा लगता है मानों सामाजिक प्रतिमान स्थिर हैं। उनमे परिवर्तन नहीं हो रहा है। वे जड़ हैं। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। सामाजिक प्रतिमान मानव की आवश्यकताओ की पूर्ति के साधन हैं। मानव की आवश्यकताएँ, इच्छाएँ, उद्देश्य आदि परिवर्तित होते रहते हैं। इसलिए इनको प्राप्त करने के साधन सामाजिक प्रतिमान भी परिवर्तित होते रहते हैं। यह परिवर्तन संतुलित और संगठित होता है। इसीलिए समाजशास्त्रियों का मत है कि सामाजिक प्रतिमान स्थिर भी हैं और गतिशील तथा परिवर्तनशील भी हैं।

(3) सामाजिक प्रतिमान अधिकतर हमारे जीवन की दिशा को निश्चित करते हैं फिर भी चेतन विचार में शायद ही प्रवेश करते हैं। सामाजिक प्रतिमान समाज के सदस्यो के जीवन की दिशा तथा दशा को निश्चित करते हैं। उनके जीवन के लक्ष्य, साधन, मूल्य, आवश्यकताओ आदि को नियन्त्रित, निर्धारित तथा निर्देशित करते हैं। व्यक्ति जन्म से लेकर मृत्यु तक हर पल सामाजिक प्रतिमानों के अनुसार सामाजिक व्यवहार करता है। यह सब मानव के अचेतन मस्तिष्क में होता रहता है। ऐसा शायद ही कभी होता है कि मानव का मस्तिष्क चेतन अवस्था में सामाजिक प्रतिमानों पर विचार करे तथा उसके अनुसार व्यवहार और क्रिया करे। यह इनकी की अनोखी विशेषता है। सलिए सामाजिक प्रतिमान मानव की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं और वह भी मानव की अचेतन मनःस्थिति में।

सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण
(Classification of Social Norms)

अगर हम सामाजिक प्रतिमानों का क्रम-बद्ध, व्यवस्थित और वैज्ञानिक अध्ययन और विवेचन करना चाहते हैं तो इसके विभिन्न प्रकारों का अध्ययन करना हमारा कर्त्तव्य हो जाता है। सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण अनेक समाजशास्त्रियों ने किया है। लेकिन कोई भी वर्गीकरण पूर्ण, स्पष्ट तथा एकान्तिक नहीं है। यहाँ हम **बीरस्टीड** और **किंग्सले डेविस** द्वारा दिए गए वर्गीकरणों की विवेचना करेंगे। उन आधारों का भी अध्ययन करेंगे जो प्रतिमानों के वर्गीकरण से सम्बन्धित हैं; जैसे—सकारात्मकता, औपचारिकता, लिपिबद्धता, जटिलता, लागू करने का दायरा, संगठन, चेतनता आदि। सामाजिक प्रतिमानों के कुछ प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं—

(1) बीरस्टीड के विचार (Views of Bierstedt)—बीरस्टीड ने 'सोशियल आर्डर' कृति मे सामाजिक प्रतिमानों के निम्नलिखित तीन प्रकारो का वर्णन किया है—

(1) जनरीतियाँ (Folkways)

(2) रूढ़ियाँ (Mores)

(3) कानून (Law)

बीरस्टीड ने जो उपर्युक्त तीन प्रकार बताए हैं उनमें प्रथम दो प्रकार अनौपचारिक सामाजिक प्रतिमान हैं तथा तीसरा प्रकार औपचारिक है। प्रथम दोनो प्रकार जनरीतियाँ और रूढ़ियाँ समाज द्वारा बनाए गए सामाजिक नियम हैं। इनका उल्लंघन करने पर समाज द्वारा दण्ड दिया जाता है। तीसरा प्रकार कानून प्रतिमान का उल्लंघन करने पर न्यायालय द्वारा दण्ड की व्यवस्था की जाती है।

(2) डेविस के विचार (Views of Devis)—किंग्सले डेविस ने अपनी विश्वविख्यात कृति 'ह्यूमन सोसायटी' में सामाजिक प्रतिमान के निम्नलिखित ग्यारह प्रकारों का उल्लेख किया है—

(1) जनरीतियाँ (Folkways)

(2) रूढ़ियाँ (Mores)

(3) कानून (Law)

3 1 प्रथागत कानून (Customary Law)

3 2 पारित कानून (Enacted Law)

(4) संस्थाएँ (Institutions)

(5) प्रथा (Custom)

(6) नैतिकता (Morality)

(7) धर्म (Religion)

(8) परिपाटी (Convention)

(9) शिष्टाचार (Etiquette)

(10) फैशन (Fashion)

(11) धुन (Fad)

सामाजिक प्रतिमानो का वर्गीकरण उनकी प्रकृति, निषेध, प्राथमिकता, दायरा आदि के आधार पर भी किया जा सकता है। ये निम्नलिखित हैं—

सामाजिक प्रतिमानों के वर्गीकरण के आधार और प्रकार
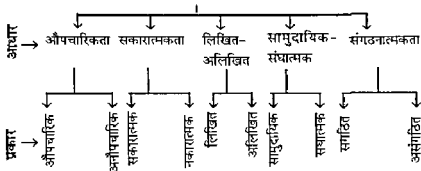
(1) औपचारिकता (Formality)—औपचारिकता के आधार पर समाजशास्त्रियो ने सामाजिक प्रतिमान के दो प्रकार बताए हैं—(1) औपचारिक (Formal) और (2) अनौपचारिक (Informal)। जिन सामाजिक प्रतिमानों की उत्पत्ति और विकास समाज मे स्वत: तथा स्वाभाविक रूप में होते हैं, जैसे—व्यक्ति के विचार → व्यक्ति की आदत → समूह की आदत → जनरीति आदि क्रम से होती है, वे अनौपचारिक सामाजिक प्रतिमान के वर्ग मे आते हैं। इनमें जनरीतियाँ,

प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, संस्थाएँ आदि आती हैं। जिन सामाजिक प्रतिमानो का निर्माण समाज के चुने हुए प्रतिनिधि या परिषद् करती है, सरकार द्वारा कार्यान्वित किए जाते हैं। जिनका उल्लंघन करने पर न्यायालय द्वारा दण्ड की व्यवस्था होती है। वे औपचारिक सामाजिक प्रतिमान वर्ग मे आते हैं, जैसे—कानून।

(2) सकारात्मकता (Positivity)—सकारात्मकता के आधार पर समाजशास्त्रियों ने सामाजिक प्रतिमानों को निम्नलिखित दो प्रकारों में बाँटा है—(1) सकारात्मक (Positive) तथा नकारात्मक (Negative)। प्रत्येक समाज में अनेक ऐसे सामाजिक प्रतिमान होते हैं जो कार्यों को करने के लिए प्रेरणा देते हैं। व्यक्ति को कौन-कौन से कार्य करने चाहिए, वे सकारात्मक सामाजिक प्रतिमान कहलाते हैं, जैसे—"सदा सत्य बोलना चाहिए", "बड़ों का आदर करना चाहिए", "अहिंसक होना चाहिए"। जिन व्यवहारों को करना निषेध है—समाज अनेक कार्यों, व्यवहारों, क्रियाओं आदि को निषिद्ध मानता है तो उनसे सम्बन्धित सामाजिक प्रतिमान नकारात्मक प्रतिमान कहलाते हैं; जैसे—"झूठ बोलना महा पाप है", "चोरी नहीं करनी चाहिए", "हिंसक नहीं होना चाहिए" आदि।

(3) लिखित/मौखिक (Written/Oral)—सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण इनकी रचना या स्वरूप के आधार पर दो प्रकारों में किया जा सकता है—लिखित और अलिखित या मौखिक। समाज में अनेक सामाजिक प्रतिमान ऐसे हैं जो अलिखित हैं। ये पीढ़ी-दर-पीढ़ी समाज में मौखिक रूप से चले आ रहे हैं। ये सामाजिक व्यवस्था के अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित होते हैं। व्यवहार करने के तरीके, अभिवादन, व्यक्ति के जीवन के विभिन्न संस्कारो से सम्बन्धित अनेक प्रतिमान समाज में मौखिक रूप से विद्यमान हैं और ये व्यवहार को नियन्त्रित रखते हैं, जैसे—परिपाटी, शिष्टाचार, फैशन, धुन, जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ आदि। समाज में अनेक सामाजिक प्रतिमान लिखित रूप में होते हैं; जैसे—कानून, सविधान आदि।

(4) सामुदायिक/संघात्मक (Communal/Associational)—**बीरस्टीड** ने सामाजिक प्रतिमानों का वर्गीकरण करते समय इस तथ्य का भी ध्यान रखा कि वे किन लोगों से सम्बन्धित हैं। इस आधार पर आपने सामाजिक प्रतिमान के निम्नलिखित दो प्रकार बताए हैं—

(1) सामुदायिक प्रतिमान (Communal Norms)

(2) संघात्मक प्रतिमान (Associational Norms)।

बीरस्टीड का कहना है कि जिन सामाजिक प्रतिमानों का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज अथवा समुदाय से होता है वे सामुदायिक प्रतिमान होते हैं; जैसे—अभिवादन करना। दूसरे प्रकार के सामाजिक प्रतिमान वे हैं जो किसी विशेष समूह, समिति या संघ से सम्बन्धित होते हैं उनको बीरस्टीड ने संघात्मक सामाजिक प्रतिमान कहा है। बड़ों का आदर करना चाहिए, यह प्रतिमान बच्चों तक ही सीमित है। शिष्यों को गुरुजनों का कहना मानना चाहिए, यह प्रतिमान विद्यार्थियों से ही सम्बन्धित है।

(5) संगठित और असंगठित प्रतिमान (Organised and Unorganised Norms)—संगठन के आधार पर सामाजिक प्रतिमान के दो प्रकार स्वाभाविक रूप से बन जाते

हैं—(1) संगठित सामाजिक प्रतिमान और (2) असंगठित सामाजिक प्रतिमान। समाज में अनेक छोटी और बड़ी संस्थाएँ और नियम होते हैं जो व्यक्तियों के व्यवहारों को संचालित करते हैं। संगठित प्रतिमान व्यापक रूप से नियमों से स्पष्ट और निश्चित होते हैं जो व्यक्तियों को कर्त्तव्य और अधिकार प्रदान करते हैं तथा उनके व्यवहारों को नियन्त्रित, निर्देशित और संचालित करते हैं। विवाह के प्रकार, विवाह विच्छेद, न्यायिक पृथक्करण, परिवार की संरचना और कार्य, न्यायालय, सरकारी कार्यालयों द्वारा बनाए गए नियम—संगठित सामाजिक प्रतिमान के अन्तर्गत आते हैं। सांस्कृतिक नियम और प्रतीक असंगठित सामाजिक प्रतिमान के अन्तर्गत आते हैं, जैसे—जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, परम्पराएँ तथा सामाजिक परिपाटियाँ, शिष्टाचार, फैशन, धुन आदि।

निम्नलिखित कुछ प्रमुख सामाजिक प्रतिमान हैं जिनका समाजशास्त्रीय विवेचन किया गया है।
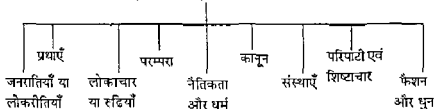
1. जनरीतियाँ या लोकरीतियाँ (Folkways)

सर्वप्रथम समनर (W G Sumner) ने अपनी पुस्तक 'फोक्वेज' (जनरीतियाँ) 1904, में इस शब्द का प्रयोग किया था। जनरीतियाँ दो शब्दों 'Folk' और 'Ways' के योग से बना है (Folk + Ways = Folkways) जिसका अर्थ है जन तथा रीतियाँ (जन + रीतियाँ = जनरीतियाँ)। समनर जनरीतियों को सामाजिक सम्बन्धों का आधार मानते हैं। **वीरस्टीड ने लिखा है,** "कोई भी समाज इनके बिना नहीं रह सकता। ये सामाजिक ढाँचे के अंग हैं और सामाजिक सम्बन्धों तथा व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करते हैं।" जब समूह की आदत सारे समुदाय की आदत बन जाती है तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती है तो वह जनरीति बन जाती है। एक प्रकार से जनरीतियाँ समूह की मान्यता-प्राप्त आदतें हैं। जनरीतियों को सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना, सामाजिक संगठन, सामाजिक नियन्त्रण, सामाजिक संतुलन आदि के लिए महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभानी पड़ती हैं इसलिए इनकी परिभाषा, कार्य, महत्त्व और विशेषताओं का ज्ञान होना चाहिए।

जनरीतियों की परिभाषा (Definition of Folkways)—जनरीतियों की परिभाषाएँ अनेक समाजशास्त्रियों—मैकाइवर और पेज, ग्रीन, गिलिन और गिलिन, ओडम, बोगार्डस आदि ने दी हैं। ये निम्नलिखित हैं—

मैकाइवर और पेज के अनुसार, "जनरीतियाँ समाज में मान्यता-प्राप्त या स्वीकृत व्यवहार करने की पद्धतियाँ हैं।"

ग्रीन के अनुसार, "जनरीतियाँ क्रिया करने की वे पद्धतियाँ हैं जो एक समाज अथवा एक समूह में सामान्य हैं और वे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती हैं।"

गिलिन और **गिलिन** के अनुसार, "जनरीतियाँ दैनिक जीवन में व्यवहार करने के वे प्रतिमान हैं जो अनियोजित या बिना किसी तार्किक विचार के ही सामान्यत: समूह मे अचेतन रूप में उत्पन्न हो जाते हैं।"

बोगार्डस के अनुसार, "एक समूह की जनरीतियां मे रुढ़ियों और व्यवहारो की और सभी रीतियाँ सम्मिलित होती हैं जो रुचिकर समझी जाती हैं लेकिन वे समूह के कल्याण के लिए अनिवार्य नहीं हैं।"

ओडम ने जनरीतियों की परिभाषा इस प्रकार की है, "जनरीतियाँ साधारणतया व्यक्ति की आदतें और रीति-रिवाज हैं जो स्वाभाविक रूप से स्वत: उत्पन्न होती हैं और जीवन के विभिन्न परिवर्तनों के साथ-साथ धीरे-धीरे विकसित होती हैं।"

रयूटर और **हार्ट** ने परिभाषा दी है, "जनरीतियाँ केवल कार्य करने की वे आदते मात्र होती हैं जो समूह के सदस्यों में सामान्य होती हैं, वे जन-साधारण की रीतियाँ हें जो कुछ अशो मे प्रमापित होती हैं और अपने स्थायित्व के लिए कुछ अंशों मे परम्परात्मक अभिमति रखती हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि जनरीतियाँ मामाजिक प्रतिमानों का एक प्रकार हैं जो व्यक्ति के व्यवहारो को नियंत्रित करती हैं। ये स्वीकृत व्यवहार करने के तरीके हैं। ये पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं। जनरीतियाँ सामाजिक नियम होते हैं। ये अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के साधन हैं। सामान्यतया ये अपरिवर्तनशील होती हैं लेकिन इनमे कभी-कभी थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी होता रहता है। ये आवश्यकताओ की पूर्ति करती हैं। इनका उल्लंघन करने पर कानूनी कार्यवाही नहीं की जा सकती है।

जनरीतियों की विशेषताएँ (Characteristics of Folkways)—(1) जनरीतियाँ मानव की आवश्यकताओं, उद्देश्यो आदि की पूर्ति के साधन हैं। (2) जनरीतियाँ सामाजिक व्यवहार करने की समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त स्वीकृत कार्य-प्रणालियाँ हैं। (3) व्यक्ति इनका पालन सामान्यतया अचेतन अवस्था में करता है। ये मुश्किल से ही चेतन मस्तिष्क मे प्रवेश करती हैं। (4) **समनर** के अनुसार जनरीतियों की उत्पत्ति और विकास समूह की आदतों से स्वत: होता है। (5) जनरीतियाँ अनौपचारिक होती हैं। (6) जनरीतियाँ असगठित होती हैं। (7) जनरीतियाँ मानव-व्यवहार को नियन्त्रित करने के अनौपचारिक, अलिखित, असंगठित, अप्रत्यक्ष और अचेतन साधन हैं। (8) जनरीतियों की संख्या समाज में अनन्त होती है। इनकी सूची बनाना बहुत कठिन है। (9) ये मानव, समाज तथा सस्कृति के लिए अत्यन्त उपयोगी और महत्त्वपूर्ण होती हैं। (10) जनरीतियाँ मानव-व्यवहार में एकता, एकरूपता, व्यवस्था और संतुलन बनाए रखती हैं। ऐसा **बीरस्टीड** ने लिखा है। (11) जनरीतियाँ अधि-वैयक्तिक और अधि-सामाजिक होती हैं। (12) जनरीतियाँ सार्वभौमिक होती हैं। जहाँ-जहाँ मानव-समाज है वहाँ-वहाँ जनरीतियाँ

हैं। (13) दुर्खीम का कहना है ये सामाजिक तथ्य हैं। अर्थात् ये व्यक्ति से बाहर हैं और व्यक्ति पर नियन्त्रण रखती हैं। (14) जनरीतियो की प्रकृति स्थाई होती है। ये कई पीढ़ियों तक हस्तान्तरित होती रहती हैं। (15) जनरीतियो का उल्लंघन करना समाज की अवहेलना करना है।

जनरीतियों का महत्त्व (Importance of Folkways)—जनरीतियों का सामाजिक जीवन में बहुत महत्त्व है। (1) विश्वविख्यात समाजशास्त्री समनर के अनुसार जनरीतियाँ सामाजिक सम्बन्धो का आधार हैं। डेविस ने लिखा है कि जनरीतियाँ मानव-जीवन के आधारभूत तथ्य हैं। (2) डेविस ने यह भी लिखा है कि मानव अपना जीवन जनरीतियो से आरम्भ करता है तथा इन जनरीतियों तक सीमित रहता है। इनके अनुसार जनरीतियाँ मानव-जीवन का मेरुदण्ड हैं। (3) व्यक्ति जनरीतियो का बार-बार पालन करता है, इससे ये व्यक्ति के व्यवहार की आदत बन जाती हैं। (4) इसके आधार पर व्यक्ति एक-दूसरे के व्यवहार का अनुमान लगाने में समर्थ होते हैं। कौन, कब, क्या क्रिया या प्रतिक्रिया करेगा इसका अनुमान लगाना सरल हो जाता है। (5) राबर्ट बीरस्टीड ने जनरीतियो के अनेक महत्त्व बताए हैं। इनका कहना है कि जनरीतियाँ समाज की सही जानकारी प्रदान करती हैं। (6) समाज बिना जनरीतियों के व्यवस्थित और सगठित नहीं रह सकता। (7) जनरीतियाँ सामाजिक प्रतिमान के आधार हैं—ये सामाजिक संरचना को सतुलन, गतिशीलता तथा एकता प्रदान करती हैं। (8) जनरीतियाँ समाज मे समरूपता लाने में सहायता प्रदान करती हैं। (9) जनरीतियाँ मानव की आवश्यकताओ, इच्छाओं और मनोकामनाओं को पूर्ण करने के समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त साधन हैं। (10) ये समाज के सदस्यों के व्यवहार, प्रतिक्रियाओ, प्रतिस्पर्द्धा आदि को व्यवस्थित करती हैं। (11) जनरीतियाँ सामाजिक नियन्त्रण के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। (12) ये एक [illegible] का संचयी ज्ञान दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करती हैं।

2. प्रथा
(Custom)

प्रथाएँ सामाजिक प्रतिमान का एक अनौपचारिक प्रकार हैं। ये सभी समाजो मे तथा सभी कालों में समूह-कल्याण का कार्य करती हैं। प्रथाएँ एक प्रकार का व्यवहार हैं। इनकी स्थिति सामाजिक प्रतिमानों के विभिन्न प्रकारों के विकास मे जनरीति और रूढ़ियों के बीच मे है। जब जनरीतियाँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं, तब ये समाज द्वारा स्थायित्व प्राप्त कर लेती हैं तथा समाज इन्हें मान्यता प्रदान कर देता है। समाज के सदस्य यह मानने लगते हैं कि इनका पालन उनके पूर्वज करते आए हैं, इनका पालन नहीं करना पूर्वजों के तरीकों की अवहेलना करना है तब जनरीति ही प्रथा के रूप में विकसित हो जाती है। जनरीति का विकसित रूप ही प्रथा है। ये सामूहिक व्यवहार का प्रथम चरण हैं। र्यूटर और हार्ट ने जनरीतियो *और प्रथाओं शब्द का प्रयोग पर्यायवाची रूप में किया है। इन्हीं के शब्दों में, "आदतों में से* जिस आदत मे एकरूपताएँ विकसित हो जाती हैं उसे प्रथाएँ या जनरीतियाँ कहते हैं।" प्रथाओं को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने के लिए अब हम इसकी परिभाषा, विशेषताएँ और महत्त्व का वर्णन और विवेचन करेंगे।

प्रथाओं की परिभाषा (Definition of Customs)—प्रथाओं की समाजशास्त्रीय परिभाषाएँ मैकाइवर और पेज, सापिर, बोगार्डस, लुण्डबर्ग आदि ने दी हैं। निम्नलिखित कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ हैं—

(1) **मैकाइवर** और **पेज** के अनुसार, "सामाजिक मान्यता-प्राप्त व्यवहार ही समाज की प्रथाएँ हैं।"

(2) **लुण्डबर्ग** और साथियों ने लिखा, "प्रथाएँ वे जनरीतियाँ हैं जो एक पीढ़ी तक लगातार प्रचलन में रहते हुए औपचारिक मान्यता प्राप्त कर लेती हैं।"

(3) **बोगार्डस** का कहना है, "प्रथाएँ समूह द्वारा मान्यता-प्राप्त नियन्त्रण की ऐसी पद्धतियाँ हैं जो इतनी सुदृढ़ हो जाती हैं कि उन्हें बिना विचार किए ही स्वीकृति दे दी जाती है। इस प्रकार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं।"

(4) **सापिर** ने परिभाषा देते हुए लिखा है, "प्रथा का प्रयोग व्यवहार की विधियों की उस पूर्णता के लिए किया जाता है जो परम्पराओं द्वारा अस्तित्व में आकर समूह में स्थायी रूप ग्रहण कर लेती है।"

(5) **किंग्सले डेविस** के अनुसार, "प्रथा शब्द विशेषतया उन व्यवहारों की ओर इशारा करता है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता चला आया है, अथवा प्रथाएँ वे व्यवहार हैं जिनका पालन सिर्फ इसलिए किया जाता है कि गुजरे हुए समय में उनका पालन किया गया था।"

इन उपर्युक्त परिभाषाओं मे प्रथाओं की जिन विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, वो निम्नलिखित हैं—

प्रथाओं की विशेषताएँ

व्यवहार के तरीके	समाज द्वारा मान्यता प्राप्त	हस्तान्तरण	मनोवैज्ञानिक लक्षण	स्वतः विकास	अनौपचारिकता	सामाजिक नियंत्रण के साधन
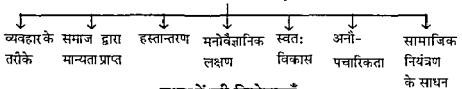
प्रथाओं की विशेषताएँ

(Characteristics of Customs)

1. व्यवहार के तरीके (Patterns of Behaviour)—डेविस, मैकाइवर और पेज, सापिर आदि ने बताया है कि प्रथाएँ समाज में व्यवहार करने के तरीके हैं। सभी समाजों में, सभी कालों में व्यवहार करने की अनेक विधियाँ होती हैं, जो प्रथाएँ कहलाती हैं।

2. समाज द्वारा मान्यता प्राप्त (Recognised by Society)—प्रथाएँ समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त या स्वीकृत व्यवहार करने की पद्धतियाँ हैं।

3. हस्तान्तरण—(Transmission) प्रथाएँ जनरीतियों का ही विकसित रूप इस अर्थ में है कि वे प्रथाएँ जनरीतियों की तुलना में पूर्वजों द्वारा प्राप्त व्यवहार के तरीके हैं जो कई पीढ़ियों से हस्तान्तरित होते चले आ रहे होते हैं।

4. मनोवैज्ञानिक लक्षण (Psychological Character)—प्रथाओ के सम्बन्ध में समाज के सदस्यो को मनोवैज्ञानिक धारणा होती है कि ये व्यवहार करने की वे विधियाँ हैं जो उनके पूर्वजो ने बनाई हैं तथा इनका पालन नहीं करने पर पूर्वजो की आत्माओ को कष्ट होता है। पूर्वजो द्वारा बनाए गए नियमो का उल्लंघन करना बुरा माना गया है।

5. स्वत: विकास (Spontaneous Development)—प्रथाएँ जनरीतियो से ही धीरे-धीरे स्वत: विकसित होती हैं। कुछ पीढियो में हस्तान्तरित होकर जनरीतियाँ प्रथाएँ बन जाती हैं। आगे चलकर प्रथाएँ रूढ़ियो मे विकसित हो जाती है।

6. अनौपचारिकता (Informality)—सामाजिक प्रतिमानो को औपचारिकता के आधार पर दो भागो मे बाँटा गया है—(1) औपचारिक और अनौपचारिक। प्रथाएँ सामाजिक प्रतिमानो के अनौपचारिक प्रकार हैं। कोई भी सगठन इन्हे समाज मे लागू नहीं करता है। समाज के सदस्य ही ध्यान रखते हैं कि कोई भी व्यक्ति प्रथाओ का उल्लघन नहीं करे।

7. सामाजिक नियन्त्रण के साधन (Means of Social Control—प्रथाएँ सामाजिक-नियन्त्रण के अनौपचारिक, अलिखित, असगठित और अप्रत्यक्ष साधन हैं। यह सकारात्मक साधन हैं। प्रथाएँ सामान्यतया उन व्यवहारो पर विशेष आग्रह करती हैं जो व्यक्ति को करने चाहिए। इसलिए ये केवल सामाजिक-नियन्त्रण के सकारात्मक साधन हैं। जब प्रथाओ के साथ नकारात्मकता भी सम्मिलित हो जाती है तब ये रूढ़ि के रूप मे विकसित हो जाती हैं।

प्रथाओं का महत्त्व (Importance of Customs)—प्रथाओ का मानव समाज मे अनेक प्रकार से विशेष महत्त्व रहा है। सामाजिक नियन्त्रण, स्थायित्व, उपयोगिता आदि के कारण सदियों में सभी समाजो मे ये अनेक प्रकार से महत्त्वपूर्ण रही हैं। इसीलिए इनका अस्तित्व बना हुआ है। प्रथाओ का व्यक्ति, समूह और समाज के लिए निम्नलिखित महत्त्व रहा है—

व्यक्ति सामाजीकरण से प्रथाओं को सीखता है। सीखने के बाद वह उनके द्वारा अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति करता है। व्यक्ति यह मानकर चलता है कि प्रथाएँ समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त व्यवहार करने की पद्धतियाँ हैं। उसे इनका पालन करना चाहिए। इनका पालन करने पर समाज के सदस्य उसकी प्रशसा करते हैं। उल्लंघन करने पर आलोचना करते हैं। व्यक्ति प्रथाओं का अनुकरण करके सुख का अनुभव करता है। प्रथाएँ व्यक्ति को सुरक्षा की भावना प्रदान करती हैं। जब व्यक्ति किसी नई परिस्थिति का सामना करता है तब प्रथाएँ उसे अनुकूलन करने मे सहयोग करती हैं।

व्यक्ति प्रथाओं का पालन इसलिए करता है कि वह उल्लघन करने पर समाज मे निंदा का पात्र बन जाता है। समाज मे प्रथाओ का विशेष महत्त्व इस सन्दर्भ मे भी है कि वे व्यक्ति को व्यवहार करने के अनेक विकल्प प्रदान करती हैं। ये विकल्प समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं। व्यक्ति प्रथाओ का नि:संकोच पालन करता है। प्रथाएँ व्यक्ति और समूह को सतुलन प्रदान करती हैं। प्रथाएँ व्यक्ति, समूह और समाज को संगठित और व्यवस्थित रखती हैं। सभी

परस्पर प्रथाओं के सहारे सामाजिक सम्पर्क स्थापित करते हैं। प्रथाओं की प्रकृति वैयक्तिक होने के कारण ये व्यक्ति के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण होती हैं। इसलिए रूढ़ियों की तुलना में प्रथाएँ व्यक्ति पर कम नियन्त्रण रख पाती हैं।

3. लोकाचार या रूढ़ियाँ
(Mores)

समाजशास्त्र में Mores (लोकाचार) शब्द का प्रयोग समनर ने किया है। हिन्दी भाषा में लोकाचार अथवा रूढ़ियाँ शब्दों का प्रयोग किया जाता है। लोकाचार की विवेचना अनेक समाजशास्त्रियों—समनर, बोगार्डस, ग्रीन, मैकाइवर और पेज आदि ने की है। इन विद्वानों ने लोकाचार की परिभाषा, विशेषताओं, महत्त्व आदि पर प्रकाश डाला है। हम यहाँ पर लोकाचार के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेंगे।

लोकाचार का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definitions Mores)—लोकाचार या रूढ़ियाँ अंग्रेजी भाषा के शब्द 'Mores' का हिन्दी अनुवाद है। Mores शब्द लेटिन भाषा के शब्द 'Mos' से बना है। सामान्यतया इस शब्द का प्रयोग समूह के अपेक्षित परम्परागत व्यवहारों के लिए किया जाता है। इस शब्द की एक व्याख्या यह भी है कि ये वे व्यवहार हैं जिनमें समूह-कल्याण की भावना होती है। हम लोकाचार को समझने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं का अध्ययन करेंगे। ये परिभाषाएँ विभिन्न विद्वानों द्वारा दी गई हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(1) **बोगार्डस** के अनुसार, "वे जनरीतियाँ जो एक समूह के सदस्य अपने समूह के सदस्यों के कल्याण के लिए आवश्यक समझते हैं, लोकाचार कहलाते हैं।"

(2) **लम्ले** के अनुसार, "एक जनरीति उसी समय लोकाचार बन जाती है जब उसके साथ 'कल्याण' लक्षण जोड़ दिया जाता है।"

(3) **डॉसन** और **गेटिस** के अनुसार, "लोकाचार वे जनरीतियाँ हैं जिनके साथ किसी ऐसे निर्णय को जिन पर समूह का कल्याण निर्भर है, जोड़ दिया जाता है।"

(4) **सदरलैंड** तथा साथियों के अनुसार, "लोकाचार वे जनरीतियाँ हैं जो समूह के लिए महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं—उसके कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण समझी जाती हैं।"

(5) **मैकाइवर** और **पेज** के अनुसार, "जब जनरीतियों के साथ समूह के कल्याण की भावना तथा उचित और अनुचित का विचार जुड़ जाता है तब वे लोकाचार बन जाती हैं।"

(6) **समनर** के अनुसार, "जब जनरीतियों में औचित्यपूर्ण जीवन-यापन का दर्शन और कल्याणकारी जीवन की नीति का समावेश हो जाता है तब वे लोकाचार बन जाती हैं।"

(7) **ग्रीन** के अनुसार, "कार्य करने की वे सामान्य पद्धतियाँ जो जनरीतियों से अधिक निश्चित और उचित समझी जाती हैं और उनका उल्लंघन करने पर गम्भीर तथा निर्धारित दण्ड दिया जाता है, लोकाचार कहलाते हैं।"

उपर्युक्त समाजशास्त्रियों—की परिभाषाओं से स्पष्ट हो जाता है कि लोकाचार जनरीतियों से विकसित होते हैं। जब जनरीतियाँ समाज, समूह अथवा समुदाय के लिए महत्त्वपूर्ण और कल्याणकारी समझी जाने लगती हैं वैसे ही वे जनरीति से लोकाचार बन जाती हैं। इन परिभाषाओं से दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि लोकाचार का उल्लंघन करने पर दण्ड दिया जाता

है। सम्बन्धित समूह लोकाचार के पालन पर विशेष ध्यान देता है। लोकाचार सम्बन्धित समूह के द्वारा मान्यता-प्राप्त होते हैं। ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होते हैं।

लोकाचार की विशेषताएँ (Characteristics of Mores)—लोकाचार को पूर्ण रूप से समझने के लिए इसकी विशेषताओं का गहन अध्ययन करना परम आवश्यक है। लोकाचार की अनेक विशेषताएँ तो जनरीतियों और प्रथाओं की जैसी ही हैं क्योंकि लोकाचारों की उत्पत्ति और विकास इन्हीं जनरीतियों और प्रथाओं से होता है। इनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य विशेषताएँ लोकाचार की हैं जो ये विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) स्वत: विकास (Spontaneous Development)—लोकाचारों की उत्पत्ति और विकास जनरीतियों और प्रथाओं से स्वत: होता है। इनका निर्माण योजनाबद्ध किसी सामाजिक संगठन के द्वारा नहीं होता है। यह बात अनेक समाजशास्त्रियो ने कही है।

(2) समूह-कल्याण की भावना (Feeling of Group-welfare)—लोकाचार ऐसे व्यवहार के सामाजिक प्रतिमान हैं जो समूह-कल्याण की भावना पर आधारित होते हैं। सम्बन्धित समूह के सदस्य लोकाचारों को उचित तथा उपयोगी मानते हैं।

(3) दण्ड की व्यवस्था (Provision for Punishment)—समूह के सदस्य ध्यान रखते हैं कि लोकाचारों का कोई उल्लंघन नहीं करे। अगर कोई उल्लंघन करता है तो समूह उसे दण्ड देता है। प्रत्येक सदस्य को जानकारी होती है कि इनका उल्लंघन करने पर उसे दण्ड मिलेगा।

(4) सकारात्मक-नकारात्मक लोकाचार (Positive and Negative Mores)—सभी समाजो में लोकाचार के दो प्रकार होते हैं—(1) सकारात्मक और (2) नकारात्मक। **सकारात्मक लोकाचार** व्यक्ति को समाज में कैसे व्यवहार करना चाहिए? सकारात्मक लोकाचार समाज के सदस्यों को उचित व्यवहार करने के लिए बाध्य करता है। अपेक्षित व्यवहारो को करने के लिए प्रेरणा देता है। वैध व्यवहारों की एक प्रकार से सूची प्रदान करता है; जैसे—सत्य बोलना चाहिए, दान करना चाहिए, गुरुजनों की सेवा करनी चाहिए, माता-पिता का आदर करना चाहिए, आदि-आदि।

नकारात्मक लोकाचार—कई व्यवहार ऐसे होते हैं जो सामाजिक व्यवस्था को बिगाडते हैं। अव्यवस्था फैलाने वाले व्यवहारों को नहीं करने के संकेत लोकाचार देते हैं। सामाजिक सगठन के विरोधी व्यवहारों को नहीं करने के लिए लोकाचार व्यक्ति पर रोक लगाते हैं। समाज-विरोधी व्यवहार करने पर लोकाचार के आधार पर दण्ड की व्यवस्था की जाती है। ऐसे लोकाचारों को नकारात्मक अथवा निषेधात्मक लोकाचार कहते हैं। इन्हें टेबू (Taboo) भी कहते हैं, जैसे—झूठ नहीं बोलना चाहिए, व्यभिचारी नहीं होना चाहिए, चोरी नहीं करनी चाहिए आदि-आदि।

(5) सदैव उचित (Always Appropriate)—समाजशास्त्रियों ने अध्ययन के आधार पर बताया है कि लोकाचार सदैव उचित होते हैं। इनका पालन करना सभी सदस्यों का कर्त्तव्य होता है। सामाजीकरण द्वारा बचपन से ही व्यक्ति को सिखा दिया जाता है कि लोकाचार उचित हैं। इनका पालन करना चाहिए। बाद में चाहे कितना ही हम व्यक्ति को बताएँ कि अनेक लोकाचार समय-सापेक्ष नहीं हैं। परन्तु व्यक्ति उन्हे उचित ही मानता रहता है। व्यक्ति की उचित

और अनुचित की भावना लोकाचारों पर आधारित होती है। वे ही व्यवहार उचित हैं जिन्हे लोकाचार संरक्षण प्रदान करते हैं।

(6) अनम्य (Rigid)—लोकाचार कई पीढ़ियों से हस्तान्तरित होकर बनते हैं। इसलिए वे धीरे-धीरे रूढ़िवादी हो जाते हैं। बाद में इन्हें परिवर्तित करना असम्भव तो नहीं लेकिन कठिन अवश्य हो जाता है। व्यक्ति लोकाचारों का कट्टरता से पालन करते हैं। इसीलिए लोकाचार का पर्याय रूढ़ियाँ भी हैं। बाल-विवाह, दहेज, पर्दा-प्रथा, वैधव्य आदि लोकाचारों को अनम्य होने के कारण कानून द्वारा बदलने में काफी समय लग रहा है।

(7) नैतिकता (Morality)—लोकाचारों में नैतिकता होती है। समाज के सभी सदस्य यह मानते हैं कि उनका पालन करना नैतिक कर्त्तव्य है। सामाजीकरण के द्वारा व्यक्ति को सिखाया जाता है कि लोकाचारों में नैतिकता का आधार होता है।

(8) नियन्त्रण के साधन (Means of Control)—लोकाचार सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक लेकिन बहुत प्रभावशाली साधन होते हैं। व्यक्ति के कई व्यवहार और क्रियाएँ कानून की सीमा के बाहर होते हैं परन्तु सामाजिक व्यवस्था और संतुलन के लिए उन पर नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। लोकाचार ऐसे व्यवहारों तथा क्रियाओं को नियन्त्रित और संचालित करते हैं। सभी समाज के सदस्य भी इनका पालन करवाने के लिए व्यक्ति पर दबाव डालते हैं।

(9) अनौपचारिक (Informal)—लोकाचार सामाजिक प्रतिमान का अनौपचारिक प्रकार है इसलिए समाज में इन्हें लागू करने के लिए कोई औपचारिक सगठन नहीं होता है। सामाजिक वातावरण स्वयं इतना प्रभावशाली होता है कि व्यक्ति इनका पालन, अनुकरण तथा निर्वाह करने के लिए कर्त्तव्यपरायण होता है।

(10) विशिष्टता (Distinctiveness)—विश्व में जहाँ-जहाँ मानव समाज है वहाँ-वहाँ अनेक लोकाचार हैं परन्तु प्रत्येक समाज के लोकाचार विशिष्ट होते हैं। किन्हीं दो समाजो के लोकाचार परस्पर भिन्नता व विशिष्टता वाले होते हैं।

लोकाचारों का महत्त्व (Importance of Mores)—**मैकाइवर और पेज** ने सामाजिक जीवन में लोकाचारों का अग्रलिखित महत्त्व बताया है—

(1) व्यवहारों को निश्चित करते हैं (Dicides Behaviour)—लोकाचार हमारे अधिकांश निजी व्यवहारों को निश्चित करते हैं। ये व्यक्ति पर निरन्तर दबाव डालते रहते हैं। कुछ व्यवहारों को करने के लिए बाध्य करते हैं तथा अन्य व्यवहारों को करने से रोकते हैं।

(2) एकरूपता की स्थापना (Establishes Uniformity)—लोकाचार व्यक्ति पर अपने समूह, समुदाय, सामाजिक वर्ग अथवा लिंग के अनुसार आचरणों की एकरूपता पर दबाव डालते हैं। व्यक्ति ऐसे आचरण करता है जिससे एकरूपता, सामञ्जस्य तथा संतुलन बना रहता है। यह सब लोकाचार द्वारा करवाया जाता है।

(3) संरक्षक (Protector)—प्रत्येक सामाजिक इकाई के लोकाचार होते है। प्रत्येक लिंग, आयु, वर्ग, समूह आदि के लिए लोकाचार होते हैं। लोकाचारों का कार्य समूह की एकता को बनाए रखना है। समूह अपने सदस्यों पर लोकाचारों के नियन्त्रण को बहुत कठोर कर देता है जिससे समूह में सुदृढ़ता बढ़ जाती है।

(4) कल्याण का कार्य (Welfare Work)—मैकाइवर और पेज ने लोकाचार की परिभाषा में स्पष्ट किया है कि ये समूह के लिए कल्याणकारी होते हैं। समनर, बोगार्डस आदि ने लिखा है कि समूह लोकाचार को कल्याणकारी समझते हैं।

समनर, ग्रीन और बोगार्डस ने लोकाचार के निम्नलिखित महत्त्व बताए हैं—

(5) औचित्यपूर्ण जीवन-दर्शन (Appropriate Philosophy of Life)—लोकाचार व्यक्ति को जीवन-यापन का तरीका प्रदान करते हैं। ये तरीके तर्कपूर्ण व उचित होते हैं तथा इनमें समाजसम्मत नीति का समावेश होता है।

(6) नियन्त्रण का साधन (Means of Control)—सभी समाजशास्त्रियों के अध्ययनो से पता चलता है कि लोकाचार सामाजिक नियन्त्रण के प्रभावशाली साधन हैं। ग्रीन का कहना है कि लोकाचारों का उल्लंघन करने पर गम्भीर दण्ड दिया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण के कार्य करने के कारण वे समाज मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

(7) कार्य विधियों का ज्ञान (Knowledge of Mode of Work)—समाज स्थाई है परन्तु इसके बुजुर्ग सदस्यों की मृत्यु हो जाती है तथा नए सदस्य उनका स्थान ले लेते हैं। इन नए सदस्यों को या नई पीढ़ी को समाज की कार्य-विधियों, आवश्यकताओं की पूर्ति के साधनों आदि का ज्ञान लोकाचार करवाते हैं। इस प्रकार समाज में निरन्तरता बनाए रखने में लोकाचारो का विशेष महत्त्व है।

4. परम्परा
(Tradition)

जनरीतियाँ, प्रथाएँ और लोकाचार परम्पराओं के विभिन्न उदाहरण हैं। परम्परा की प्रकृति, विशेषताएँ, कार्य और महत्त्व आदि का अनुमान इस तथ्य से लगाया जा सकता है कि परम्पराएँ भी मानव समाज के सामाजिक प्रतिमानों के अनेक प्रकारों में से एक महत्त्वपूर्ण लेकिन वृहद् प्रकार है। सभी सामाजिक प्रतिमानों के प्रकार परम्परा के विभिन्न उदाहरण हैं, ऐसा **थियोडोरसन तथा थियोडोरसन** का मानना है। इन्होंने लिखा है, "एक सामाजिक प्रथा सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती है तो वह परम्परा कहलाती है।"

परम्परा को अनेक दृष्टिकोणो से समझा जा सकता है; जैसे—विरासत के रूप में, शाब्दिक अर्थ के रूप मे, विभिन्न विद्वानो की परिभाषाओं के आधार पर तथा इसकी प्रकृति का वर्णन करके, आदि-आदि। ये दृष्टिकोण निम्नलिखित हैं—

सामाजिक विरासत (Social Heritage)—परम्परा को सामाजिक विरासत के रूप में समझा जा सकता है। विरासत का अर्थ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को संचारण के रूप में लिया जाता है। चूँकि परम्परा वह प्रक्रिया है जिसमे सामाजिक विचार, मूल्य, व्यवहार, लोक-कथाएँ आदि प्राचीन पीढ़ी से नवीन पीढ़ी को संचरित होते हैं इस अर्थ मे यह अभौतिक संस्कृति का भी अंग हो जाती है। ये सामाजिक विरासत विचारों, मूल्यो, भावनाओ आदि को मौखिक अथवा लिखित किसी भी रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करती है।

कहने का आशय यह है कि परम्परा एक सामाजिक धरोहर है जो समाज के मूल्यों, विश्वासों, भावनाओं आदि को बड़ी पीढ़ी से नवीन पीढ़ी तक पहुँचाती है।

परम्परा का अर्थ और परिभाषा (Meaning and Definition of Tradition)—'परम्परा' शब्द संस्कृत के 'परम्पर' से निर्मित हुआ है जिसका अर्थ है एक के बाद दूसरा, अथवा उत्तरोत्तर। अंग्रेजी के शब्द 'Tradition' का शाब्दिक अर्थ 'Transmission' अथवा 'Handing down' है जो हस्तांतरण का ही दूसरा नाम है। परम्परा की परिभाषाएँ रॉस, गिन्सबर्ग, ड्रोवर, फेयरचाइल्ड आदि ने दी हैं। ये निम्नलिखित हैं—

(1) **रॉस** के अनुसार, "परम्परा का अर्थ है, चिन्तन और विश्वास करने की विधि का हस्तातरण।"

(2) **ड्रोवर** के अनुसार, "परम्परा कानून, प्रथा, कहानी और पौराणिक कथाओ का वह संग्रह है जो मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित किया जाता है।"

(3) **गिन्सबर्ग** के अनुसार, "परम्परा का अर्थ उन सम्पूर्ण विचारों, आदतों और प्रथाओ का योग है जो एक समूह की विशेषता है तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती है।"

(4) **फेयरचाइल्ड** के अनुसार, "परम्परा प्रमुख रूप से विचार करने एवं महसूस करने का तरीका है जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित किया जाता है।"

(5) **'द रेण्डम हॉउस डिक्सनरी ऑफ द इंगलिश लेंगुएज'** के अनुसार, "कथनों, विश्वासों, पौराणिक कथाओं, प्रथाओं आदि का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को विशेष रूप से मौखिक अथवा अभ्यास द्वारा हस्तान्तरण परम्परा कहलाता है।"

(6) **दार्शनिक दृष्टिकोण** के अनुसार, "परम्परा से तात्पर्य ऐसे मूल्यों से होता है जो मानव समाज में प्राचीन काल से चले आ रहे हैं तथा समय का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।"

उपर्युक्त समाजशास्त्रियों की परिभाषाओं के अनुसार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सामाजीकरण अथवा अभ्यास की प्रक्रियाओं द्वारा जनरीतियाँ, प्रथाएँ, लोकाचार, विचार, आदतें, कथन, विश्वास, पौराणिक कथाएँ आदि जो प्राचीन काल से चली आ रही हैं, जिन पर समय का प्रभाव नहीं पड़ा है तथा जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होते रहते हैं, वह परम्पराएँ कहलाते हैं।

परम्परा की विशेषताएँ (Characteristics of Tradition)—अनेक विद्वानों ने परम्परा की विशेषताओं का विवेचन किया है। इनमें से प्रमुख विद्वान् **एडवर्ड शिल्स** और **फेयरचाइल्ड** हैं। परम्परा की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(1) **अमूर्तता** (Abstractness)—रॉस, शिल्स, फेयरचाइल्ड, गिन्सबर्ग आदि ने कहा है कि परम्पराएँ विचारों, आदतों, भावनाओं, व्यवहारों इत्यादि मे निहित होती हैं जो अभौतिक होती हैं। ये सब संकलित होकर परम्परा को बनाती हैं। इनका रूप अमूर्त होता है क्योंकि परम्परा इनसे बनती है इसलिए यह भी अमूर्त होती है।

(2) संचरण (Transmission)—गिन्सबर्ग और अन्य विद्वानों ने लिखा है कि परम्पराओं का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सदियों से संचरण होता रहा है। परम्पराएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होती रहती हैं। संचरण की विशेषता परम्परा का मौलिक लक्षण है। अगर परम्परा की यह विशेषता नष्ट हो जाए तो परम्परा भी नष्ट हो जाएगी। परम्पराएँ समाज के वे विश्वास, विचार, चिंतन, प्रथाएँ आदि हैं जो निरन्तर संचरित होती रहती हैं।

(3) निरन्तरता (Continuity)—क्योंकि परम्पराएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचरित और हस्तांतरित होती हैं इसलिए इनमें निरन्तरता का गुण निहित है। परम्पराएँ मानव, समूह और समाज की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करती रहती हैं इसलिए ये समाज में निरन्तर चलती रहती हैं। सभी समाजशास्त्रियों तथा विद्वानों ने कहा है कि परम्पराएँ सामाजिक विरासत हैं। परम्पराओं का पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत के रूप में बना रहना तभी सम्भव है जब उनमें निरन्तरता बनी रहे। प्रत्येक वर्तमान पीढ़ी अपनी बड़ी पीढ़ी से परम्पराओं को विरासत के रूप में पाती है तथा उसे अगली पीढ़ी या युवा पीढ़ी को सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा हस्तांतरित करती रहती है। इस प्रकार परम्परा में निरन्तरता बनी रहती है।

(4) ऐतिहासिकता (Historical)—परम्पराओं का इतिहास बहुत पुराना होता है। ये हजारों वर्षों से समाज में चलती तथा बनी रहती हैं। अनेक समाजशास्त्रियों, जैसे—योगेन्द्र सिंह, डेनियल लर्नर, सी. ई. ब्लेक, इन्कल्स आदि ने परम्परा को आधुनिकता से तुलना करते हुए लिखा है कि जो ऐतिहासिक है वह परम्परा है तथा जो नूतन है वह आधुनिक है। पुरानी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि व्यवस्थाएँ परम्परागत हैं। परम्पराओं का मूल लक्षण ऐतिहासिकता है।

(5) सापेक्षता (Relativity)—जो कुछ प्राचीन तथा अमूर्त है वह परम्परा है। जैसा चला आ रहा है वह परम्परा है। लेकिन वर्तमान में नये विचारों की स्वीकृति, नई पद्धति का प्रयोग आदि परम्पराएँ नहीं है। लेकिन भविष्य में कुछ पीढ़ियों में जाकर ये परम्पराएँ बन जाएँगी। इसलिए परम्पराएँ इस अर्थ में समय-सापेक्ष हैं कि जो प्राचीन काल से चला आ रहा है वह परम्परा है तथा वर्तमान में जो कुछ नया विचार, नियम, कहानी, पद्धति आदि वर्तमान में है वह भविष्य में परम्पराएँ बन जाएँगी।

(6) संचयी विरासत (Cumulative Heritage)—परम्पराएँ संचयी विरासत होती हैं। प्रत्येक पीढ़ी अपने-अपने समय में विचारों को स्वीकृति देती है। नई-नई पद्धतियों का प्रयोग करती है। चिन्तन करती है। आवश्यकताओं की पूर्ति के नए-नए तरीके खोज निकालती है। ये सब परम्पराओं के साथ मिल जाते हैं। नई एवं युवा पीढ़ी को हस्तान्तरित होते रहते हैं। इस प्रकार परम्पराएँ संचयी होती जाती हैं तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती हैं। प्रत्येक नई तथा युवा पीढ़ी को परम्परा के रूप में संचयी विरासत मिलती रहती है।

(7) समूह-कल्याण की भावना (Feeling of Group Welfare)—परम्पराएँ पीढ़ी-दर-पीढ़ी इसलिए चलती रहती हैं कि ये व्यक्ति, समूह और समाज के कल्याण की भावना पर आधारित होती है। परम्पराएँ कानून, प्रथा, कहानी, चिन्तन, विश्वास आदि का संग्रह हैं जिसे मौखिक रूप से हस्तान्तरित इसलिए किया जाता है कि इनमें कल्याण की भावना निहित होती

है। अगर कल्याण की भावना नहीं हो तो इनको अगली पीढ़ी को सिखाना कठिन हो जाए। परम्पराओं में समूह कल्याण की भावना होने के कारण ये सदियों से निरन्तर समाज मे बनी रहती हैं। जो परम्पराएँ समूह-कल्याण की भावना-रहित हो जाती है वे लुप्त हो जाती हैं अथवा अवशेष बन जाती हैं।

(8) स्वत: एवं अचेतन पालन (Spontaneous and Unconscious Practice)—**मेक्स वेबर** ने लिखा है कि लोग परम्पराओं का पालन स्वाभाविक एवं अचेतन रूप मे करते हैं। परम्परागत क्रियाओ को वेबर ने तर्कहीन माना है। आपका कहना है कि व्यक्ति परम्परागत क्रियाएँ इसलिए करता है कि उन्हे पहिले से लोग करते आ रहे हैं। व्यक्ति बिना सोचे-समझे तथा बिना तर्क पूर्ण विचार किए परम्पराओं का निर्वाह करता है। वेबर ने तो यहाँ तक लिखा हे कि अनेक क्रियाएँ जो व्यक्ति समाज मे करता है तो तर्कहीन तथा बिना लाभ-हानि का विचार किए करता है। ऐसी क्रियाएँ या तो परम्परागत होती हैं अथवा भावात्मक।

(9) सम्प्रेषण और ग्रहणशीलता (Communication and Acceptability)—परम्पराओ का सम्प्रेषण नई तथा युवा पीढ़ी की ग्रहणशीलता पर निर्भर करता है। जब नई पीढ़ी को पुरानी तथा वृद्ध पीढ़ी द्वारा परम्परा का ज्ञान कराया तथा सिखाया जाता हे, उसको सीखने तथा ग्रहण करने पर ही परम्परा का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सम्प्रेषण सम्भव होता है। अगर युवा पीढ़ी सीखने तथा ग्रहण करने से मना कर दे तो परम्पराओं का सम्प्रेषण भी असम्भव हो जाता है।

(10) स्थिर फिर भी गतिशील (Static yet Dynamic)—सामान्यतया परम्पराएँ स्थिर होती हैं, अर्थात् परम्पराएँ कठोर तथा अपरिवर्तनीय रहती हैं। परम्पराएँ इसलिए प्राचीन हे कि उनमें परिवर्तन बहुत जल्दी नहीं होता है। लेकिन इनमें संशोधन अथवा रूपान्तरण शोधन इतना धीरे-धीरे होता है कि जनसामान्य को इसका पता भी नहीं चलता है। यह परम्परा का विरोधाभास है कि वह स्थिर होते हुए भी गतिशील तथा परिवर्तनशील है।

(11) अनुभवों का प्रतीक (Symbol of Experience)—परम्पराएँ व्यक्तियो, समूहो तथा समाज के अनुभवों का परिणाम तथा प्रतीक होती हैं। इन विभिन्न स्तरों पर व्यक्ति, समूह और समाज निरन्तर परीक्षण करते हैं कि किन रीतियो तथा विधियों से आवश्यक्ताओ की पूर्ति सरल तथा कम समय मे हो सकती है। इन्हीं में से समाज सुगम पद्धतियो को चुन लेता है तथा उन्हे पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करता है। इस प्रकार से जो परम्परा का रूप ले लेते हैं वे अनुभवो के प्रतीक होते हैं।

परम्पराओं का महत्त्व *(Importance of Traditions)*—परम्पराएँ सामाजिक संगठन और सामाजिक सन्तुलन के लिए परम आवश्यक होती हैं। अगर परम्पराएँ नहीं हो तो समाज की निरन्तरता और संरचना दोनो छिन्न-भिन्न हो जाएँगी। समाज के अस्तित्व के लिए परम्पराओं का होना आवश्यक है। यह सत्य है कि समाज निरन्तर बना रहता है परन्तु इसके सदस्य निरन्तर बदलते रहते हैं। बुजुर्ग पीढ़ी समाप्त हो जाती है तथा नई पीढ़ी उसका स्थान ले लेती है। नई तथा युवा पीढ़ी को परम्पराएँ ही संचय ज्ञान, कार्य-विधियाँ, प्रथाएँ, चिन्तन और विश्वास करने की विधि आदि प्रदान करती हैं। परम्पराएँ वह सब कुछ प्रदान करती हैं जो समाज के अस्तित्व के लिए

आवश्यक होता है। परम्परा के निम्नलिखित विशिष्ट कार्य इसके महत्त्व को और अधिक स्पष्ट कर देते हैं—

(1) सामाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति परम्पराओं को सीख कर समाज का उपयोगी सदस्य बन पाता है। परम्पराएँ व्यक्ति, समूह और समाज के व्यवहार को नियन्त्रित, निर्देशित और संचालित करती हैं। जितना अच्छा परम्पराओ के द्वारा सामाजीकरण होगा उतना ही कम विपथगामी व्यवहार होगा।

(2) समाज के सभी सदस्य परम्पराओं को सीखते हैं। उनके अनुसार व्यवहार करते हैं। अपने उद्देश्य तय करते हैं। इस प्रकार एक समाज के सभी सदस्यों के विचारो, धारणाओ, दृष्टिकोणो आदि में परम्परा एकरूपता पैदा करती है।

(3) सामाजिक व्यवस्था तथा सतुलन बनाए रखने के लिए अनेक साधनो का प्रयोग किया जाता है। उन अनेक साधनो मे परम्पराएँ सामाजिक नियन्त्रण का महत्त्वपूर्ण तथा सशक्त साधन हैं। यह अनौपचारिक, मौखिक और सकारात्मक तथा निषेधात्मक है।

(4) परम्पराएँ सामाजिक संगठन के अनेक पक्षों से सम्बन्धित होती हैं। व्यक्ति या समूह के सामने अनेक बाधाएँ आती हैं। उसे पग-पग पर विभिन्न कठिनाइयो का सामना करना पडता है। ऐसी परिस्थितियो मे परम्पराएँ तत्काल समाधान प्रदान करती हैं। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को करके परम्पराएँ व्यक्ति और समूह को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करती रहती हैं।

(5) गिन्सबर्ग ने भी लिखा है कि परम्पराएँ राष्ट्रीय भावना के विकास मे महत्त्वपूर्ण योगदान करती हैं।

(6) गिन्सबर्ग ने परम्पराओ का सामाजिक व्यवस्था से सम्बन्धित महत्त्व बताते हुए कहा है कि परम्पराओं के द्वारा सामाजिक सस्थाओ का अस्तित्व बना रहता है।

(7) अनेक समाजशास्त्रियों ने परम्पराओ के महत्त्व का वर्णन करते समय लिखा है कि परम्पराएँ सामाजिक सघर्ष, विरोध, वैमनस्य आदि को कम करती हैं, जो समाज परम्पराओ पर अधिक निर्भर हैं, जैसे—आदिम समाज, ग्रामीण समाज आदि, उनमे परम्पराएँ समाज के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक, सास्कृतिक, शैक्षिक, मनोवैज्ञानिक आदि व्यवस्थाओ का संचालन करती हैं। इन समाजों मे परम्पराओ का विशेष महत्त्व है।

5. नैतिकता और धर्म
(Morality and Religion)

नैतिकता (Morality)—नैतिकता चरित्र की दृढ़ता एवं पवित्रता से सम्बन्धित सम्प्रत्यय है क्योकि इसका सम्बन्ध सद् और असद्, शुभ और अशुभ की भावना से है अर्थात् जिन नियमों की स्वीकृति समाज द्वारा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ की भावना के आधार पर होती है वे नियम नैतिकता के अन्तर्गत आते हैं। किंग्सले डेविस के मत में, "नैतिकता के अन्तर्गत किसी नियम को मानने के प्रति मनोभाव और कुछ मात्रा मे व्यक्ति के व्यवहार सम्बन्धी चारित्रिक दृढता तथा सिद्धान्तों का पालन सम्मिलित है।"

किसी नियम व आदर्श की अनुपालना व्यक्ति केवल इसलिए नहीं करता कि वह परम्परागत है अथवा उसके आस-पास के लोग भी उसका पालन कर रहे हैं वरन् इसलिए करता है कि वह न्याय, पवित्रता, सच्चाई आदि के अमूर्त सिद्धान्तों पर आधारित है।

नैतिकता आत्म-चेतना से प्रेरित होती है, इसका आधार मनुष्य के जीवन के मूल्य होते हैं जिनके अनुसार वे तर्कों का निर्माण कर लेते हैं। नैतिकता में स्थायित्व की भावना होती है। नैतिकता व्यावहारिक नियमों पर अधिक जोर देती है इसीलिए **गुरविच** ने लिखा है कि नैतिकता अत्यधिक गत्यात्मक, रचनात्मक तथा रूढ़िवादी तत्त्वो का विरोध करने वाली होती है।

नैतिकता मे न्याय, ईमानदारी, सच्चाई, पक्षपातहीनता, स्वतंत्रता, दया और पवित्रता जैसी धारणाएँ सम्मिलित होती हैं जो समय और परिस्थिति के अनुसार सदेव परिवर्तित होती रहती हैं। बौद्धिक और दार्शनिक स्तर पर नैतिकता ही आचार-शास्त्र या नीति-शास्त्र कहलाती है। जिसका अर्थ—नियमों और सिद्धान्तों की उस व्यवस्था से है जो आत्म-चेतना के द्वारा भलाई और बुराई में भेद करना सिखाती है। उदाहरणार्थ—'चोरी करना', 'किसी की चीज छुपा लेना' आदि नैतिकता के विरुद्ध आचरण हैं। नैतिकता किसी वर्ग के सामाजिक प्रतिमान से भी सम्बन्धित है, जैसे—अध्यापक की नैतिकता, वकील की नैतिकता आदि। कहने का आशय यह है कि नैतिकता सामाजिक मूल्यो से घनिष्ठतया सम्बन्धित है और चूँकि विभिन्न समाजो के मूल्य एक दूसरे से काफी भिन्न होते हैं, परिणामस्वरूप नैतिकता के नियमो मे भी पर्याप्त भिन्नता दिखाई देती है।

धर्म (Religion)—धर्म का सम्प्रत्यय नैतिकता से ही सम्बन्धित है। धर्म अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित है। धर्म नैतिकता के सिद्धान्तों का समर्थन करता है। नैतिकता की परिपालना धर्म के भय के कारण की जाती है क्योंकि कुछ नैतिक नियम ईश्वरीय एव अलौकिक शक्ति से उत्पन्न माने जाते हैं जिनका पालन न करने पर ईश्वर रुष्ट हो जायेगा ऐसा माना जाता है। ईश्वरीय शक्ति ही नैतिक सिद्धान्तों की पुष्टि एवं उनका पोषण करती है। कर्म, पुनर्जन्म एव स्वर्ग-नरक की अवधारणा धर्म के आधार पर ही की गई है क्योंकि उनके भय से व्यक्ति धार्मिक नियमों का पालन करता है। धार्मिक नियमो की अवमानना करने से व्यक्ति पाप का भागी बनता है। यह विश्वास ही व्यक्ति को पवित्र आचरण करने को प्रोत्साहित करता है। धर्म श्रद्धा एवं विश्वास की वस्तु है, उसमें तर्क का कोई स्थान नहीं है न ही इसके लिए प्रामाणिकता की आवश्यकता होती है। **जिस्बर्ट** के अनुसार, "धर्म-संहिता आन्तरिक एवं बाह्य—दो रूपों में स्पष्ट होती है। आन्तरिक रूप मे धार्मिक-विचार, मान्यताएँ, ईश्वर के प्रति व्यक्ति के उद्वेग आदि आते हैं और बाह्य रूप मे मानव-संस्कार, अनुष्ठान, प्रार्थना आदि सम्मिलित होते हैं। विभिन्न धर्मों के अलग-अलग नियम होते हैं जो सामाजिक जीवन को नियन्त्रित करने का कार्य अलग-अलग आदर्शों द्वारा पूरा करते हैं, जैसे—जैन-धर्म, बौद्ध-धर्म आदि सत्य, अहिंसा आदि को महत्ता प्रदान करते हैं।" **डासन** इसी सम्बन्ध में लिखते हैं, "मानवता के सम्पूर्ण इतिहास मे धार्मिक नियम सदैव एक महान् शक्ति का कार्य करते रहे हैं। मानव के भाग्य का निर्माण करने, उसे परिवर्तित करने तथा व्यक्ति और समाज को घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध करने मे यह नियम सदैव महत्त्वपूर्ण हैं।" इस प्रकार धर्म का सम्बन्ध नैतिकता से होता है, धर्म नैतिकता को शक्ति प्रदान करता है किन्तु धर्म में सभी नैतिक नियम

सम्मिलित नहीं होते। कुछ नैतिक नियम धर्म-निरपेक्ष भी होते हैं। इस रूप में धर्म और नैतिकता परस्पर सम्बन्धित होते हुए भी अलग-अलग हैं।

नैतिकता और धर्म में अन्तर (Difference Between Morality and Religion)—

समाजशास्त्री मैकाइवर एवं पेज यह मानते हैं कि यद्यपि धर्म और नैतिकता परस्पर सम्बन्धित हैं फिर भी इनमे कुछ अन्तर है—

(1) धर्म की प्रवृत्ति रूढ़िवादी है अर्थात् बदलती हुई परिस्थितियो से अनुकूलन करने का गुण इसमे नहीं होता है, जबकि नैतिकता गत्यात्मक अर्थात् यह रूढ़िवादी तत्त्वो का विरोध करने वाली होती है। यह स्थिति धर्म और नैतिकता के मध्य सघर्ष का कारण बन जाती है।

(2) धर्म अतार्किक है जबकि नैतिकता तार्किक है। इससे कभी-कभी संघर्ष की स्थिति आ जाती है, जैसे—धर्म अपने प्रभाव को सिद्ध करने के लिए कर्मकाण्डो को जटिल बनाता है। लेकिन नैतिकता इसका विरोध करती है क्योंकि नैतिकता के नियम व्यक्तियों को अधिक प्रभावित करने लगते हैं।

(3) नैतिकता की तुलना मे धर्म का प्रभाव-क्षेत्र सीमित होता है। धर्म छोटे-छोटे समूहों, समुदायो में भिन्न-भिन्न प्रकृति का होता है लेकिन नैतिकता की प्रकृति सभी समाजो मे प्राय: एक-सी होती है। इससे कभी-कभी धार्मिक विश्वास और नैतिक मूल्यो के मध्य सघर्ष की स्थिति हो जाती है।

अन्त मे यह कहा जा सकता है कि इस सघर्ष का अर्थ यह नहीं कि इन दोनो प्रतिमानो का अस्तित्व पृथक्-पृथक् है। वास्तव मे धार्मिक नियम अलौकिक नियमों की सहायता से नैतिकता के नियमो को पवित्र बनाते हैं। इसी सदर्भ मे बेन्जामिन और लुइस का कहना उपयुक्त है कि धर्म की सहायता के बिना नैतिकता के नियम किसी प्रकार भी प्रभावपूर्ण नहीं बन सकते।

6. कानून
(Law)

कानून का महत्त्व वर्तमान युग की प्रमुख विशेषता है। कानून की प्रकृति औपचारिक होती है—ये वे नियम हैं जो राज्य की ओर से व्यक्ति को मान्य होते हैं। जब प्रथा, रूढ़ियाँ आदि औपचारिक शक्तियाँ जो समाज के संचालन के लिए आवश्यक होती हैं, उन्हे सम्पूर्ण समाज स्वीकृति दे देता है तब उन्हें लिखित रूप दे दिया जाता है, वही कानून कहलाता है। इस प्रकार कानून वे नियम हैं जिनके पीछे राज्य की शक्ति होती है। कानूनो के दो प्रकार किंग्सले डेविस द्वारा मान्य हैं—(1) प्रथागत कानून और (2) वैधानिक कानून, जिन्हे निम्नलिखित रूपो मे वर्णित किया जा सकता है—

(1) प्रथागत कानून (Customary law)—प्रथागत कानून में वे नियम सम्मिलित है जिनका पालन व्यक्ति अपनी इच्छा और सामाजिक दबाव के कारण करते हैं। ऐसे नियमो का लिखित रूप मे कोई अस्तित्व नहीं होता, लेकिन इनका प्रभाव लिखित नियमो से अधिक होता है। कोई भी व्यक्ति सामान्य रूप से इन नियमो की अवहेलना इसलिए नहीं करता कि व्यावहारिक

जीवन में उसे व्यंग्य, परिहास अथवा शारीरिक दण्ड आदि मिल सकता है। प्रथागत कानून उस समाज मे होते है जहाँ न्याय-व्यवस्था सरकारी-तंत्र द्वारा नहीं अपितु व्यक्तियो के एक विशिष्ट समूह द्वारा संचालित होती है जिन्हे न्याय करने व दण्ड आदि देने के पूरे अधिकार प्राप्त होते हैं। डेविस के अनुसार ये प्रथागत कानून इसलिए कहलाते हैं क्योंकि इसमें न तो कोई विधानसभा होती है, न ही सांस्कृतिक विरासत के विरुद्ध नियमों को लागू करने के लिए कोई विधान-मण्डल होता है लेकिन फिर भी इनकी प्रकृति समाज मे प्रचलित कानूनो की तरह ही होती है। इनका कोई लिखित रूप भी नही होता फिर भी ये कानून कम शक्तिशाली नहीं होते। ऐसे कानून प्राय: आदिम समाजों मे पाए जाते हैं।

(2) वैधानिक कानून (Enacted law)—वैधानिक कानून या नियम विधान-मण्डलो द्वारा बनाए जाते हैं। इनकी घोषणा राज्य की ओर से लिखित रूप मे होती है और इन कानूनों को औपचारिक रूप से लागू किया जाता है। इनका उल्लंघन करने पर राज्य की ओर से दण्ड दिया जाता है। इनकी रक्षा के लिए न्यायालय होता है। चूँकि वैधानिक नियम लिखित ही होते हैं, अत: ये नियम उन समाजो में होते हैं जो पढ़े-लिखे अथवा साक्षर होते हैं। आधुनिक जटिल सामाजिक युग में सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए वैधानिक कानूनों की विशेष आवश्यकता है। **मैकाइवर एवं पेज** ने कानून को इस रूप में परिभाषित किया है, "कानून नियमों की वह व्यवस्था है, जिन्हे राज्य के न्यायालयो द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। न्यायालयों द्वारा इनकी विवेचना होती है और किसी विशेष परिस्थिति के अनुसार ही इन्हें लागू किया जाता है।"

रॉस ने कानून-सहिता में दवाव और बाध्यता को इनकी प्रमुख विशेषता माना है। इसी आधार पर इन्होंने कहा है, "कानून मानव-व्यवहार को नियन्त्रित करने वाले औपचारिक विशिष्ट नियमों का वह स्वरूप है, जो उन लोगो द्वारा बनाए जाते हैं, जिन्हें राज्य की राजनैतिक शक्ति प्राप्त होती है और उन्हीं सत्ताधारियों द्वारा ये लागू किए जाते हैं।"

मैलिनोव्स्की के मत मे, "कानून-सहिता का मुख्य कार्य व्यक्ति के प्राकृतिक उद्वेगों और मूल-प्रवृत्तियों के प्रभाव को कम करना तथा एक सामाजीकृत और अनिवार्य व्यवहार को प्रोत्साहन देना है। इसके द्वारा कानून का कार्य व्यक्तियों के बीच ऐसे सहयोग उत्पन्न करना है, जिससे वे सामान्य लक्ष्यों के लिए अपने व्यक्तिगत हितो का बलिदान कर सके।"

निष्कर्षत: कानून वे नियम हैं जो विधान-परिषदों द्वारा बनाए जाते हैं और सरकारी अधिकारियों द्वारा लागू किये जाते हैं जिनका उल्लघन करने पर राज्य दंडित करता है। ये सभी समाजो में होते हैं। आदिम समाजों में 'अलिखित या आदिम कानून' के रूप में लागू होते हैं और जटिल समाज में 'वैधानिक कानून' के रूप में स्वीकृत होते हैं।

7. संस्थाएँ
(Institutions)

'संस्था' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम **स्पेन्सर** ने अपनी पुस्तक *'फर्स्ट प्रिंसिपल्स'* में किया था। आपके अनुसार संस्था वह अंग है जिसके माध्यम से समाज के कार्यों को कार्यान्वित किया जाता है। सस्थाएँ सामाजिक-संरचना का एक भाग होती हैं और इनमें अनेक सामाजिक-प्रतिमान समाहित होते हैं।

संस्था की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Institution)

किंग्सले डेविस के अनुसार, "संस्था को परस्पर सम्बन्धित लोकरीतियो, लोकाचारो तथा वैधानिक नियमों की समग्रता कहकर परिभाषित किया जा सकता है, जो एक अथवा अधिक कार्यों के लिए बनाई गई हो।" इस प्रकार डेविस के अनुसार, संस्थाओ को लोकरीतियों, रूढ़ियों का रूपान्तर कहा जा सकता है जो समाज द्वारा व्यवहार में स्वीकृत होकर स्थायित्व प्रदान कर लेती हैं।

लुण्डबर्ग के अनुसार, "सामाजिक संस्थाएँ समाज की मूलभूत आवश्यकताओं व कानून-कायदो को व्यवहार में लाने का साधन है, जैसे—बच्चो का पालन-पोषण और उनका प्रशिक्षण, शत्रुओ व प्राकृतिक विपदाओ से रक्षा, भोजन, वस्त्र व आश्रय की व्यवस्था आदि। संस्थाएँ स्थाई आदतो, दृष्टिकोणों और भौतिक तत्त्वो से बनती हैं।" संस्थाओ में परिवार, सरकार, धर्म, व्यापार प्रमुख रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

गिलिन एवं गिलिन ने संस्थाओ को इस रूप मे परिभाषित किया है, "एक सामाजिक संस्था प्राकृतिक प्रतिमानो (जिनमे क्रियाएँ, विचार, मनोवृत्तियाँ तथा सास्कृतिक उपकरण सम्मिलित हैं) का वह क्रियात्मक स्वरूप है जिसमे कुछ स्थायित्व होता है तथा जिसका कार्य सामाजिक आवश्यकताओं को संतुष्ट करना है।"

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "सस्था कार्य-प्रणाली के उन प्रतिष्ठित स्वरूपो अथवा स्थिति को कहते हैं, जो समूह की क्रियाओ की विशेषता को स्पष्ट करती हो।"

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सस्थाएँ समाज की मूलभूत आवश्यकताओ व कानूनो को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने के साधन हैं। इन्हे सामाजिक प्रतिमानों का क्रियात्मक स्वरूप माना गया है। प्रत्येक सस्था मे कुछ नियम पाए जाते हैं, उदाहरणार्थ—परिवार एक संस्था है जिसमे अनेक नियम-कानून होते हैं—बच्चों का पालन-पोषण करना, माता-पिता के प्रति अपने दायित्व निभाना, गृह-सज्जा आदि देखना—कुछ लोकाचार भी करने पड़ते हैं। जैसे कुटुम्ब के सदस्यों को विवाह आदि अवसरो पर निमन्त्रण देना—कुछ कानूनी नियम भी होते हैं, जैसे—वृद्धावस्था में माता-पिता के भरण-पोषण का पुत्र का उत्तरदायित्व होना, आदि-आदि। ये सभी प्रतिमान सामाजिक संरचना को जन्म देते हैं।

किंग्सले डेविस के अनुसार, यह कहा जा सकता है कि "जितनी भी राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक तथा मनोरजनकारी सस्थाएँ हैं, वे सभी भिन्न-भिन्न प्रकार की अन्तर्सम्बन्धित लोकरीतियों, लोकाचारो और वैधानिक नियमो से उस ढाँचे का प्रतिनिधित्व करती हैं जो परस्पर सगठित हैं और विभिन्न प्रकार के कार्य करने के योग्य है।" इस प्रकार सस्थाएँ सामाजिक नियन्त्रण के मानदण्डो के निर्धारण का कार्य करती हैं।

8. परिपाटी एवं शिष्टाचार

(Convention and Etiquette)

8.1 परिपाटी (Convention)—**किंग्सले डेविस** के मत मे "परिपाटी एव शिष्टाचार विशिष्ट प्रकार की लोकरीतियाँ अथवा जनरीतियाँ हैं जिनका कोई गहन अर्थ नहीं होता केवल

सामाजिक सम्बन्धो में सरलता उत्पन्न करना ही इनका प्रमुख महत्त्व है।" परिपाटी किसी भी कार्य को करने का परम्परागत तरीका है। यह व्यवहार के निश्चित स्वरूप को स्पष्ट करती है जिनका किसी विशेष परिस्थिति मे सामाजिक सम्बन्धों द्वारा अनुसरण होना आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ—सडक के बाईं ओर चलना भारत की परिपाटी कही जाएगी जिसे प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है क्योकि ऐसा होता आ रहा है।

परिपाटी उचित-अनुचित से बहुत अधिक सम्बन्धित नहीं है लेकिन बहुत समय से कोई परिपाटी चली आ रही है इस कारण उसकी उपयोगिता स्वत: सिद्ध है—सीधे हाथ से भोजन करना—परिपाटी के साथ-साथ उपयोगी भी है। इसी से यदि कोई बाएँ हाथ का प्रयोग इस कार्य में अधिक करता है तो उसे मना कर दिया जाता है। इस प्रकार ये (परिपाटी) निरन्तर मार्ग-निर्देशक का कार्य भी करती रहती हैं। इनका कार्य व्यक्ति की पारस्परिक संघर्षो मे रक्षा करना भी होता है। भारत में विवाह को विधि-विधानो के द्वारा सम्पन्न करना एक परिपाटी है वरना विवाह कानून द्वारा भी किया जा सकता है लेकिन विधि-विधानो को करने के उपरान्त व्यक्ति तनावो व संघर्षो से मुक्ति पा लेता है। इसीलिए कहा गया है कि परिपाटी जीवन की विशिष्ट परिस्थितियो मे एक जैसा व्यवहार करने की व्यवस्था प्रदान करती है।

8.2 शिष्टाचार (Etiquette)—से आशय किसी कार्य को करने का उचित ढग है। **किंगसले डेविस** के अनुसार शिष्टाचार की व्याख्या इस प्रकार की गई है—"यह भी सामाजिक मानदण्डो का एक प्रकार है। इसका अर्थ यह है कि हम किसी कार्य को कई ढगों से कर सकने के लिए स्वतन्त्र होते हैं। किन्तु उनमें से एक अच्छा ढंग चुन लेते हैं। इस कारण बाह्य साधनो मे शिष्टाचार एक प्रतीक के समान है, जिसे व्यक्ति के वर्ग का पद जाना जा सकता है। सामाजिक कार्यक्षमता और सरलता के दृष्टिकोण से इसका अधिक महत्त्व नहीं है, जैसे—हम किस प्रकार अभिवादन करते है? कैसे वस्त्र पहिनते हैं? आदि-आदि। किन्तु शिष्टाचार के दृष्टिकोणो से यही तरीके एक बड़ी भिन्नता उत्पन्न कर सकते हैं, क्योकि अनेक विषयों मे से उचित-अनुचित ढग को चुनना व्यक्ति के सामाजिक-स्तरीकरण को स्पष्ट करता है। इस प्रकार शिष्टाचार एक साधन है जिससे समाज के विभिन्न स्तर के व्यक्तियो की पहिचान हो जाती है।"

रॉबर्ट बीरस्टीड ने शिष्टाचार के तीन मुख्य उद्देश्य बताए हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(1) अन्य प्रतिमानो की तरह यह विशिष्ट अवसरो पर पालन की जाने वाली मानक प्रक्रियाओं को निर्धारित करता है।

(2) यह उन महत्त्वपूर्ण सामाजिक विशेषताओं को प्रकट करता है जिन्हें समाज के कुछ खास सदस्य बनाए रखना चाहते हैं।

(3) यह उन लोगो में सामाजिक-भेद बनाए रखता है, जहाँ अधिक परिचय अथवा घनिष्ठता की आवश्यकता नहीं होगी।

इस प्रकार शिष्टाचार प्रत्येक समाज मे उचित व्यवहार-प्रतिमान प्रस्तुत करता है, उदाहरणार्थ—भारत में बालक अपने माता-पिता व परिवार के बड़े-बूढो के साथ हाथ नही मिलाता, बल्कि चरण-स्पर्श करता है तथा अपने साथियो के साथ हाथ मिलाकर अभिवादन करता है। इस प्रकार शिष्टाचार अपेक्षित व्यवहारों में एकरूपता लाता है।

9. फैशन और धुन
(Fashion and Fad)

9.1 फैशन (Fashion)—फैशन और धुन दोनो का अपना-अपना महत्त्व है। व्यक्ति मे नवीनता व भिन्नता के लिए सदैव से ही आग्रह रहा है। प्राचीन आदर्शों की परिपालना के साथ-साथ मनुष्य मे परिवर्तन की इच्छा होती है। इसकी पूर्ति कुछ ऐसे आदर्श-नियमो से होती है जो कुछ समय तक प्रचलन मे रहकर फिर परिवर्तित हो जाते हैं, जिन्हे फैशन या धुन कहा जा सकता है। फैशन एक प्रकार का सामाजिक मानदण्ड है लेकिन जनरीतियाँ, लोकाचार, प्रथा, रूढ़ियाँ आदि स्थायित्व लिए हुए होती हैं जबकि फैशन अस्थाई होती है।

बीरस्टीड के अनुसार, "अनुरूप और भिन्न बनने की विरोधी प्रवृत्तियो मे समझौता कराने के लिए फैशन एक बहुत उपयुक्त कला है।" नित्य नवीनता और अनुरूपता दोनो विरोधी तत्त्वों का समन्वय फैशन मे दिखाई देता है। फैशन विभिन्न क्षेत्रो मे दिखाई देती है—वस्त्रो के चयन मे फैशन का रूप स्पष्टता से देखा जा सकता है—जो वस्त्र कल तक प्रचलन मे थे वे आज प्रचलन मे नहीं हैं क्योकि आज इस प्रकार के वस्त्रो का फैशन हट गया है और समाज उस प्रकार की पोशाक पहिनने पर हमारा परिहास करेगा। इस प्रकार **किंग्सले डेविस** के अनुसार, "फैशन सामाजिक व्यवहार के मानदण्डो का स्वरूप है।"

मैकाइवर एव **पेज** के मत मे, "फैशन से तात्पर्य किसी प्रथागत विषय पर समाज-स्वीकृत भिन्नता के क्रम से है।"

जेम्स ड्रेवर "फैशन को सामाजिक परिपाटी का एक ऐसा पहलू मानते है जिसकी मुख्य विशेषता उसकी बदलती हुई प्रकृति होती है।"

रॉस के अनुसार, "फैशन किसी भी जन-समूह की पसन्द मे होने वाले क्रमिक परिवर्तनो का नाम है जो उपयोगिता द्वारा निर्धारित नहीं होते, यद्यपि उनमे उपयोगिता का तत्त्व भी सम्मिलित हो सकता है।"

किम्बाल यंग के मत मे, "फैशन वह प्रचलन या फैली हुई रीति, तरीका, कार्य करने का ढग, अभिव्यक्ति की विशेषता अथवा सास्कृतिक लक्षणो को प्रस्तुत करने का तरीका है जिसे प्रथा स्वय बदलने की आज्ञा देती है।"

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि फैशन को मानवीय व्यवहारो से सम्बन्धित मानदण्डो का एक स्वरूप कहा जा सकता है जो समय के अनुसार परिवर्तित होता रहता है, जिसमे अस्थायित्व पाया जाता है, साथ ही यह हमारे व्यवहारो को नियत्रित व व्यवस्थित करता है।

फैशन की विशेषताएँ (Characteristics of Fashion)—फैशन समाज के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी कुछ विशेषताएँ हो सकती हैं, जो निम्नलिखित हैं—

(1) फैशन वे मान्य परिवर्तन हैं जो हमारे व्यवहारो को नियन्त्रित व व्यवस्थित करते हैं।

(2) फैशन से व्यक्ति मे नवीनता, ताजगी आती है। यह व्यक्ति को समाज के अनुरूप बने रहने की इच्छा की पूर्ति करती है जिससे व्यक्ति का जीवन सरस बनता है, उदाहरण के लिए—'बालो का रगना' व्यक्ति के जीवन मे जागरूकता व जीवन के प्रति आकर्षण को बढावा देता है।

(3) फैशन व्यक्ति के सामाजिक जीवन से अधिक सम्बद्ध होती है।

(4) यह समाज मे एकरूपता उत्पन्न करती है तथा समाज को सुदृढ़ बनाती है।

(5) फैशन उच्च वर्ग की ओर व्यक्ति को प्रोत्साहित करती है, क्योंकि सर्वप्रथम उच्च वर्ग हर नवीनता को पहिले ग्रहण करता है। उसका अनुकरण समाज के अन्य वर्ग करते हैं और उसके अनुरूप बनने का प्रयास भी करते हैं।

(6) अनेक बार फैशन प्रथा का रूप ले लेती है क्योंकि अनुकरण के द्वारा सभी इस परिवर्तन को स्वीकार कर लेते हैं।

(7) कई बार फेशन इतनी शीघ्रता से बदल जाते हैं कि हर व्यक्ति इन्हें अपना नहीं पाता। कुछ लोग इन्हे अपनाकर छोड़ देते हैं, जबकि अन्य लोग इसे उनके बाद अपनाना प्रारम्भ करते हैं। शहर मे फैशन परिवर्तित हो जाती है तब गाँव वाले इसे अपनाना प्रारम्भ करते हैं।

फेशन प्रथा से भिन्न होती है—यद्यपि दोनों ही हमारे व्यवहारो को नियंत्रित करती हे। **डेविस** के अनुसार, "फेशन का सम्बन्ध उन वस्तुओ से होता है जो तुच्छता के कारण बदलती रहती हैं जबकि प्रथा का सम्बध उन वस्तुओं से होता है जो महत्त्वपूर्ण होने के कारण परिवर्तित नही होतीं।"

समाजविद् **गेब्रियल टार्डे** के अनुसार, "प्रथा से अनुरूपता लाने मे हम अपने पूर्वजो का अनुकरण करते हैं और फैशन से अनुरूपता लाने में अपने साथियों का।"

स्पेन्सर के अनुसार, "फैशन प्रथाओ के बीच पाए जाने वाले भेदो को दूर करने वाली होती है।" आपने कहा है कि "जब प्रथाओं का पतन होता है तो फैशन का प्रचलन अधिकता से होता है।"

इस प्रकार फैशन अस्थाई एवं प्रथा स्थाई सामाजिक प्रतिमान कहा जा सकता है।

9.2 धुन (Fad)—धुन भी फैशन का ही एक रूप है लेकिन यह फैशन की तुलना में अधिक तीव्र होती है अर्थात् जब परिवर्तन अत्यधिक तेज अथवा तुच्छ और आडम्बरपूर्ण हो जाते हैं तो वे फैशन न होकर धुन हो जाते हैं। धुन का प्रयोग बहुत कम लोग करते हैं। यदि कोई अत्यधिक नवीन परिवर्तन केवल कुछ लोग स्वीकारें तव वह धुन होता है और जब उसे समाज के अधिक लोग स्वीकारने लगें तो फैशन माना जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि धुन फैशन की तुलना मे बहुत कम लोगों द्वारा अपनाई जाती है, उदाहरण के लिए—आधुनिक समय मे कुछ उच्च वर्ग की लड़कियों के द्वारा ऐसे वस्त्र पहिनना, जिसमें अधिकाश शरीर उन्मुक्त दिखाई देता है धुन है जिसे बहुत कम वर्ग अपना रहा है जबकि सीधा पल्ला लेकर साड़ी पहिनना आधुनिक युग की फेशन है, क्योंकि अधिकांश समूह इसे स्वीकार रहा है। इस प्रकार फैशन की तुलना मे धुन का सामाजिक महत्त्व कम होता है, क्योंकि समाज के छोटे भाग द्वारा ही उसे स्वीकार किया जाता है।

धुन को अभिजात वर्ग के लोग अधिक अपनाते हैं जो उनकी मनोवृत्ति का परिचायक होता है। **किम्बाल यंग** का कहना है कि अमरीकी समाज मे धुनें प्रायः एक वर्ष से अधिक नहीं चलतीं। धुन मे भावना, अनुकरणप्रियता व तर्कहीनता अधिक होती है।

किंग्सले डेविस ने इसी आधार पर धुन को भीड़-व्यवहार से अधिक नहीं माना है। धुन प्रायः पोशाक व साज-सज्जा से सम्बन्धित होती है और यह जितनी तीव्रता से आती है, उतनी तीव्रता से समाप्त भी हो जाती है। इसीलिए इसे 'सस्ती मनोवृत्ति का सूचक' माना जाता है। यह अतार्किक, अस्थाई, परिवर्तनशील व अप्रत्याशित होती है जिसका कोई सामाजिक महत्त्व नहीं है।

❐

अध्याय-22

सामाजिक मूल्य और स्वीकृतियाँ (अनुशास्तियाँ)

(Social Values and Sanctions)

मनुष्य एक सामाजिक-सांस्कृतिक प्राणी है। समाज मे रहकर व्यक्ति को उसके द्वारा निर्धारित आदर्शों का पालन करना पडता है जिसके लिए अनेक नियम व उपनियम होते है—जो समाज की आधारशिला होते हैं। वास्तव मे ये नियम भी मनुष्य द्वारा ही तय किए गए होते हैं जो उसकी सस्कृति का प्रतिबिम्ब होते है। मानव एक ऐसा सर्वोत्कृष्ट प्राणी है जो सस्कृति का निर्माता है और सस्कृति द्वारा ही कुछ नियम, व्यवहार, लक्ष्य, उद्देश्य आदि निर्धारित होते हैं जिनके आधार पर कार्य करने पर व्यक्ति सामाजिक प्राणी बनता है। यही आदर्श मूल्य कहलाते हैं जो बताते हैं कि क्या अच्छा है? क्या बुरा है? क्या करना चाहिए? क्या नही करना चाहिए? इस प्रकार सामाजिक मूल्य वे आदर्श होते हैं जो सामाजिक व्यवस्था को सुचारुरूपेण चलाने मे सहायक होते हैं। यदि इन आदर्शों की परिपालना न की जायेगी तो समाज-व्यवस्था अमर्यादित हो जायेगी, अव्यवस्थित हो जायेगी। मूल्य उच्च-स्तरीय मानदण्ड होते हैं जिनके आधार पर सामाजिक परिस्थितियों को देखा या उनका मूल्यांकन किया जा सकता है।

मूल्य प्रत्येक समाज के भिन्न-भिन्न होते हैं—ये तो व्यवहार करने का एक मानदण्ड कहे जा सकते हैं जो किसी समाज मे उचित-अनुचित, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को तय करते हैं उदाहरणार्थ—'पर निन्दा न करो', 'सब जीवो पर दया करो', 'असत्य व मिथ्या भाषण न करो' आदि समाज के सामान्य नियम होते हैं जिनकी पालना करना समाज का कर्त्तव्य होता है। मूल्य चूँकि समाज मे ही विकसित होते हैं अत: इनमे सामाजिकता का गुण होता है। प्रत्येक व्यक्ति इनकी पालना अवश्य करता है। इनकी अवहेलना करने वाले को समाज निन्दनीय मानता है। अत कहा जा सकता है कि मूल्य व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करने के तरीके हैं जो बताते हैं कि क्या सही है और क्या करना अपेक्षित है। मूल्यों के सम्बन्ध मे अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मत दिए हैं, जो अग्रलिखित प्रकार से स्पष्ट किये जा सकते हैं—

सामाजिक मूल्य : अर्थ एव परिभाषा (Social Values Meaning and Definition)—सामाजिक मूल्यों के अर्थ को स्पष्ट करते हुए जॉनसन ने कहा है, ''मूल्यों को एक अवधारणा अथवा मानक के रूप मे परिभाषित किया जा सकता है जो कि सास्कृतिक हो सकता है या केवल व्यक्तिगत और जिसके द्वारा चीजों की एक-दूसरे के साथ तुलना की जाती

है, स्वीकार या अस्वीकार किया जाता है। एक-दूसरे की तुलना में उचित या अनुचित, अच्छा या बुरा, ठीक अथवा गलत माना जाता है।"

राधा कमल मुखर्जी मूल्यों को इस प्रकार परिभाषित करते हैं, "सामाजिक मूल्य वे सामाजिक मान, लक्ष्य या आदर्श हैं जिनके आधार पर विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों तथा विषयो का मूल्याकन किया जाता है।" मुखर्जी के मत में मूल्य समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त लक्ष्य हैं जो सामाजीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से आन्तरीकृत किए जाते हैं।

हारालाम्बोस के मत में, "मूल्य एक विश्वास है जो यह बताता है कि क्या अच्छा और वाञ्छनीय है। यह परिभाषित करता है कि क्या महत्त्वपूर्ण है, लाभप्रद है और प्राप्त करने योग्य है।"

वुड्स के मत में, "सामाजिक मूल्य वे सामान्य सिद्धान्त हैं जो दिन-प्रतिदिन के जीवन में व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं।

दुर्खीम ने मूल्यों की सामाजिक तथ्यो के रूप में विवेचना की है। उन्होने सामाजिक तथ्यों के समान सामाजिक मूल्यों की दो विशेषताएँ बताई हैं—(1) बाह्यता, तथा (2) बाध्यता।

(1) बाह्यता (Exteriority) का अर्थ है कि यद्यपि मूल्य समाज के सदस्यों की मानसिक अंत:-क्रियाओ के परिणाम होते हैं। फिर भी इनका सम्बन्ध किसी व्यक्ति की मानसिक क्षमता से नहीं होता, अपितु ये व्यक्ति की परिधि से स्वतन्त्र अपनी सत्ता रखते हैं, साथ ही सामाजिक मूल्यों को विभाजित करके पुन: वैयक्तिक मूल्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता, यही इन मूल्यों की बाह्यता है।

(2) बाध्यता (Constraint)मूल्यों की दूसरी विशेषता है जिसका अर्थ है कि सामाजिक मूल्य किसी एक व्यक्ति का मूल्य न होकर सबका होता है, इसीलिए वह व्यक्तियों के व्यवहार को प्रभावित करता है।

फिचर के मत में, "समाजशास्त्रीय दृष्टि से मूल्यों को उन कसौटियों के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिनके द्वारा समूह या समाज व्यक्तियों, प्रतिमानों, उद्देश्यों और अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक वस्तुओं के महत्त्व का निर्णय करते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक मूल्य आदर्श हैं जो दैनिक जीवन में व्यवहार को नियन्त्रित करते हैं। ये वे मानक हैं जिनके आधार पर किसी लक्ष्य, साधन, भावनाओ, व्यक्ति के व्यवहारों आदि को अच्छा अथवा बुरा कहा जा सकता है। मूल्य स्वयं में उद्देश्य भी हैं जो स्पष्ट करते हैं कि क्या होना चाहिए।

मूल्यों का निर्माण सम्पूर्ण समूह के सदस्यों की परस्पर अन्त:क्रिया का परिणाम होता है क्योकि व्यक्ति इन्हे सामाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा सीखता है। मूल्य प्रत्येक समाज के अलग-अलग होते हैं—निष्कर्षत: मूल्य व्यवहार का सामान्य तरीका है। ये वह मानदण्ड है जो समाज में अच्छे या बुरे, सही अथवा गलत का निर्धारण करते हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर मूल्यों की कुछ विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं जो निम्नलिखित हैं—

सामाजिक मूल्यों की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Values)

सामाजिक मूल्यो की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

सामाजिक मूल्य की विशेषताएँ

सामाजिक मानक	समूह की एकमतता	सामूहिकता	सामूहिक भावना	सामाजिक कल्याण की भावना	सामाजिक आवश्यकताओ के पूरक	परिवर्तन-शीलता	विशिष्टता
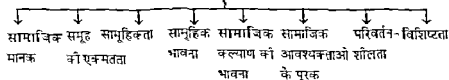
1. सामाजिक मानक (Social Norm)—जॉनसन ने सामाजिक मूल्यों को सामाजिक मानक बताया है जिनके द्वारा किसी वस्तु, लक्ष्य, साधन, गुण आदि को वाञ्छित-अवाञ्छित, उचित-अनुचित, अच्छा-बुरा आदि बताया जा सकता है। इस अर्थ मे सामाजिक मूल्यो को सामाजिक-मानक कहा जा सकता है।

2. समूह की एकमतता (Unanimity of Group)—मूल्यों के विषय मे यह स्पष्ट है कि ये एक समाज या समूह के समस्त सदस्यो द्वारा मान्य होते हैं। सम्पूर्ण समूह मूल्यो के विषय मे एकमत होता है। इसी कारण व्यक्ति इनकी अनुपालना न करने पर निन्दनीय माना जाता है।

3. सामूहिकता (Collectivity)—सामाजिक मूल्य किसी व्यक्ति विशेष से सम्बन्धित नहीं होते अपितु सम्पूर्ण समाज या समूह द्वारा मान्य होते हैं अर्थात् मूल्यों का सामाजिक-सांस्कृतिक आधार होने के कारण ये समूचे समाज की विशेषता होते हैं, क्योंकि ये सामूहिक अन्त:क्रिया के द्वारा उत्पन्न होते हैं। किसी व्यक्ति विशेष की धरोहर नहीं होते। इसीलिए यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि मूल्यो मे सामूहिकता होती है।

4. सामूहिक भावना (Collective Feeling)—सामाजिक मूल्यों के साथ व्यक्तियो की भावनाएँ जुड़ी रहती हैं। इसी कारण व्यक्ति अपने वैयक्तिक हितो को भुलाकर इन मूल्यो की रक्षा के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। मूल्य एक आदर्श होते हैं। देशभक्ति, स्वतन्त्रता, प्रजातन्त्र आदि इसी प्रकार के उच्च मूल्य हैं जिनके लिए व्यक्ति अपने प्राणोत्सर्ग भी हँसते-हँसते कर देते हैं। भगतसिंह आदि ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए स्वयं को समर्पित कर दिया, इसके पीछे एक भावना थी कि हम अपने देश की रक्षा करें। यही भावना वह उच्च मूल्य है जो लोगो को सामूहिकता में बाँधते हैं।

5. सामाजिक कल्याण की भावना (Feeling of Social Welfare)—मूल्य सामाजिक कल्याण की भावना से जुड़े होते हैं। 'सदा सत्य बोलो', 'जीवो पर दया करो', 'गरीबों पर दया करो' आदि इसी प्रकार के मूल्य हैं। सम्पूर्ण समाज के कल्याण की भावना से सम्बन्धित हैं, जिनकी परिपालना करने पर समाज मे सगठन व एकरूपता बनी रहती है।

6. सामाजिक आवश्यकताओं के पूरक (Substitutes of Social needs)—मूल्य सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति भी करते हैं, चूँकि प्रत्येक समाज की अलग संस्कृति होती है

जो उसकी आवश्यकता के अनुसार बनती है और प्रत्येक समाज व संस्कृति अलग-अलग मूल्यों को विकसित करती है जो उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं जिनके कारण ही सामाजिक संगठन व व्यवस्था बनी रहती है। इस प्रकार सामाजिक मूल्य सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति मे भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

7. परिवर्तनशीलता (Changability)—सामाजिक मूल्यों मे परिवर्तन अत्यन्त मन्द गति से आता है, लेकिन ये परिवर्तित होते अवश्य हैं। मूल्य चूँकि सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति मे सहायक होते हैं अत: समाज की आवश्यकताएँ जब बदलती हैं तो उसके मूल्यों में भी बदलाव आ जाता है क्योंकि मूल्य समाज के अनुसार ही होते हें अत: सामाजिक मूल्यो मे गतिशीलता पाई जाती है जो समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप होती है।

8. विशिष्टता (Distinctiveness)—मूल्यों के विषय में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि प्रत्येक समाज के मूल्य अलग-अलग होते हैं जो उस समाज की संस्कृति के आधार पर होते हैं; उदाहरणार्थ—'विवाह एक धार्मिक कृत्य है' जिसे तोड़ा नहीं जा सकता, यह भारतीय मूल्य है। पश्चिमी समाज मे 'विवाह एक समझौता है' इसके अनुसार ही वहाँ पति-पत्नी में सम्बन्ध स्थापित होते हैं। अत: निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि मूल्यो में विभिन्न समाजो के अनुरूप भिन्नता पाई जाती है।

मूल्यों का वर्गीकरण (Classification of Values)—मूल्यो के वर्गीकरण के अनेक आधार हैं। अनेक विद्वानो ने मूल्यो को भिन्न-भिन्न श्रेणियों में विभाजित किया है, कुछ मुख्य वर्गीकरण निम्नलिखित हैं—

मूल्यों का वर्गीकरण

क्र.सं.	वैज्ञानिक	मूल्यों के प्रकार
1	सी गोलाइटली	(1) अनिवार्य एवं (2) व्यावहारिक
2	पैरी	(1) नकारात्मक एवं (2) सकारात्मक
3.	स्प्रेंगलर	(1) सैद्धान्तिक, (2) आर्थिक. (3) सौन्दर्यात्मक, (4) सामाजिक, (5) राजनैतिक, और (6) धार्मिक।
4	क्लोरन्स एम केस	(1) सावयवी, (2) विशिष्ट, (3) सामाजिक, (4) सांस्कृतिक।

1. सी. गोलाइटली ने मूल्यो को दो भागों मे बाँटा है—(1) अनिवार्य एव (2) व्यावहारिक।

(1) अनिवार्य मूल्य वे हैं जिनका पालन करना समाज में अनिवार्य होता है; जैसे—चोरी न करना, सत्य बोलना आदि। इन मूल्यो का उल्लंघन करने पर समाज व्यक्ति को दण्डित करता है।

(ii) व्यावहारिक मूल्य वे मूल्य हैं जो दैनिक जीवन के आचरण में विद्यमान रहते हैं; जैसे—बड़ो का आदर करना, अतिथि का अभिवादन करना आदि।

2. पैरी ने रुचि एवं उद्देश्यो के आधार पर मूल्यों को नकारात्मक, सकारात्मक, विकासवादी व वास्तविक आदि भागों में वर्गीकृत किया है जिनमे—नकारात्मक एवं सकारात्मक—दो प्रकार महत्त्वपूर्ण हैं। नकारात्मक मूल्य का अर्थ है कि कुछ कार्यों का न करना ही उचित है और सकारात्मक मूल्य से आशय ऐसे आदर्शो से है जिनके अनुसार आचरण करना सामाजिक दृष्टि से उचित माना जाता है।

3. कुछ विद्वान मूल्यो को सुखवादी, सौन्दर्यवादी, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक तथा तार्किक आदि भागों मे वर्गीकृत करते हैं—इनमें स्प्रेंगलर का वर्गीकरण सर्वाधिक लोकप्रिय है। इन्होने मूल्यों को सैद्धान्तिक, आर्थिक, कलात्मक अथवा सौन्दर्यात्मक, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक आदि भागो मे विभक्त किया है।

(i) **सैद्धान्तिक मूल्य** समाज के सदस्यों के लिए सैद्धान्तिक आदर्श प्रस्तुत करते हैं जो जीवन-दर्शन से सम्बद्ध होते हैं।

(ii) **आर्थिक मूल्य** हमारे आर्थिक जीवन से सम्बद्ध होते हैं, जैसे—भविष्य के लिए कुछ बचत करना आवश्यक है।

(iii) **सौन्दर्यात्मक मूल्य** जीवन के कलात्मक अथवा 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' पक्ष से सम्बन्धित होते हैं।

(iv) **सामाजिक मूल्य** सामाजिक जीवन से सम्बन्धित होते हैं, जैसे—परिवार मे माता-पिता की सेवा करना पुत्र का कर्त्तव्य है।

(v) **राजनैतिक मूल्य** राजनीति से सम्बन्धित होते हैं, जैसे—प्रजातन्त्र की रक्षा करना सभी नागरिको का कर्तव्य है।

(vi) **धार्मिक मूल्यों** से आशय पूजा-अर्चना, ईश्वर, मोक्ष आदि से सम्बन्धित मान्यताओ का निर्वाह करना, ईश्वर मे आस्था रखना आदि से है।

4. क्लारेन्स एम. केस ने सामाजिक मूल्यों को जीवन-स्तर के आधार पर चार भागो मे विभाजित किया है। केस का मानना है कि मूल्य जीवित वस्तुओ के चुने हुए पदार्थ हैं जिनका चुनाव स्वयं मूल्यांकन करने वाले करते हैं। केस द्वारा वर्गीकृत चार मूल्य निम्नलिखित प्रकार हैं—

4.1 सावयवी मूल्य (Organic Values)—ये मूल्य शरीर की रक्षा सम्बन्धी विषयो से सम्बद्ध हैं, जैसे—'आग से मत खेलो', 'पानी से दूर रहो', 'भारी पदार्थों से अलग रहो' आदि। शरीर को नुकसान पहुँचाने वाले पदार्थों से सम्बन्धित मूल्य सावयवी मूल्य हैं। बच्चे के जन्म तथा व्यक्ति की मृत्यु से सम्बन्धित मूल्य भी सावयवी मूल्य हैं।

4.2 विशिष्टमूल्य (Specific Values)—ये मानव-जीवन की कुछ विशिष्ट परिस्थितियों से सम्बन्धित मूल्य हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत मनोवृत्तियो, विशेषताओ, विचार आदि के आधार पर इन्हे विकसित करता है, जैसे—पर्दा-प्रथा, अपनी ही जाति मे विवाह आदि को एक व्यक्ति उचित मानता है तो दूसरा अनुचित। इस प्रकार व्यक्ति की मनोवृत्ति के आधार पर सकारात्मक अथवा नकारात्मक हो सकते हैं।

4.3 सामाजिक मूल्य (Social Values)—सामाजिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित मूल्य इस श्रेणी में आते हैं; जैसे—सामाजिक-व्यवहार, सहायता, सहयोग आदि से सम्बन्धित मूल्य सामाजिक मूल्य हैं; जैसे—'दीन-दुखियो की सहायता करो', 'परस्पर सहयोग करो' आदि।

4.4 सांस्कृतिक मूल्य (Cultural Values)—ये वे मूल्य हैं जो मानव की संस्कृति से सम्बन्धित हैं, जैसे—परम्परा, कला, लोक-रीति, रूढ़ियाँ आदि तथा वे उपकरण एवं प्रतीक जिनका आविष्कार मनुष्य द्वारा हुआ है और जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होते रहते हैं तथा समाज इन मूल्यो को उचित व उपयोगी मानता है। मनुष्य इन मूल्यों को सास्कृतिक-जीवन को नियमित और नियन्त्रित करने के कारण विकसित करता है।

सामाजिक मूल्यों का महत्त्व (कार्य) [Importance (Function) of Social Values]—सामाजिक मूल्य सामाजिक व्यवस्था व शान्ति बनाए रखने में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। मूल्यों के सहयोग से ही मानव अपनी इच्छाओं व उद्देश्यों को वास्तविक स्वरूप प्रदान करता है। मूल्यो के विषय में **राधा कमल मुखर्जी** का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आपने मूल्यों के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक महत्त्व पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। उन्होने माना है कि प्रकृतिगत रूप में समस्त मानव-संबंध तथा व्यवहार मूल्य ही हैं। मानव की आधारभूत इच्छाओ तथा प्रवृत्तियों की संतुष्टि करने में मूल्यो का अनोखा महत्त्व होता है। मूल्य सामाजिक क्रिया मे सामूहिक अनुभव होते हैं। ये समाजों का निर्माण करते हैं तथा सामाजिक सम्बन्धों को संगठित करते हैं।

मूल्यों के सम्बन्ध मे **दुर्खीम** का भी यह मानना है कि प्रत्येक प्रकार के मूल्यों का स्रोत समाज होता है। उनका मानना है कि "सामाजिक-तथ्य-विचार, व्यवहार, अनुभव या क्रिया का वह पक्ष है जिसका निरीक्षण वैषयिक रूप में संभव है और जो एक विशेष ढग से व्यवहार करने को बाध्य करता है।"

यहाँ इन्होंने सामाजिक मूल्यों को सामाजिक तथ्यों की संज्ञा दी है अत: सामाजिक तथ्यों या मूल्यों को समाज द्वारा ही व्युत्पन्न माना है। इसी कारण व्यक्ति सामाजिक मूल्यो के पालन के लिए बाध्य होता है। इनके मत में सामाजिक मूल्य सामूहिक चेतना को अभिव्यक्त करते हैं इसीलिए व्यक्ति इनके सम्मुख झुकता है—सामाजिक मूल्य व्यक्तिगत मूल्य से श्रेष्ठ होते हैं क्योंकि ये समाज को एकीकृत करने का भी कार्य करते हैं।

सामाजिक मूल्यों के सम्बन्ध में **चार्ल्स बगल** (Charles Bougle) का मानना है कि सामाजिक मूल्यों के पीछे सामूहिक स्वीकृति होती है अथवा सामूहिक स्वीकृति के आधार पर ही सामाजिक मूल्यो का विकास होता है इसीलिए सामाजिक मूल्य समूह-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होते हैं। इन्होंने सामाजिक मूल्यों को सामाजिक जीवन का रक्षा-कवच माना है क्योंकि इनसे समाज में एकता, संगठन व नियन्त्रण बना रहता है।

फिचर ने अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र' में सामाजिक मूल्यो के निम्नलिखित महत्त्व बताए हैं—

(1) मूल्य व्यक्ति के निर्माण एवं संगठन में महत्त्वपूर्ण होते हैं—मूल्यों को व्यक्ति के निर्माण एव सगठन के लिए महत्त्वपूर्ण माना गया है। व्यक्ति अपने व्यक्तित्व या आचरण मे (समाज द्वारा मान्य) मूल्यो को एकीकृत करने का प्रयास करता है जिससे उसका व्यवहार उस प्रकार का हो जाए जैसा कि अन्य लोगो का है। इस प्रकार व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियो से सरलतया अनुकूलन कर लेता हैं, साथ ही मूल्यो को स्वीकार कर लेने के कारण व्यक्ति तथा समाज के व्यवहार प्रतिमान एक हो जाते हैं जिससे व्यक्ति स्वयं को समूह से विच्छिन्न न समझकर सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का एक अंग समझने लगता है। उसकी यह एकीकरण की भावना उसमे सुरक्षा की भावना उत्पन्न करती है जो स्वयं व्यक्ति एवं समाज दोनो की उन्नति के लिए आवश्यक एव महत्त्वपूर्ण है।

(2) मूल्य सामाजिक संगठन एव सामाजिक एकरूपता में महत्त्वपूर्ण होते है—सामाजिक मूल्यों का महत्त्वपूर्ण कार्य सामाजिक एकरूपता लाना है साथ ही सामाजिक सगठन को भी दृढ करने मे इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है इसका कारण यह है कि मूल्य कुछ निश्चित एवं मान्य व्यवहार प्रतिमानो को प्रस्तुत करते हैं और समाज के सदस्यो से यह आशा की जाती है कि वे अपने व्यवहारो को मान्य व्यवहार प्रतिमानो के अनुरूप बनाए रखे जिससे समाज मे सगठन व एकीकरण बना रहे क्योकि जिन लोगो के मूल्यों मे समानता होती है उनके व्यवहारो मे भी साम्य मिलता है परिणामस्वरूप परस्पर सहयोग और निकटता उनमे अधिक होती है। इस प्रकार मूल्य सामाजिक एकीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं। यदि सभी व्यक्ति मानक मूल्यो के अनुसार आचरण करते हैं तो समाज मे सगठन अधिक रहता है।

(3) मूल्यों विचारों एवं व्यवहारों के निर्धारक होते है—मूल्य आदर्शात्मक होते हैं जिनको प्राप्त करना कठिन होता है। सामाजिक मूल्यो को समाज के विचारो एव व्यवहारो का प्रतीक माना जाता है। इन्हे सामाजिक स्वीकृति प्राप्त होती है कि कौनसा कार्य उचित है और कौनसा अनुचित—इसीलिए इन्हे समाज के आदर्श रूप मे माना जाता है। यही व्यक्तियो के विचारो और व्यवहारो को भी निश्चित करते हैं कि कौनसा व्यवहार व विचार आदर्शात्मक है।

(4) सामाजिक नियन्त्रण के साधन—जैसा कि पूर्व मे स्पष्ट किया जा चुका है मूल्य आदर्शात्मक होते हैं जिनकी अनुपालना करना सभी का कर्त्तव्य होता है और पालना न करने पर व्यक्ति दण्डित भी किया जा सकता है। ये व्यक्ति को उचित व्यवहार करने के लिए बाध्य करते हैं। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था को सुचारुरूपेण चलाने के लिए सामाजिक मूल्य सामाजिक नियन्त्रण रखते हैं जिससे व्यक्ति उचित व्यवहार करे अन्यथा उसे समाज दण्डित कर सकता है।

(5) मूल्य सामाजिक क्षमता के मूल्याकन में समर्थ होते हैं—सामाजिक मूल्यो के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि किसी व्यक्ति को अन्य लोग किस रूप मे देखते हैं? अर्थात् दूसरे लोगों की दृष्टि मे उसका क्या स्थान है? उदाहरण के लिए—यदि कोई व्यक्ति निर्धारित मूल्यो के अनुरूप आचरण नहीं करता तो समाज उसे अवमानना की दृष्टि से देखता है। यह अवमानना की दृष्टि का मूल्याकन सामाजिक मूल्यो के आधार पर ही किया जाता है, जो समाज द्वारा निर्धारित

किए गए हैं। अत: कहा जा सकता है कि समूह एवं व्यक्ति की क्षमता का मूल्यांकन सामाजिक मूल्यों के आधार पर किया जा सकता है।

(6) मूल्य सामाजिक सम्बन्धों को संतुलित करने में सहायक होते हैं—मूल्यों का सामाजिक जीवन में अत्यधिक महत्त्व है। ये सामाजिक सम्बन्धों को सन्तुलित करते हैं तथा सामाजिक व्यवहारों मे एकरूपता उत्पन्न करने में भी सहायक सिद्ध होते हैं। मूल्यों का सम्बन्ध व्यक्तियो की आन्तरिक भावनाओ से होता है इसलिए इनसे सामाजिक जीवन को वह मनोवैज्ञानिक आधार प्राप्त होता है जो समाज-व्यवस्था एवं संगठन के लिए आवश्यक होता है।

मूल्यो के आधार पर ही सामाजिक समस्याओ व घटनाओं का भी मूल्यांकन किया जा सकता है—उदाहरण के लिए—'सत्य बोलना' एक आदर्श मूल्य है। इसकी अनुपालना व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी स्तरों पर की जा सकती है—इस प्रकार मूल्य सामाजिक व्यवहारों में एकरूपता उत्पन्न करते हैं तथा सामाजिक सम्बन्धों मे संतुलन उत्पन्न करते हैं।

(7) मूल्य सामाजिक भूमिकाओं के निर्देशन में सहायक होते हैं—सामाजिक मूल्य यह भी निश्चित करते हैं कि कोई व्यक्ति किस परिस्थिति में किस भूमिका का निर्वाह करेगा? चूँकि हर समाज के मूल्य भिन्न-भिन्न होते हैं अत: विशिष्ट परिस्थिति में समाज उससे किस प्रकार की भूमिका-निर्वाह की अपेक्षा करता है यह मूल्यो पर निर्भर करता है।

भारत की तुलना में अमेरिका की मूल्य-व्यवस्था में अन्तर का परिणाम दोनों देशों के पारिवारिक सम्बन्धो की भूमिका में भिन्नता है। इस प्रकार मूल्य भूमिका-निर्वाह के निर्देशन मे भी सहायक व सक्षम होते हैं।

(8) मूल्य भौतिक संस्कृति के महत्त्व के संवर्धक होते हैं—कुछ सामाजिक मूल्य भौतिक संस्कृति के महत्त्व को बढ़ाने में सहायक होते हैं क्योकि व्यक्ति आधुनिक सुविधाओ को इसलिए अपने लिए उपयोगी मानते हैं क्योकि वे सामाजिक प्रतिष्ठा की सूचक मानी जाती हैं। प्रतिष्ठा-सूचक वस्तुएँ, जैसे—कार-टेलीफोन आदि सामाजिक मूल्यों के लिए उपयोगी मानी जाती हैं—इस तरह कहा जा सकता है कि सामाजिक मूल्य भौतिक संस्कृति के महत्त्व को बढ़ाते हैं।

(9) मूल्य स्वाभाविकता एवं व्याधिकीयता व्यवहारों को स्पष्ट करते हैं—सामाजिक मूल्यों के आधार पर सामाजिक व्यवहार को—स्वाभाविक एवं व्याधिकीय—दो प्रकार का कहा जा सकता है। जो व्यवहार सामाजिक मूल्यों के अनुरूप होते हैं वे स्वाभाविक तथा जो व्यवहार इनके विपरीत होते हैं वे व्याधिकीय कहलाते हैं अर्थात् मूल्यो द्वारा संस्थापित आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करने वाले व्यक्ति व्याधिकीय कहलाते हैं। सामाजिक दृष्टि से अपराध की व्याख्या भी इसी आधार पर की जाती है। सामाजिक मूल्यों की अवहेलना करने पर व्यक्ति दोषी माना जाता है। उसे दण्डित किया जा सकता है क्योंकि सामाजिक अस्तित्व के लिए सामाजिक मूल्य आधार-शिला हैं। इस प्रकार सामाजिक विघटन को रोकने तथा सामाजिक व्यवस्था बनाए रखने में एवं इसके पुनर्निर्माण में सामाजिक मूल्यों का विशेष महत्त्व है क्योंकि सामाजिक मूल्य ही सामाजिक जीवन के मानक हैं।

मूल्यों के दुष्कार्य
(Dysfeuction of Values]

उपर्युक्त उपयोगिताओ के साथ-साथ सामाजिक मूल्य कभी-कभी सामाजिक विघटन का कारण भी बन जाते हैं। व्यक्ति की मनोवृत्तियाँ मूल्यों के आधार पर बनती हैं। जब मनोवृत्तियो (Attitudes) और सामाजिक मूल्यों में संघर्ष होता है तो विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है—उदाहरण के लिए—हिन्दुओं में विवाह के समय पर्दा करना या सिर ढकना एक सामाजिक मूल्य है—वर्तमान समय मे इसमें परिवर्तन आ रहा है क्योकि आज लोगो की मनोवृत्तियाँ बदल गई हैं लेकिन मूल्यो में बदलाव बड़ी धीमी गति से आ पाता है—वे सामाजिक परिस्थितियों के साथ-साथ नहीं बदल पाते। परिणामस्वरूप मूल्य वर्तमान परिस्थितियो से पिछड़ जाते हैं। इसके फलस्वरूप व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन में तनाव उत्पन्न हो जाता है उससे सामाजिक विघटन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि मूल्य समय एवं परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित नहीं होते हैं या समाज की आकाक्षाओं के अनुरूप नहीं होते हैं तो व्यक्ति ऐसे मूल्यो का विद्रोह कर देते हैं जिससे समाज मे विघटन उत्पन्न हो जाता है। बाल-विवाह, सती प्रथा, पर्दा-प्रथा, जागीरदारी आदि अनेक ऐसे मूल्य हैं जिनको आज के समय में पिछड़ेपन का सूचक माना जाता है क्योकि लोग अब नवीन मूल्यो को ग्रहण करते जा रहे हैं।

स्वीकृतियाँ (अनुशास्तियाँ)
(Sanction)

जनरीतियाँ और रूढ़ियाँ अथवा लोकाचार का अर्थ सामाजिक सम्बन्धो और व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करना है। सामाजिक अनुशास्ति भी किसी क्रिया या व्यवहार के लिए दी जाने वाली सामाजिक स्वीकृति ही है अर्थात् जब समाज में किसी समूह या सदस्यो को किसी व्यवहार अथवा आचरण को करने या न करने का निर्देश दिया जाता है और वह उसका पालन करता है अथवा उल्लंघन करता है तो उस स्थिति में उसे पारितोष दिया जाता है या दण्डित किया जाता है। ऐसा निर्देश ही सामाजिक अनुशास्ति अथवा स्वीकृति कहा जाता है। अनुशास्ति को सही रूप में समझने के लिए कुछ परिभाषाओ को देखा जा सकता है—

अनुशास्ति की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Sanction)—

(1) **थियोडोरसन एवं थियोडोरसन** ने अनुशास्ति की व्याख्या करते हुए लिखा है, "किसी निश्चित प्रकार के व्यवहार को प्रोत्साहित करने अथवा हतोत्साहित करने के लिए व्यक्ति अथवा समूह को जो पारितोष या दंड दिया जाता है उसे अनुशास्ति कहते हैं।"

(2) **फेयर चाइल्ड** के अनुसार, "अनुशास्ति किसी भी क्रिया या व्यवहार को दी जाने वाली आज्ञा या सामाजिक स्वीकृति है।"

(3) **मैकाइवर एवं पेज** के अनुसार, "निश्चित पारितोष से सम्बन्धित अनुरूपता के लिए प्रयुक्त शब्द अनुशास्ति कहलाता है। अनुशास्ति सामान्य तथा समाज द्वारा मान्य संहिता के उल्लघन पर दिया गया विशिष्ट दंड कहलाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अनुशास्ति मे दंड और पुरस्कार दोनो निहित हैं। प्रत्येक समाज के उसके सदस्यो के व्यवहार के लिए कुछ निर्धारित नियम होते हैं। जो इन नियमों की परिपालना करता है उसे पुरस्कार दिया जाता है आर इन नियमो की अवहेलना करने वाले को समाज दण्डित करता है। इस अनुशास्ति मे दंड और पुरस्कार दोनों ही सन्निहित होते हैं।

कभी-कभी अनुशास्ति किसी व्यक्ति की सुविधा या अधिकार को समाप्त करने, उस पर जुर्माना लगाने एवं कानूनी संहिता के अनुसार उनकी स्वतन्त्रता या जीवन छीनना भी होती है। प्रमुख प्रकार की संहिता से सम्बन्धित निश्चित प्रकार की अनुशास्ति जुड़ी होती है। प्रमुख प्रकार की सामाजिक संहिताएँ एक-दूसरे से इस रूप में भिन्न होती हैं कि उनके साथ निश्चित पुरस्कार अथवा दंड जुड़े होते हैं।

थियोडोरसन एवं थियोडोरसन ने स्वीकृतियो पर प्रकाश डालते हुए कहा कि नकारात्मक स्वीकृति में पुलिस द्वारा गोली चलाना चरम सीमा का नियंत्रण का प्रकार है तथा इसका सरलतम रूप अस्वीकृति के रूप मे देखना है।

अनुशास्ति के प्रकार *(Types of Sanctions)*—**रेडक्लिफ ब्राउन** ने *अनुशास्ति* पर अपने विचार व्यक्त करते हुए इसके चार प्रकारो का उल्लेख किया है।

(1) नकारात्मक अनुशास्ति (Negative Sanction)—नकारात्मक अनुशास्तियों का उद्देश्य व्यक्ति को दंड देना है। कारावास, देशनिकाला, अर्थ दण्ड नकारात्मक अनुशास्तियो के उदाहरण हैं। कभी-कभी मात्र अस्वीकृति भी नकारात्मक अनुशास्ति के रूप मे व्यक्ति में अहं को आहत कर सकती है। नकारात्मक अनुशास्तियाँ औपचारिक और अनौपचारिक दोनों प्रकार की हो सकती हैं।

(2) सकारात्मक अनुशास्ति (Positive Sanction)—सकारात्मक अनुशास्ति का उद्देश्य व्यक्ति को पुरस्कृत करना होता है, क्योंकि वह समाज स्वीकृत व्यवहारों की परिपालना करता है। प्रशंसा करना, स्तुति करना, पदक देना, साधुवाद देना आदि व्यक्ति के व्यवहार को प्रोत्साहित करने के तरीके हैं।

(3) विसरित अनुशास्तियाँ (Diffuse Sanction)—ये अनुशास्तियाँ समुदाय के सदस्यों के स्वयं स्फूर्त अनुभव हैं जिन्हे समाज द्वारा स्वीकृति अथवा अस्वीकृति प्राप्त है। समाज में अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण को बढ़ावा देने के लिए यह व्यवस्था की जाती है।

(4) संगठित अनुशास्तियाँ (Organised Sanction)—वे सामाजिक क्रियाएँ जो किसी परम्परा अथवा स्वीकृत रीतियों के आधार पर सम्पन्न की जाती हों संगठित अनुशास्ति के अन्तर्गत आती हैं। ये औपचारिक सामाजिक नियत्रण के साधन हैं।

इससे निष्कर्ष निकलता है कि शक्तिशाली अनुशास्तियाँ प्रायः व्यवहार से सम्बन्धित नियमो को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करती हैं जबकि अन्य प्रकार की अनुशास्तियाँ आंशिक सफल होती हैं या असफल होती हैं। अस्वीकृति के रूप मे देखना मात्र ही व्यक्ति को चोट पहुँचाता है और वह अपने में सुधार कर लेता है। स्वीकृति इस बात पर निर्भर करती है कि सामाजिक मानकों के पीछे वे कितनी शक्तिशाली हैं तथा समाज पर कितने प्रभावपूर्ण रूप से लागू की जाती हैं।

नकारात्मक अनुशास्तियाँ विचलित व्यवहार करने पर सीधा प्रभाव डालती हैं और उसके कार्य को अस्वीकृत या अमान्य ठहराती हैं। कई बार अनुशास्तियाँ कम प्रभावशाली करा दी जाती हैं जब उल्लंघनकर्ता की इच्छा नियम तोड़ने की नहीं होती है किन्तु आकस्मिक रूप से उसकी अनभिज्ञता या क्षमता की कमी के कारण नियम टूट जाता है।

संहिता और अनुशास्ति में सम्बन्ध (The Relationship Between Codes and Sanction)—मैकाइवर एवं पेज ने संहिता और अनुशास्ति की विवेचना संहिता के संदर्भ मे इस प्रकार से की है। सभी प्रकार की सामाजिक संहिताएँ एक अर्थ मे एक सी हैं। यदि उनका कोई उल्लघन करता है तो उसकी सुरक्षा के लिए विशिष्ट व्यवस्था या अनुशास्ति होती है। पालना नहीं करने की वृत्ति के अनुसार ही अनुशास्ति होती है। यह बात आधुनिक समाज के साथ-साथ जनजातियो की प्रथाओ और नियमो मे देखी जा सकती है। सभी स्थितियो मे समूह संहिताओ का ध्यान रखते हैं। ऐसा उन पर दबाव की मात्रा के कारण होता है। कोई भी व्यक्ति दबाव की मात्रा (स्वीकृति) के कारण सहिताओ का उल्लघन नहीं करता है।

सामान्यतया अनुशास्ति विशिष्ट दड है जो समाज द्वारा सहिताओं के उल्लंघन से सम्बन्धित होती है। कभी-कभी अनुशास्ति का अर्थ अधिकार और सुविधाओ को नहीं प्रदान करता है और कभी-कभी सहिताओं मे स्वतन्त्रता अथवा जीवन को छीनना है। प्रत्येक प्रकार की सहिता के साथ विशिष्ट प्रकार की अनुशास्ति होती है।

(2) सामाजिक अनुशास्ति एवं वैयक्तिक प्रेरक (Social Sanctions and Individual Motives)—समाजशास्त्र में सामाजिक सहिता से अनुशास्ति और कर्त्तव्य पालन मे अन्तर देखा जाता है। सामाजिक अनुशास्ति एक प्रकार की आज्ञाकारिता है। व्यक्ति हैलमेट इसलिए पहनता है क्योंकि उसे पुलिस का भय है। लोग सामाजिक संहिताओ का पालन इसलिए करते हैं, क्योंकि ऐसा करना उचित है तथा समाज मे उनकी गरिमा बढ़ती है। व्यक्ति की प्रेरणा सर्वदा मिश्रित होती है। प्रेरणा व्यक्तिश: भिन्न होती है एवं अलग-अलग परिस्थितियो मे भिन्न-भिन्न होती है, जबकि अनुशास्ति इसके विपरीत निश्चित और सरल होती है। प्रेरणाएँ व्यक्तिगत होती हैं जबकि अनुशास्ति सामाजिक होती हैं।

अनुशास्तियों और संहिताओं के प्रकार (Types of Sanctions and Codes)—प्रत्येक समुदाय और प्रत्येक संगठित समूह अपने सदस्यो पर नियमो को लागू करती है। आधुनिक जटिल समुदायो मे ये नियम विभिन्न प्रकार के होते हैं और इनसे सम्बन्धित अनुशास्तियाँ भी बहुत अधिक भिन्न होती हैं। मैकाइवर एवं पेज ने संहिताओं के चार प्रकार बताए हैं—(1) समितीय सहिताएँ, (2) सामुदायिक संहिताएँ, (3) नैतिक सहिताएँ, तथा (4) वैधानिक संहिताएँ।

इनकी व्याख्या निम्नलिखित है—

(1) समितीय संहिताएँ (Associational Codes)—ये संहिताएँ जैसे नियम या सदस्यता को रद्दता करने अथवा सुविधाओ को समाप्त करने या जुर्माना करने सम्बन्धी

अनुशास्तियों पर आधारित होती हैं। ये सामान्य अनुशास्तियाँ सभी ऐच्छिक संगठनों में मिलती हैं। कभी-कभी ये नियम सख्त भी होते हैं—जैसे किसी फैक्ट्री में नियमों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति की सहायता या जीविका छिन सकती है। गिरिजाघर के नियमों का पालन नहीं करने पर व्यक्ति को बाहर निकाल देना अनुशास्ति का उदाहरण है।

(2) सामुदायिक संहिताएँ (Communal Codes)—वे संहिताएँ जो सामान्यतया समुदाय को नियमित करती हैं, किन्तु वे किसी विशिष्ट हित-समूह से सम्बन्धित नहीं होती हैं—सामुदायिक संहिताएँ कहलाती हैं। प्रथाएँ—सामुदायिक संहिताओ का सर्वोच्च स्वरूप है तथा यह सबसे शक्तिशाली अनुशास्ति है जो समुदाय में देखी जा सकती है। फैशन—अनुशास्ति का सबसे निम्न स्वरूप है। सामुदायिक संहिताएँ परिचर्या के द्वारा बहुत प्रभावशाली समर्थन प्राप्त करती हैं। कानाफूसी या परिचर्या सामान्यतया परम्पराओं से लोगों के अलगाव को रोकती है।

(3) नैतिक संहिता (The Moral Code)—किसी समूह या समुदाय द्वारा किसी आचरण सम्बन्धी नियमों का पालन करना इस संहिता के अन्तर्गत आते हैं। इनके पीछे समाज के प्रतिष्ठित लोगों की अनुशास्ति होती है। ये वे आचार होते हैं, जो उन प्रथाओ से सम्बन्धित है जिनका उल्लंघन समुदाय में निश्चित रूप से गलत माना जाता है। साधारण भाषा में यह जनरीति कहलाती है। ये व्यक्तिगत आचार सामाजिक अनुशास्ति के अनुरूप होते हैं। इन अनुशास्ति का उल्लंघन करने पर व्यक्ति स्वयं अनुभव करता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिसमें समूह के आचार और व्यक्ति के आचार में भिन्नता होती है। प्रतिदिन के जीवन मे प्राय: जनरीतियाँ आचार की पर्याय होती हैं। आचार संहिताएँ व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्न होती हैं जबकि जनरीतियाँ समुदाय या समूह से सम्बन्धित होती हैं।

(4) वैधानिक संहिता (The Legal Code)—एक संहिता और आधुनिक देशों में एक मात्र संहिता जो शारीरिक (भौतिकक) रूप से लागू की जाती है उसमें निश्चित जुर्माना, जेल या मृत्यु-दण्ड का प्रावधान होता है। इस प्रकार की अनुशास्ति वाली संहिता राज्य की वैधानिक संहिता कहलाती है। बहुत ही सीमित अर्थ में अनुशास्तियाँ पारिवारिक संस्था बाल अपराध के संदर्भ मे बनी रह सकती है, लेकिन आधुनिक राज्य में स्पष्ट अधिकार जहाँ भी विद्यमान हैं, वहाँ पर वे सरकार की अनुमति से होते हैं। उनका उल्लंघन करने पर सरकार उन्हें पुन: स्थापित करती है। निष्कर्षत: सरकार की कानून के पीछे शक्ति भी अनुशास्ति होती है। उल्लंघन करने पर शक्ति का प्रयोग किया जाता है।

आधुनिक समाजों में अनुशास्ति और संहिता में अन्तर (The Difference Between Sanction and Code in Modern Society)—जो भिन्नताएँ पूर्व-पृष्ठों में संहिता और अनुशास्ति में देखी गई हैं, वे जनजातीय समाजो में विकसित नहीं होती हैं। कोई भी धार्मिक या आर्थिक संहिता नहीं होती है। ये विशेषीकृत रूप में एक-दूसरे से भिन्न, निश्चित व स्वतन्त्र अनुशास्ति वाली नहीं होती हैं। जनजाति में इनको लागू करने के लिए कोई विशेष स्वतन्त्र

संगठन नहीं होता है। इन विभिन्न अनुशास्तियो को नातेदारी समूह से अलग मानको और प्रथाओं के रूप में ही देख सकते हैं। जनजातियों मे दीवानी और फौजदारी कानून नहीं होते हैं।

मैलिनोव्स्की के अनुसार इनमे अविकसित व सरलतम रूप घुलामिला ही देख सकते हैं। **मैकाइवर व पेज** का कहना है कि सामाजिक संहिताओं के प्रकार व संख्या सामान्यतया समाज की जटिलता से सीधे सम्बन्धित रहते हैं। आधुनिक सभ्यता में सरकार की संहिताएँ सामाजिक व्यवस्था या सामाजिक संरचना को नियंत्रित और निर्देशित करती हैं जो दूसरी अनेक संहिताओ द्वारा समर्थन एवं सहयोग प्राप्त करती हैं। जैसे—ट्रेड यूनियन तथा व्यापारी नीतियाँ आदि। इन जटिल समाजो में व्यवसायों की अभिवृद्धि होती है और पेशेवर सम्मान विद्यमान होते हैं। परिवार के जीवन की भी संहिताएँ होती हैं। मैकाइवर एवं पेज ने तो यहाँ तक लिखा है कि जो संहिताओं का उल्लंघन करता है, जैसे—चोर, डाकू आदि उनकी भी अपनी संहिता होती है। गेंग के भी अपने नियम होते हैं। जेल के अपराधी साथी भी नियम निश्चित करते हैं। इनकी भी अपनी अनुशास्ति होती है। साराशत: अनुशास्ति किसी भी व्यवहार को हतोत्साहित अथवा प्रोत्साहित करने के लिए दिया जाने वाला दण्ड अथवा पुरस्कार कहा जा सकता है।

❏

अध्याय-23

सामाजिक स्तरीकरण
(Social Stratification)

स्तरीकरण
(Stratification)

प्रत्येक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से शक्ल, रंग, रूप, आकार, कद आदि अनेक विशेषताओ मे भिन्न प्रकार का होता है, यहाँ तक कि समरूप युगल अर्थात् एक साथ जन्में दो बालक भी एक-सी विशेषताएँ नहीं रखते। इसे वैयक्तिक विभिन्नता कहते हैं जो व्यक्तिगत स्तर पर दो मनुष्यों के विभेद को बताती है—इसके आयु, रग, लिंग, कद, वर्ण (गोरा-काला) आदि अनेक आधार हो सकते हैं। व्यक्तियो के समान ही समाज के स्तर पर भी अनेक भिन्नताएँ हो सकती हैं जिन्हे सामाजिक विभिन्नता कहा जा सकता है जिसके संस्कृति, कार्य, रुचि, पद आदि अनेक आधार हो सकते हैं। ये असमानताएँ या विभिन्नताएँ दोनो स्तरों (व्यक्तिगत एवं सामाजिक) पर ही आदिकाल से मानव-समाज मे पाई जाती हैं। समाज में व्यक्तिगत शक्ति, पारिवारिक सदस्यों में मुखिया की प्रभुता, समाज के विभिन्न सदस्यों में ऊँच-नीच आदि का भेद सदैव ही बना रहता है। समाज के विभिन्न सदस्यों में उच्चता व निम्नता की स्थिति या व्यवस्था को सामाजिक स्तरीकरण का नाम दिया जाता है। सामाजिक स्तरीकरण का वास्तविक अर्थ किसी समूह विशेष को सभी अधिकारों से वचित करना नहीं है वरन् प्रत्येक व्यक्ति की बुद्धि, योग्यता, कार्यक्षमता और शारीरिक शक्ति के अनुसार समाज में उसकी स्थिति और कार्यो को निश्चित करके समाज को दृढ़ बनाना है। सामाजिक स्तरीकरण सर्वव्यापी रूप से सभी समाजों में पाया जाता है किन्तु विभिन्न समाजों में इसका रूप भिन्न-भिन्न होता है।

कुछ समाजों मे आनुवंशिकता के आधार पर भिन्नता पाई जाती है जो कभी परिवर्तित नहीं हो सकती जबकि अन्य स्थान पर व्यक्तियों की कुशलता व योग्यता—इसका आधार हो सकती है जिसमें परिवर्तन किया जा सकता है। लेकिन प्रत्येक समाज मे स्तरीकरण का रूप दिखाई अवश्य पड़ता है।

सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of Social Stratification)

सामाजिक स्तरीकरण समाज को उच्च एवं निम्न वर्गो मे विभाजित करता है अतः यह स्तरीकरण विभेदीकरण का परिणाम है। स्तरीकरण शब्द की व्युत्पति भूगर्भशास्त्र से हुई है जहाँ मिट्टी की चट्टानों को विभिन्न स्तरो मे विभाजित किया जाता है। समाज में भी अनेक क्रम-विन्यास हैं जो पद, प्रस्थिति अथवा आय, सम्पत्ति, शिक्षा, धर्म, जाति आदि अनेक आधारो पर समाज को उच्च व निम्न श्रेणियो मे विभाजित करते हैं। इस प्रकार समाज मे विभेदीकरण का आधार क्रम विन्यास कहा जा सकता है और यही सामाजिक स्तरीकरण है। अनेक विद्वानों के अनुसार इसे निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया गया है—

1. ऑगबर्न एवं निमकॉफ के मतानुसार, ''स्तरीकरण वह प्रक्रिया है जो व्यक्तियो व समूहो को थोडी-बहुत स्थायी प्रस्थितियो की उच्चता व निम्नता के क्रम मे श्रेणीबद्ध करती है।''

2. रेमण्ड मूरे ने ''स्तरीकरण को उच्चतर व निम्नतर सामाजिक इकाइयो मे समाज का क्षैतिज (Horizontal) विभाजन कहा है।''

3. सदरलेण्ड व वुडवर्ड ने अपनी पुस्तक '*इन्ट्रोडक्ट्री सोशियोलॉजी*' मे स्तरीकरण को इस प्रकार परिभाषित किया है, ''स्तरीकरण केवल अन्तःक्रिया अथवा विभेदीकरण की ही प्रक्रिया है जिसमे कुछ व्यक्तियो को दूसरे व्यक्तियो की तुलना मे उच्च स्थिति प्राप्त होती है।''

4. टालकाट पारसन्स के अनुसार, ''किसी समाज व्यवस्था मे व्यक्तियो का ऊँचे और नीचे के क्रम-विन्यास मे विभाजन ही स्तरीकरण है।''

प्रस्थिति के निर्धारक

(Determinants of Status)

पारसन्स ने स्तरीकरण मे सामाजिक व्यवस्था मे प्रस्थितियो के क्रम-विन्यास पर अधिक ध्यान केन्द्रित किया है। इन्होने व्यक्ति की प्रस्थिति के निर्धारण मे निम्नलिखित कारको का योगदान माना है। ये कारक अलग-अलग समाजो मे अलग-अलग हो सकते है लेकिन सभी समाजों में सभी कारको का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य परिलक्षित होता है। ये निम्नलिखित हैं—

(1) नातेदारी समूह की सदस्यता (Membership of a Kinship Group)—जन्म से ही व्यक्ति की प्रस्थिति उसके परिवार की प्रस्थिति के अनुसार होती है अर्थात् जैसी पारिवारिक प्रस्थिति होगी व्यक्ति उसी के अनुरूप सदस्यता ग्रहण करेगा। उच्च कुल मे जन्म लेने वाले बालक को प्रारम्भ से ही उच्च-वर्ग का व निम्न कुल मे जन्म लेने वाले बालक को प्रारम्भ से ही निम्न-वर्ग का कहा जायेगा।

(2) व्यक्तिगत विशेषताएँ (Personal Qualities)—शारीरिक सुन्दरता, शक्ति, मधुर आवाज आदि विशेषताएँ व्यक्ति की प्रस्थिति के निर्धारण में सहायक होते हैं:सामाजिक उन्नति प्रदान कर सकते हैं। यद्यपि ये जन्म से प्राप्त होने वाले गुण हैं।

(3) उपलब्धियाँ (Achievements)—कुछ योग्यताएँ व्यक्ति स्वयं के प्रयास से अर्जित कर अपनी प्रस्थिति में बढ़ोतरी कर सकता है, जैसे—ज्ञानोपार्जन से अच्छी पद-प्रतिष्ठा प्राप्त करना—उसकी अर्जित उपलब्धि है जो प्रयत्न से उसने प्राप्त की है।

(4) द्रव्यजात (Possessions)—धन-दौलत, भवन, आभूषण आदि द्रव्यजात हैं जिनके कारण व्यक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा को प्राप्त करता है। प्राय: सभी समाजों में ये प्रस्थिति प्रतीक माने जाते हैं।

(5) सत्ता (Authority)—सत्ता को प्राप्त कर व्यक्ति अपनी प्रस्थिति को बदल सकता है या अन्य व्यक्तियों के व्यवहारों को नियंत्रित व नियोजित कर सकता है। जैसे—एक राज्याधिकारी किसी विशेष पद पर रहकर सभी अधीनस्थ कर्मचारियों को नियत्रण मे रखकर राज्य-कार्य व्यवस्थित ढंग से करा सकता है, क्योंकि उसे वह पद, सत्ता के आधार पर मिला है।

(6) शक्ति (Power)—विभिन्न लोगों को अपने अनुसार ढालना जिससे सभी उससे प्रभावित होकर कार्य करें—शक्ति के अन्तर्गत आता है। जो व्यक्ति की योग्यता व प्रभाव पर निर्भर करती है। शक्ति अच्छे व बुरे दोनों कार्यों के लिए उत्तरदायी हो सकती है। जैसे—एक लेखक अपनी लेखन शक्ति के बल से समाज को दिशा-निर्देश दे सकता है और एक दुराचारी लोगों को आतकित करके भी दिशा-निर्देश दे सकता है। इसमें सकारात्मक दृष्टिकोण रखने वाली शक्ति प्रभावी मानी जाती है जो व्यक्ति की प्रस्थिति को बताती है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज को उच्चता एवं निम्नता की श्रेणियों मे विभाजित करने की व्यवस्था है। सामाजिक स्तरीकरण को भली-भाँति समझने के लिए कुछ सम्प्रत्ययों को समझना आवश्यक है—

(1) प्रस्थिति (Status)— प्रस्थिति सामाजिक स्तरीकरण का आधार है। प्रस्थिति के आधार पर ही व्यक्ति की उच्चता व निम्नता को समझा जा सकता है।

(2) मूल्य (Values)—प्रस्थिति का महत्त्व मूल्यों द्वारा निर्धारित होता है अर्थात् किसी समाज में उसके (सम्मान के) मूल्यों के आधार पर व्यक्ति की परिस्थिति को महत्त्व दिया जाता है। जैसे भारत में सामाजिक मूल्यों के आधार पर कवि या विद्वान् को ऊँची प्रस्थिति प्राप्त हो सकती है।

(3) संस्कृति (Culture)—मूल्यों का सम्बन्ध सस्कृति से है। प्रत्येक समाज मे सांस्कृतिक विभिन्नताएँ होती हैं, उन्हीं के अनुरूप वहाँ के मूल्य होते हैं और उन्ही मूल्यो के अनुरूप प्रस्थिति निर्धारित होती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि सामाजिक स्तरीकरण प्रस्थिति, मूल्य, संस्कृति आदि कारकों से निर्धारित होता है। विभिन्न कालो में प्रस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। उन्हीं के साथ उनके मूल्यों में बदलाव होता है जो उसकी संस्कृति के आधार पर होता है। इसीलिए कहा गया है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज को उच्च व निम्न वर्गों मे विभाजित करने की व्यवस्था है।

विभेदीकरण का अर्थ एवं परिभाषा

(Meaning and Definition of Differentiation)

कुछ समाजविद् विभेदीकरण को स्तरीकरण से भिन्न रूप में परिभाषित करते हैं तथा कुछ के अनुसार स्तरीकरण, विभेदीकरण की ही प्रक्रिया है। स्तरीकरण को भली-भाँति जानने के लिए विभेदीकरण को समझना आवश्यक है। वास्तव में सामाजिक विभेदीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो व्यक्तियों और समूहो को कुछ मूर्त आधारो पर विभाजित करती है। विभेदीकरण प्राचीनकाल से अस्तित्व में है जिसमें आयु, लिंग, बुद्धि, व्यक्तित्व, धर्म, प्रजाति, शिक्षा, भाषा आदि अनेक आधारों पर व्यक्तियों को अनेक वर्गों में विभाजित किया जाता है।

न्यूमेयर के मत में, "विभेदीकरण वह प्रक्रिया है जिसमें अनेक जैविकीय, वंशानुगत और शारीरिक विशेषताओ; जैसे—आयु, लिंग, प्रजाति, व्यवसाय, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, सामाजिक सम्बन्धो आदि के आधार पर अनेक व्यक्तियों और समूह मे सामाजिक भिन्नता उत्पन्न हो जाती है।"

विभेदीकरण के प्रकार एवं आधार (Bases and Types of Differentiation)—विभेदीकरण व्यक्तिगत एवं सामाजिक दो प्रकार का है। व्यक्तिगत विभेदीकरण मे आयु, लिंग, रंग आदि को आधार माना जा सकता है और सामाजिक विभेदीकरण समाज के आधार पर किया जा सकता है। नोर्थ (North) ने सामाजिक विभेदीकरण के निम्नलिखित चार आधार प्रस्तुत किए हैं—(1) प्रकार्य (2) संस्कृति (3) रुचि (4) क्रम-विन्यास।

(1) प्रकार्य (Function)— प्रकार्य के आधार पर अन्तर इस प्रकार किया जा सकता है कि समाज मे अलग-अलग व्यवसाय-समूहों के अलग-अलग कार्य होते हैं। सभी व्यवसायियों के कार्यों में समूहगत भिन्नताएँ होती हैं; जैसे—प्रोफेसर का कार्य, इन्जीनियर आदि का कार्य।

(2) संस्कृति (Culture)—भिन्न-भिन्न समाजों में भिन्न-भिन्न संस्कृतियाँ होती हैं, जैसे—उत्तर भारत की सस्कृति से दक्षिण भारत को संस्कृति भिन्न है; जैसे—रीति-रिवाज, भाषा, कला, वेशभूषा आदि मे भिन्नता है।

(3) रुचि (Interest) —रुचि के आधार पर विभिन्न समूहो का निर्माण होता है, जैसे—विद्यार्थियो की रुचि से खिलाड़ियो की रुचियाँ भिन्न होने से उनके समूह अलग-अलग होगे।

(4) क्रम-विन्यास (Ranking)— एक-सी प्रस्थिति के लोग समाज के एक स्तर के सदस्य होते हैं। समाज के विभिन्न स्तर प्रस्थितियो के भेद के कारण एक-दूसरे से भिन्न होते

हैं। विभेदीकरण का ये आधार स्तरीकरण कहलाता है जिसमें क्रम-विन्यास का आधार प्रस्थिति होती है जो सामाजिक मूल्यो पर निर्भर करती है। इस प्रकार विभेदीकरण एक ऐसी अवधारणा है जिसमें उच्चता और निम्नता नहीं पाई जाती अपितु भिन्नता के आधार पर समूह या समाज को विभाजित किया जाता है; जैसे—लिंग, आयु, प्रजाति, आर्थिक प्रगति, सामाजिक प्रतिष्ठा के आधार पर व्यक्तियो में परस्पर भेद किया जा सकता है।

इस प्रकार विभेदीकरण से स्तरीकरण भिन्न सम्प्रत्यय है। इस अन्तर को अग्रलिखित रूप मे देखा जा सकता हैं।

विभेदीकरण एवं स्तरीकरण में अन्तर (Distinction between Differentiation and Stratification)—यद्यपि विभेदीकरण व स्तरीकरण दोनो ही विभिन्न समूहों मे अन्तर करने की प्रक्रियाएँ हैं; फिर भी दोनों की प्रकृति मे भिन्नता है, जिसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता हैं—

सामाजिक विभेदीकरण और सामाजिक स्तरीकरण में अन्तर

आधार	सामाजिक विभेदीकरण	सामाजिक स्तरीकरण
1. विकास	1 विभेदीकरण एक स्वाभाविक प्रक्रिया है इसका विकास योजनाबद्ध रूप से नहीं किया जाता। इसका स्वाभाविक रूप से विकास होता है।	1 स्तरीकरण जानबूझकर अपनाई जाने वाली प्रक्रिया है जो योजनाबद्ध रूप से की जाती है। इसका योजनाबद्ध रूप से विकास किया जाता है।
2. संस्तरण	2. सामाजिक विभेदीकरण में व्यक्तियों व समूहों के मध्य भिन्नता का ज्ञान होता है।	2 स्तरीकरण मे उच्चता-निम्नता का ज्ञान होता है। इसमे संस्तरण होता है।
3. स्थायित्व	3 विभेदीकरण के लिए समूहो में स्थायित्व *अनिवार्य* है।	3. स्तरीकरण में उच्चता-निम्नता के निर्धारण के लिए समूहों मे स्थायित्व अनिवार्य नहीं है।
4. आधार	4 विभेदीकरण का आधार आयु, *लिंग, रंग, प्रजाति आदि* हैं अत: यह एक सरल प्रक्रिया है अर्थात् ये ही विभेदीकरण को विकसित करते हैं।	4. स्तरीकरण का आधार *सामाजिक प्रतिष्ठा, उच्चता-निम्नता* आदि हैं अत: यह एक जटिल प्रक्रिया है।

आधार	सामाजिक स्तरीकरण	सामाजिक विभेदीकरण
5. प्रतिस्पर्द्धा	5 विभेदीकरण मे व्यक्तियो के मध्य भिन्नता होते हुए भी संघर्ष या विरोध की भावना नहीं होती है। इसमें प्रतिस्पर्द्धा का अभाव होता है।	5 स्तरीकरण में व्यक्तियो मे प्रतिस्पर्द्धा एव विरोध की भावना होती है क्योकि उसमे निम्नउच्च का विचार बराबर रहता है। इसमे प्रतिस्पर्द्धा व्याप्त होती है।
6. वैयक्तिकता	6 विभेदीकरण अवैयक्तिक प्रक्रिया है।	6 स्तरीकरण वैयक्तिक प्रक्रिया है।
7. उपयोगिता	7 विभेदीकरण उपयोगिता के आधार पर नहीं किया जाता क्योकि इसके द्वारा लिंग, आयु, रंग आदि निर्धारित होते हैं।	7 स्तरीकरण के द्वारा योग्य व्यक्ति उच्च पद को प्राप्त करते हैं अत: समाज के लिए उपयोगी प्रक्रिया है।
8. प्राचीनता	8 विभेदीकरण का जन्म बहुत पहले हुआ है। यह *प्राचीनकाल से ही सभी* समाजो में व्याप्त है।	8 स्तरीकरण का अस्तित्व बहुत बाद मे प्रकाश मे आया है।

उपर्युक्त आधार पर विभेदीकरण एव स्तरीकरण की स्थिति स्पष्ट होती है कि दोनो अलग-अलग सम्प्रत्यय हैं।

सामाजिक स्तरीकरण की आवश्यकता (Necessity of Social Stratification)—स्तरीकरण व्यक्तियो को पद प्राप्त करने तथा उसके अनुसार भूमिका निभाने की प्रेरणा देता है। सामाजिक सरचना के लिए विभिन्न पदो को आवश्यकता होती है जिन पर विभिन्न योग्यता वाले सदस्य कार्य करते हैं, जिनकी प्रस्थिति भी भिन्न होती है जिसके परिणामस्वरूप श्रेणीगत विभिन्नताएँ जन्म लेती हैं। यहीं स्तरीकरण की उत्पत्ति होती है। इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि स्तरीकरण-समाज मे व्यक्तियो को विभिन्न पद प्राप्त कराने व उनके अनुरूप *भूमिका-निर्वाह कराने की प्रेरणा* देता है। स्तरीकरण की आवश्यकता निम्नलिखित कारणो से उत्पन्न होती है—

(1) समाज की आवश्यकताओ के अनुरूप विभिन्न पदों के लिए विभिन्न योग्यता व बुद्धि वाले सदस्यो की आवश्यकता होती है जिसके लिए कभी-कभी व्यक्तियो को प्रशिक्षित भी किया जाता है। पद एवं उसके कार्यों के अनुरूप ही समाज मे व्यक्तियो को पुरस्कार दिया जाता है। परिणामस्वरूप समाज मे उच्चता-निम्नता का विभाजन उत्पन्न हो जाता है जो

स्तरीकरण को जन्म देता है। इस प्रकार पदों का विभाजन व उनके अनुरूप पुरस्कार प्रदान करना सामाजिक-व्यवस्था के लिए अनिवार्य है—यही स्तरीकरण है।

(2) प्रत्येक पद पर ऐसे व्यक्तियों की नियुक्ति करनी आवश्यक होती है जो अपने उत्तरदायित्वों का भली-भाँति निर्वाह कर सकने में सक्षम हों। पदों के अनुरूप पुरस्कारों की योजना की जाती है। *ये पुरस्कार व्यक्तियों की योग्यता, बौद्धिक क्षमता के अनुसार दिए जाते हैं* अर्थात् पदों का विभाजन व उनके अनुरूप पुरस्कार प्रदान करना समाज का अनिवार्य अंग है। यही स्तरीकरण है। अर्थात् समाज में विभिन्न पदो के अनुरूप विभिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न पुरस्कार प्रदान किए जाते हैं, जैसे किसी को उच्च श्रेणी का पुरस्कार दिया जाता है तो किसी को उसकी आवश्यकता की पूर्ति योग्य ही पुरस्कार दिया जाता है जो व्यक्ति की योग्यता व क्षमता के अनुरूप व पदों की स्थिति के अनुरूप होता है। स्तरीकरण समाज को यह आश्वासन देता है कि स्तरीकरण के द्वारा योग्य पद के अनुरूप ही व्यक्ति को योग्य पुरस्कार दिया जायेगा।

सामाजिक स्तरीकरण की विशेषताएँ
(Characteristics of Social Stratification)

समाजशास्त्री मैलविन एम. ट्यूमिन ने सामाजिक स्तरीकरण की निम्नलिखित विशेषताओं का वर्णन किया है—

(1) सामाजिकता (Sociability)—सामाजिक स्तरीकरण सम्पूर्ण समाज के स्तर पर होता है। एक व्यक्ति सामाजिक स्तरीकरण के तुलनात्मक महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए सक्षम नहीं होता बल्कि जब अनेक व्यक्ति सामाजिक मूल्यों व सामाजिक प्रतिमानों को स्वीकार करते हैं तब सामाजिक स्तरीकरण होता है। ट्यूमिन के अनुसार, आयु, रंग एवं यौन-भेद के आधार पर ही सामाजिक स्तरीकरण नहीं समझा जा सकता बल्कि समाज में व्यक्तियों द्वारा अर्जित विभिन्न पद एवं प्रस्थितियों के आधार पर इसे समझा जा सकता है अर्थात् व्यक्तिगत भिन्नताओं को सामाजिक प्रतिमानों से परिभाषित करना ही इसकी सामाजिक प्रकृति को स्पष्ट करता है।

सामाजिक स्तरीकरण के माध्यम से व्यक्ति सामाजिक मानदण्डों को सीखता है जैसे जाति-प्रथा के द्वारा प्रत्येक जाति का सदस्य सामाजीकरण के द्वारा अपेक्षित व्यवहार-प्रतिमानों को स्वीकारता है। धर्म, शिक्षा, नातेदारी, परिवार, विवाह, राजनीति आदि भी समाज में स्तरीकरण को जन्म देते हैं।

(2) प्राचीनता (Oldness)— सामाजिक स्तरीकरण हर काल में रहा है। ऐतिहासिक एवं पुरातत्वशास्त्री ग्रन्थों में भी यह विद्यमान रहा है जहाँ उम्र, यौन-भेद, शारीरिक शक्ति, जन्म आदि इसके मुख्य आधार रहे होंगे—जैसे प्राचीन समय मे राजा का पुत्र राजा बनता था, भले ही वह शासन के गुणों से रहित हो। कार्ल मार्क्स ने इसे राजा माना है। उनके अनुसार समाज मे सदैव उच्च-नीच दो वर्ग विद्यमान रहे हैं।

(3) सार्वभौमिकता (Universality)— प्रत्येक समाज मे किसी न किसी रूप में स्तरीकरण अवश्य विद्यमान रहा है, भले ही इसके स्वरूप अलग-अलग रहे हों। शक्ति, सत्ता व प्रतिष्ठा के आधार पर विभिन्न समाजों में भिन्न प्रस्थितियाँ मिलती हैं जो स्तरीकरण को उसके

अनुरूप स्पष्ट कराती हैं; जैसे—आदिवासी समाजों में भी उम्र, यौन-भेद और श्रम-विभाजन स्तरीकरण का आधार रहा है। इस तरह सामाजिक स्तरीकरण समाज में सदैव विद्यमान रहा है।

(4) विभिन्न स्वरूप (Various Forms)— सभी समाजो मे स्तरीकरण का स्वरूप अलग-अलग मिलता है। जैसे अत्यन्त प्राचीन समय में यौन व आयु का भेद तथा शारीरिक शक्ति स्तरीकरण का आधार था। जाति व्यवस्था के रूप में स्तरीकरण का आधार जन्म को माना जा सकता है। कहीं-कहीं दास और स्वामी का सम्बन्ध स्तरीकरण का आधार रहे हैं। इस प्रकार सभी समाजो मे स्तरीकरण के विभिन्न स्वरूप मिलते हैं।

(5) सामाजिक परिणाम (Social Consequences)— ट्यूमिन के मत मे, सामाजिक स्तरीकरण समाज में असमानता उत्पन्न करते हैं। इस असमानता के दो प्रकार के प्रभाव होते हैं—(1) जीवन के अवसर, (2) जीवन-शैली। बच्चों की मृत्यु, शारीरिक-मानसिक बीमारियाँ, वैवाहिक सघर्ष आदि जीवन के अवसरो मे आते हैं और पड़ौस, मकान की स्थिति, मनोरजन के साधन, भौतिक साधन आदि को जीवन-शैली के अन्तर्गत लिया जा सकता है। इस प्रकार अलग-अलग स्तरो मे जीवन के अवसर ा जीवन-शैली में भिन्नता पाई जाती है।

ट्यूमिन ने उपर्युक्त पाँचो विशेषताओं को समाज के स्तरीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण माना है।

सामाजिक स्तरीकरण के आधार (Bases of Social Stratification)—स्तरीकरण के अनेक आधार है। विभिन्न समाजशास्त्रियो ने स्तरीकरण के भिन्न-भिन्न आधारो का वर्णन किया है, जैसे—पार्सन्स ने 6 आधारो-नातेदारी समूह की सदस्यता, व्यक्तिगत विशेषताएँ, अर्जित उपलब्धियाँ, द्रव्यजात, सत्ता एव शक्ति को प्रमुखता दी है। सोरोकिन तथा वेबर ने आर्थिक, राजनैतिक एवं व्यावसायिक—तीन आधार सामाजिक स्तरीकरण के लिए महत्त्वपूर्ण माने हैं। कार्ल मार्क्स आर्थिक आधार को प्रमुखता देते हैं। इन सभी आधारो को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(1) जैविकीय आधार (2) सामाजिक व सांस्कृतिक आधार। इनके उपप्रकार भी हैं—

सामाजिक स्तरीकरण के आधार

(1) जैविकीय आधार (Biological Basis)—जैविकीय आधारो पर व्यक्ति की उच्चता व निम्नता का निर्धारण आयु, लिग, प्रजाति, जन्म, बौद्धिक स्तर के अनुसार किया जा सकता है।

1. लिंग (Sex)— लिग के आधार पर समाज का स्तरीकरण किया जाता है, जैसे—पुरुष की स्थिति महिला की स्थिति से उच्च मानी जाती रही है। आज भी महिलाओं को समाज में पुरुष के समान नहीं माना जाता यद्यपि संविधान मे समान अधिकार वर्णित है।

2. आयु (Age)— आयु के अनुसार परिवार में कार्यों को विभाजित किया जाता है, जैसे—बड़ी आयु के लोगो को महत्त्वपूर्ण पद प्रदान किए जाते हैं। छोटे बालको को कोई महत्त्वपूर्ण पद प्रदान नहीं किया जाता है। भारत में पचायत के मुखिया का पद वृद्ध अनुभवी व्यक्ति को ही दिया जाता है।

3. प्रजाति (Race)— प्रजाति के आधार पर भी स्तरीकरण होता है। जिस प्रजाति के व्यक्तियों का सत्ता में आधिपत्य हो जाता है वह अन्य प्रजातियों की तुलना में श्रेष्ठ मानी जाती है। इस प्रकार उच्चता-निम्नता के आधार पर विभेदीकरण हो जाता है जो स्तरीकरण को जन्म देता है।

4. जन्म (Birth)—उच्च कुल में जन्मे व्यक्ति श्रेष्ठ व निम्न कुल में जन्मने पर निम्न स्तर के कहलाते हैं और स्तरीकरण उत्पन्न हो जाता है।

5. बौद्धिक स्तर (Intellectual Level)— व्यक्ति का बौद्धिक स्तर भी स्तरीकरण को उत्पन्न करता है। परिश्रमी, बुद्धिमान, चतुर, कुशल व्यक्ति उच्च पदों को अपनी योग्यता से प्राप्त कर लेते हैं। इनकी तुलना में मानसिक दृष्टि से क्षीण, अपरिपक्व बुद्धि वाले व्यक्ति निम्न पदों को ग्रहण कर पाते हैं। फलस्वरूप दो स्तर समाज मे बन जाते हैं जो स्तरीकरण को बढ़ावा देते हैं।

(2) सामाजिक व सांस्कृतिक आधार (Social and Cultural Bases)— समाज की संस्कृति एवं स्थिति भी स्तरीकरण का आधार हो सकती है जिससे बड़े स्तर पर विभिन्नता उत्पन्न होती है। कुछ प्रमुख आधार इस प्रकार वर्णित हैं—

1. सम्पत्ति (Property)— जिन व्यक्तियों के पास सुख-सुविधा के सभी साधन हैं, समाज के अन्य व्यक्तियों की तुलना में सम्पन्न माने जाते हैं। रहन-सहन, खान-पान सभी स्तरों पर दूसरों की तुलना में उच्च वर्ग में आते हैं। वे व्यक्ति, गरीब, असहाय, निम्न आर्थिक स्थिति वाले व्यक्तियों से उच्च माने जाते हैं। परिणामस्वरूप गरीब-अमीर दो वर्ग उत्पन्न हो जाते हैं जो सामाजिक स्तर पर स्तरीकरण के जन्मदाता माने जाते हैं।

2. व्यवसाय (Occupation)— समाज में अनेक व्यवसाय उच्चकोटि की श्रेणी में आते हैं। जिनके लिए अधिक रुपये मिलते हैं; उनकी तुलना में अनेक छोटे व्यवसाय कहे जा सकते हैं। जिनके लिए निम्न स्तर का पुरस्कार ही दिया जाता है; जैसे— प्रशासनिक अधिकारी, इन्जीनियर,डॉक्टर आदि की अपेक्षा धोबी, मोची, बढ़ई आदि का व्यवसाय निम्न स्तर का है। अत: दोनों व्यवसायों में प्रथम को श्रेष्ठ माना जाता है। इस कारण उच्च व निम्न दो वर्ग बन जाते हैं जो स्तरीकरण के आधार बन जाते हैं।

3. संस्कृति (Culture)—विभिन्न समाजों में अलग-अलग संस्कृति मिलती है। उदाहरण के लिए ग्रामीण जीवन से नगरीय जीवन की संस्कृति, रहन-सहन, खान-पान, भाषा, वेशभूषा, रीति-रिवाज, कला आदि अनेक क्षेत्रों में श्रेष्ठ मानी जाती है। इसी कारण ग्रामीण-लोग शहरी-लोगों को संस्कृति के आधार पर अपने से कुलीन मानते हैं।

इसी प्रकार धर्म भी स्तरीकरण को उत्पन्न करता है। धार्मिक संस्कार करने वाले पंडित, उपदेशक आदि भी समाज में उच्च स्थान प्राप्त करते हैं। इस तरह संस्कृति व धर्म स्तरीकरण को उत्पन्न करते हैं।

4. शक्ति या सत्ता (Power and Authority)—शासक और शासित दो वर्ग प्रत्येक समाज में मिलते हैं। जिनके पास सत्ता होती है वे अन्य लोगों को निम्न स्तर का मानकर अपने को उच्च वर्ग का मानते हैं— अधिकारी वर्ग का मानते हैं, जिससे समाज में ऊँच-नीच की

भावना आ जाती है। इस तरह सत्ता भी स्तरीकरण को जन्म देती है।

सामाजिक स्तरीकरण के प्रकार्य (Functions of Social Stratification)—सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप प्रत्येक समाज मे विद्यमान रहा है क्योंकि कोई भी समाज समान आर्थिक स्तर, पद, व्यवसाय, सस्कृति आदि से युक्त नही हो सकता। इसी प्रकार व्यक्तियो की बौद्धिक क्षमता, रुचियाँ, कुशलता आदि भिन्न-भिन्न स्तर की होती हैं जिसके परिणामस्वरूप कुछ व्यक्ति उन्नति करते हैं तो अन्य निम्न स्थिति मे सतोष कर लेते हैं जो समाज में स्तरीकरण को जन्म देते हैं। ये स्तरीकरण व्यक्ति के स्तर पर व समाज के स्तर पर अलग-अलग रूपो मे महत्त्वपूर्ण हैं। अत: निम्नलिखित क्रम मे व्यक्ति व समाज के स्तर पर स्तरीकरण का महत्त्व अथवा प्रकार्य इस प्रकार वर्णित है—

(1) व्यक्ति के लिए सामाजिक स्तरीकरण का महत्त्व/प्रकार्य (Importance /Functions of Social Stratification for Individual)—
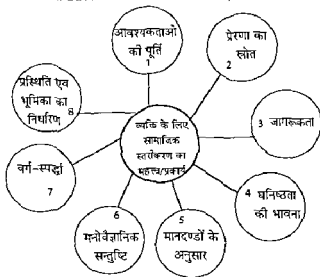
1. आवश्यकताओं की पूर्ति (Fulfilment of Needs)—स्तरीकरण व्यक्ति को आवश्यकताओ की सम्पूर्ति करता है। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओ की सम्पूर्ति के लिए अपनी बौद्धिक योग्यता के आधार पर कार्य करता है। अन्य व्यक्तियो से सहयोग लेकर अपने अनुसार कार्यों का चयन करता है और अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति उन कार्यो के परिणामस्वरूप कर लेता है। इस प्रकार स्तरीकरण व्यक्ति को सन्तुष्टि भी प्रदान करता है।

2. प्रेरणा का स्रोत (Source of Aspiration)—सामाजिक स्तरीकरण व्यक्ति को अधिक कार्य करने की प्रेरणा देता है जिससे व्यक्ति और अधिक उच्च पद को प्राप्त करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना सके। जैसे अधिक योग्यता के लिए अधिक पुरस्कार पाने की व्यवस्था से व्यक्ति मे कठिन परिश्रम करने की प्रेरणा जागृत होती है। प्रतियोगिता की भावना व्यक्ति को और अधिक कार्य करने को प्रोत्साहित करती है।

3. जागरूकता (Awareness)—स्तरीकरण का एक कार्य यह है कि व्यक्ति को अपनी स्थिति को व्यवस्थित बनाए रखने के लिए निरन्तर जागरूक रहना पड़ता है जिससे वह अपने पद पर निष्ठापूर्वक कार्य कर सके। परिणामस्वरूप समाज में संघर्ष, तनाव आदि उत्पन्न नहीं हो पाते और समाज संतुलित रूप में चलता रहता है।

4. घनिष्ठता की भावना (Feeling of Closeness)—स्तरीकरण व्यक्तियों में परस्पर घनिष्ठता की भावना को विकसित करता है। जैसे—एक स्तर के सदस्य परस्पर मिलजुल कर कार्य करते हैं, उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाते हैं जिससे परस्पर सामान्य स्वार्थ व रुचियाँ दृढ़तर होती जाती हैं और सभी कार्य नियमों के आधार पर होते रहते हैं। इस प्रकार स्तरीकरण व्यक्तियों में परस्पर घनिष्ठता की भावना उत्पन्न करता है।

5. मानदण्डों के अनुसार कार्य (Work to Norms)—व्यक्ति अपनी स्थिति समाज में उच्च बनाने के लिए कभी-कभी ऐसे कार्यों को अपनाता है जो समाज को मान्य होते हैं और ऐसे कार्यों को त्याग देता है जो समाज-सम्मत नहीं होते चाहे वह ऐसे कार्यों को पहले कर रहा होता हो, लेकिन सामाजिक मानदण्डों के अनुसार कार्य करके व्यक्ति स्वत: ही समाज में नियंत्रण ले आता है। इस प्रकार स्तरीकरण व्यक्ति को समाज-सम्मत कार्य करने की प्रेरणा देता है।

6. मनोवैज्ञानिक संतुष्टि (Psychological Satisfaction)—स्तरीकरण, मनोवैज्ञानिक रूप से व्यक्ति को संतुष्टि प्रदान करता है। व्यक्ति जिस जाति, वर्ग, प्रस्थिति या समूह की सदस्यता प्राप्त कर लेता है, उसी के अनुसार उसके व्यवहार-क्रियाएँ, मनोवृत्तियाँ आदि हो जाती हैं जिससे किसी भी प्रकार के मानसिक तनाव से उसे मुक्ति मिल जाती है।

7. वर्ग-स्पर्द्धा (Class-Competition)— स्तरीकरण समाज में वर्ग-स्पर्द्धा की स्थिति में संतुलन बनाए रखता है। समाज में दो वर्ग होते हैं—उच्च व निम्न। दोनों वर्गों में परस्पर भेदभाव रहता है क्योंकि उच्च वर्ग के पास शक्ति व सत्ता है जबकि निम्न वर्ग इन सुविधाओं से रहित है। यह वर्ग संख्या में अधिक होता है जो उच्च वर्ग को शक्ति का दुरुपयोग करने से रोकता है। इसी प्रकार शक्तिशाली लोग सामान्य-जन पर नियन्त्रण रखते हैं। इस तरह स्तरीकरण परस्पर वर्ग-स्पर्द्धा में सहायक होता है, जिससे सन्तुलन की स्थिति विद्यमान रहती है।

8. प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण (Determines Status and Role)—यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि स्तरीकरण के आधार पर ही व्यक्ति समाज में अपनी स्थिति को निर्धारित करता है उसी के अनुसार उसे भूमिका वितरित की जाती है।

व्यक्ति के लिए स्तरीकरण के महत्त्व के समान ही समूह के लिए भी स्तरीकरण महत्त्वपूर्ण है—

(2) समूह के लिए सामाजिक स्तरीकरण का महत्त्व / प्रकार्य (Importance/Function of Social Stratification for Group)— ओल्सन ने सामाजिक स्तरीकरण के समूह के लिए कुछ महत्त्वों का वर्णन किया है—
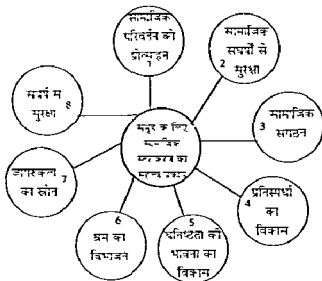
1. सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहन (Promotes Social Change)—समाज मे प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता को बढ़ाना चाहता है जिससे वह और उच्च पद को प्राप्त कर सके। इसी प्रकार अन्य व्यक्ति उस पद को प्राप्त करना चाहते हैं जो अभी रिक्त हुआ है। इस प्रकार स्तरीकरण सामाजिक परिवर्तन को प्रोत्साहन देता है।

2. सामाजिक संघर्षों से सुरक्षा (Security from Social Conflicts)—समाज में अनेक कार्य व अधिकार योग्यता के आधार पर विभाजित हैं। व्यक्तियो को उनकी योग्यता के अनुरूप सुविधाएँ, पुरस्कार दिए जाते हैं जिससे संघर्ष की स्थिति नहीं आ पाती। स्तरीकरण के आधार पर यह निश्चित हो जाता है कि योग्यता के आधार पर ही व्यक्ति योग्य पदों को प्राप्त करेगा।

3. सामाजिक संगठन (Social Organisation)—सामाजिक स्तरीकरण से समाज में संगठन व एकीकरण को बढ़ावा मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्यों का भलीभाँति निर्वाह करता है जिससे समाज में संगठन बना रहता है।

4. प्रतिस्पर्द्धा का विकास (Develops Competition)—समाज में उच्च व निम्न अनेक पद होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अच्छे पद को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है, उसके लिए परिश्रम करता है। इससे समाज की प्रगति होती है। इस प्रकार स्तरीकरण सामाजिक प्रतिस्पर्द्धा की भावना का विकास करता है जिसके परिणामस्वरूप समाज में निर्माण कार्य होते रहते हैं।

5. घनिष्ठता की भावना का विकास (Develops Feeling of Closeness)—जिन व्यक्तियों के स्वार्थ व रुचियाँ समान होती हैं उनमें परस्पर घनिष्ठता की भावना पाई जाती है। इस प्रकार स्तरीकरण के परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्धों में घनिष्ठता की भावना उत्पन्न

होती है क्योंकि समान जाति के लोगों के स्वार्थ, उद्देश्य व रुचियाँ समान होती हैं। मजदूर वर्ग में परस्पर घनिष्ठता की भावना दिखाई देती है।

6. श्रम का विभाजन (Division of Labour)—स्तरीकरण में समाज के कार्यों का विभाजन किया जाता है जिससे कार्य-कुशलता मे वृद्धि होती है। परस्पर व्यक्तियो में सहयोग, पारस्परिक-निर्भरता बढ़ती है जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक सगठन सुदृढ़ होता है।

7. जागरूकता का स्रोत (Source of Awareness)—प्रत्येक व्यक्ति प्राप्त पद को बनाए रखने के लिए जागरूक रहता है इसलिए उस पद को स्थिर रखने के लिए सामाजिक मानको का पूर्णतया पालन करता है, जिससे समाज में उसकी प्रतिष्ठा बनी रहे। इस प्रकार स्तरीकरण सामाजिक मानको का पालन कराता है।

8. संघर्ष से सुरक्षा (Security from Conflicts)—स्तरीकरण में समूहों के कार्यों, कर्त्तव्यों आदि का विभाजन रहता है अत: प्रत्येक समूह अपने नियत कार्यों को करता है जिससे अनावश्यक संघर्ष या तनाव की स्थिति समाज मे नहीं आ पाती।

सामाजिक स्तरीकरण के अपकार्य (Dysfunctions of Social Stratification)—सामाजिक स्तरीकरण के अनेक अपकार्य भी हैं जिन पर प्रकाश डाला जा सकता है। ये निम्नलिखित हैं—

1. निष्क्रियता की भावना (Feeling of Dullness)—प्राय: व्यक्ति एक पद को प्राप्त करके निश्चिन्त हो जाते हैं। आगे उन्नति के लिए प्रयास नहीं करते अत: वे कभी उच्चपद को प्राप्त नहीं कर पाते। इस तरह स्तरीकरण निष्क्रियता की भावना को विकसित करता है।

2. वर्ग-चेतना व पक्षपात की भावना (Feeling of Class-Consciousness and Partality)—स्तरीकरण में वर्गों का निर्धारण होता है जिससे व्यक्तियों में वर्ग-चेतना विकसित हो जाती है। फलस्वरूप व्यक्ति अपने वर्ग के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार करने लगते हैं तथा अन्य वर्गों के प्रति उपेक्षा का भाव रखते हैं। ये स्तरीकरण का अपकार्य है।

3. संघर्ष का जन्म (Origin of Conflict)—स्तरीकरण के परिणामस्वरूप विभिन्न वर्गों का निर्माण होता है जिनमे कुछ वर्गों के पास अधिक सुविधाएँ तथा अन्य वर्गों के पास सुविधाओ का अभाव होता है। सुविधाभोगी-वर्ग सुविधाविहीन-वर्ग के प्रति शोषण की भावना विकसित कर लेता है जिससे सुविधाविहीन-वर्ग शोषित होता है फलस्वरूप उसमें उच्च-वर्ग के प्रति सघर्ष की भावना विकसित हो जाती है। उनमें यह भावना आ जाती है कि उन्हें परिश्रम करने के उपरान्त भी उचित अनुपात में सुविधा नहीं प्राप्त होती, जो होनी चाहिए इसी से वे संघर्ष करते हैं, परिणामस्वरूप समाज की एकता को खतरा हो जाता है।

4. निराशा की भावना (Feeling of Frustration)—कभी-कभी स्तरीकरण व्यक्तियों में असन्तोष उत्पन्न कर देता है जब समाज में कुछ लोगों को कम महत्त्वपूर्ण कार्य

सौंप जाते हैं आर कुछ लोगों को अधिक महत्त्व के कार्य सौंपे जाते हैं। अमहत्त्वपूर्ण कार्य व्यक्ति में निराशा भर देते हैं।

5. सुरक्षा का अभाव (Lack of Security)—स्तरीकरण से अनेक स्थितियों में सुरक्षा का अभाव दिखाई देता है। निरन्तर उच्च-पद प्राप्ति की स्पर्द्धा व्यक्ति को असुरक्षित कर देती है, क्योंकि अनेक बार उच्च वर्ग की स्थिति में पहुँचकर भी प्रतिस्पर्द्धा की भावना के कारण अपने पद को बनाए रखना कठिन हो जाता है जिसमें व्यक्ति का आत्मसम्मान भी क्षीण हो जाता है और वह पुनः निम्न स्थिति को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार स्तरीकरण असुरक्षा को जन्म देता है।

6. समानता का विरोध (Opposition of Equality)—स्तरीकरण के कारण अनेक पद उच्च व निम्न श्रेणी के होने के कारण समाज में समानता की भावना नहीं विकसित हो पाती। अतः स्तरीकरण समानता का विरोधी सिद्ध होता है।

7. व्यक्तित्व के विकास में बाधक (Hinderence in Personality Development)—उच्च वर्ग और निम्न वर्ग का अन्तर निम्न वर्ग के लोगों में हीनता की भावना विकसित कर देता है जिससे उनका व्यक्तित्व उचित रूप से विकसित नहीं हो पाता।

इस प्रकार स्तरीकरण अनेक स्थितियाँ इस प्रकार की उत्पन्न कर देता है जिससे उसका विपरीत प्रभाव पड़ता है, जैसे—हीनता की भावना, ऊँच-नीच का भेदभाव आदि भावनाएँ इसके अपकार्य हैं। फिर भी स्तरीकरण सदैव समाजों में विद्यमान रहा है।

सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूप (प्रकार)
(Forms of Social Stratification)

मानव-इतिहास में स्तरीकरण के चार स्वरूप रहे हैं—(1) जाति व्यवस्था (2) वर्ग-व्यवस्था (3) दास-प्रथा (4) जागीरें।

स्तरीकरण का आधार उच्चता-निम्नता है। जब समाज में निम्न जाति में उत्पन्न व्यक्ति को उच्च जाति के सदस्यों द्वारा हेय दृष्टि से देखा जाता है तो जातीय-स्तरीकरण की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार स्तरीकरण का आधार जहाँ वंशानुक्रम हो जाता है वहाँ जातिगत स्तरीकरण हो जाता है। अतः अब जाति-व्यवस्था पर विस्तार से विचार किया जायेगा जिससे जातिगत आधार को स्पष्ट समझा जा सके।

जाति-व्यवस्था
(Caste-System)

जाति-व्यवस्था का स्वरूप आदिकाल से ही भारत में प्रचलित रहा है, क्योंकि यह व्यवस्था भारतवर्ष की ही विशेषता मानी जाती है यद्यपि अन्य देशों में भी इसका स्वरूप देखने को मिलता है किन्तु यहाँ इसका चरम व विस्तृत स्वरूप मिलता है। जाति एक ऐसे वर्ग का नाम हो सकता है जिसमें जन्म के आधार पर ही एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति की तुलना में उच्च अथवा निम्न मान लिया जाता है। इस प्रकार जाति सामाजिक संरचना का आधार है। भारत में अनेक जातियाँ हैं जिनकी भिन्न-भिन्न जीवन शैली है। हट्टन के अनुसार भारत में 2,993

उपजातियाँ हैं जबकि घुरिये ने 2,000 उपजातियाँ बताई हैं। जाति-व्यवस्था क्या है? इसकी क्या विशेषताएँ हैं? स्तरीकरण का आधार किस प्रकार है? आदि प्रश्नों को जानने के लिए जाति की पूर्ण जानकारी अपेक्षित है। इरावती कर्वे ने भी यही माना है कि भारतीय संस्कृति के तत्त्वों को पूर्ण रूप से समझने के लिए जाति-प्रथा का अध्ययन आवश्यक है।

हट्टन का तो यहाँ तक कहना है कि जाति-व्यवस्था की पूर्ण व समुचित जानकारी के लिए विशेषज्ञो की एक सेना की आवश्यकता है। सक्सेना के अनुसार जाति हिन्दू सामाजिक संरचना का मुख्य आधार रहा है जिसने हिन्दुओ के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनैतिक जीवन को प्रभावित किया है। अत: जाति का अर्थ, परिभाषाएँ, विशेषताएँ आदि की जानकारी आवश्यक है।

जाति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Caste)—जाति शब्द संस्कृति की 'जन्' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ जन्म या उत्पत्ति है। अर्थात् जन्म के अनुसार अस्तित्व का रूप ही जाति है जिसमें— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—चार जातियाँ प्राथमिक रूप से हिन्दुओ मे मानी जाती हैं।

अंग्रेजी भाषा मे 'जाति' कास्ट (Caste) का हिन्दी रूपान्तर है जिसको पुर्तगाली भाषा के (Casta) से व्युत्पन्न माना जा सकता है जहाँ इसे विभेद या मत के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। 'जाति' की अनेक परिभाषाएँ विद्वानों द्वारा दी गई हैं जिनके आधार पर जाति को अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है—

जे. एच. हट्टन के अनुसार, "जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक समाज अनेक आत्म-केन्द्रित एवं एक-दूसरे से पूर्णत: पृथक् इकाइयों में विभाजित रहता है।"

कूले के अनुसार, "जब एक वर्ग पूर्णतया वंशानुक्रम पर आधारित होता है तो उसे जाति कहा जा सकता है।"

मानवशास्त्री **हॉवेल** के अनुसार, "अन्तर्विवाह और आनुवांशिक पद के द्वारा सामाजिक वर्गों को एक स्थाई और अपरिवर्तनीय रूप दे देना ही जाति है।"

मजूमदार तथा **मदान** के मत मे, "जाति एक बन्द वर्ग है।" **केलकर** के अनुसार, "जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएँ होती हैं— (1) जाति के सदस्य वही व्यक्ति हो सकते हैं जिन्होने उसी जाति मे जन्म लिया हो और (2) एक जाति के सदस्य अपनी ही जाति में विवाह सम्बन्ध स्थापित कर सकते है।"

ब्लण्ट के मत में, "जाति एक अन्तर्विवाही समूह अथवा उनका संकलन है जिनकी सदस्यता आनुवंशिक होती है तथा जो सामाजिक सहवास के क्षेत्र में अपने सदस्यों पर प्रतिबन्ध लगाता है। इसके सदस्य या तो पारम्परिक व्यवसाय को करते हैं अथवा किसी सामान्य आधार पर अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं और एक समरूप समुदाय के रूप मे मान्य होते हैं।"

मिचल ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है, "जाति-व्यवस्था धार्मिक विश्वासों पर आधारित एक ऐसे संस्तरण, अन्तर्विवाही तथा व्यावसायिक समूह की ओर संकेत करती है जिसमे अनेक कर्मकाण्डों तथा संस्कारो के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की सामाजिक स्थिति को पूर्व-निर्धारित करके उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन पर नियन्त्रण लगा दिया गया है।"

उपर्युक्त परिभाषाओ मे प्राय: सभी विद्वानो ने जाति में जन्म की सदस्यता पर बल दिया है तथा सभी ने धार्मिक विश्वास, खान-पान, संस्कार, कर्मकाण्ड आदि को विशेष महत्त्व दिया है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि जाति—जन्म से ही व्यक्ति को एक ऐसी सामाजिक स्थिति प्रदान करती है जिसमे किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है तथा इसमे विवाह, खान-पान, कर्मकाण्ड, अनुष्ठान आदि पर भी कुछ नियन्त्रण रहता है।

जाति की विशेषताएँ (Characteristics of Caste)—**एन. के. दत्ता एवं जी. एस. घुरिये** ने जाति की दो प्रकार की विशेषताएँ बताई हैं—(1) सरचनात्मक जो जाति की सरचना से सम्बन्धित है। (2) सस्थात्मक जो इसके विभिन्न नियन्त्रणो को स्पष्ट करती है। ये इस प्रकार हैं—

(1) जाति की संरचनात्मक विशेषताएँ (Structural Characteristics of Caste)—संरचना के आधार पर जाति की दो विशेषताएँ हैं—

1. खण्डनात्मक विभाजन (Segmental Division)—जाति के आधार पर समाज अनेक खण्डों में विभक्त है और प्रत्येक खण्ड के सदस्यो की स्थिति, पद और कार्य जन्म से ही निश्चित हैं। प्रत्येक खण्ड के सदस्य का अपनी जाति के नियमो व पदो के अनुसार कार्य करने का नैतिक दायित्व होता है और जातीय नियमों की अवहेलना करने पर पंचायत की ओर से सामाजिक दण्ड निर्धारित होता है जिसमे जाति से बहिष्कार तक किया जा सकता है। इस प्रकार एक जाति के सदस्य परस्पर सामुदायिक भावना से कार्य करते हैं।

2. संस्तरण (Hierarchy)—जाति के विभिन्न खण्डो मे उच्चता-निम्नता का एक निश्चित सस्तरण होता है जो जन्म के आधार पर होता है, जैसे—ब्राह्मणों को सर्वोच्च व शूद्रो को निम्नतम स्थान प्राप्त है। जन्म पर आधारित होने के कारण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—यह स्थिर व दृढ संस्तरण है।

(2) जाति की संस्थात्मक विशेषताएँ (Institutional Characteristics of Caste)—सस्थात्मक विशेषताएँ विभिन्न नियत्रणो को स्पष्ट करती हैं। ये निम्नलिखित हैं—

1. खान-पान तथा सामाजिक-समागम पर प्रतिबन्ध (Restrictions on feeding and social intercourse)—जाति-व्यवस्था मे सदस्यों के खान-पान व सामाजिक-समागम पर प्रतिबन्ध रहता है अर्थात् एक जाति के सदस्य अपनी जाति में ही भोजन कर सकते हैं व सामाजिक ससर्ग स्थापित कर सकते हैं। आज भी कुछ ब्राह्मण, विशेष रूप से पण्डित वर्ग, दूसरी जाति में भोजन नहीं करता, यद्यपि इसमे परिवर्तन भी हुआ है, जैसे—फलाहार आदि या पक्का भोजन अन्य जाति मे किया जा सकता है लेकिन किसी सीमा तक इन पर प्रतिबन्ध मान्य है। उच्च जाति के सदस्य निम्न जाति के यहाँ न तो सामाजिक-समागम स्थापित करते हैं न ही भोजन आदि करते हैं।

2. व्यवसाय की आनुवंशिकता (Hereditary Nature of Occupation)—प्रत्येक जाति का निश्चित व्यवसाय होता है जो उसे वंशानुक्रम से मिलता है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होता है, जैसे—नाई, धोबी, चर्मकार, स्वर्णकार आदि अपना व्यवसाय परम्परागत रूप मे करते रहते हैं। यद्यपि अब इस क्षेत्र मे कुछ परिवर्तन हो रहा है, जैसे—कृषि, व्यापार आदि का कार्य सभी जाति के सदस्य कर रहे हैं।

3. विवाह से सम्बन्धित प्रतिबन्ध (Restrictions Regarding Marriage)—प्रत्येक जाति के सदस्य अपनी जाति मे ही विवाह-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यद्यपि यह नियम

भी आधुनिक समय में शिथिल होता जा रहा है किन्तु सिद्धान्ततः जाति या उपजाति के बाहर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है।

4. जातियों की सामाजिक व धार्मिक निर्योग्यताएँ (Social and religious disabilities of castes)—उच्चता व निम्नता के अनुसार कई ऐसे सामाजिक व धार्मिक विशेषाधिकार हैं जो उच्च जाति को प्राप्त हैं निम्न जाति को नहीं, जैसे—आज भी शूद्र वर्ग को मन्दिर मे जाने की अनुमति नही। उसी भाँति अनेक सामाजिक अधिकारो, कुओ, तालाबो आदि सार्वजनिक स्थानो पर जाना मना है। दक्षिण भारत मे आज भी अनेक निर्योग्यताएँ निम्न जातियो पर आरोपित की गई हैं, जिसके कारण निम्न-जातियो मे हीनभावना का उदय हो जाता है और प्रत्येक शोषण को वे प्रारब्ध का फल मानकर सहन कर लेते हैं।

इसे निम्नलिखित तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—

जाति की विशेषताएँ

- सरचनात्मक विशेषताएँ
  - खडनात्मक विभाजन
  - सस्तरण
- सस्थात्मक विशेषताएँ
  - व्यवसाय की आनुवशिक प्रकृति
  - विवाह से सम्बन्धित प्रतिबन्ध
  - सामाजिक व धार्मिक निर्योग्यताएँ
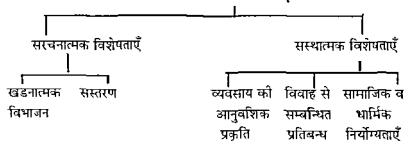
जाति के कार्य (Functions of Caste)—जाति-व्यवस्था के अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य अथवा लाभ हैं जो समाज के लिए हितकारी हैं। **हट्टन** ने जाति के अनेक कार्यो का वर्णन किया है जिन्हे दो भागों मे विभाजित किया जा सकता है—(1) व्यक्तिगत जीवन में कार्य, (2) सामाजिक जीवन में कार्य। इन्हे इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है—

(1) व्यक्तिगत जीवन में कार्य (Functions in Individual Life)—इसके अन्तर्गत वे कार्य सम्मिलित हैं जो वैयक्तिक स्तर पर व्यक्ति के लिए सहायक सिद्ध होते हैं। इनमें निम्नलिखित कार्य हैं—

1. मानसिक सुरक्षा (Mental Security)—जाति के कारण सदस्यो में मानसिक सुरक्षा प्राप्त होती है। प्रत्येक व्यक्ति इस विषय में आश्वस्त रहता है कि उसे क्या-क्या धार्मिक कार्य करने हैं? किस समूह में विवाह करना है? किसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने हैं? आदि-आदि। इस आश्वस्ति से व्यक्ति को मानसिक स्थिरता प्रदान होती है। यहाँ तक कि परिवार से सम्बन्धित अनेक नियमों की निश्चितता के कारण वैयक्तिक जीवन शान्तिपूर्ण बना रहता है, क्योंकि जन्म से ही उन्हें स्थिर पर्यावरण प्राप्त होता है।

2. सामाजिक सुरक्षा (Social Security) —जाति-प्रथा अपने सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा भी प्रदान करती है, जैसे—कभी किसी प्रकार की विपत्ति आने पर जाति के सदस्य सदैव

उसकी सहायता को तत्पर रहते हैं। इस प्रकार जाति अपने सदस्यो को आकस्मिक विपत्तियों के विरुद्ध उन्हें सुरक्षा प्रदान करती है, साथ ही सदस्यो की सामाजिक स्थिति को भी निश्चित करती है। अर्थात् व्यक्ति की योग्यता के अनुसार उसकी सामाजिक स्थिति का निर्धारण होता है। इसी कार्य के आधार पर **किंग्सले डेविस** का मानना था कि "प्रदत्त पदो की व्यवस्था व्यक्ति मे सुरक्षा की वह भावना उत्पन्न करती है जो अर्जित पदो की स्थिति में किसी प्रकार सम्भव नहीं है।"

3. व्यवसाय का निर्धारण (Determination of Occupation)—व्यवसाय जाति द्वारा निश्चित होते हैं और पीढ़ी-दर-पीढी हस्तान्तरित भी होते हैं, जिसके परिणामस्वरूप व्यवसाय मे निपुणता विकसित होती रहती है। इससे प्रत्येक सदस्य को व्यावसायिक सुरक्षा भी प्राप्त होती है—मोची, धोबी, कुम्भकार, चर्मकार, स्वर्णकार आदि आर्थिक दृष्टि से स्वयं को सुरक्षित अनुभव करते हैं।

4. व्यवहारों पर नियन्त्रण (Control over Behaviour)—जाति द्वारा स्थापित प्रतिबन्ध इतने प्रभावशाली होते हैं कि व्यक्ति के व्यवहार स्वयमेव इनसे नियन्त्रित हो जाते हैं जो बाद मे जाति की प्रथा, रूढि आदि का रूप ले लेते हैं। आत्म-नियन्त्रण के क्षेत्र में इसका योगदान इसी कारण प्रभावपूर्ण है।

(2) सामाजिक जीवन में कार्य (Function in Social Life)—वैयक्तिक जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन मे भी जाति का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसे अग्रलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है—

1. सामाजिक एकता व संरक्षण (Social Unity and Protection)—जाति-व्यवस्था के कारण ही हिन्दू समाज में एकता व सुरक्षा विद्यमान है। भारत मे अनेक प्रजातियाँ व जातियाँ रही हैं लेकिन अनेक जातियो के होते हुए भी जाति समाज को एकता के सूत्र मे बाँधने का कार्य करती है, जैसे—हिन्दू धर्म पर मुसलमानो व ईसाइयो द्वारा बाहर से आक्रमण किए गए लेकिन हिन्दू समाज की स्थिरता उसी रूप मे निश्चल रही-इसी से इसकी प्रशसा अनेक विद्वानो ने मुक्तकंठ से की है। **गिल्बर्ट** ने कहा है कि भारतवर्ष की जाति प्रथा यूरोप की राष्ट्रीयता के समान है। हट्टन का भी यही मत है कि जाति-व्यवस्था भारतीय समाज को सगठित करने का कार्य करती है।

2. श्रम-विभाजन (Division of Labour)—जाति के आधार पर व्यक्ति अपने कार्य के प्रति प्रेम व निष्ठा को भावना रखता है। शूद्र भी अपने कर्म को महत्त्वपूर्ण मानते हैं और अपने उत्तरदायित्वो को निभाते हुए आगामी पीढ़ी को उस रूप मे तैयार करते हैं। इससे श्रम का विभाजन स्वत: ही हो जाता है और व्यक्तियो मे तनाव, कुण्ठा या संघर्ष की स्थिति नहीं आ पाती। इस तरह जाति द्वारा प्रदत्त कार्यों को करके सन्तोष प्राप्त कर लेते हैं और निष्ठा के साथ अपने कर्त्तव्यों को सम्पन्न करते हैं।

3. संस्कृति का हस्तान्तरण (Transmission of Culture)—जाति के द्वारा भारतीय संस्कृति की बाह्य प्रभाव से रक्षा की गई है। संस्कृति धार्मिक जीवन से सम्बन्धित होती है। जाति-व्यवस्था ने धर्म के परिवर्तित रूप के साथ बराबर अनुकूलन किया जिसके परिणामस्वरूप संस्कृति का महत्त्व बना रहा। उदाहरण के लिए अंग्रेजों के लम्बे शासन के उपरान्त भी भारतीय संस्कृति स्थिर रही तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत को आगे की पीढ़ी को हस्तान्तरित करती रही। परिणामत: संस्कृति स्थापित प्राप्त कर सकी।

4. राजनैतिक स्थिरता (Political Stability)—जाति प्रथा ने भारतीय समाज की राजनीति को भी प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए यदि आज जाति-प्रथा न होती तो भारतवर्ष ईसाई-धर्मावलम्बी ब्रिटिश राज्य का अंग बन गया होता क्योंकि ईसाइयो ने हिन्दू धर्म पर बाहर से आक्रमण किया किन्तु जाति प्रथा ने कठोर प्रतिबन्धों के कारण राजनैतिक जीवन को सुरक्षित रखा।

5. रक्त की विशुद्धता (Purity of Blood)—जाति प्रथा ने अन्तर्विवाह की नीति को महत्त्व दिया है तथा बर्हिगोत्र के साथ विवाह पर प्रतिबन्ध लगाया है जिसके फलस्वरूप रक्त की पवित्रता बनी रही है क्योंकि अन्तर्विवाह के कारण एक जाति की सन्तानों में अपने पूर्वजों का शुद्ध रक्त पाया जाता है।

6. मनोरंजनात्मक कार्य (Recreational Functions)—जाति व्यवस्था मे परिवार के स्तर पर ही स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था की जाती है जिससे सदस्य अपनी जाति तक ही सीमित रहता है वही उसकी सहयोगी संस्था है जो सभी स्तरो पर उसकी सहायता करती है।

जहाँ एक ओर जाति प्रथा ने व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण कार्य किए हैं वहीं इस प्रथा से कुछ हानियाँ भी समाज को हुई हैं जो जाति प्रथा का दोष माना जा सकता है। **डॉ. राधाकृष्णन्** ने इसीलिए कहा था कि "वही जाति प्रथा जो सामाजिक संगठन की रक्षा के साधन के रूप में विकसित हुई थी, आज समाज की बाधक बन गई है।" इस दृष्टि से जाति प्रथा में अनेक दोष हैं जिन्हें इस प्रकार देखा जा सकता है।

वर्ग-व्यवस्था
(Class-System)

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों मे व्याप्त है किन्तु भिन्न-भिन्न समाजो मे इसका स्वरूप भिन्न-भिन्न है। कुछ समाजो में इसके स्वरूप में भिन्नता व्यक्ति के वंशानुक्रम पर आधारित है जबकि कुछ समाजों में व्यक्ति की योग्यता, कुशलता इसका आधार है। पहलो अवस्था में किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं जबकि दूसरी अवस्था में परिवर्तन सम्भव है। प्रथम स्थिति जातिगत स्तरीकरण है और दूसरी स्थिति वर्गगत स्तरीकरण है। इस प्रकार स्तरीकरण का प्रथम आधार जाति है तो द्वितीय आधार वर्ग है। विश्व के अनेक समाजो मे स्तरीकरण का आधार मुख्य है। इस प्रकार वर्ग की उत्पत्ति सर्वव्यापी है क्योंकि समाजो का संगठन प्रमुख रूप से विभिन्न वर्गों पर निर्भर है अत: वर्गों की महत्ता सामाजिक स्तरीकरण के

आधार के रूप में आज सार्वभौमिक है। लेकिन वर्ग क्या है, इसकी क्या विशेषता है, जाति से यह किस रूप में भिन्न है आदि बातो को विस्तार से जानना आवश्यक है।

वर्ग से आशय व्यक्तियों के एक ऐसे समूह से है जिनकी सामाजिक स्थिति प्रायः समान स्तर की होती है। एक समान, सामाजिक पद के कारण जब व्यक्ति पारस्परिक सम्बन्धों का निर्माण करते हैं तो वे एक वर्ग की स्थापना करते हैं अथवा इस प्रकार कहा जा सकता है कि समान सामाजिक स्थिति वाले व्यक्ति एक वर्ग मे आते हैं। वर्गो का निर्माण आयु, लिंग, शिक्षा, आय, व्यवसाय आदि के आधार पर होता है। जैसे-जैसे समाज का संगठन व आकार बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे वर्गों का अन्तर भी बढता जाता है। इस प्रकार वर्ग एक खुला समूह है जिसकी सदस्यता कोई भी ग्रहण कर सकता है। सामान्यतः वर्ग का आधार आर्थिक होता है किन्तु कई अन्य आधार भी वर्ग का निर्माण कर सकते हैं, जैसे—शिक्षित, अशिक्षित, कृषक, व्यापारी, क्लर्क आदि अनेक वर्ग बन सकते हैं अर्थात् जब समाज जन्म के अतिरिक्त किसी आधार पर विभिन्न समूहो मे विभाजित हो जाता हैं तो ऐसा प्रत्येक समूह सामाजिक वर्ग कहलाता है। इसी विशेषता के कारण बोटोमोर ने वर्ग को तथ्यतः समूह कहा है जो अपेक्षाकृत खुला है, बन्द नहीं और उनका आधार निर्विवाद रूप से आर्थिक है। वर्ग से सम्बन्धित अनेक परिभाषाएँ हैं जो इसकी विशेषताओ को भली-भाँति स्पष्ट करती हैं। ये निम्नलिखित हैं

सामाजिक वर्ग की परिभाषाएँ (Meaning and Definitions of Social Class)—ऑगबर्न और निमकॉफ ने सामाजिक वर्गों को इस प्रकार परिभाषित किया है—"एक सामाजिक वर्ग ऐसे व्यक्तियो का संग्रह है जिनकी दिए हुए समाज मे आवश्यक रूप से समान सामाजिक प्रस्थिति है।"

जिन्सबर्ग के मत मे, "वर्ग ऐसे व्यक्तियो का समूह है जो व्यवसाय, धन, शिक्षा, जीवन-यापन की विधियो, विचारों, मनोभावों, प्रवृत्तियों और व्यवहारो मे एक-दूसरे के समान होते हैं अथवा कुछ आधारो पर समानता की भावना से मिलते हैं और इस प्रकार अपने को एक समूह का सदस्य समझते हैं।"

गिसबर्ट (Gisbert) के मतानुसार, "एक सामाजिक वर्ग व्यक्तियो का समूह अथवा श्रेणी (Category) है जिसका समाज में एक निश्चित 'पद' होता है और यह 'पद' ही अन्य समूहो से उनके सम्बन्ध को स्थाई रूप से निर्धारित करता है।

गिसबर्ट ने वर्ग-निर्माण के लिए ज्ञान, प्रजातीय, विशुद्धता, धर्म, सम्पत्ति और शौर्य आदि विशेषताओं को आधार माना है।

मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, "एक सामाजिक वर्ग समुदाय का वह भाग है जो सामाजिक प्रस्थिति के आधार पर शेष भाग से अलग कर दिया जाता है।"

लेपियर के मत मे, "सामाजिक वर्ग एक सांस्कृतिक समूह है जिसे सम्पूर्ण जनसंख्या में एक विशिष्ट स्थिति (Position) या प्रस्थिति प्रदान की जाती है।"

मैक्सवेबर के अनुसार, "एक समूह तब तक वर्ग कहा जा सकता है जब तक कि उस समूह के लोगों को जीवन के कुछ अवसर समान रूप से प्राप्त हो, जहाँ तक कि यह समूह

वस्तुओं पर अधिकार या आमदनी की सुविधाओ से सम्बन्धित आर्थिक हितो द्वारा पूर्णतया निर्धारित तथा वस्तुओं या श्रमिक बाजारों की अवस्थाओं के अनुरूप हो।'' यह परिभाषा पूर्ण रूप से वर्ग के आर्थिक आधार को महत्त्व देती है।

समाजविद् **ओलसन** के अनुसार, ''सामाजिक वर्गों का निर्माण उन व्यक्तियो के द्वारा होता है जिन्हें लगभग समान मात्रा में शक्ति, सुविधाएँ और सम्मान मिला होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि एक सामाजिक वर्ग के व्यक्तियों की एक सी संस्कृति, एक सी सामाजिक परिस्थिति तथा एक सी परम्पराएँ अथवा रीति-रिवाज होते हैं। मार्क्स ने वर्ग व्यवस्था को दो भागों मे बाँटा है—एक बुर्जुआ और दूसरा मजदूर। इसका कारण आर्थिक विषमता है जिन लोगों के पास साधन-सम्पन्नता है वे पूँजीवादी वर्ग के सदस्य हैं और वे लोग जो मजदूर हैं, श्रमिक हैं वे मजदूर वर्ग के सदस्य हैं।

इस प्रकार वर्ग की भावना प्रत्येक समाज मे मिलती है। इनकी कुछ विशेषताएँ हैं जो इनकी प्रकृति को और स्पष्ट करती हैं, वे निम्नलिखित हैं—

सामाजिक वर्गो की विशेषतायें (Characteristics of Social Classes)—वर्ग की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं जिनके आधार पर वर्ग के सम्प्रत्यय को और अधिक स्पष्ट रूप से समझा जा सकेगा—

(1) एक निश्चित संस्तरण (A Definite Hierarchy)—सामाजिक वर्ग श्रेणियों में विभक्त होते हैं। ये उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग हो सकते हैं। उच्च वर्ग के सदस्यो की संख्या सबसे कम किन्तु सामाजिक प्रतिष्ठा सर्वाधिक होती है। निम्न वर्ग के सदस्यो की संख्या अधिक किन्तु प्रतिष्ठा नगण्य होती है। आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण उच्च व निम्न वर्ग के सदस्यो में सामाजिक दूरी बढ़ती जाती है।

(2) वर्ग चेतनता (Class Consciousness)—सामाजिक वर्ग के सदस्यों में वर्ग चेतनता पाई जाती है। यही चेतनता मनुष्य के व्यवहार को निश्चित करती है अर्थात् सदस्यो में समानता की भावना दृढ़ होती है लेकिन एक वर्ग दूसरे वर्ग से प्रतिस्पर्द्धा करता रहता है इससे उनमें 'प्रतियोगी वर्ग चेतनता' का भाव आ जाता है यही वर्ग-चेतनता वर्ग-संघर्ष को बढ़ावा देती है।

(3) समान प्रस्थिति (Equal Status)—एक ही वर्ग के व्यक्तियो की सामाजिक प्रस्थिति एक जैसी होती है। जैसे—यदि किसी समाज में सम्पत्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता है तो उसी व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति ऊँची मानी जायेगी जिसके पास अधिक सम्पत्ति है। उसी प्रकार यदि राजनीति को महत्त्व दिया जाता है तो राजनीति ही प्रस्थिति का आधार होगी। इस प्रकार प्रस्थिति निर्धारण उसके आधार हो सकते हैं। जब कई व्यक्ति एक सी प्रस्थिति के होते हैं तो वे एक वर्ग के सदस्य माने जाते हैं।

(4) श्रेष्ठता व हीनता की भावना (Feeling of Superiority and Inferiority)—समाज के विभिन्न समूह परस्पर श्रेष्ठता अथवा हीनता की भावना रखते हैं। सभी इस व्यवस्था को स्वीकार करते हैं। जैसे शासित वर्ग स्वयं को श्रेष्ठ व गरीब वर्ग को स्वय की तुलना मे हीन समझता है।

(5) प्रतिबन्धित सामाजिक सम्बन्ध (Restricted Social Relations)—एक वर्ग के व्यक्ति अन्य वर्गों के व्यक्तियों से एक निश्चित सामाजिक दूरी बनाए रखते हैं। उनके सामाजिक सम्बन्ध अपने वर्ग तक ही प्रतिबन्धित अथवा सीमित होते हैं। इसका कारण आर्थिक, सांस्कृतिक एव सामाजिक स्तर होता है जिससे व्यक्ति अपने ही वर्ग के व्यक्तियों से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

(6) मुक्तता एवं स्थानान्तरण (Openness and Shifting)—वर्गों की प्रकृति मुक्त होती है अर्थात् किसी विशेष योग्यता को प्राप्त कर लेने पर कोई व्यक्ति किसी अन्य वर्ग का सदस्य हो सकता है अथवा एक साथ अनेक वर्गों की सदस्यता ग्रहण कर सकता है। इसके साथ ही स्थानान्तरण की स्थिति भी आ सकती है। जैसे—एक व्यक्ति धनी बनकर उच्च वर्ग की सदस्यता ग्रहण कर सकता है अथवा सम्पन्न व्यक्ति किसी कारण निर्धन बन सकता है और गरीब वर्ग का सदस्य बन सकता है। तात्पर्य यह है कि वर्ग की सदस्यता मुक्त अथवा खुली होती है। जीवन-पर्यन्त एक ही वर्ग की सदस्यता ग्रहण करना आवश्यक नहीं।

(7) वर्ग का वस्तुनिष्ठ पक्ष (Objective Aspect of Class)—एक वर्ग दूसरे वर्ग से अनेक पहलुओ मे भिन्नता लिए हुए होता है। अनेक पक्ष विद्वानों द्वारा निर्धारित किए गए हैं। इनमे मकान का प्रकार, शिक्षा, आय, मोहल्ले की प्रतिष्ठा आदि को लिया जा सकता है। जैसे निम्न वर्ग के लोग गन्दी बस्तियों में रहते हैं, आय व शिक्षा भी कम होती है जबकि उच्च वर्ग शिक्षित, उच्च आय वाला व ऊँची-ऊँची इमारतो में रहता है। इस प्रकार व्यक्ति की परिस्थिति को देखकर उस वर्ग की पहिचान हो जाती है।

(8) सम्बन्ध स्थापन (Relation'sSstability)—एक वर्ग के सदस्यों के सम्बन्ध उसी वर्ग के अन्य व्यक्तियों के साथ स्वाभाविक रूप से हो जाते हैं। मित्रो का चुनाव, विवाह मे कन्या-पक्ष व वर-पक्ष का चुनाव आदि आपस मे समानता के आधार पर हो किए जाते हैं।

(9) उप-संस्कृति (Sub-Culture)—वर्ग की अपनी एक उप-सस्कृति होती है। एक वर्ग के सभी लोगों की एक-सी प्रस्थिति होती है और उस प्रस्थिति के लोगों के साथ ही उनके व्यावहारिक सम्बन्ध होते हैं। उनका रहन-सहन, जीवन-शैली समान होती है। मैक्सवेबर ने ऐसे समूह को प्रस्थिति-समूह (Status-group) कहा है जिनका व्यवहार करने का तरीका, रहने-सहने का स्तर आदि समान प्रकार का हो। इस प्रकार हर वर्ग की अपनी एक उप-संस्कृति होती है।

(10) आर्थिक आधार (Economic Base)—वर्ग का महत्त्वपूर्ण आधार आर्थिक प्रस्थिति है। मार्क्स के मत में तो आर्थिक आधार ही एकमात्र वर्ग-निर्माण का कारक है। इसी के आधार पर उच्च, मध्यम व निम्न वर्ग बने हैं और प्रत्येक वर्ग अपनी प्रस्थिति के अनुरूप ही वर्ग की सदस्यता प्राप्त करता है।

(11) पूर्णतया अर्जित (Completely Achieved)—वर्ग की सदस्यता पूर्णतया व्यक्ति की योग्यता और कार्य-कुशलता पर निर्भर करती है। ये सदस्यता व्यक्ति को प्रयास से प्राप्त करनी पड़ती है। जिस योग्यता के अनुरूप उसका स्तर होता है उसी योग्यता के वर्ग की सदस्यता उसे प्राप्त हो जाती है। जैसे—निम्न वर्ग का सदस्य यदि अपने प्रयास से उच्च वर्ग के अनुरूप बन जाता है तो वह उच्च वर्ग की सदस्यता को ग्रहण कर लेता है अर्थात् वर्ग सदस्यता जन्म से नहीं मिलती अपितु यह अर्जित है।

(12) सामान्य जीवन विधि (Common mode of Life)—प्रत्येक वर्ग के सदस्यो के जीवन जीने की विधि एक जैसी होती है, जैसे—धनाढ्य-वर्ग मे धन का अत्यधिक दिखावा, विशिष्ट प्रकार की वस्तुओं का उपभोग करना प्राय: उच्चता का प्रतीक माना जाता है जबकि मध्यम वर्ग परम्पराओ का निर्वाह करना, समाज-सम्मत तरीके पर चलना अपना कर्त्तव्य मानते हैं। निम्न वर्ग मे केवल भरण-पोषण करना ही उद्देश्य रहता है। इस प्रकार प्रत्येक वर्ग के जीवन-यापन का तरीका एक जैसा ही होता है।

(13) वर्गों की अनिवार्यता (Essentiality of Classes)—प्रत्येक समाज में शिक्षा, व्यवसाय, आय, योग्यता आदि को दृष्टि से व्यक्तियों में विभेदता पाई जाती है। अत: इस विभेदता के आधार पर समाज मे अनेक वर्ग स्वत: ही बन जाते हैं। जिनमे उस विशेषता से संयुक्त व्यक्ति होते हैं। इस प्रकार समाज मे वर्गों की उपस्थिति अनिवार्य रूप से होती है।

(14) वर्गों की स्थायी विशेषता (Stable Qualities of the Class)—यद्यपि वर्ग-व्यवस्था व्यक्ति को योग्यता, शिक्षा, व्यवसाय, आय, धन, शक्ति आदि के आधार पर निर्मित होती है और किसी वर्ग के सदस्य योग्यता, शिक्षा आदि मे वृद्धि कर अपने से उच्च वर्ग में जा सकते हैं। लेकिन इस प्रक्रिया में समय लगता है। प्राय: देखा जाता है कि व्यक्ति जिस वर्ग का सदस्य होता है, जीवन में दूसरे वर्ग में कम ही जाता है। जैसे—निर्धन व्यक्ति का धनवान होना या धनवान के निर्धन बन जाने को प्रक्रिया में काफी समय लगता है और प्राय: व्यक्ति अपने जीवन में एक ही वर्ग की सदस्यता प्राप्त कर पाता है।

(15) उप-वर्ग (Sub-Class)—प्रत्येक सामाजिक-वर्ग में अनेक उप-वर्ग भी मिलते हैं। जैसे उच्च-वर्ग में सभी एक समान स्तर के व्यक्ति नहीं होते। अत: उनमें उच्च-उच्च, उच्च-मध्यम वर्ग जैसी विशेषताएँ मिलती हैं। उसी प्रकार मध्यम वर्ग भी कुछ विशेषताओं में उच्च-वर्ग के समान व कुछ में निम्न के समान हो सकता है। इस प्रकार मध्यम-उच्च, मध्यम-मध्यम, मध्यम-निम्न वर्ग बन जाते हैं। निम्न वर्ग भी मध्यम वर्ग के समान हो सकता है तो निम्न-मध्यम, निम्न-निम्न आदि अनेक वर्गों का निर्माण हो सकता है।

वर्ग-विभाजन के आधार (Bases of Class Division)—सामाजिक वर्गों को विशेषताओं के स्पष्टीकरण के उपरान्त एक प्रश्न उपस्थित होता है कि वर्ग-विभाजन किस आधार पर किया जाना चाहिए। अनेक विद्वानों ने वर्ग-विभाजन के भिन्न-भिन्न आधार बताए हैं।

कार्ल मार्क्स ने वर्ग-विभाजन के दो आधार बताए हैं—एक पूँजीवादी वर्ग और दूसरा मजदूर वर्ग।

मैकाइवर ने भावात्मक विशेषताओं के आधार पर वर्ग-विभाजन को स्पष्ट किया है। उन्होने कहा कि "यह केवल पद की भावना ही है जो आर्थिक, राजनैतिक अथवा धार्मिक शक्तियो, जीवन-यापन के विशेष ढंगो और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों द्वारा एक वर्ग को दूसरे वर्ग से पृथक् करती है और इस प्रकार समाज को एक संस्तरण में बाँटती है।

मार्टिण्डेल और **मोनाकसी** व्यक्ति की आय और आर्थिक साधनो पर उसके अधिकार की मात्रा को वर्ग की कसौटी मानते हैं अर्थात् इनके मत में वर्ग-निर्माण का आधार भौतिकता है।

बीसेंज और **बीसेंज** अपनी पुस्तक 'मॉडर्न सोसाइटी' मे सामाजिक वर्ग की कसौटी के लिए संस्कृति के मूल्यों को प्रमुखता देते हैं। उनका कहना है, "स्थिति की कसौटियाँ सस्कृति के मूल्य निश्चित करती हैं।" ये कसौटियाँ विभिन्न संस्कृतियों में भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, जैसे अमेरिका में धन, भारत में जाति हो सकती है।

इस प्रकार वर्ग का आधार धन, आय का साधन, व्यवसाय की प्रकृति, निवास-स्थान आदि हो सकते हैं क्योकि समाज में प्राय: उच्च वर्ग, शासक वर्ग, व्यावसायिक वर्ग, मध्यम वर्ग एव निम्न वर्ग के व्यक्ति हो सकते हैं।

हार्टन व **हन्ट** ने भी सामाजिक वर्ग के आधारो में धन, आय, व्यवसाय, शिक्षा व वर्ग-प्रस्थिति के प्रति स्वय की धारणा को प्रमुखता दी है।

वारनर ने वर्ग-निर्धारण के आठ आधार बताए हैं। सभी विद्वानों ने धन, परिवार,शिक्षा आदि को ही महत्ता दी है।

वर्ग-निर्धारण के आधार (Bases of Class Determination)—**रॉबर्ट बीरस्टीड** का आधार उपर्युक्त सभी विद्वानो का सार-रूप कहा जा सकता है। इन्होंने वर्ग-विभाजन के सात आधार बताए हैं जो निम्नलिखित हैं—ये सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आधार हो सकते हैं क्योकि इन आधारों में धन, धर्म, व्यवसाय, परिवार आदि सभी को सम्मिलित किया गया है। ये इस क्रम में वर्णित हैं—

(1) सम्पत्ति, धन और आय (Property, Wealth and Income)—सबसे महत्त्वपूर्ण आधार धन, सम्पति व आय को माना गया है। धन-सम्पत्ति आय पर ही निर्भर करती है क्योंकि जैसा कि मार्क्स की मान्यता है कि भौतिक वस्तुएँ पूँजी, भूमि आदि निम्न व उच्च वर्ग के विभाजन का आधार हैं। जिसके पास आय के स्रोत जितने अधिक व उच्च-स्तर के होते हैं वह व्यक्ति उतने ही उच्च वर्ग का माना जाता है। किन्तु केवल धन-सम्पत्ति ही एक आधार नहीं है अपितु अन्य भी आधार महत्त्वपूर्ण हैं।

(2) परिवार व नातेदारी (Family and Kinship)—परिवार व नातेदारी वर्ग-निर्धारण का महत्वपूर्ण आधार हैं। विवाह-सम्बन्धों मे परिवार व नातेदारी प्रमुख मानी जाती हैं

जैसे उच्च-स्तर वाले व्यक्तियों की रिश्तेदारी उच्च लोगों से ही होती है। अत: परिवार वालों को भी उसी दृष्टि से देखा जाता है।

(3) निवास की स्थिति (Location of Residence)—कोई व्यक्ति किस स्थान पर रह रहा है, उसके पड़ौसी किस स्तर के हैं ये बातें भी व्यक्ति के वर्ग का निर्धारण करती हैं। जैसे—विकसित कॉलोनी में रहने वाले लोग कच्ची-बस्ती मे रहने वालों लोगों से उच्च-स्तर के माने जाते हैं।

(4) निवास स्थान की अवधि (Duration of Residence)—कोई व्यक्ति कितने समय से किस स्थान पर आ रहा है? उसका अतीत क्या है? पूर्वज किस स्थान के निवासी थे? आदि-आदि तथ्य भी वर्ग का निर्धारण करते हैं। जैसे—कोई व्यक्ति अपने पूर्वजों के निवास स्थान पर रहता है तो समाज में उसकी प्रतिष्ठा अधिक है। उनकी तुलना में जो नौकरी के लिए नवीन स्थान पर जाकर रहते हैं जिनका कोई स्वयं का निवास-स्थान नहीं होता।

(5) व्यवसाय की प्रकृति (Nature of Occupation)—व्यवसाय की प्रकृति भी वर्ग-निर्धारण का आधार है; जैसे—प्रशासक, इन्जीनियर, डॉक्टर, राजनीतिज्ञ, प्रोफेसर आदि को समाज प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता है। उनकी तुलना में ठेकेदार, दुकानदार आदि के पास धन होने पर भी सामाजिक-वर्ग में इनको उतनी प्रतिष्ठा नहीं। इस प्रकार व्यवसाय की प्रकृति वर्ग का निर्धारक हो सकती है।

(6) शिक्षा (Education)—शिक्षा, तकनीकी ज्ञान वर्ग का निर्धारण करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। कहा भी है, "स्वदेशे पूज्यते राजा, विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।" शिक्षित व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा अशिक्षित की तुलना में अधिक होती है।

(7) धर्म (Religion)—धर्म भी वर्ग-निर्धारण में अहं भूमिका निभाता है। ऋषि-मुनि आज भी सम्मान की दृष्टि से देखे जाते हैं। विशेष रूप से भारतवर्ष में धार्मिक स्थिति को विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

वर्ग-निर्धारण के आधारों के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्ग का आधार धन-सम्पत्ति, आय, व्यवसाय, शिक्षा, जीवन-स्तर, संस्कृति आदि हैं और एक समान सामाजिक स्थिति वाले व्यक्ति एक वर्ग में आते हैं। ये वर्ग-व्यवस्था स्तरीकरण के प्रथम आधार (जाति) से अनेक रूपों में भिन्न है। विशेष रूप से जन्म-जाति का महत्त्वपूर्ण आधार है। इसके अतिरिक्त भी इनमें अनेक विभेद हैं अत: जाति और वर्ग दोनों में क्या-क्या असमानताएँ हैं। इन पर विचार करना आवश्यक है क्योंकि जाति और वर्ग दोनों ही स्तरीकरण के आधार हैं लेकिन कुछ भिन्नता लिए हुए। जाति और वर्ग का अन्तर अग्रलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है—

जाति और वर्ग में विभेद

(Distinction between Caste and Class)

जाति (Caste)	वर्ग (Class)
1 जाति एक बन्द वर्ग है। जाति का आधार जन्म है अत: इसकी सदस्यता जीवन-पर्यन्त होती है। इसे बदला नहीं जा सकता। इसीलिए जाति को बन्द वर्ग कहा गया है।	1. वर्ग मे खुलापन है। वर्ग का आधार धन, शिक्षा, आय, व्यवसाय आदि हैं जिनमें धन प्राप्ति करके व्यक्ति दूसरे वर्ग में जा सकता है। यही वर्ग का खुलापन है।
2. जाति जन्म पर आधारित है अर्थात् मृत्यु-पर्यन्त व्यक्ति एक ही जाति का सदस्य माना जाता है जिस जाति में उसने जन्म लिया है।	2 वर्ग कर्म पर आधारित है। अच्छे कर्म व्यक्ति को उच्च वर्ग में ले जा सकते हैं तथा नीच कार्य निम्न वर्ग में ले जा सकते हैं।
3 जाति की सदस्यता प्रदत्त है अर्थात् किसी भी व्यक्ति को जाति की सदस्यता बिना प्रयत्न के स्वतः ही प्राप्त हो जाती है।	3 वर्ग की सदस्यता अर्जित है अर्थात् व्यक्ति के निजी प्रयत्नो का फल होता है कि उसे किस वर्ग की सदस्यता प्राप्त हुई है।
4 जाति मे व्यवसाय निश्चित है। प्रत्येक व्यक्ति का व्यवसाय पूर्वनिर्धारित होता है जिसे अपनाकर व्यक्ति आजीविका प्राप्त कर सकता है।	4 वर्ग का कोई व्यवसाय नहीं है। व्यक्ति अपनी योग्यता, क्षमता व कौशल के आधार पर कोई व्यवसाय अपना सकता है।
5 जाति अन्तर्विवाही है अर्थात् प्रत्येक सदस्य को अपनी ही जाति में विवाह करना आवश्यक होता है।	5 वर्ग में इस प्रकार का कोई नियम नहीं कि वे विवाह-सम्बन्ध कहाँ करें। वे अपने से उच्च या मध्यम वर्ग में भी विवाह कर सकते हैं।
6 जाति मे खान-पान पर प्रतिबन्ध है। प्रत्येक जाति के कुछ नियम होते हैं कि किन-किन जातियो के साथ वे खान-पान के सम्बन्ध रख सकते हैं और किनके साथ नहीं।	6 वर्ग मे खान-पान पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। वर्ग में कोई प्रतिबन्ध नहीं कि वे किनके साथ खान-पान करें किनके साथ न करें।
7 जाति की उच्चता का आधार सामाजिक है। इसमे एक संस्तरण है जो दो जातियो के बीच सामाजिक दूरी को निश्चित करता है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—यह क्रम निश्चित है। ये क्रम उच्च से निम्न की ओर है।	7 वर्ग की उच्चता का आधार आर्थिक है। अर्थात् सभी वर्ग अर्थ के आधार पर उच्च, मध्यम व निम्न हो सकते हैं। किन्तु एक वर्ग का महत्त्व दूसरे वर्ग की तुलना में कम नहीं माना जा सकता।
8 जाति की सदस्यता स्थाई है। जाति का आधार जन्म है। अत: उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है।	8 वर्ग की सदस्यता परिवर्तनीय है। वर्ग व्यक्ति की योग्यता, क्षमता के अनुरूप परिवर्तित हो सकते हैं।

दास प्रथा
(Das Pratha)

यह सामाजिक स्तरीकरण का आदिम रूप है। यह मानव इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण स्तरीकरण का प्रकार रहा है। एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति को गुलाम बना कर रखना दासता कहलाता है। हॉब हाउस के अनुसार, "दास वह व्यक्ति है जिसे कानून और परम्परा दोनों दूसरे की सम्पत्ति मानते हैं। कुछ विशिष्ट स्थिति मे वह पूर्णतः अधिकार-विहीन है तथा कुछ स्थितियों में उसकी रक्षा ठीक उसी प्रकार से की जाती है जैसे बैल या गधे की।"1 इस दासता से असमानता की उत्पत्ति होती है जो असमानता की कल्पनातीत-स्थिति है। इस दासता की स्थिति में समाज के दो वर्ग बन जाते हैं—स्वामी और दास। दासो को स्वामी की निजी सम्पत्ति माना जाता था। स्वामित्व और दास-प्रथा को प्राचीनकाल मे संस्थागत मान्यता प्राप्त थी। कार्यो की प्रकृति के आधार पर दासो में सामाजिक असमानता उत्पन्न हो जाती है। अरब, यूनान, मिश्र, रोम एवं चीन आदि देशों में दासों की स्थिति के आधार पर प्राचीनकाल से यह स्तरीकरण का प्रकार विद्यमान था।

वैधानिक दृष्टि से नैतिक तथा प्रजातीय लक्षणो के आधार पर दासों को स्वामियों की निजी सम्पत्ति के रूप में मान्यता दी गई थी। अट्ठारहवीं एवं उन्नीसवीं शताब्दी में संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिण भागों में अधिक संख्या में दास लोग रखे जाने की प्रथा थी। नीबोर ने लिखा है कि दास प्रथा भी औद्योगिक व्यवस्था की तरह से रही है। इस प्रथा में मालिको को दासों से एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करवाने को प्रोत्साहन मिला था। इसने मालिकों की जीवन-शैली को काफी परिवर्तित कर दिया था। भारत में बन्धुआ मजदूर को परिष्कृत रूप में दास प्रथा कह सकते हैं। जिस प्रकार से दासों को अधिकारहीन माना जाता है और उससे समाज मे संस्तरण स्थापित होता है, उसी प्रकार से जिन स्वामियो के पास दास अधिक संख्या मे होते हैं वे कम संख्या वाले दासों के स्वामियों से उच्च माने जाते हैं। वर्तमान में प्रजातान्त्रिक विचारधारा और मानवाधिकार के प्रभाव से वर्तमान में प्रजातान्त्रिक विचारधारा और मानवाधिकार के प्रभाव से अब दास-प्रथा पर आधारित संस्तरण नहीं रहा। परन्तु इसके यदा-कदा उदाहरण देखने को मिल जाते हैं।

जागीर प्रथा
(Gagir Pratha)

यूरोप मे मध्य युग में जागीर प्रथा कानून द्वारा मान्यता प्राप्त थी। यूरोप में समाजों में तीन वर्ग थे (1) पादरी, (2) सरदार और (3) साधारण जनता। इनमें उच्चता-निम्नता के क्रम में संस्तरण होता था। इन तीनों वर्गों के सदस्य एक विशिष्ट जीवन-शैली से रहते थे। पादरियों को समाज में प्रथम स्थान इसलिए प्राप्त था क्योकि राज्य चर्च के अधीन होते थे। जॉनसन ने जागीरों को निम्न दो आधारों से वर्गीकृत किया है। पहला, ये तीनों पद-क्रम-सोपान में स्तरीत नहीं थे। पादरी नियमानुसार प्रथम वर्ग में थे परन्तु उन्हें कोई उपाधि आदि प्राप्त नहीं थी। इसलिए पादरी व्यावसायिक आधार पर सरदारों और राजवंशियों से नीचे थे। उपाधिधारी पादरी सरदारों के साथ अन्तःक्रिया नहीं कर पाते थे। दूसरा आधार जॉनसन ने बताया कि पादरी लोग

विवाह नहीं करते थे, इसलिए उनके कोई परिवार नहीं होता था। इसलिए सामाजिक स्तरीकरण मे अविवाहित परिवार-रहित पादरियों की स्थिति स्पष्ट नहीं होती थी। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से स्तरीकरण की इकाई परिवार माना जाता है।

बोटोमोर ने जागीर व्यवस्था की निम्न तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है : (1) प्रत्येक जागीर की एक परिभाषित प्रस्थिति होती थीं, (2) जागीरो में स्पष्ट श्रम का विभाजन होता था, और (3) जागीरे राजनैतिक समूह होती थी। जागीर प्रथा में इन विशेषताओं के आधार पर जागीरो को श्रेणियों में विभाजित किया जाता था और उनको स्तरीकरण में स्पष्ट भूमिकाएँ प्रदान की जाती थीं।

सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त
(Theories of Social Stratification)

समाजशास्त्रियो ने सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया है जैसे स्तरीकरण किसे कहते हैं? स्तरीकरण की विशेषताएँ कौन-कौन सी हैं? इसके विभिन्न स्वरूप क्या हैं? इसके कार्य और दुष्कार्य क्या-क्या हैं? आदि-आदि। उन अध्ययनों एवं स्तरीकरण से सम्बन्धित कारकों के प्रभावों एवं कार्य-कारण सम्बन्धों के आधार पर समाजशास्त्री सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्तों का निर्माण करते रहे हैं। सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धान्त ऐसे कथन हैं जो समाज के स्तरीकरण से सम्बन्धित कारको का कार्य-कारण सम्बन्ध स्पष्ट करते हैं। उनके सम्बन्धो की सक्षिप्त व्याख्या करते हैं। इनके माध्यम से स्तरीकरण के प्रकार, महत्त्व, परिवर्तन की प्रक्रिया, दिशा एवं दशा आदि को समझा जा सकता है। सामाजिक स्तरीकरण के अनेक सिद्धान्त हैं, किन्तु यहाँ दो प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना की जा रही है, जो निम्नलिखित हैं—

1. संघर्ष का सिद्धान्त : कार्ल मार्क्स (Conflict Theory Karl Marx)

मार्क्स ने संघर्ष के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। आप संघर्ष सम्प्रदाय के प्रमुख विचारक हैं। आपने अपने संघर्ष सिद्धान्त का सार एवं वर्गों के रूप कम्युनिस्ट पार्टी के घोषणा पत्र, 1948 में दिए हैं जो इस प्रकार हैं :

"आज तक अस्तित्व में जो समस्त समाज हैं उनका इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास हैं।"[1] मार्क्स के अनुसार प्रत्येक काल में सभी समाजों में दो सामाजिक वर्ग रहे हैं। एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग। इन वर्गों के विभिन्न प्रकारों के युग्म उत्पादन के प्रकार और उत्पादन के सम्बन्धों के आधार पर अनेक देखे जा सकते हैं। आपने इनके उदाहरण इसी घोषणा पत्र में निम्न बताए हैं जिनमें परस्पर संघर्ष होता रहता है—"स्वतन्त्र मनुष्य और दास, कुलीन और सामान्य-जन, सामन्ती प्रभु और भूदास, शिल्प संघ का उस्ताद-कारीगर और मजदूर कारीगर-संक्षेप में उत्पीड़क और उत्पीडित (शोषक और शोषित) बराबर एक दूसरे का विरोध करते आए हैं ......"

सामाजिक स्तरीकरण के विकास के सम्बन्ध में मार्क्स की मान्यता है कि "पश्चिमी समाजो का विकास चार प्रमुख युगो से हुआ है—आदिम साम्यवाद, प्राचीन समाज, सामन्ती समाज और पूँजीपति समाज। आदिम साम्यवाद के समाज वर्गविहीन समाज के उदाहरण है। इसके बाद सभी समाज दो प्रमुख वर्गों में विभाजित मिलते हैं : प्राचीन समाजों में मालिक और दास, सामन्ती

समाजों में सामन्ती प्रभु और भूदास और पूँजीपति समाजों में पूँजीपति और मजदूरी श्रमिक। प्रत्येक ऐतिहासिक युग में उत्पादन के लिए श्रमिक शक्ति का स्रोत दास, गुलाम और मजदूरी श्रमिक क्रमशः रहे हैं। शासक या प्रभु वर्ग समाज मे अल्पसंख्यक तथा शासित या जनसामान्य वर्ग बहुसंख्यक होते हैं।''1 ये क्रमशः सामाजिक स्तरीकरण के दो वर्ग शोषक और शोषित होते हैं।

मार्क्स के सामाजिक स्तरीकरण का मूल आधार शोषक और शोषित वर्ग हैं। इन शोषक और शोषित वर्गों के रूपों के परिवर्तन का कारण आपने उत्पादन का प्रकार और उत्पादन के सम्बन्ध बताए हैं, इन पर शोषक वर्ग का नियनत्रण और शोषक वर्ग के द्वारा शोषित वर्ग का शोषण बताया है। मार्क्स के अनुसार शोषक वर्ग (पूँजीपति, मालिक, कुलीन, सामन्ती प्रभु, उस्ताद-कारीगर बुर्जुआ आदि)। अधिक से अधिक लाभ कमाना चाहते हैं तथा शोषितो (दास, सामान्यजन, भूदास, मजदूर, कारीगर और सर्वाहारा आदि) को उनकी मेहनत की तुलना में कम से कम भुगतान करना चाहते हैं। शोषित या उत्पीड़ित (मजदूर) इस शोषण का विरोध करते हैं। शोषक का प्रभाव अक्सर सरकारी कार्यविधि पर होता है। इसलिए वह शोषितों का दमन करवाने की शक्ति और सामर्थ्य भी रखते हैं। मार्क्स की मान्यता है कि शोषित या निम्न वर्ग ने प्रत्येक परिस्थिति में शोषक या उच्च वर्ग के शोषण का विरोध किया है। आपका कहना है कि वर्तमान पूँजीपति युग में शोषक बुर्जुआ है और शोषित सर्वहारा वर्ग हैं।

मार्क्स ने अपने सामाजिक स्तरीकरण के संघर्ष सिद्धान्त का निर्णायक कारक आर्थिकी को बताया है। आपके अनुसार वर्ग का निर्धारण आर्थिक कारणो से होता है। अन्य सभी कारकः धर्म, कला, साहित्य, विज्ञान, संस्कृति आदि आर्थिक कारक से प्रभावित होते हैं। आपकी मान्यता है कि आर्थिकी चालक है और सब चालित हैं। आर्थिकी कारण है और अन्य सभी उसके परिणाम हैं। मार्क्सवादी सामाजिक स्तृतों पर जोर देते हैं न कि सामाजिक असमानता पर।

मार्क्स ने वर्ग-चेतना, वर्ग-एकता और वर्ग-संघर्ष के आधार पर अपने स्तरीकरण के सिद्धान्त की व्याख्या की है। आपका कहना है कि किसी वर्ग को वर्ग-चेतना अन्य वर्गों से सम्बन्धों की प्रकृति तथा कार्य-सम्पादन की रीति पर निर्भर करती है। मजदूरों की वर्ग-चेतना इनके द्वारा किए गए कार्यो तथा मिल मालिकों के साथ कैसे सम्बन्ध है इस पर निर्भर करती है। एक वर्ग के सदस्य एक सी बात सोचते हैं तो वह वर्ग चेतना कहलाती है। शोषक वर्ग के सभी सदस्य अधिकतम लाभ प्राप्त करने की सोचते हैं तो यह उनकी वर्ग चेतना कहलाएगी। इसी प्रकार से शोषित वर्ग के सभी सदस्य यह सोचते हैं कि उनका शोषण किया जा रहा है तो यह शोषित वर्ग की वर्ग चेतना कहलाती है।

मार्क्स का वर्ग एकता से तात्पर्य है कि एक वर्ग के सभी लोग एक सीमा तक अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आदि उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एक जुट प्रयास करते हैं तो यह वर्ग एकता कहलाती है। वर्ग संघर्ष से तात्पर्य है कि वर्ग के सदस्य चेतन और अचेतन दोनों ही स्थितियों में अपने समान उद्देश्यों एवं लाभ के प्रति जागरूक होते हैं और उसके लिए संघर्ष करते हैं। शोषित वर्ग जैसे मजदूर एक सीमा तक शोषण के प्रति जागरूक हो और उसके विरुद्ध तब तक संघर्षरत रहते हैं जब तक कि उत्पादन के साधनों पर उनका नियन्त्रण नहीं हो जाता है। इसी प्रकार

से शोषक वर्ग भी अपने उत्पादन के साधनों पर नियन्त्रण को कायम रखने के लिए निरन्तर संघर्ष करता है।

मार्क्स के अनुसार, पूँजीपति व्यवस्था में उत्पादन, वृहद् स्तर पर होता है। बड़े-बड़े औद्योगिक केन्द्रों की स्थापना और विकास होता है। औद्योगीकरण और केन्द्रीयकरण के कारण श्रमिक भी एक स्थान पर बड़ी सख्या मे साथ-साथ कल-कारखानो में काम करते हैं। वे लोग परस्पर मिलते-जुलते हैं, अपने सुख-दु:ख की चर्चा करते हैं। उनकी समस्याएँ, आर्थिक स्थिति, कष्ट व उद्देश्य आदि समान होने के कारण उनमें एकता पैदा हो जाती है। उनमें सहयोग की भावना का उदय होता है। यह सहयोग और एकता व्यक्तिगत संघर्ष को सामूहिक एवं संगठित संघर्ष में विकसित कर देता है। श्रमिक संगठित होकर अपने कल-कारखानों में पूँजीपतियों से अपनी माँगें मनवाने के लिए संगठित रूप से बातचीत करते हैं व हड़ताल करते हैं। यही आगे चलकर क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है और पूँजीवाद को उखाड़ फेंकता है।

मार्क्स को पूर्ण विश्वास था कि वर्ग संघर्ष में शोषितों की विजय अवश्यम्भावी है। इसके लिए उन्हे धर्म में विश्वास छोड़ना होगा। आपके अनुसार धर्म समाज के लिए अफीम है। उन्होने यह भी कहा कि मजदूरो को पूँजीपतियों से किसी भी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहिए। उनको ऐसी किसी भी बात पर विश्वास नहीं करना चाहिए कि पूँजीपतियों को हटाए बिना भी वो अपने उद्देश्यों को प्राप्त कर लेंगे। संक्षिप्त में यही कार्लमार्क्स का सामाजिक स्तरीकरण का सघर्ष का सिद्धान्त है।

मार्क्स के संघर्ष सिद्धान्त का मूल्यांकन (Evaluation of Marx's Theory of Conflict)

मार्क्स के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धात को आलोचना अनेक विद्वानों ने की है। जॉनसन ने लिखा है उत्पादन के कार्यों में सहयोग की मात्रा अधिक होती है। उसकी तुलना मे सघर्ष कम होता है। आपने आलोचना करते हुए यह भी लिखा है कि वर्गों मे विभाजित समाज आवश्यक नहीं है कि सर्वदा क्रान्ति की देहलीज पर ही खड़ा हो। मार्क्स ने सामाजिक स्तरीकरण का चालक, कारण आदि आर्थिक कारक को बताया है अन्य सभी इसके परिणाम हैं। लेकिन वेबर ने अध्ययन करके स्पष्ट किया है कि समाज मे जैसा धर्म होगा वैसी उसकी आर्थिकी होगी। अनेक अन्वेषकों-एस्पीनास, दुर्खीम, थर्नवाल्ड, मेलीनोव्स्की, हूबर तथा गाइस ने लिखा है कि आदिम अवस्था में उत्पादन की प्रविधि तथा सम्पूर्ण आर्थिक जीवन समाकलीन धर्म, जादू, विज्ञान तथा अन्य बौद्धिक घटनाओ से बिल्कुल अलग नहीं होते हैं। मैक्स वेबर ने सिद्ध किया है कि आर्थिक, व्यवस्था का निर्धारण धर्म, जादू, तार्किकता और परम्परावाद करते हैं। आधुनिक पूँजीवाद की उत्पत्ति प्रोटेस्टेण्ट धर्म के द्वारा हुई है।

मार्क्स का सिद्धान्त भारत की जाति व्यवस्था पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या नहीं करता है। मार्क्स एक वर्ग-विहीन समाज की कल्पना करते हैं। परन्तु यह सार्वभौमिक तथ्य है कि समाज में स्तरीकरण का होना अवश्यंभावी है। यह एक ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित प्रमाणित सत्य है। मार्क्स के सिद्धान्त की और भी बहुत सी आलोचनाएँ है उसके लिए इस पुस्तक के सामाजिक परिवर्तन के अध्याय मे मार्क्स के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को आलोचना देखें।

(2) प्रकार्यात्मक सिद्धान्त : डेविस एवं मूर (Functional Theory · Davis and Moore)

किंगस्ले डेविस और विलबर्ट मूर ने सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यात्मक सिद्धान्त अपने एक लेख 'सम प्रिन्सिपल्स ऑफ स्ट्राटीफिकेशन' मे दिया है। इस सिद्धान्त की अधिकांश सामग्री डेविस ने अपनी पुस्तक में भी पुन: प्रस्तुत की है2 इनके अनुसार अगर विश्व की संस्कृतियों को देखे तो पाएँगे कि कोई भी समाज वर्गविहीन नहीं है अर्थात् स्तरविहीन नहीं है। इनके अनुसार सामाजिक स्तरीकरण प्रत्येक युग में अपरिहार्य रूप में रहा है। मार्क्स की तरह से इनकी भी मान्यता है कि सभी कालों के सभी समाजों में कोई भी समाज ऐसा नही रहा है जहाँ पर समाज विभिन्न स्तृतों या श्रेणियों में विभाजित नहीं रहा हो। इस सार्वभौमिक सत्य की आपने निम्नलिखित सैद्धान्तिक व्याख्या की है—

डेविस और मूर की मान्यता है कि समाजो मे असमानता अचेतन रूप से विद्यमान होती है। यह अचेतन असमानता के कारण समाज में बहुत अधिक महत्त्व के पद सबसे अधिक योग्य व्यक्तियो मे ही वितरीत किए जाते हैं। इन्होने पदों की प्रकृति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि कुछ पद ऐसे होते हैं जो सामाजिक व्यवस्था के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण एवं अपरिहार्य होते हैं। कुछ पद ऐसे होते हैं जिनसे सम्बन्धित कार्य हर कोई व्यक्ति नहीं कर सकता है। इन पदों से सम्बन्धित कार्यों को पूर्ण करने के लिए व्यक्ति में विशिष्ट बौद्धिक क्षमता का होना आवश्यक होता है। डेविस और मूर ने लिखा कि इन पदों और उनके विशेष महत्त्व एवं बौद्धिकता की आवश्यकता के कारण सभी व्यक्ति ऐसे पदों को प्राप्त करने की अभिलाषा रखते हैं। पद संख्या में कम होते हैं और अभिलाषी संख्या में अधिक होते हैं। इसके लिए समाज ऐसी विधि का सहारा लेता है जिससे तार्किक आधार पर महत्त्वपूर्ण पदो को उनके महत्त्व के आधार पर मूल्यांकन किया जा सके। इसके लिए समाज अधिकतम कुशल एवं योग्य व्यक्तियों के चयन के लिए पुरस्कार द्वारा उपयुक्त प्रेरण की व्यवस्था करता है। जिससे लोग उन महत्त्वपूर्ण पदों की ओर आकर्षित हों तथा अधिकतम पुरस्कार या लाभ-प्राप्त करने के लिए प्रयास करें। डेविस ने अग्र तीन प्रकार के पुरस्कारों का उल्लेख किया है—

"प्रथम, समाज वे वस्तुएँ देता है जो व्यक्तियो के जीवन-धारण एवं आराम के लिए आवश्यक होती हैं, अर्थात् आर्थिक प्रोत्साहन।

दूसरे, समाज मन-बहलाव तथा सौन्दर्य बोधात्मक प्रकृति की वस्तुएँ प्रदान करता है, अर्थात् वह उन्हें सौन्दर्यात्मक प्रोत्साहन प्रदान करता है।

अन्त में तीसरे, समाज आत्म-सम्मान एवं अहम् की तुष्टि करने वाली वस्तुएँ प्रदान करता है, अर्थात् प्रतीकात्मक प्रोत्साहन।" इन्हें निम्न चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है—

डेविस : प्रोत्साहनों के प्रकार
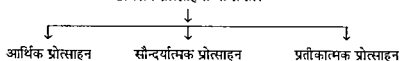
आर्थिक प्रोत्साहन पदधारी को भौतिक लाभ प्रदान करते हैं। प्रतीकात्मक पुरस्कार पदधारी को सम्मान प्रदान करते हैं। इससे पदधारी को आत्म-सन्तोष या अहम् तुष्ट होता है। आपने आगे लिखा कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था में ये तीनों प्रकार के पुरस्कार तथा अन्य पुरस्कार को विभिन्न स्थितियों में असमान रूप से विभाजित करना आवश्यक है। महत्त्वपूर्ण पदों को कुशलतम व्यक्तियों द्वारा भरे जाने के लिए समाज प्रतिस्पर्धा की व्यवस्था करता है। इसके लिए समाज मे तीनो प्रकार के पुरस्कार विभिन्न पदधारियो को दिए जाते हैं।

समाज पदधारी को सम्मान प्रदान करके व्यक्ति की प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता की वृद्धि करता है। जैसे भारत मे व्यक्ति को 'भारत रत्न', 'पद्म विभूषण', सेना मे, 'परमवीर चक्र', 'महावीर चक्र', खेलकूद मे 'अर्जुन पुरस्कार' आदि सम्मान इसी श्रेणी में आते हैं। समाज मे भौतिक लाभ की भिन्नताओ सम्बन्धी सम्पन्नता के द्वारा समाज मे विभिन्न श्रेणियों या स्तृतों का निर्माण होता है जिससे स्वतः ही स्तरीकरण की उत्पत्ति और विकास होता है। डेविस और मूर के अनुसार समाज मे पदो के सम्मान, कार्यक्षमता के आधार एवं आर्थिक लाभ पाने के लिए लोग निरन्तर प्रयास करते हैं। एक दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं। यही सब कुछ लोगो का योग्यता के अनुसार वितरण की व्यवस्था स्तरीकरण को प्रकार्यात्मक रूप से नियन्त्रण, निर्देशन और सचालन करती है। यह पदधारियो की असमानता संस्थात्मक रूप धारण कर लेती है।

डेविस और मूर ने इस स्तरीकरण की प्रकार्यात्मक व्याख्या को निम्न प्रकार से और स्पष्ट किया है। इन समाजशास्त्रियो के अनुसार समाज के अधिक महत्त्व के पदों के लिए अधिक पुरस्कार की व्यवस्था होती है। आपने यह भी लिखा है कि (1) अगर महत्त्वपूर्ण पद को सरलता से भरा जा सकता है तो ऐसे पदधारियो को पुरस्कार अधिक नहीं दिया जाता है। (2) इसकी तुलना मे यदि पद महत्त्वपूर्ण है और उसे प्राप्त करने के लिए बहुत अधिक लोग प्रयासरत हैं तो ऐसे पदधारियो को अधिक बडा पुरस्कार दिया जाता है। (3) अगर किसी पद पर कार्य करने के लिए प्रतिभा की आवश्यकता पडती है। प्रतिभा की मात्रा अलग-अलग लोगों में भिन्न-भिन्न मात्रा में है। प्रतिभा के साथ-साथ भूमिका या कार्य करने के लिए उपयुक्त प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। प्रशिक्षण पाने में अधिक धन खर्च होता है। खर्च अधिक होने के कारण सामान्य जन प्रशिक्षण प्राप्त करने मे असमर्थ होते हैं। इस प्रकार से उच्च स्तर की प्रतिभा, बुद्धि एवं प्रशिक्षण सम्बन्धी पदों के लिए विशिष्ट पुरस्कार समाज प्रदान करता है। वर्तमान में डॉक्टर, इन्जीनियर, प्रशासनिक अधिकारी, सम्बन्धी पदों के लिए विशेष पुरस्कार या वेतन प्रदान करने की व्यवस्था है।

निष्कर्षतः इन पदधारियो को न्यून शरीर श्रम करना होता है और अधिकतम वेतन, सम्मान एवं विभिन्न पुरस्कार देने का प्रावधान होता है। वे पद जो समाज के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, उनको अनेक लोग प्राप्त करना चाहते हैं। पदधारी विशिष्ट प्रतिभा वाला होना चाहिए। उच्च प्रशिक्षण प्राप्त होना चाहिए। प्रतियोगिता के आधार पर उच्च प्रतिभावान को पद दिया जाता है। उन्हें सभी प्रकार के पुरस्कार एवं लाभ अधिकतम दिए जाते हैं। पुरस्कारों की अधिकता उपरोक्त विशेषताओ के अनुपात मे निश्चित की जाती है। झाड़ू लगाने, सफाई करने, विष्टा उठाने का कार्य समाज के लिए महत्त्वपूर्ण है परन्तु इसमें अधिक शरीर श्रम चाहिए

तथा हर कोई इस कार्य को कर सकता है इसलिए इसके लिए पुरस्कार की न्यूनतम व्यवस्था है। परन्तु प्रशासनिक क्षेत्र, डॉक्टर एवं इन्जीनियर का पद महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ, अधिक प्रशिक्षण, अधिक प्रतिभा पर आधारित होता है इसलिए अधिक पुरस्कार, लाभ एवं सम्मान दिए जाने का प्रावधान सभी समाजों मे देखा जा सकता है।

डेविस ने सामाजिक स्तरीकरण के अपने प्रकार्यात्मक सिद्धान्त के सम्बन्ध में स्पष्ट किया है कि यह सिद्धान्त बन्द और खुले दोनों प्रकार के समाजों के स्तरीकरण की व्याख्या करने में सक्षम है। आपका कहना है कि यह सिद्धान्त मात्र खुले वर्ग व्यवस्था वाले समाजों की ही व्याख्या नहीं करता है जहाँ पर पदों पर नियुक्ति योग्यता और प्रशिक्षण के आधार पर होती है बल्कि बंद जाति व्यवस्था वाले समाजों के स्तरीकरण की भी व्याख्या स्पष्ट रूप से करता है। आपका सिद्धान्त व्यक्तियो का क्रम विन्यास नहीं करता है। यह सिद्धान्त सापेक्षित महत्त्व के आधार पर पदो का क्रम विन्यास करता है। डेविस ने स्पष्ट किया है कि सभी समाजों में धार्मिक कार्यों एवं सफ़ाई करने वाले लोग होते हैं। इसी क्रम मे धार्मिक कार्यो को करने वालो का पद उच्च होता है और सफाई करने वालो का पद निम्न होता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार भारतीय जाति व्यवस्था में धार्मिक कार्यो को करने वाले ब्राह्मणों का पद उच्चतम होता है और सफ़ाई करने वाले हरिजनो का पद निम्नतम होता है, की व्याख्या की जा सकती है। इस प्रकार आपका प्रकार्यात्मक सिद्धान्त स्तरीकरण की व्याख्या करने में सक्षम है।

ट्यूमिन द्वारा आलोचना (Criticism by Tumin)

डेविस और मूर के विचारों ने एक लम्बे विवाद को उत्तेजित किया है। ट्यूमिन इनके विख्यात विरोधी हैं। आपने इनके सिद्धान्त की विशद् आलोचना की है जो अग्रलिखित हैं—

(1) डेविस और मूर की मान्यता है कि अधिक पारितोष वाले पद बहुत महत्त्वपूर्ण होते हैं। लेकिन ट्यूमिन का कहना है कि ऐसा देखा गया है कि कम सम्मानीय एवं न्यून आर्थिक लाभ वाले व्यवसाय भी समाज के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण होते हैं। कारखाने में श्रमिक का कार्य उतना ही महत्त्वपूर्ण एवं अपरिहार्य होता है जितना कि अभियन्ता का। अनेक समाजशास्त्रियो ने आपत्ति की है कि पदों के प्रकार्यात्मक महत्त्व को मापने का कोई वस्तुपरक तरीका नहीं है।

(2) डेविस और मूर ने पारितोष के असमान वितरण पर शक्ति के प्रभाव की उपेक्षा की है। विभिन्न व्यावसायिक समूहों के वेतन और प्रतिष्ठा में अन्तर का कारण शक्ति की भिन्नता होती है, प्रकार्यात्मक महत्त्व की भिन्नता नहीं होती है।

(3) डेविस और मूर की मान्यता है कि ऐसे व्यक्तियो की संख्या बहुत सीमित होती है जो बहुत महत्त्वपूर्ण प्रकार्यात्मक पदों को प्राप्त करने की आवश्यक बुद्धिमत्ता और कुशलता रखते हैं। ट्यूमिन इसे बहुत आपत्तिजनक मान्यता मानते हैं। आपके अनुसार अभी ऐसी विधि का निर्माण करना शेष है जिसके माध्यम से प्रतिभा सम्पन्नता और क्षमता को मापा जा सके। जिन्हे डेविस और मूर महत्त्वपूर्ण पद समझते हैं उन पदो को भरने सम्बन्धी प्रतिभावान व्यक्तियो

का समाज में बाहुल्य है। अतः इनके चयन के लिए असमान पारितोष आवश्यक प्रतीत नहीं होता है।

(4) ट्यूमिन ने आपत्ति की है कि महत्त्वपूर्ण पदों के लिए आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करना होता है इसे त्याग मानकर पारितोष देना आवश्यक नहीं है। आपने कहा कि प्रशिक्षण प्राप्त करने के कारण जो आय में घाटा हुआ है इसे कार्यकाल के प्रथम दस वर्षों में पूरा किया जा सकता है। यह न्यायोचित है लेकिन, ट्यूमिन के अनुसार, व्यक्ति के जीवनपर्यन्त कार्यकाल में निरन्तर पारितोष देना न्यायोचित नहीं है।

(5) डेविस और मूर की यह मान्यता है कि असमान पारितोष प्रतिभावान व्यक्तियों को महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता है, परन्तु यह तर्क बन्द स्तरीकरण व्यवस्था (जाति व्यवस्था) में लागू नहीं होता है। बन्द जाति व्यवस्था में पद और भूमिका जन्म द्वारा निर्धारित होती है न कि व्यक्ति की प्रतिभा, प्रशिक्षण और कार्यक्षमता द्वारा।

(6) डेविस और मूर का सिद्धान्त स्तरीकरण की खुली व्यवस्था में भी खरा नहीं उतरता है। यह व्यवस्था भी प्रतिभा के चयन में अनेक बाधाएँ उत्पन्न करती है। ट्यूमिन तर्क करते हैं कि जो निम्न श्रेणी में पैदा होते हैं, वे अपनी प्रतिभा को उजागर करने के लिए वैसे अवसर कभी भी प्राप्त नहीं कर पाते है जो उच्च श्रेणी में पैदा हुए व्यक्तियों को मिलते हैं।

(7) अन्त में ट्यूमिन इस धारणा पर भी आपत्ति उठाते हैं कि सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक व्यवस्था को सगठित रखने का कार्य करता है। आपका तर्क है कि पारितोषों की भिन्नता समाज के विभिन्न खण्डों के मध्य शत्रुता, शंका और अविश्वास को प्रोत्साहित करती है।

8. बॉटोमोर द्वारा आलोचना (Criticism by Bottomore)

(1) डेविस और मूर का सामाजिक स्तरीकरण का प्रकार्यात्मक सिद्धान्त एक स्तृत से दूसरे स्तृत में परिवर्तन या गतिशीलता की व्याख्या नहीं करता है। (2) इनका सिद्धान्त सामाजिक स्तरीकरण पर राजनैतिक सघर्ष के प्रभावों की व्याख्या भी नहीं करता है। (3) ये विद्वान पदों के आधार पर सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या करते हैं जबकि बॉटोमोर के अनुसार व्याख्या व्यक्तियों के क्रम विन्यास पर आधारित होनी चाहिए। (4) डेविस और मूर ने 'अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थितियाँ' और 'अत्यधिक योग्य व्यक्ति' दोनों ही अवधारणाओं की स्पष्ट रूप से व्याख्या नहीं की है। (5) बॉटोमोर के अनुसार आवश्यक नहीं है कि समाज में हमेशा महत्त्वपूर्ण पदों को योग्य व्यक्तियों द्वारा भी भरा जाए। इन आलोचकों का कहना है कि हो सकता है कि योग्य व्यक्ति अपनी रुचि के कारण महत्त्वपूर्ण पद को ग्रहण ही नहीं करे। (6) डेविस और मूर की एक आलोचना यह भी है कि इन्होंने 'सामाजिक समूहों', 'प्रस्थिति समूहों' और 'अभिजात वर्गों' के अस्तित्व की स्पष्ट व्याख्याएँ नहीं की हैं।

इस प्रकार स्तरीकरण के दोनों आधार (जाति व वर्ग) कुछ विशेषताओं के आधार पर एक दूसरे से भिन्न कहे जा सकते हैं।

□

अध्याय-24

सामाजिक गतिशीलता
(Social Mobility)

किसी व्यक्ति अथवा वर्ग का अपने सामाजिक ढाँचे मे अपनी योग्यता अथवा इच्छा के आधार पर एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति को प्राप्त करना सामाजिक गतिशीलता कहलाता है। यह गतिशीलता की प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन का ही एक रूप है।

सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Social Mobility)

बोगार्डस के अनुसार, "सामाजिक पद मे कोई भी परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता है।"

हार्टन एवं **हण्ट** का कहना है, "सामाजिक गतिशीलता से तात्पर्य उच्च या निम्न सामाजिक प्रस्थितियों मे गमन करना है।"

फेयर चाइल्ड के अनुसार, "सामाजिक गतिशीलता से अभिप्राय प्राय: व्यक्तियों के एक समूह से दूसरे समूह की ओर गति से है।"

सोरोकिन के मत में, "सामाजिक गतिशीलता से आशय सामाजिक समूहों तथा स्तरों में किसी व्यक्ति का एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति में पहुँच जाना है।"

मैकाइवर मोरिश के शब्दों में, "सामाजिक गत्यात्मकता मूलत: व्यक्तियों के समूहो को एक सामाजिक स्थिति से दूसरी तक गति होती है, ऐसी गति किसी सामाजिक अनुक्रम या स्तरण में ऊपर की ओर या नीचे की ओर हो सकती है।"

पीटर ने लिखा है, "समाज के सदस्यों के सामाजिक जीवन मे होने वाले स्थिति, पद, व्यवसाय या/और निवास स्थान सम्बन्धी परिवर्तनों को सामाजिक गतिशीलता कहते हैं।"

मिलर और **बुक** ने भी सामाजिक गतिशीलता को व्यक्तियों का समूहों की एक सामाजिक ढाँचे से दूसरे सामाजिक ढाँचे में गति ही बताया है।

सामाजिक गतिशीलता से सम्बन्धित उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति या समूह को एक सामाजिक पदस्थिति से दूसरी सामाजिक पदस्थिति को प्राप्त करना ही सामाजिक गतिशीलता है जो उच्च भी हो सकती है और निम्न भी।

सामाजिक गतिशीलता के अनेक रूप हैं, जो इस प्रकार हैं—

सामाजिक गतिशीलता के रूप (Forms of Social Mobility)

सामाजिक गतिशीलता निम्न प्रकार की हो सकती है—

(A) (1) क्षैतिज गतिशीलता
(2) लम्बवत् या ऊर्ध्वगामी गतिशीलता
(B) (3) स्पर्धात्मक गतिशीलता
(4) प्रतिभू गतिशीलता
(C) (5) व्यक्तिगत गतिशीलता
(6) सामूहिक गतिशीलता

समाजविद सोरोकिन के अनुसार सामाजिक गतिशीलता के दो रूप हैं—

(1) समतल या क्षैतिज गतिशीलता
(2) उदग्र या लम्बवत् गतिशीलता

1. समतल या क्षैतिज गतिशीलता—सोरोकिन के अनुसार, "यह वह गतिशीलता है जिसमे एक व्यक्ति या वस्तु का एक ही स्तर मे स्थित एक दूसरे समूह में स्थानान्तरण हो गया है।" जब व्यक्ति का परिवर्तन समान स्थिति वाले समूहो या वर्गों मे होता है तो उसे समतल या क्षैतिज गतिशीलता कहते हैं। इसमे व्यक्ति का स्थान तो बदल जाता है किन्तु उसकी सामाजिक स्थिति, वेतन, प्रतिष्ठा आदि मे परिवर्तन नहीं होता। यदि तृतीय श्रेणी अध्यापक का स्थानान्तरण अन्यत्र हो जाता है किन्तु उसकी वर्ग स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता तो यह समतल गतिशीलता का उदाहरण है।

सोरोकिन ने क्षैतिज गतिशीलता के निम्न रूप बताए हैं—

1. प्रजाति, लिंग तथा आयु समूहों में गतिशीलता (Mobility in Race, Sex and Age Groups)—प्राय: प्रजाति, लिंग व आयु समूहो में परिवर्तन नहीं होता है, परन्तु जब इन समूहों का विकास सामाजिक वर्गों के रूप मे होता है तो इनमे समतल या क्षैतिज गतिशीलता का होना सम्भव है अर्थात् जब समान स्थिति वाले आयु अथवा लिंग समूहों मे आना-जाना प्रारम्भ हो जाता है तो समतल गतिशीलता होने लगती है।

1.2 व्यावसायिक गतिशीलता (Occupational Mobility)—एक व्यवसाय से दूसरे समान व्यवसाय मे जाना व्यावसायिक गतिशीलता है। आज अनेक व्यक्ति एक व्यवसाय को त्याग कर उसी स्तर का दूसरा व्यवसाय करते देखे जाते हैं।

1.3 धार्मिक गतिशीलता (Religious Mobility)—कभी-कभी स्वेच्छा से अथवा स्वार्थवश कुछ व्यक्ति किसी एक धार्मिक विश्वास की अपेक्षा दूसरे धर्म मे विश्वास करने लगते हैं या एक धार्मिक सगठन को त्याग दूसरे धार्मिक सगठन को अपना लेते है जैसे कि हिन्दुओं का अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए ईसाई धर्म को अपना लेना इसी गतिशीलता का उदाहरण है।

1.4 दलगत गतिशीलता (Party Mobility)—किसी एक राजनैतिक दल को त्याग कर दूसरे राजनैतिक दल को अपना लेना इसी प्रकार की गतिशीलता है। ये स्वार्थ पूर्ति अथवा व्यक्तिगत कारणों से होती है। हमारे देश में इसके अनेक उदाहरण विद्यमान हैं।

1.5 पारिवारिक अथवा नातेदारी गतिशीलता (Family or Kinship Mobility)—कभी-कभी पुनर्विवाह करने, किसी बालक को गोद लेने अथवा तलाक देने आदि की स्थिति में इस श्रेणी की गतिशीलता में वृद्धि हो जाती है।

1.6 क्षेत्रीय गतिशीलता (Territorial Mobility)—प्राय: ग्रामों से व्यक्ति शहरों की ओर पलायन कर जाते हैं। कृषि कार्यों की अपेक्षा औद्योगिक संस्थानों में काम करने लगते हैं। इस प्रकार किसी क्षेत्र अथवा समुदाय से व्यक्तियों का अन्य क्षेत्र अथवा समुदाय में प्रवेश करना क्षेत्रीय गतिशीलता का उदाहरण है।

1.7 अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता (International Mobility)—जब किसी आर्थिक लाभ अथवा शिक्षा आदि की प्राप्ति के लिए व्यक्तियों को एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र की ओर जाना-आना होता है वह अन्तर्राष्ट्रीय गतिशीलता होती है।

(2) उदग्र या लम्बवत् गतिशीलता (Vertical Mobility)

सोरोकिन ने कहा है, "उदग्र गतिशीलता से मेरा अभिप्राय किसी व्यक्ति अथवा सामाजिक वस्तु के एक सामाजिक स्तर से दूसरे में परिवर्तन होने से उत्पन्न होने वाले सम्बन्धों से है।" अर्थात् उदग्र गतिशीलता से आशय किसी व्यक्ति या वर्ग की सामाजिक स्थिति का लम्बवत् या ऊर्ध्वगामी दिशा में जाना है। उदाहरणार्थ यदि एक तृतीय श्रेणी अध्यापक अपनी शैक्षिक योग्यता में वृद्धि कर कॉलेज स्तर के व्याख्याता पद पर पहुँच जाता है तो इस प्रकार की पदोन्नति से उसकी सामाजिक पदस्थिति उच्च हो जाएगी। कालान्तर में वही रीडर, प्रोफेसर आदि का पद भी ग्रहण कर सकता है। *इसी को उदग्र या लम्बवत् गतिशीलता कहा जाएगा।*

सोरोकिन ने लम्बवत् गतिशीलता के दो रूप बताए हैं—

(1) आरोही गतिशीलता

(2) अवरोही गतिशीलता

2.1 आरोही गतिशीलता (Ascending Mobility) से आशय निम्न सामाजिक पद स्थिति से उच्च सामाजिक पदस्थिति में प्रवेश करना है। उदाहरण के लिए किसी लिपिक का कार्यालयाध्यक्ष के पद को प्राप्त कर लेना।

2.2 अवरोही गतिशीलता (Descending Mobility)—अवरोही गतिशीलता से आशय किसी ऊँची सामाजिक पदस्थिति से नीची सामाजिक पदस्थिति की ओर जाना है। जैसे किसी विभागीय अध्यक्ष का केवल व्याख्याता रह जाना अवरोही गतिशीलता का उदाहरण है।

3. स्पर्द्धात्मक गतिशीलता (Contest Mobility)—**रेल्फ एवं टर्नर** के अनुसार, "स्पर्द्धात्मक गतिशीलता एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें पदस्थिति एक खुली प्रतिस्पर्द्धा में पुरस्कार के रूप में होती है और प्रतिस्पर्द्धी अपने ही प्रयासों से उसे प्राप्त करते हैं।" अर्थात् स्पर्द्धात्मक गतिशीलता में व्यक्ति अपनी कुशलता एवं योग्यता का प्रदर्शन करता है और सफलता प्राप्त करने

पर पुरस्कार स्वरूप उसकी पदस्थिति में परिवर्तन आ जाता है। खेलकूद प्रतियोगिताएँ एवं सौन्दर्य प्रतियोगिताएँ उसके उदाहरण हैं जिनमें नर-*नारियाँ सर्वश्रेष्ठ खिलाड़ी या विश्वसुन्दरी आदि* पदस्थिति ग्रहण करती हैं।

4. प्रतिभू गतिशीलता (Sponsored Mobility)—**टर्नर** के अनुसार, "प्रदत्त गतिशीलता में नए कुलीन लोग समाज के पूर्व स्थापित कुलीनों या उनके एजेंटों द्वारा चुने जाते हैं और उच्च स्थिति धारण की हुई कुशलता की कुछ कसौटियाँ प्रदान की जाती हैं यह किसी भी प्रयास या तरीके से ली नहीं जा सकती।"

प्रदत्त गतिशीलता मे कुछ व्यक्तियो का चयन कुछ कसौटियो के आधार पर किया जाता है जो कुलीन होते हैं—इस चयन के परिणामस्वरूप चयनित व्यक्ति की पदस्थिति में परिवर्तन *हो जाता है। यह स्थिति किसी प्रयास या तरीके से प्राप्त नहीं हो सकती जैसे—राष्ट्रपति द्वारा राज्य* सभा में सदस्यो की नियुक्ति इसका उदाहरण है।

5. व्यक्तिगत गतिशीलता (Individual Mobility)—जब किसी एक व्यक्ति के जीवन मे किसी प्रकार गतिशीलता होती है तो उसे व्यक्तिगत गतिशीलता की संज्ञा दी जाती है। यह गतिशीलता क्षैतिज, लम्बवत्, स्पर्द्धात्मक अथवा प्रतिभू किसी भी प्रकार की हो सकती है।

6. सामूहिक गतिशीलता (Group Mobility)—जब किसी भी प्रकार की गतिशीलता पूरे समूह की होती है, तो इसे सामूहिक गतिशीलता कहते हैं। अनेको निम्न जातियों व जनजातियों द्वारा अपनाई गई सस्कृतिकरण की प्रक्रिया जो सास्कृतिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण प्रकार है, वह सामूहिक गतिशीलता का ही उदाहरण है। इसका वर्णन श्रीनिवास ने "संस्कृतिकरण" के सम्प्रत्यय मे अनेक उदाहरण देकर किया है। गतिशीलता के रूपो को अग्र तालिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है—
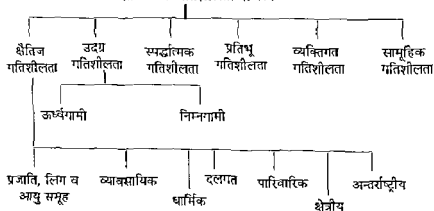
सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले तत्त्व
(Factors Affecting Social Mobility)
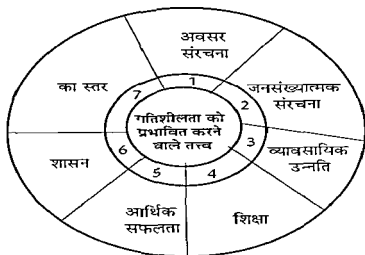
सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करने वाले तत्त्व निम्नलिखित हैं—

1. अवसर संरचना (Opportunity Structure)—समाज की संरचना दो प्रकार की होती है—(1) बंद समाज व (2) खुला समाज। बंद समाज का संरचनात्मक ढाँचा जन्म तथा वंशक्रम पर आधारित है, जिसमें गतिशीलता के अवसर प्रतिबंधित होते हैं। दूसरे खुले समाज की संरचना में व्यक्ति अपनी शिक्षा, योग्यता के आधार पर अपनी सामाजिक पदस्थिति में परिवर्तन करने के लिए स्वतन्त्र होता है। इससे सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि होती है।

2. जनसंख्यात्मक संरचना (Demography Structure)—जनसंख्यात्मक संरचना सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है। औद्योगिक प्रगति के परिणामस्वरूप ग्रामीण लोग नगरों में जाकर उद्योगों में काम करने लगे हैं। इससे गतिशीलता बढ़ी है। इसी प्रकार जहाँ जनसख्या का घनत्व अधिक होता है, वहाँ पर बाहर से आए हुए लोग निम्न स्थितियों में कार्य करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इससे वहाँ पर पहले से रहने वाले लोगों की सामाजिक स्थिति उच्च हो जाती है तथा इसी प्रकार उच्च वर्ग के लोगों की सन्तान कम होने के कारण निम्न वर्ग के लोग उच्च पदस्थितियों पर आसीन हो जाते हैं अर्थात् जनसंख्या-संरचना का सामाजिक गतिशीलता पर प्रभाव पड़ता है।

3. व्यावसायिक उन्नति (Occupational Improvement)—कुछ व्यवसायों को सामाजिक दृष्टि से प्रतिष्ठित व उच्च समझा जाता है इसलिए उस सामाजिक दृष्टि से उच्च व्यवसाय को पाने के लिए निम्न सामाजिक स्थिति वाले लोग अपनाने का प्रयास करते हैं, परिणामस्वरूप सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हो जाती है।

4 शिक्षा (Education)—शिक्षा से भी सामाजिक गतिशीलता मे वृद्धि होती है, जो व्यक्ति जितनी अधिक शिक्षा प्राप्त कर लेता है उसकी सामाजिक स्थिति उतनी ही उच्च हो जाती है जिससे सामाजिक गतिशीलता भी उच्च हो जाती है।

5. आर्थिक सफलता (Economic Success)—आर्थिक सफलता भी सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है। समाज म उच्च मध्यम और निम्न तीन वर्ग होते हैं। उच्च वर्ग के लोगो के पास अधिक पैसा होता है इससे समाज में उनकी अधिक प्रतिष्ठा होती है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अधिक-से-अधिक धन कमाने का प्रयास करता है, जिससे उसकी सामाजिक स्थिति उच्च हो जाए। इस तरह आर्थिक सफलता सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है।

6 शासन (Administration)—किसी देश की शासन व्यवस्था भी सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए जहाँ जनतंत्रीय शासन व्यवस्था होती है वहाँ नागरिकों को अपनी उन्नति के लिए अधिकाधिक अवसर प्राप्त होते हैं, और इससे वहाँ सामाजिक गतिशीलता भी उच्च होती है।

7 महत्त्वाकांक्षा का स्तर (Aspiration Level)—महत्त्वाकांक्षा-स्तर सामाजिक गतिशीलता को प्रभावित करता है, जिस समाज में जितने अधिक लोग महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति होंगे उस समाज में उतनी ही अधिक गतिशीलता भी होगी।

सामाजिक गतिशीलता के क्षेत्र

(Dimensions of Social Mobility)

लिपसेट और जिटरबर्ग ने सामाजिक गतिशीलता के निम्नलिखित क्षेत्र बताए हैं—
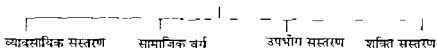
1. व्यावसायिक संस्तरण (Occupational Ranking)—व्यवसाय सामाजिक संस्तरण का आधार है। अलग-अलग व्यावसायिक वर्ग मे कार्यरत व्यक्तियों के विचार, व्यवहार और भावनाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। प्राय: कम प्रतिष्ठित व्यवसायों मे कार्यरत व्यक्ति अधिक प्रतिष्ठित व्यवसायों की ओर गतिशील होने का प्रयास करते हैं। इस दृष्टि से कुशल किन्तु न्यून प्रतिष्ठा वाले व्यवसायों में लगे व्यक्तियों का अधिक प्रतिष्ठा वाले व्यवसायों में प्रवेश करना व्यावसायिक गतिशीलता है।

2. सामाजिक वर्ग (Social Class)—किसी व्यक्ति का स्वेच्छा से एक सामाजिक वर्ग से दूसरे सामाजिक वर्ग म प्रवेश करना प्राय: सम्भव नहीं है। क्योंकि प्राय: उच्च वर्ग के व्यक्ति किसी निम्न वर्ग के व्यक्ति को अपने समान मान्यता प्रदान नहीं करते। अत: किसी व्यक्ति के सामाजिक वर्ग की जानकारी उस व्यक्ति के सम्पर्क में आने वाले अन्य व्यक्तियों की सामाजिक आर्थिक स्थिति से ही हो सकती है।

3. उपभोग संस्तरण (Consumption Ranking)—लिपसेट और गिटरवर्ग का मानना है कि किसी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति उसके द्वारा किए जाने वाले व्यय से ज्ञात की जाती है। व्यक्ति द्वारा किया जाने वाला व्यय उसकी जीवन शैली से सम्बन्धित होता है। इस कारण एक समान जीवन-शैली वाले व्यक्तियों को एक उपभोक्ता-वर्ग में रखा जा सकता है। उपभोक्ता की सामाजिक प्रतिष्ठा उसके द्वारा सामाजिक सांस्कृतिक कार्यों पर किए जाने वाले व्यय से आँकी जाती है।

4. शक्ति-संस्तरण (Power Ranking)—प्राय: समान शक्ति रखने वाले व्यक्ति एक शक्ति-वर्ग में आते हैं और इस शक्ति-स्थिति पर अन्य वर्गों के व्यवसाय और आर्थिक स्थिति का प्रभाव पड़ भी सकता और नहीं भी पड़ सकता। कोई श्रमिक नेता आर्थिक दृष्टि से हीन होने पर भी समाज में अच्छा राजनैतिक प्रभाव रख सकता है।

❐

अध्याय-25

सामाजिक परिवर्तन : अर्थ, प्रकार एवं कारक
(Social Change : Meaning, Types and Factors)

परिवर्तन प्रकृति का आवश्यक नियम है। इस ससार मे प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील होती है। मानव समाज भी उसी प्रकृति का अश है अत: मानव समाज भी परिवर्तनशील है। आज तक कोई समाज ऐसा नहीं है जहाँ परिवर्तन न हुए हो। भातिक पदार्थो में भी निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। इसी प्रकार प्राकृतिक रचनाएँ भी निरन्तर बदलती रहती है। लेकिन परिवर्तन किसे कहते हैं? इसकी क्या विशेषताएँ होती हैं? परिवर्तन क्यो होता है? आदि अनेक प्रश्न है जिनका उत्तर खोजने का प्रयास विद्वान कर रहे हैं।

सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट रूप से समझने के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम परिवर्तन के अर्थ को समझा जाए, उसके उपरान्त सामाजिक परिवर्तन की परिभाषाओ, विशेषताओ, प्रकृति, कारक, सिद्धान्तो आदि का अध्ययन किया जाए जो इस प्रकार है—

परिवर्तन की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Changes)—

सामान्य रूप से परिवर्तन से तात्पर्य किसी भी निश्चित दिशा मे प्रवहमान किसी क्रिया अथवा किसी भौतिक या अभौतिक तत्त्व के किसी पक्ष मे विचलन होने से है अथवा परिवर्तन का अर्थ किसी क्रिया या वस्तु की पूर्व की स्थिति मे बदलाव आना है। समाजशास्त्री फिचर ने परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए बताया है कि "परिवर्तन पहले की अवस्था या अस्तित्व के प्रकार मे अन्तर को कहते हैं।" परिवर्तन का सम्बन्ध वस्तु, समय एव भिन्नता से है।

परिवर्तन के घटक

वस्तु — समय — भिन्नता
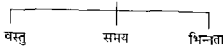
(1) **वस्तु** (Objects) वस्तु से तात्पर्य यह है कि यदि यह कहा जाता है कि परिवर्तन आ रहा है तो यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि परिवर्तन किस विषय अथवा वस्तु मे आ रहा है क्योंकि बिना वस्तु को बताए परिवर्तनो को स्पष्ट रूप से नहीं बताया जा सकता।

(2) समय (Time)—समय से आशय है कि परिवर्तन के लिए समय का अन्तराल होना आवश्यक है। एक ही समय मे परिवर्तन को नही स्पष्ट किया जा सकता, जैसे—शिक्षा-पद्धति में बदलाव का अध्ययन करना है तो वैदिक-काल की शिक्षा की तुलना आधुनिक काल की शिक्षा से करके—शिक्षा में हुए परिवर्तन का अध्ययन कर सकते हैं। इस प्रकार परिवर्तन का सम्बन्ध समय से है।

(3) भिन्नता (Variation)—भिन्नता का अर्थ है विभिन्न समयों मे वस्तु या विषय में भिन्नता का मिलना, क्योंकि यदि वस्तु के रूप मे किसी प्रकार का अन्तर न आए तो परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। परिवर्तन तो वस्तु के रूप, रग, आकार, सरचना आदि मे पूर्ण रूप से भिन्नता आ जाने पर माना जाता है अत: परिवर्तन का सम्बन्ध भिन्नता से भी होता है।

निष्कर्षत: परिवर्तन किसी वस्तु अथवा विषय में दो समयों के मध्य प्रतीत होने वाली भिन्नता है। परिवर्तन की अग्रलिखित विशेषताएँ होती हैं—

परिवर्तन की विशेषताएँ (Characteristics of Changes)—

(1) परिवर्तन किसी भी भौतिक अथवा अभौतिक वस्तु की निश्चित दिशा मे विचलन की स्थिति है।

(2) यह विचलन या तो प्राकृतिक नियमो द्वारा स्वत: ही होता है अथवा मानव-समाज द्वारा योजनाबद्ध रूप मे हो सकता है।

(3) परिवर्तन से वस्तु का सम्पूर्ण रूप बदलता है अथवा उसका कोई पक्ष-विशेष प्रभावित होता है।

(4) परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है अर्थात् यह सर्वत्र पाया जाता है।

(5) परिवर्तन सार्वकालिक प्रघटना है अर्थात् हर काल मे किसी-न-किसी रूप मे परिवर्तन अवश्य होता है।

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of social change)—सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य समाज मे घटित होने वाले परिवर्तन से है। प्रारम्भ से समाजशास्त्रियों ने उद्विकास, प्रगति त सामाजिक परिवर्तन तीनों अवधारणाओ को एक ही अर्थ में माना था किन्तु कालान्तर में सन् 1922 में ऑगबर्न ने अपनी पुस्तक 'सोशियल चेन्ज' में इनमें विद्यमान विभेद को स्पष्ट किया। उसके बाद समाजशास्त्रीय शब्दावली में इनका प्रयोग अत्यधिक रूप में होने लगा। अब सामाजिक परिवर्तन का क्या अर्थ है इस पर विद्वानों द्वारा दिए गए विचारों पर प्रकाश डाला जायेगा जिससे सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्ट रूप से समझा जा सके।

जॉनसन के मतानुसार, "अपने मूल अर्थ मे सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन है।"

किंग्सले डेविस के मत में, "सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और प्रकार्यों में घटित होते हैं।"

मैकाइवर एव पेज के अनुसार, "समाजशास्त्री होने के नाते हमारी रुचि सामाजिक सम्बन्धो में है। केवल इन सामाजिक सम्बन्धो में होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।"

जेन्सन के मत में, "सामाजिक परिवर्तन को लोगो के कार्य करने तथा विचार करने के तरीको में होने वाले रूपान्तरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"

बोटोमोर के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत उन परिवर्तनों को सम्मिलित किया जा सकता है जो सामाजिक संरचना, सामाजिक सस्थाओं अथवा उनके पारस्परिक सम्बन्धों मे घटित होते हैं।

गिलिन एवं गिलिन के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन जीवन को मानी हुई रीतियो मे परिवर्तन को कहते हैं। चाहे ये परिवर्तन भौगोलिक दशाओं मे परिवर्तन से हुए हो या सास्कृतिक साधनो, जनसख्या की रचना या विचारधारा के परिवर्तन से अथवा समूह के अन्दर ही आविष्कारों के फलस्वरूप हुए हों।"

गिन्सबर्ग के अनुसार, "सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन से है अर्थात् समाज के आकार, इसके विभिन्न अगो अथवा इसके संगठन के प्रकारों की बनावट एवं सन्तुलन मे होने वाले परिवर्तनो को सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है।"

जोन्स के शब्दों में, "सामाजिक परिवर्तन वह शब्द है जो सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक प्रतिमानो, सामाजिक अन्तःक्रियाओं अथवा सामाजिक सगठन के किसी भाग मे गठित होने वाले हेर-फेर या संशोधनों के लिए प्रयोग किया जाता है।"

मैरिल एवं एल्ड्रिज के अनुसार, "जब मानव-व्यवहार रूपान्तरण की प्रक्रिया में होता है तब हम उसी को दूसरे रूप में इस प्रकार कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन हो रहा है।"

इस प्रकार इन्होने मानव-क्रियाओं मे होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा है।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक परिवर्तन मे वे परिवर्तन सम्मिलित होते हैं जो मानवीय क्रियाओं, सामाजिक प्रक्रियाओं, व्यवहारों, संस्थाओं, प्रथाओ, प्रकार्यों अथवा सामाजिक ढाँचे अर्थात् सामाजिक सगठन और समाज के आकारों आदि में होते हैं। सामाजिक परिवर्तन में निम्नलिखित तथ्यों को लिया जा सकता है—

(1) सामाजिक परिवर्तन समाज की संरचना एवं उसके प्रकार्यों में परिवर्तन को कहते हैं।

(2) सामाजिक परिवर्तन व्यक्ति विशेष अथवा कुछ ही व्यक्तियों में आए परिवर्तन से नहीं माना जाता, बल्कि समाज के अधिकांश अथवा सभी व्यक्तियो द्वारा उसे जीवन-विधि व विश्वासों मे स्वीकार किए जाने पर माना जाता है।

(4) सामाजिक परिवर्तन मानव के सामाजिक सम्बन्धो में परिवर्तन से सम्बन्धित है।

सामाजिक परिवर्तन की विशेषतायें
(Characteristics of Social Change)

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन की अनेक विशेषताएँ बताई हैं जो इसकी अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करती हैं। ये विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—

1. सामाजिक प्रकृति (Social nature)—सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज में होने वाले परिवर्तन से होता है न कि व्यक्तिगत स्तर पर हुए परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। अर्थात् जब सम्पूर्ण समाज की इकाइयों; जैसे—जाति, वर्ग, समूह, समुदाय आदि के स्तर पर परिवर्तन आता है तभी उसे सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा दी जाती है। किसी एक इकाई में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन नहीं कह सकते।

2. सार्वभौमिक प्रघटना (Universal phenomenon)—सामाजिक परिवर्तन सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक है। विश्व का कोई ऐसा समाज नहीं जहाँ परिवर्तन न हुआ हो। यद्यपि विभिन्न समाजों में परिवर्तन की गति एवं स्वरूप भिन्न हो सकता है क्योंकि कोई भी दो समाज एक जैसे नहीं होते हैं। उनके इतिहास, सस्कृति, प्रकृति आदि में इतनी भिन्नता होती है कि कोई एक-दूसरे का प्रतिरूप नहीं हो सकता, परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत सत्य है अत: समाज के स्तर पर यह सभी कालों में व सभी समाजों मे किसी न किसी रूप मे होता अवश्य है।

3. स्वाभाविक एवं अवश्यम्भावी (Natural and inevitable)—परिवर्तन चूँकि प्रकृति का शाश्वत सत्य है, आवश्यक रूप से होता है अत: यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया कही जा सकती है। समाज भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तित होता रहता है। प्राय: मानव स्वभाव परिवर्तन का विरोधी होता है लेकिन फिर भी परिवर्तन तो होता ही है क्योंकि व्यक्ति की आवश्यकताएँ, इच्छाएँ, परिस्थितियाँ स्वाभाविक रूप से परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती हैं। मानव अपनी बदलती परिस्थिति से समायोजन करने के लिए अनिवार्य रूप से परिवर्तन को स्वीकार कर लेता है। यह एक स्वाभाविक घटना है।

4. तुलनात्मक एवं असमान गति (Comparative and unequal speed)—सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में पाया जाता है किन्तु सभी समाजों में इसकी गति अलग-अलग होती है। ग्रामीण समाजों में परिवर्तन बड़ी मन्द गति से आता है। इसका कारण यह होता है कि वहाँ पर परिवर्तन लाने वाले कारक भिन्न प्रकार के होते हैं जबकि शहरी समाज में परिवर्तन तेज गति से आता है। इन दोनों स्थानों में आए परिवर्तन को तुलना द्वारा ही बताया जा सकता है कि किस स्थान पर कितना परिवर्तन आया? उदाहरण के लिए—आदिम समाजों की तुलना में शहरी समाज में सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से होता है। शहरी क्षेत्र में तकनीकी विकास आदिम क्षेत्र की तुलना में तीव्र गति से हो रहा है। यहाँ हम दोनों समाजों मे हुए सामाजिक परिवर्तन की तुलना करके ही उनकी असमान गति का अनुमान लगा पा रहे हैं।

5. जटिल प्रघटना (Complex phenomenon)—दो समाजो में हुए परिवर्तनों की तुलना के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक परिवर्तन हुआ है किन्तु कितना या किस

स्तर का? इसकी माप-तोल सम्भव नहीं होती। उदाहरण के लिए—आज के विचार, मूल्य, परम्पराएँ, रीतिरिवाज प्राचीन समय से भिन्नता लिए हुए हैं लेकिन कितना अन्तर है इसको मापा नहीं जा सकता क्योंकि परिवर्तन गुणात्मक रूप में होता है। अत: सामाजिक परिवर्तन की विशेषता यह है कि यह एक जटिल तथ्य है, सरलता से इसका रूप नहीं समझा जा सकता।

6 **भविष्यवाणी असम्भव** (Prediction is impossible)—परिवर्तन होता तो अवश्य है लेकिन वह किस दिशा मे होगा? किस रूप मे होगा? किस स्थान पर होगा? आदि स्पष्ट नहीं होता। उदाहरण के लिए—तकनीकी विकास का प्रभाव सम्पूर्ण देश पर पड़ा है। रहन-सहन, भोजन-व्यवस्था, आवागमन, भौतिक सुख-सुविधा आदि अनेक क्षेत्र इससे प्रभावित हैं लेकिन व्यक्तियों के विचार, विश्वास, मूल्य किस सीमा तक इससे प्रभावित हैं और होंगे इसकी भविष्यवाणी असम्भव नहीं तो दुष्कर कार्य अवश्य है। औद्योगीकरण और नगरीकरण ने सयुक्त परिवार, विवाह, जाति प्रथा आदि अनेक क्षेत्रो को प्रभावित किया है जिसके सम्पूर्ण प्रभाव के विषय मे *निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। केवल पूर्वानुमान लगाया जा सकता है।*

विल्बर्ट मूर ने अपनी पुस्तक 'सोशियल चेन्ज' में सामाजिक परिवर्तन की निम्नलिखित विशेषताओं को बताया है—

(1) **अनिवार्य नियम**—सामाजिक परिवर्तन अनिवार्य नियम है अर्थात् सामाजिक संरचना के किसी-न-किसी अंश अथवा सम्पूर्ण अंश में परिवर्तन अवश्य होता है। सामाजिक पुनर्निर्माण की अवधि में यह सर्वाधिक तीव्र गति से होता है।

(2) **आधुनिक समाजों में अधिक**—आधुनिक समाजों में सामाजिक परिवर्तन अधिक होते हैं जिन्हे स्पष्टतया देखा भी जा सकता है। प्राचीन समाजो में परिवर्तन बहुत कम व अस्पष्ट होता था।

(3) **भौतिक वस्तुओं में तीव्र**— अभौतिक रूप (विचार मूल्य, परम्परा आदि) की तुलना में भौतिक वस्तुओं (मकान, औजार आदि) मे सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र होती है। यद्यपि परिवर्तन सभी क्षेत्रों में ही होता है।

(4) **सामान्य गति व स्वाभाविक ढंग**— जो सामाजिक परिवर्तन सामान्य गति एवं स्वाभाविक *ढंग से होता है उसका प्रभाव सम्पूर्ण सामाजिक-संरचना व विचारों पर अधिक* पड़ता है।

(5) **भविष्य वाणी कठिन**—सामाजिक परिवर्तन के विषय में भविष्यवाणी नहीं की जा सकती केवल अनुमान लगाया जा सकता है कि परिवर्तन किस रूप में होगा।

(6) **गुणात्मक**—सामाजिक परिवर्तन गुणात्मक होता है—इसमें एक स्थिति दूसरी स्थिति को परिवर्तित करती रहती है और इस प्रकार सम्पूर्ण समाज पर सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव हो जाता है।

(7) **नियंत्रण सम्भव**—सामाजिक परिवर्तन नियोजित ढंग से होता है—इच्छित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही इसे क्रियाशील बनाया जा सकता है व नियन्त्रित भी किया जा सकता है।

सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान
(Various Patterns of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन का स्वरूप भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। यह परिवर्तन निरन्तर होता रहता है तथा अनेक दिशाओं में होता है जिसके विषय में पूर्वानुमान लगाना भी कठिन होता है। मैकाइवर तथा पेज ने सामाजिक परिवर्तन के तीन प्रतिमान बताए हैं—

प्रथम प्रतिमान—कभी-कभी परिवर्तन यकायक प्रकट हो जाते हैं और वे आगे और भी परिवर्तनो को उत्पन्न करते रहते हैं और ये परिवर्तन तब तक होते रहते हैं जब तक किसी नवीन परिवर्तन को जन्म नहीं दे देते—इस प्रकार के परिवर्तन को **रेखीय परिवर्तन** (Linear Change) कह सकते हैं। इस श्रेणी में आविष्कारों से उत्पन्न परिवर्तनों को लिया जा सकता है। रेडियो, टेलीफोन, वायुयान आदि के आविष्कारों के कारण उत्पन्न परिवर्तन तब तक होते रहते हैं जब तक कि किसी अच्छे एवं नवीन उपकरण का आविष्कार नहीं हो जाता। इस प्रकार के परिवर्तन एक ही दिशा या रेखा में होते हैं इसलिए इन्हें रेखीय परिवर्तन कहा जाता है। यह परिवर्तन का प्रथम प्रतिमान है। ये परिवर्तन मनुष्य के बौद्धिक विकास का परिणाम होते हैं और ये सामाजिक परिवर्तन को एक निश्चित पूर्व निर्धारित रूप में देखते हैं। प्रौद्योगिकी के परिवर्तन इसी प्रकार के उदाहरण हैं।

द्वितीय प्रतिमान—परिवर्तन का दूसरा प्रतिमान वह है जिसमें कुछ समय परिवर्तन प्रगति की ओर होता है फिर कुछ समय पश्चात् ह्रास की ओर हो जाता है अर्थात् परिवर्तन पहले ऊपर की ओर होता है फिर नीचे की ओर—इसलिए इस परिवर्तन को **'उतार-चढ़ाव वाला परिवर्तन'** कहा जा सकता है। 'जनसंख्या सम्बन्धी परिवर्तन' एवं 'आर्थिक क्रियाओं के परिवर्तन' इसमे सम्मिलित हो सकते हैं। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उन्नति व अवनति होती रहती है—अर्थात् इस प्रकार के परिवर्तन में यह निश्चित नहीं होता कि परिवर्तन की दिशा ऊर्ध्वगामी होगी या अधोगामी—एक निश्चित दिशा नहीं होती जबकि प्रथम प्रतिमान में परिवर्तन एक ही रेखा या दिशा में होता है।

तृतीय प्रतिमान—इस परिवर्तन को **चक्रीय परिवर्तन** कहा जा सकता है, क्योंकि विद्वानों के अनुसार परिवर्तन का एक चक्र चलता है। उदाहरण के लिए फैशन का रूप देखें—प्राचीन समय में महिलाएँ सीधा पल्ला लेकर साड़ी पहनती थीं—बाद में इसे घर-गृहस्थी वाली महिलाओं का प्रतीक माना गया क्योंकि पढ़ी-लिखी महिलाएँ या व्यावसायिक महिलाएँ उल्टा पल्ला लेकर साड़ी पहनने लगीं। आधुनिक समय में सीधा पल्ला लेना अत्याधुनिक महिलाओं का प्रतीक बन गया है—जहाँ पार्टी आदि में महिलाएँ इस प्रकार की साड़ी पहिनकर जाती हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सर्दी-गर्मी-बरसात का एक क्रम चलता रहता है या दिन-रात का चक्र चलता है वैसे ही इस प्रकार का परिवर्तन चक्र रूप में चलता रहता है। मानवीय क्रियाएँ, राजनैतिक आन्दोलन, सामाजिक मूल्य, अलंकरण, सौन्दर्य प्रसाधन आदि के क्षेत्र में ऐसा ही प्रतिमान पाया जाता है—जिसमें एक के बाद दूसरा, तीसरा और पुनः वही चक्र दोहराया जाता है और पुनः वहीं लौटकर आ जाते हैं जहाँ से परिवर्तन का प्रारम्भ हुआ था।

सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन
(Social Change and Cultural Change)

प्राय: सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन दोनो को एक मान लिया जाता है लेकिन दोनो भिन्न-भिन्न सम्प्रत्यय हैं अत: सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट रूप से समझने के लिए सास्कृतिक परिवर्तन से इसकी भिन्नता को देखना होगा। 'समाज' और 'सस्कृति' दो भिन्न-भिन्न सम्प्रत्यय हैं अत: दोनो के परिवर्तन भी भिन्न-भिन्न होगे लेकिन दोनो को एक मानने का भ्रम इस कारण होता है कि अनेक समाज-वैज्ञानिकों ने सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा बड़े विस्तार से की है; जैसे—गिलिन ने अपनी सामाजिक-परिवर्तन की परिभाषा सास्कृतिक आधार पर की है। उनके मत में "जीवन की स्वीकृत विधियों में होने वाले परिवर्तन, चाहे वे भौगोलिक दशाओ के परिवर्तन से हुए हो अथवा सांस्कृतिक साधनों आदि से सामाजिक परिवर्तन कहलाते हैं।" इसी प्रकार मैरिल व एल्ड्रिन भी "मानवीय क्रियाओं मे परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।" इसी प्रकार गिलिन एवं गिलिन ने भी अपनी समाजीकरण की परिभाषा मे सामाजीकरण को ऐसी प्रक्रिया बताया है जो व्यक्ति को समाज का क्रियाशील सदस्य बनाती है अर्थात् व्यक्ति सामाजीकरण के बिना समाज से अलग हो जायेगा, वह सस्कृति से भी बहुत दूर हो जायेगा। दूसरी ओर मैलिनोव्स्की एवं हर्षकोविट्स जैसे विद्वानों ने 'जीवन पद्धतियों एवं मानव क्रियाओं को संस्कृति' माना है। इन सभी परिभाषाओं के उपरान्त प्रश्न यह उठता है कि 'जीवन पद्धतियों एवं मानव क्रियाओ मे परिवर्तन' को सामाजिक परिवर्तन कहा जाये अथवा सांस्कृतिक परिवर्तन कहा जाये? डासन एवं गेटिस ने भी अपनी पुस्तक 'इन्ट्रोडक्सन टू सोशियोलॉजी' मे सामाजिक एव सास्कृतिक परिवर्तन को एक ही माना है—उन्होने कहा है कि सास्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन ही है; क्योंकि सम्पूर्ण सस्कृति अपनी उत्पत्ति, अर्थ एव प्रयोग में सामाजिक होती है।

वास्तव मे सामाजिक परिवर्तन से सास्कृतिक परिवर्तन में भिन्नता है। समाज में होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन हैं जबकि सस्कृति मे होने वाले परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन हैं क्योंकि समाज और सस्कृति भी दो भिन्न-भिन्न सम्प्रत्यय हैं। समाज का निर्माण सामाजिक सम्बन्धो से होता है जबकि सस्कृति का निर्माण मानव निर्मित भौतिक वस्तुओ और अभौतिक तथ्यो से होता है। सस्कृति के दो पक्ष हैं—(1) भौतिक पक्ष जिसमे समस्त वे वस्तुएँ सम्मिलित हैं जो मूर्त हैं, जिनका आकार-प्रकार होता है, जिन्हें देखा व छुआ जा सकता है, जैसे—मकान, रेडियो, रेल, मोटर, मशीने, बर्तन आदि—जो मनुष्य द्वारा निर्मित हैं। (2) संस्कृति का दूसरा अभौतिक पक्ष है जिसे देखा व छुआ नहीं जा सकता केवल अनुभव किया जा सकता है। इसमे ज्ञान, विज्ञान, प्रथा, जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, लोकाचार आदि सम्मिलित हैं।

सामाजिक परिवर्तन सस्कृति के अभौतिक पक्ष से सम्बन्धित हैं जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन सस्कृति के भौतिक तथा अभौतिक दोनो पक्षो से सम्बन्धित हैं—इस अर्थ में सामाजिक परिवर्तन सास्कृतिक परिवर्तन का एक अग है। सास्कृतिक-परिवर्तन सामाजिक-परिवर्तन की तुलना मे अधिक व्यापक है। डेविस ने इन दोनो में पाए जाने वाले अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया

है—सामाजिक परिवर्तन से हमारा अभिप्राय केवल उन परिवर्तनों से है जो सामाजिक संगठन में होते हैं—अर्थात् समाज की संरचना एवं समाज के कार्यों मे होने वाले परिवर्तन। सांस्कृतिक परिवर्तन मे वे सब परिवर्तन सम्मिलित हैं जो संस्कृति की किसी भी शाखा मे होते हैं, जैसे—कला, विज्ञान, दर्शन, फैशन, कानून, साहित्य आदि में तथा सामाजिक संगठन के रूपों और नियमों में होने वाले परिवर्तन।

अर्थात् सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन की तुलना में अधिक विस्तृत व व्यापक है। **पारसन्स** ने इन दोनों में पाये जाने वाले विभेद को इस प्रकार स्पष्ट किया है, "सांस्कृतिक परिवर्तन का सम्बन्ध विभिन्न मूल्यो, विचारों और प्रतीकात्मक अर्थपूर्ण व्यवस्थाओ मे परिवर्तन से है जबकि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध व्यक्ति और समाज के बीच होने वाली अत:क्रियाओं में परिवर्तन से है।"

मैकाइवर एवं पेज ने भी सामाजिक परिवर्तन को सास्कृतिक परिवर्तन से भिन्न माना है। उन्होंने सामाजिक सम्बन्धों मे होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन माना है। सास्कृतिक परिवर्तन विशेष रूप से भौतिक संस्कृति में होने वाले परिवर्तन हैं। किन्तु दोनो ही एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं।

सस्कृति मे परिवर्तन होने पर समाज मे भी परिवर्तन होते हैं उसी भाँति सामाजिक परिवर्तन होने पर संस्कृति मे भी परिवर्तन आता है। दोनों के अन्तर को अग्रलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) सामाजिक परिवर्तन सामाजिक सम्बन्धो मे होने वाले परिवर्तनों से सम्बन्धित हैं, जबकि सास्कृतिक परिवर्तन संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक पक्षों में होने वाले परिवर्तनों से सम्बन्धित हैं।

(2) *सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन की तुलना मे अधिक विस्तृत हैं।*

(3) सामाजिक परिवर्तन के कारण सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन आता है जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन से संस्कृति के विभिन्न पक्षों मे परिवर्तन आता है।

(4) सामाजिक परिवर्तन की गति सांस्कृतिक परिवर्तन (भौतिक पक्ष में) की तुलना में तीव्र होती है।

(5) सामाजिक परिवर्तन प्राकृतिक कारणो तथा जानबूझकर किए गए प्रयत्नो के कारण उत्पन्न होते हैं, सांस्कृतिक परिवर्तन नियोजित एवं प्रयत्नों के कारण उत्पन्न होते हैं।

अन्त में कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन से सम्बन्धित हैं और दोनों एक–दूसरे को प्रभावित करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ अथवा ढंग

(Processes or Modes of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन समाज में आने वाली विभिन्नता को विभिन्न कालों में व्यक्त करता है लेकिन परिवर्तन विभिन्न समाजों में किस दिशा में, किस नियम के अन्तर्गत, अथवा किस

सिद्धान्त के आधार पर हो रहा है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। मैकाइवर एवं पेज, हर्बर्ट स्पेन्सर, हॉबहाउस एवं सोरोकिन आदि समाजविदो ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं का विवेचन किया है। इन्होंने अनेक समाजशास्त्रीय अवधारणाओ का उल्लेख किया है जिनमें प्रक्रिया, आन्दोलन, वृद्धि, विकास, उद्विकास, अनुकूलन, क्रान्ति, प्रगति आदि प्रमुख हैं। इनमे से कुछ निम्नलिखित हैं—
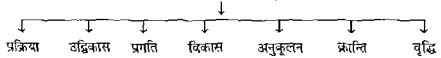
(1) प्रक्रिया (Process)—प्रक्रिया से तात्पर्य परिवर्तन की निरन्तरता से है। प्रक्रिया प्रत्यक्ष और परोक्ष, उत्थान और पतन किसी भी ओर हो सकती है। यह तो परिवर्तन का एक निश्चित क्रम होता है जिसके द्वारा एक अवस्था दूसरी में बदल जाती है। मैकाइवर ने प्रक्रिया को वर्तमान शक्तियो की क्रियाशीलता द्वारा एक निश्चित रूप मे निरन्तर परिवर्तन कहा है, उदाहरणार्थ—जब हम कहते हैं कि आज समाज आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में है तो हमारा आशय है कि प्राचीन मूल्य, परम्पराएँ आदि निरन्तर परिवर्तित हो रही हैं और प्राचीन मूल्य, परम्पराएँ आधुनिकीकरण मे विलीन हो रहे हैं।

(2) उद्विकास (Evolution)—उद्विकास का सम्प्रत्यय सर्वप्रथम डार्विन ने दिया था। उन्होंने कहा कि किसी वस्तु का सरलता से जटिलता की ओर जाना उद्विकास है। सरलता से जटिलता की ओर जाने की यह प्रक्रिया कुछ निश्चित चरणो मे होती है। उद्विकास के रूप मे सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या सर्वप्रथम हर्बर्ट स्पेन्सर ने की जिसमे उन्होंने डार्विन के इस सिद्धान्त को समाज पर लागू किया। उनके मत मे, "उद्विकास किसी तत्त्व का समन्वय व उससे सम्बद्ध वह गति है जिसके दौरान वह तत्त्व एक अनिश्चित असम्बद्ध भिन्नता मे बदलता है।" स्पेन्सर ने सामाजिक उद्विकास के चार स्तरो—जगली अवस्था, पशुचारण अवस्था, कृषि अवस्था और औद्योगिक अवस्था की चर्चा की। मैकाइवर एवं पेज के मत मे, उद्विकास परिवर्तन की एक दशा है जिसमे बदलते हुए पदार्थ की अनेक दशाएँ प्रकट होती हैं जिससे उस पदार्थ की वास्तविकता का पता चलता है। अर्थात् मैकाइवर के अनुसार, जिसका उद्विकास होता है ऐसी प्रत्येक वस्तु में पहले से ही उद्विकास की सम्भावनाएँ विद्यमान रहती हैं जो आगे जाकर अभिव्यक्त होती हैं।

उद्विकास उस स्थिति को कह सकते हैं जब परिवर्तन एक निश्चित दिशा मे निरन्तर हो तथा रचना एवं गुणो मे भी परिवर्तन हो। उद्विकास मे किसी वस्तु के आन्तरिक गुणो मे परिवर्तन होता है।

(3) प्रगति (Progress)—उद्विकास का अर्थ परिवर्तन से ही लिया जाता है लेकिन उद्विकास से जो परिवर्तन होते हैं, वे सदैव समाज का विकास ही करें यह आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत प्रगति भी परिवर्तनो से ही सम्बन्धित है। प्रगति मे वे परिवर्तन लिए जाते हैं जो समाज के विकास के लिए होते हैं। अर्थात् प्रगति ऐसे परिवर्तन से सम्बन्धित है जो समाज के उद्देश्यो

व लक्ष्यों के अनुरूप हों। प्रगति समाज की अच्छाई की ओर होने वाले परिवर्तन को कहा जाता है। यह प्राय: नियोजित होती है, जिसे कोई समाज अपने लिए अच्छा समझते हैं वही उसके लिए प्रगति होती है। प्राय: प्रगति का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यो व आदर्शों से होता है। समाज जिन आदर्शों को अपने लिए उचित मानता है उसी दिशा में होने वाले परिवर्तन प्रगति कहलाते हैं। यह प्राय: नैतिकता से सम्बद्ध होती है। यह हो सकता है कि एक समाज किन्हीं मूल्यों व आदर्शों को अच्छा मानता है वह उसके लिए प्रगति हो सकती है जबकि वही मूल्य, आदर्श दूसरे समाज के लिए अवनति हो सकते हैं जिन्हें वह समाज अच्छा नहीं मानता। इस प्रकार प्रगति सापेक्षिक होती है। प्रगति का सम्प्रत्यय भिन्न-भिन्न होता है। प्रगति का माप सम्भव है। प्रगति को सभी समाजों पर सार्वभौमिक रूप से लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रगति मूल्य, आदर्श व नैतिकता से सम्बन्धित है जो प्रत्येक समाज के लिए भिन्न-भिन्न हो सकती है। ऑगबर्न एवं निमकाफ ने प्रगति के विषय मे लिखा है, ''प्रगति का अर्थ अच्छाई के लिए परिवर्तन से है और इसीलिए प्रगति में मूल्य-निर्णय होता है।'' अत: प्रगति इच्छित परिवर्तन है।

(4) विकास (Development)—विकास से तात्पर्य किसी वस्तु में होने वाले परिवर्तन से है जो श्रेष्ठता की ओर होता है। बालक भी जब शिशु से युवावस्था को प्राप्त करता है तो उसमें शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, सामाजिक, नैतिक सभी प्रकार का परिवर्तन होता है तभी वह समायोजित व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। इसी प्रकार कोई समाज भी जब आर्थिक, सामाजिक, नैतिक सभी रूपों में परिवर्तित होता है तभी उसको विकसित समाज कहा जायेगा। इस प्रकार विकास इस प्रकार के परिवर्तन का सूचक है जो श्रेष्ठता की ओर अग्रसर होता है—भारत की तुलना में पश्चिमी समाज इसीलिए विकसित माने जाते हैं क्योकि वे आर्थिक, तकनीकी, शिक्षा आदि के सभी क्षेत्रों में परिवर्तित हो गए हैं। विकास समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है—विकास के लिए जानबूझकर प्रयास किए जाते हैं। विकास के लिए हॉबहाउस ने चार मापदण्ड बताए हैं—(1) मात्रा में वृद्धि, (2) कार्यक्षमता, (3) आपसी सहयोग, और (4) स्वतन्त्रता।

(5) अनुकूलन (Adaptation)—अनुकूलन भी परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अथवा परिस्थिति से अपना समायोजन करने का प्रयत्न करता है। अनुकूलन की प्रक्रिया में दो बाते विशेष हैं—(1) व्यक्ति अपने को परिस्थिति के अनुसार बना ले अथवा (2) परिस्थितियों को अपनी आवश्यकता के अनुरूप बना ले। समाज के स्तर पर भी अनुकूलन होता है—अनुकूलन के लिए समायोजन (Adjustment), अभियोजन (Accommodation), सात्मीकरण (Assimilation) तथा एकीकरण (Integration) आदि शब्दो का प्रयोग किया जाता है जो बताते हैं कि अनुकूलन किस सीमा तक होता है। इस प्रकार अनुकूलन भी परिवर्तन का ही प्रकार है।

(6) क्रान्ति (Revolution)—जब समाज में शोषण, अत्याचार, तनाव व असन्तोष अत्यधिक बढ़ जाता है तो राजनैतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और सामाजिक-नैतिक मूल्यो में भी गिरावट आ जाती है। समाज में तीव्रता से परिवर्तन आ जाता है ऐसी स्थिति क्रान्ति कहलाती है—क्रान्ति प्राय: आर्थिक व राजनैतिक क्षेत्रों में तीव्रता से आती है।

हापर ने क्रान्ति की अवधारणा को इस प्रकार व्यक्त किया है, "सामाजिक क्रान्ति वह तीव्र परिवर्तन है जिसमे व्यक्तियो को एक-दूसरे से सम्बन्धित रखने वाली राजनैतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है—सरकार कार्यशील सत्ता के रूप मे नहीं रह पाती—इस स्थिति मे समाज की मौलिक एकता समाप्त हो जाती है एव सामाजिक व नैतिक मूल्य समाप्त होने लगते हैं। यदि क्रान्ति मे अधिक तीव्रता आती है तो सभी प्रमुख संस्थाएँ काफी परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार राज्य, धर्म, परिवार व शिक्षा अपने मूल रूप से काफी बदल जाते हैं।"

इस प्रकार क्रान्ति सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

(7) वृद्धि (Growth)—वृद्धि भी परिवर्तन का एक प्रकार है जो वस्तु मे परिमाणात्मक परिवर्तन को बताती है। प्राय: वृद्धि आकार मे होने वाले परिवर्तन को कहा जाता है—इसकी एक सीमा होती है, उस सीमा के बाद वृद्धि नहीं होती या रुक जाती है साथ ही किसी एक दिशा मे या क्षेत्र मे हुए परिवर्तन को बताती है। इस प्रकार वृद्धि परिवर्तन का एक प्रकार है जो मात्रात्मक होती है, उदाहरण के लिए—समाज में जन्मदर एवं मृत्युदर मे हुई वृद्धि को मापा जा सकता है।

सामाजिक परिवर्तन के कारक
(Factors of Social Change)

अनेक समाज-विचारको ने इस तथ्य का अध्ययन किया कि सामाजिक परिवर्तन क्यो होता है? वे कौन-से कारक है जो सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं? लेकिन
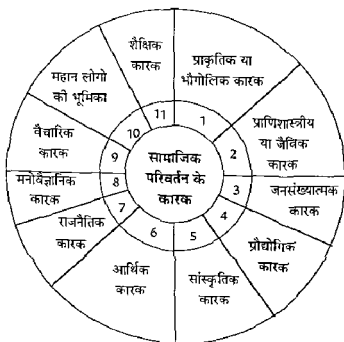
पूर्णतया व स्पष्ट कारक अभी भी विवादास्पद व भ्रामक है। कोई एक कारक को जिम्मेदार बताता है तो दूसरा अन्य कारक को—सम्भवतः अनेक कारक मिलकर सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते है। संक्षेप में सामाजिक परिवर्तन के अग्रलिखित कारक हो सकते हैं—

(1) प्राकृतिक या भौगोलिक कारक
(Natural or Geographical Factors)

प्राकृतिक या भौगोलिक कारक सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते हैं, जैसे—भूकम्प, बाढ, अतिवृष्टि और सूखा आदि गाँवों, कस्बो, नगरों और महानगरों को अपनी चपेट मे ले लेते हैं जिससे परिवार उजड़ जाते हैं या इधर-उधर अपनी सुरक्षा के लिए चले जाते हैं जिसके कारण उनके वास्तविक सम्बन्ध भी अदृश्य हो जाते हें। कालान्तर मे वे नए सम्बन्धो का निर्माण कर लेते हैं जिससे परिवार, विवाह, नातेदारी आदि मे परिवर्तन आ जाता है। वे किसी नवीन सभ्यता और संस्कृति को मानने लगते हें। इस प्रकार प्राकृतिक आपदाएँ सामाजिक मूल्यो को विनष्ट कर देती हैं।

कभी-कभी भौगोलिक परिस्थितियाँ धर्म को भी जन्म देती हैं, उदाहरण के लिए—जब भूकम्प, बाढ़, अकाल अथवा महामारी—प्लेग जैसी बीमारी आदि का प्रकोप हो जाता है और मानव जब बाहर नहीं जा पाता तब वह केवल ईश्वरीय शक्ति में विश्वास करने लगता है। इस तरह जलवायु सामाजिक परिवर्तन का कारण बन जाती है।

जहाँ प्रकृति का प्रकोप किसी रूप मे नहीं होता, प्रकृति शान्त रहती है वहाँ पर व्यक्ति प्रगति करते हैं। विज्ञान का विकास होता है, नवीन निर्माण होते हैं। लोगो मे उत्साह रहता है, जैसे कि कृषक लोग अच्छी खेती होने पर सामाजिक उत्सव मनाते हैं जिससे उनमें सामाजिक एकता बढ़ती है। समाज सशक्त बनता है। प्रतिस्पर्द्धा आदि कम होती है। इस प्रकार प्राकतिक कारक प्रकार्यात्मक और अप्रकार्यात्मक दोनों प्रकार के परिवर्तन लाते हैं।

भूगोलवेत्ता बकल एवं हटिंगटन का मानना है कि जलवायु ही सभ्यता और संस्कृति में परिवर्तन का कारण होती है। जूलियन हक्सले का कहना है कि जलवायु और भूमि सामाजिक-परिवर्तन से सम्बन्धित है क्योकि अनेक बार जब प्राकृतिक आपदाओ का प्रकोप मानव पर होता है तो वह नए स्थान पर चला जाता है। धीरे-धीरे उस स्थान के रीतिरिवाज, प्रथाएँ, मूल्य, आदर्शों को अपना लेता है जिससे लोगो को सामाजिक संरचना ही बदल जाती है। अत: यह कहा जा सकता है कि प्राकृतिक एवं भौगोलिक कारक सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक संरचना तथा उसकी संस्कृति और सभ्यता को भी प्रभावित करते हैं।

(2) प्राणिशास्त्रीय या जैविक कारक
(Biological Factors)

प्राणिशास्त्रीय कारक वे कारक हैं जो जनसंख्या के प्रकार का निर्धारण करते हैं। व्यक्तियों का स्वास्थ्य, शारीरिक एवं मानसिक क्षमता, विवाह की आयु, प्रजनन-दर, कद, शारीरिक गठन आदि सभी जैविकीय कारकों से सम्बन्धित है। किसी समाज के लोगों की जन्म

एवं मृत्यु-दर, जनसंख्या की न्यूनता एवं अधिकता, औसत आयु आदि भी प्राणिशास्त्रीय कारकों से प्रभावित होती है; उदाहरणार्थ—यदि किसी समाज में पुरुषों की औसत आयु कम है तो वहाँ विधवा-विवाह के रूप मे सामाजिक परिवर्तन आ सकता है, इसके परिणामस्वरूप स्त्री की प्रस्थिति एवं बच्चों की शिक्षा आदि भी प्रभावित होगी।

इसी तरह जनसख्या की न्यूनता अथवा अधिकता समाज की संस्थाओ आदि को प्रभावित करेगी। यदि किसी समाज में स्त्रियों की संख्या अधिक है तो बहु-पत्नी विवाह की प्रथा हो सकती है। किसी समाज में यदि दुर्बल व कमजोर व्यक्ति होंगे तो वहाँ नवीन आविष्कार नहीं हो सकेगे। डार्विन ने सामाजिक परिवर्तन के लिए जैविक कारकों को महत्त्वपूर्ण माना है, क्योंकि प्राय: लोगो का मानना है कि अन्तर्जातीय विवाह से प्रतिभाशाली सन्तान उत्पन्न होती है जो नवीन आविष्कार व परिवर्तन ला सकती है। परैटो भी यही मानते हैं कि प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से श्रेष्ठ लोगो वाला समाज उन्नति करता है। विपरीत स्थिति होने पर समाज अवनति को प्राप्त होता है। इस प्रकार प्राणिशास्त्रीय कारक व्यक्तियों के स्वास्थ्य, जनसख्या के प्रकार एव औसत आयु आदि का निर्धारण करते हैं।

(3) जनसंख्यात्मक कारक
(Demography Factors)

सामाजिक परिवर्तन के क्षेत्र मे जनसंख्यात्मक कारक सर्वाधिक रूप से उत्तरदायी है। किसी समाज की जनसख्या उसकी सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संगठन को किन्हीं रूपो मे अवश्य प्रभावित करती है। उदाहरण के लिए—किसी देश की जनसंख्या कम है तो वहाँ का जीवन स्तर अपेक्षाकृत उच्च होगा और जैसे-जैसे जनसख्या बढ़ती जाएगी वैसे-वैसे निर्धनता में भी वृद्धि होती जाएगी। आगे के पृष्ठो मे जनसख्या की विशेषताओं के समाज पर पड़ने वाले प्रभावो की व्याख्या की जाएगी जिससे विषय का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो सकेगा।
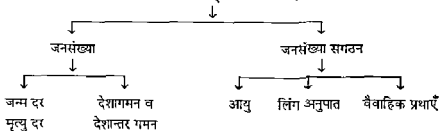
1 जनसख्या एवं सामाजिक परिवर्तन (Demography and social change)—किसी देश की जनसंख्या का आकार उसकी सामाजिक संरचना को स्पष्टत: प्रभावित करता है। जहाँ प्राकृतिक ससाधनो की तुलना मे जनसंख्या का आधिक्य होता है, वहाँ निर्धनता, बेकारी और जीवन स्तर का निम्न होना आदि अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होकर अनेक सामाजिक परिवर्तनो को जन्म देती हैं। इसके विपरीत कम जनसंख्या वाले देशो का जीवन स्तर उच्च होता

है वहाँ निर्धनता और बेकारी जैसी समस्याएँ भी नहीं उत्पन्न होंगी। आज भारत और चीन जैसे घनी आबादी वाले देशों की तुलना में अमेरिका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड जैसे कम आबादी वाले क्षेत्र अपेक्षाकृत उच्च जीवनस्तर बिता रहे हैं। माल्थस ने इस सम्बन्ध में कहा है, "जब किसी देश में अति जनसंख्या की स्थिति होती है और खाद्यान्न की पूर्ति बहुत कम हो जाती है, तो समस्या का समाधान स्वयं प्रकृति ही करती है।" कुछ प्राकृतिक भयंकर बीमारियाँ जैसे-हैजा, चेचक, प्लेग आदि और दूसरे अवरोध; जैसे—अकाल, बाढ़, भुखमरी आदि क्रियाशील होते हैं। भारत में सन् 1896 से लेकर 1901 तक अनुमानत: 13 करोड़ व्यक्ति प्लेग की बीमारी से मृत्यु को प्राप्त हुए। इसी तरह 1901 से लेकर 1944 तक करीब 30 करोड़ व्यक्ति भूख के कारण काल-कवलित हुए। इस सबका प्रभाव रहन-सहन का निम्न स्तर और पारिवारिक विघटन के रूप में हुआ। जनसंख्या के आकार में होने वाले परिवर्तन के प्रभाव को दो रूपों में देखा जा सकता है।

1. जन्मदर और मृत्युदर (Birth rate and Deathrate)—जन्मदर और मृत्युदर अनेक रूपों में समाज को प्रभावित करती है। जब जन्मदर अधिक और मृत्युदर कम होती है तो जनसंख्या में वृद्धि होती है और जब मृत्युदर अधिक और जन्मदर कम होती है तो जनसंख्या में कमी होती है। दोनों ही स्थितियाँ सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं—(1) जनसंख्या में वृद्धि होगी, इससे देश का आर्थिक और प्रौद्योगिक विकास होगा, इससे वहाँ का जीवन स्तर भी उच्च होगा। (2) देश की जनसंख्या कम हो जाएगी, वहाँ कार्यशील व्यक्तियों की कमी हो जाएगी और उस देश में उपलब्ध प्राकृति संसाधनों का पूर्णतया उपयोग न हो सकेगा, जिसका परिणाम देश की आर्थिक स्थिति का ह्रास हो जाएगा।

कभी-कभी इससे विपरीत प्रभाव भी पड़ता है, जैसे—जिस अनुपात में जनसंख्या बढ़ती है उस अनुपात में जीविका के साधन नहीं बढ़ पाते हैं—इससे गरीबी, बेकारी, बीमारी, कार्यक्षमता की कमी और जीवन स्तर का घटना आदि समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। लोग जीविका प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते हैं इससे अनैतिकता और अनाचार आदि बढ़ते हैं, जबकि इसके विपरीत जन्मदर में कमी होने के परिणामस्वरूप—प्राकृतिक संसाधनों का कम उपयोग, न्यून उत्पादन और स्त्री-पुरुष-अनुपात में भिन्नता जैसी स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। समाज में अनुभवी व्यक्तियों की कमी हो जाती है। ये सभी स्थितियाँ सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करती हैं।

2. देशागमन और देशान्तरगमन (Immigration and Emigration)—देशागमन का आशय—दूसरे देश के लोगों का अपने समाज में आना है और देशान्तरगमन का तात्पर्य अपने देश से व्यक्तियों का दूसरे समाज में चले जाने से है। दोनों ही स्थितियाँ समाज के परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। (1) देशागमन (अन्य देश के लोगों का किसी देश में आना) के प्रभाव का वर्णन बीरस्टीड और सोरोकिन ने विस्तार से किया है—उनके अनुसार, देशागमन के परिणामस्वरूप समाज में ऐसे व्यक्तियों का आधिक्य हो जाता है जिनकी संस्कृति, प्रजातीय विशेषताएँ, सामाजिक मूल्य और जीवन स्तर वहाँ के मूल निवासियों से भिन्न होता है। कालान्तर में दोनों की संस्कृतियों का मिश्रण होने लगता है और एक मिली-जुली संस्कृति विकसित हो जाती है। दोनों के जैविकीय गुणों का मिश्रण हो जाता है, इससे उनकी शारीरिक और मानसिक विशेषताएँ बदल जाती हैं।

परिणामस्वरूप मनुष्यो की चिन्तनशैली, व्यवहार-प्रतिमान, नैतिकता आदि भी परिवर्तित हो जाती हैं। (2) देशान्तरगमन (एक समाज के व्यक्तियो का अन्य देश में जाना) की स्थिति मे जनसंख्यात्मक न्यूनता हो जाती है। इससे उत्पादन के साधनो की अधिकता हो जाती है और उनका भरपूर प्रयोग नहीं होता, स्त्री-पुरुषो के अनुपात में वृद्धि हो जाती है और परिवारों मे पुरुषों की कमी होने से पारिवारिक विघटन पैदा हो जाता है। जनसंख्या की इस गतिशीलता को *डासन और गेटिस* इस प्रकार स्पष्ट करते हैं, "एक विशेष आर्थिक स्तर वाले स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की इच्छा के बिना सामाजिक परिवर्तन की कल्पना तक नहीं की जा सकती।" इसका अर्थ है कि *सामाजिक-गतिशीलता सामाजिक-परिवर्तन से घनिष्ठतया सम्बन्धित है।*

इसका एक प्रभाव यह भी पड़ता है कि *देशागमन की दर देशान्तर गमन की दर से अधिक होने की स्थिति मे जनसंख्या मे वृद्धि होती है और इसके विपरीत देशान्तर- गमन की दर देशागमन की दर से अधिक होने की स्थिति में जनसंख्या मे कमी होती है।* वैसे दोनों ही स्थितियाँ सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। स्मिथ का कहना है, "स्थानान्तरण प्रत्यक्ष रूप से न केवल जनसख्या की शारीरिक बनावट और स्वास्थ्य को प्रभावित करता है, बल्कि समाज के सामाजिक ढाँचो और प्रक्रियाओ को भी यह प्रभावित करता है साथ ही व्यक्तियो के व्यक्तित्व पर भी अत्यन्त प्रभाव डालता है। भारत के विभाजन के अनन्तर अनेक शरणार्थी पाकिस्तान से आकर भारत मे बस गए, जिससे भारतीयों की सांस्कृतिक विशेषताओ में बहुत अधिक परिवर्तन आया है।

2. जनसंख्या संघटन का प्रभाव (Effects of the composition of population)— आयु, लिंग व विवाह से सम्बन्धित प्रथाएँ आदि जनसंख्या को प्रभावित करते हैं और इन सबका प्रभाव सामाजिक परिवर्तन पर भी पडता है। निम्नलिखित विवेचना मे इन पर प्रकाश डाला जाएगा।

1. आयु (Age)—जिस समाज मे अधिक आयु के व्यक्तियों का बाहुल्य होता है, वह समाज परम्परागत मान्यताओ और विचारो का पोषक होता है, प्राय: अधिक उम्र के लोग कठोर अनुशासन वाले और परम्परागत विचारो के रक्षक होते हैं। नवीनता को उसमे कोई स्थान नहीं होता, उत्साहवर्धन न मिलने से उस समाज मे विकास की गति अवरुद्ध हो जाती है। दूसरी ओर जिस समाज में युवको का आधिक्य होता है वहाँ तर्क की प्रधानता, नवीनता के प्रति झुकाव और सैन्य-बल को महत्त्व दिया जाएगा। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करने वाले कारकों मे आयु का अपना स्थान है। *लेण्डिस* का मानना है, "आयु-संरचना जनसंख्या के सामाजिक कार्यो को अत्यधिक मात्रा मे निश्चित करती है।"

2. लिंग अनुपात (Sex Ratio)—लिंग अर्थात् स्त्री-पुरुषो का अनुपात सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करता है। इन दोनो के अनुपात मे परिवर्तन होने से सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन आ जाता है क्योकि दोनों के सम्बन्धो पर ही समाज का ढाँचा आश्रित रहता है। भारत में पुरुषों की तुलना मे स्त्रियो की सख्या कम है इस कारण यहाँ पुरुष प्रधान समाज हो गया है, इसके विपरीत अमेरिका, फ्रास आदि देशो में पुरुषो की तुलना मे स्त्री-अनुपात अधिक है। फलतः स्त्रियों का प्रतिनिधित्व सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि सभी सेवाओ में पुरुषो के समान ही महत्त्वपूर्ण

है। उत्तर प्रदेश की एक जनजाति 'थारू' मे स्त्रियों का आधिक्य है वहाँ मातृवंशीय परिवार भी मिलते हैं। इस कारण पुरुषों की स्थिति एक सेवक के समान होती है। अनेक प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि स्त्री-पुरुषों के अनुपात में परिवर्तन आने से उस समाज के ढाँचे मे परिवर्तन आ जाता है।

2. वैवाहिक प्रथाएँ (Marital Customs)—वैवाहिक प्रथाएँ भी सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करती हैं। यदि समाज में एक-विवाह का प्रचलन दृढ़ता के साथ हो जाए तो स्त्रियों की स्थिति समाज में सुदृढ़ होगी, वे अपने अधिकारों के प्रति सचेत होगी, शोषण और संघर्ष का *विरोध करेंगी, उनकी सन्तानें भी सुशिक्षित, व्यावहारिक, विनम्र और साहसी होंगी।* किन्तु यदि समाज में बहुपत्नी विवाह अथवा बाल-विवाह का प्रचलन हो जाए तो ठीक इसके विपरीत असर होगा। प्राय: यह भी देखा गया है कि यदि अशिक्षित समाज में देरी से विवाह (विलम्ब विवाह) प्रचलन में आ जाते हैं तो इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। अर्थात् ऐसे समाजों में अनैतिकता और व्यभिचार को बढ़ावा मिलता है। अत: यह कहा जा सकता है कि विवाह-संस्था में आने वाले परिवर्तन सामाजिक-परिवर्तन को प्रभावित करते हैं।

सारांशत: यह कहा जा सकता है कि जनसंख्या सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण कारक है। मैकाइवर एवं पेज ने भी 19वीं सदी की जनसंख्या की वृद्धि का समाज पर पड़ने वाले प्रभाव का इस प्रकार वर्णन किया है, "उन्नीसवीं शताब्दी में जनसंख्या की अभूतपूर्व वृद्धि के साथ परिवार-नियोजन का विकास हुआ। इस पद्धति का पारिवारिक सम्बन्धों तथा विवाह के प्रति दृष्टिकोण पर भी प्रभाव पड़ा। एकाकी परिवार, विवाह व तलाक की सुविधा, पति-पत्नी के सम्बन्ध, परिवार की आर्थिक आत्मनिर्भरता आदि में परिवर्तन हो रहे हैं।" वास्तव में जनसंख्यात्मक विशेषताएँ सदैव से ही सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित रही है।

(4) प्रौद्योगिकीय कारक
(Technological Factors)

प्रौद्योगिकी को आधुनिक युग का महत्त्वपूर्ण कारक कहा जा सकता है जो सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। आज का जीवन प्रौद्योगिकी के अभाव में अस्तित्व-विहीन हो जाएगा, क्योंकि इसने हमारे जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित किया है। लेकिन सर्वप्रथम प्रौद्योगिकी का अर्थ जानना आवश्यक है।

प्रौद्योगिकी का अर्थ (Meaning of Technology)—प्रौद्योगिकी एक व्यवस्थित ज्ञान है जिसके द्वारा यन्त्रों और उपकरणों का प्रयोग सम्भव हो पाता है। आज जितने भी यन्त्र, मशीनें, उपकरण और औजार आदि जो व्यक्ति की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, वे सभी साधन प्रौद्योगिकी के अन्तर्गत आते हैं।

विसलर के मत में—"प्रौद्योगिकी एक सामान्य शब्द है जिसके अन्तर्गत उपकरणो के प्रयोग द्वारा वस्तुओं को बनाने की सम्पूर्ण यांत्रिक प्रक्रियाएँ आ जाती हैं।"

ऑगबर्न का कहना है कि 'प्रौद्योगिकी' शब्द का प्रयोग कुछ लोग इंजिनियरिंग अथवा विद्युत शक्ति की शिक्षा से लगाते हैं, कुछ के मत मे प्रौद्योगिकी वह मशीन है जिसने कि हस्तशिल्प

कला को नष्ट कर दिया है, लेकिन ये विचार सही नहीं हैं—वास्तव में प्रौद्योगिकी का अर्थ किसी भी प्रविधि से है। इसका तात्पर्य यही है कि हम अपने भौतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए अथवा भौतिक पदार्थों को बनाने के लिए जिस प्रविधि का प्रयोग करते हैं वह प्रौद्योगिकी है।

कार्ल मार्क्स के अनुसार, "प्रौद्योगिकी प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार करने के ढंग व उत्पादन की प्रक्रिया को व्यक्त करती है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने जीवन को पालते हैं, सामाजिक सम्बन्धो की रचना करते हैं और उन सम्बन्धो से उत्पन्न होने वाली मानसिक धारणाओं की व्याख्या करते हैं।"

प्रौद्योगिकी के समाज पर प्रभाव
(Effects of Technology on Society)

प्रौद्योगिकी के समाज पर पड़ने वाले प्रभावो को अनेक रूपो मे देखा जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि इसने व्यक्ति के सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है जिसका प्रभाव समाज पर पड़ता है और उसके फलस्वरूप सामाजिक-परिवर्तन-होते हैं। इन प्रभावो को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है

(1) सामाजिक जीवन पर प्रभाव (Effect on Social Life)—प्रौद्योगिकी ने व्यक्ति के सामाजिक जीवन को अनेक रूपो में प्रभावित किया है। प्रौद्योगिकी के पूर्व समाज मे व्यक्तियो की आवश्यकताएँ सीमित थीं। अत: सामाजिक सम्बन्धो का क्षेत्र भी सीमित था, परम्परागत मूल्यों का संरक्षण किया जाता था किन्तु प्रौद्योगिकी के प्रभाव के कारण सामाजिक जीवन अनेक-विध प्रभावित हुआ है जिसे निम्नलिखित आधारो पर देखा जा सकता है—

व्यक्तिवादिता—आज समाज में व्यक्ति की पहिचान व उसकी प्रतिष्ठा उसके पास होने वाले धन और उसके व्यक्तिगत गुणो के आधार पर की जाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास में लगा हुआ है इसका परिणाम यह हो रहा है कि व्यक्तिवादी आदर्श उभर रहे हैं।

सामुदायिक जीवन का ह्रास—प्रौद्योगिकी ने बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों का विकास किया है जिससे महानगरीकरण की प्रवृत्ति विकसित हुई है। महानगरों में कार्य की अत्यधिकता और जनसंख्या के बढ़ते प्रभाव ने व्यक्ति को सामुदायिक जीवन से अलग कर दिया है। धीरे-धीरे सामुदायिकता की भावना, जो कभी भारत की विशेषता रही थी, अब तिरोहित होती जा रही है।

आवास का अभाव—प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप बड़ेउद्योग-धन्धों की आवश्यकता होती है जिनमें कार्य करने के लिए अनेक व्यक्तियो की आवश्यकता होती है। इससे शहरो की जनसख्या में वृद्धि हो रही है किन्तु उस अनुपात मे मकानों की कमी है। अत: गन्दी बस्तियो का विकास हो रहा है, अत्यधिक छोटे से स्थान में अनेक लोगों को रहना पड़ता है। सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

लिंग अनुपात में असमानता—औद्योगीकरण के प्रभाव से अनेक लोग नगरो मे जाकर काम करते हैं, जहाँ आवास की कमी होती है। पुरुष लोग अकेले ही वहाँ रहते हैं, उनका परिवार ग्रामो में ही रहते हैं, इससे लिंग अनुपात में असमानता आ रही है।

मनोरंजनों का व्यापारीकरण — आज मनोरंजन के साधन टेलीविजन, सिनेमा, क्लब आदि हो रहे हैं, जहाँ व्यक्ति धन खर्च करके इनका उपयोग करता है। आज मनोरंजन के साधन व्यापार का रूप ले चुके हैं जिससे सामाजिक जीवन भी प्रभावित हो रहा है।

संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा का विकास— अधिक धन कमाने की लालसा ने व्यक्ति मे संघर्ष और प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा दिया है। यही नहीं बल्कि मशीनीकरण के प्रभाव ने अपराधो में भी वृद्धि की है। महानगरों में, वेश्यावृत्ति, जुआ, शराब आदि के प्रलोभन में फँसकर व्यक्ति अनेक व्यभिचार और अपराध कर बैठता है जिसका सामाजिक जीवन पर दुष्प्रभाव पड़ता है।

मानसिक रोग— प्रौद्योगिकीय प्रगति से व्यक्तियो में चिन्ता, स्नायुरोग आदि की भी वृद्धि हुई है। अधिक धन कमाने को इच्छा, नौकरी की अनिश्चितता, व्यापार में हानि और दुर्घटना आदि के कारण अनेक चिन्ताएँ बनी रहती हैं, इससे मानसिक रोगो में वृद्धि हो रही है।

2. पारिवारिक जीवन पर प्रभाव (Effect on Family Life)—प्रौद्योगिकी के कारण व्यक्तियों का पारिवारिक जीवन भी प्रभावित हुआ है जो निम्नलिखित क्रम में वर्णित है—

संयुक्त परिवार का विघटन —आधुनिक प्रौद्योगिकी के परिणामस्वरूप बड़े-बडे उद्योग-धन्धो का विकास हुआ है। अनेक लोग इनमें कार्य करने गाँव से आते हैं और काम के कारण वहीं बस जाते हैं। चूँकि शहरों में मकानों की समस्या रहती है इस कारण पति-पत्नी ही वहाँ रह पाते हैं इसका परिणाम यह होता है कि संयुक्त परिवारों का विघटन हो जाता है। अब भारत में एकाकी परिवारों का विकास हो रहा है।

पारिवारिक कार्यों में कमी (Decrease in Family-Functions)—प्रौद्योगिकी के पूर्व परिवार के कार्यों की अधिकता थी। अब भोजन बनाने जैसे कार्य भी कैन्टीन के हाथों चले गए हैं; अनेक होटल, कैन्टीन खुल गए हैं जहाँ व्यक्ति नाश्ते से लेकर भोजन तक करता है। कपड़े धोने के लिए लॉन्ड्रियाँ, कपड़े सिलने के लिए दर्जी-गृह और छोटे-बड़े बच्चों के लिए भी नर्सरी एवं स्कूल आदि खुल गए हैं। इस प्रकार प्रौद्योगिकी के प्रभाव के परिणामस्वरूप अनेक कार्य, जो पहले परिवार के कार्यक्षेत्र में आते थे अब बाह्य संस्थाओं के हाथों चले गए हैं।

रोजगार में स्त्रियाँ—प्राचीन समय में स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर की चारदीवारी तक सीमित था किन्तु प्रौद्योगिकी के प्रचार-प्रसार के कारण विभिन्न प्रकार के कार्यालय, बड़े-बड़े मिल, दफ्तर आदि खुले हैं जहाँ पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियों को भी कार्य मिला है, आज स्त्रियाँ स्वावलम्बी हो गई हैं। छोटे बच्चों को माताएँ शिशु-गृह में भेजकर काम पर जाती हैं।

विवाह-संस्था पर प्रभाव—प्रौद्योगिकी के कारण महानगरो का विकास हुआ है, जहाँ अनेक स्त्री-पुरुष साथ-साथ कार्य करते हैं। लड़के-लड़कियाँ साथ-साथ अध्ययन करते हैं सिनेमा, होटल व क्लब आदि में साथ-साथ जाते हैं। इससे वे एक-दूसरे के समीप आ जाते हैं। प्रौद्योगिकी के प्रभाव के कारण समाज में प्रेम-विवाह, विलम्ब-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह और विवाह-विच्छेद का प्रचलन अत्यधिक हो रहा है। पारिवारिक जीवन पर इसका गम्भीर प्रभाव पड़ता है।

3. आर्थिक जीवन पर प्रभाव (Effect on Economic Life)—प्रौद्योगिकी के कारण हुए विकास ने व्यक्ति के आर्थिक जीवन को भी प्रभावित किया है जिसे निम्नलिखित क्रम मे देखा जा सकता है—

श्रम-विभाजन और विशेषीकरण—प्रौद्योगिकीकरण के परिणामस्वरूप कार्य बडे स्तर पर होता है। पूरे कार्य को अनेक भागो मे विभाजित कर दिया जाता है और उस कार्य को श्रम-विभाजन मे प्रत्येक व्यक्ति को एक विशेष प्रकार का कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है जिससे वह उस कार्य का विशेषज्ञ बन जाता है। श्रम-विभाजन की आवश्यकता बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिए होती है। विशेषीकरण के परिणामस्वरूप व्यक्तियो के आर्थिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ता है।

पूँजीवाद का विकास—प्रौद्योगिकीय विकास होने पर बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाए। बडे पैमाने पर उत्पादन करने के लिए अत्यधिक धन की आवश्यकता होती है। जिन व्यक्तियो के पास धन का आधिक्य होता है उनका इन आर्थिक उत्पादन के साधनो पर एकाधिकार हो जाता है। दूसरी ओर एक ऐसा वर्ग है जो निर्धन है और अपने श्रम के बदले मे अपनी जीविका-निर्वाह करता है। इस तरह समाज दो वर्गों मे विभाजित हो जाता है—पहला, पूँजीपति वर्ग और दूसरा, श्रमिक वर्ग, जिसके अनेक प्रभाव अलग-अलग रूप में समाज पर देखे जा सकते हैं। इस प्रकार प्रौद्योगिकी ने पूँजीवादी परम्परा का विकास कर लोगों के आर्थिक जीवन को भी प्रभावित किया है।

जीवन स्तर में परिवर्तन—प्रौद्योगिकीय विकास के परिणामस्वरूप लोगो का जीवन स्तर उन्नत होता है, उनकी आर्थिक दशा सुधरती है किन्तु ऐसा उन्हीं के साथ होता है जो पूँजीपति हैं। निर्धन वर्ग तो और भी निर्धन होते जाते हैं, क्योंकि आर्थिक जीवन का विकास समाजवादी तरीको से नहीं किया जाता।

आर्थिक संकट और बेकारी—प्रौद्योगिकीय विकास का एक प्रभाव यह होता है कि बडे पैमाने पर उत्पादन होने लगता है किन्तु कभी-कभी उत्पादन की त्रा आवश्यक माँग को तुलना मे अधिक हो जाती है। ऐसी स्थिति मे उत्पादन को कम करने की आवश्यकता होती है, जिसके परिणामस्वरूप मिल-कारखानो में काम करने वाले मजदूरों की सेवाएँ समाप्त कर दी जाती हैं इससे देश मे बेकारी की समस्या प्रबल हो जाती है। इस प्रकार प्रौद्योगिकी का प्रभाव लोगो के आर्थिक जीवन पर पड़ता है।

4. राज्य पर प्रभाव (Effect on State)—प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप समाज की सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था जटिल होती जाती है। ऐसी स्थिति में राज्य का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह इन शक्तिशाली स्वार्थी समूहो से श्रमिक वर्ग के हितो की रक्षा करे। उसे जनता के हितो की रक्षा करने का दायित्व सभालना पडता है जिससे समाज मे सुव्यवस्था बनी रहे। इस प्रकार प्रौद्योगिकी का व्यक्तियो के राजनैतिक जीव्न पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। *मैकाइवर और पेज* ने लिखा है कि "वाष्प-इजनो के आविष्कार से सामाजिक जीवन से लेकर राजनैतिक जीवन में इतने क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं कि उनकी कल्पना करना भी कठिन है।"

धार्मिक जीवन पर प्रभाव (Effects on Religious Life)— आज बड़े-बड़े कल कारखानों को विधिवत चलाने के लिए विशेष रूप से शिक्षित होना आवश्यक है। इस कारण ज्ञान-विज्ञान की उन्नति द्रुतगति से हो रही है। इसने व्यक्ति के मानसिक स्तर को भी तार्किक और उच्च स्तर का कर दिया है इससे व्यक्ति धार्मिक अंधविश्वासों, कुसंस्कारों और अज्ञानता से ऊपर उठा है। आज अनेक धर्मावलम्बी साथ-साथ रहते हैं, कार्य करते हैं और खान-पान भी करते हैं। धार्मिक बंधनों में शिथिलता आई है, लोग एक-दूसरे के धर्म को निकट से जानने लगे हैं, इससे व्यक्तियों की धार्मिकता संकीर्णता कम हुई है और उनमें सहनशीलता और दूसरे धर्म के प्रति उदारता बढ़ी है। इस तरह प्रौद्योगिकी का प्रभाव व्यक्ति के धार्मिक सस्कारो पर भी पड़ा है।

6. ग्रामीण समुदायों पर प्रभाव (Effects on Village Communities)— प्रौद्योगिकीय विकास का प्रभाव ग्रामीण समुदायों पर भी पर्याप्त पड़ा है। परिवहन और संचार के साधनो मे पर्याप्त उन्नति हुई है, इससे ग्राम-शहर से जुड़ गए हैं। नगरीय संस्कृति भी अब गाँवो मे पहुँच गई है। प्रौद्योगिकी ने कृषि-कार्यों को भी प्रभावित किया है। कृषि की विभिन्न प्रविधियाँ, विविध प्रकार के बीज, यांत्रिक उपकरण आदि के फलस्वरूप कृषि की उत्पादन क्षमता में आशातीत वृद्धि हुई है इसमे आर्थिक जीवन में पर्याप्त परिवर्तन आया है। गाँवो की आर्थिक दशा सुधरी है। अब कृषि का व्यापारीकरण होने लगा है।

7. संचार की प्रविधियाँ (Techniques of Communication)—रेडियो, टेलीविजन, टेलिफोन, तार व्यवस्था ने दूरी को कम करके जीवन को अधिक गतिशील बना दिया है—इसने सस्कृति को भी प्रभावित किया है। अब न केवल ग्रामीण–वेशभूषा, और रहन-सहन के स्तर अपितु मनोवृत्तियों और विचारो तक में कल्पनातीत परिवर्तन हुए हैं। इस सम्बन्ध मे बोटोमोर का कहना है, "भारतवर्ष मे अनेक प्रक्रियाएँ एक साथ घटित हो रही हैं। औद्योगिकीय विकास की योजनाबद्ध कार्यशीलता तथा इसके साथ ही साथ कृषि सम्बन्धी अर्थव्यवस्था की महत्त्वपूर्ण योजना भी लागू है। इसके अतिरिक्त अनेक अवांछित और अनपेक्षित परिवर्तन दिखाई देते हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से औद्योगीकरण और नवीनीकरण से उत्पन्न होते हैं। इन विराट् परिवर्तनो का समाजशास्त्रियों द्वारा विश्लेषण करना तो दूर रहा, अभी तक उनका वर्णन भी नहीं किया गया है।" इस प्रकार ग्रामीण समुदायों पर भी प्रौद्योगिकी का प्रभाव पडा है।

उपर्युक्त विविध क्षेत्रों में हुए प्रौद्योगिकीय विकास के प्रभाव के आधार पर निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि प्रौद्योगिकी के प्रभाव ने सम्पूर्ण भारत की सभी संस्थाओ मे अनेक परिवर्तन किए हैं। कार्ल मार्क्स का मानना है, "समस्त सामाजिक संरचना प्रौद्योगिकी पर टिकी हुई है और यदि कोई भी परिवर्नन प्रौद्योगिकी में होता है तो स्वाभाविक रूप से उसका प्रभाव सामाजिक संरचना पर पड़ता है तथा धार्मिक, नैतिक, सामाजिक और राजनैतिक आदि जीवन के विभिन्न पहलुओं में परिवर्तन हो जाता है।"

(5) सांस्कृतिक कारक
(Cultural Factors)

सामाजिक परिवर्तन का एक महत्त्वपूर्ण कारक सांस्कृतिक परिवर्नन है। किसी भी देश की सस्कृति उसके सामाजिक जीवन का अभिन्न अग होती है। बिना संस्कृति के किसी समाज

की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः संस्कृति के किसी भी अंग में परिवर्तन आने से उस समाज मे भी परिवर्तन आना स्वाभाविक होता है। संस्कृति सामाजिक-परिवर्तन को किस प्रकार प्रभावित करती है इसे जानने से पूर्व संस्कृति का अर्थ एव परिभाषा जानना आवश्यक है।

संस्कृति की परिभाषा (Definition of Culture)—'संस्कृति' शब्द संस्कार का रूपान्तरण है। संस्कृति को अलग-अलग विद्वानो ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। मानवशास्त्री संस्कृति को सीखा हुआ व्यवहार मानते हैं। कुछ विद्वानों के मत में संस्कृति नैतिक, आध्यात्मिक और बौद्धिक उन्नति का नाम है—कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

टायलर के मत मे, "संस्कृति जटिल समग्रता है जिसमें ज्ञान, विज्ञान, कला, आचार, कानून, प्रथा तथा ऐसी ही अन्य क्षमताओ और आदतो का समावेश रहता है जिन्हें मनुष्य समाज का सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।"

मैकाइवर एव पेज के अनुसार, "हमारे रहने तथा सोचने के तरीको मे, प्रतिदिन की अन्त:क्रियाओं मे, कला मे, धर्म मे, मनोरंजन तथा आमोद-प्रमोद मे संस्कृति हमारी प्रकृति की अभिव्यक्ति ही है।"

ऑगबर्न ने संस्कृति को दो भागो मे बाँटा है— (1) भौतिक संस्कृति और (2) अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति मूर्त है। इसके अन्तर्गत उपकरण, मशीन, मकान, सडक आदि सभी मानवकृत वस्तुएँ, समाविष्ट हैं। अभौतिक संस्कृति अमूर्त है। इसके अन्तर्गत धर्म, जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ और आचार-विचार आदि आते हैं। ऑगबर्न द्वारा किया गया यह वर्गीकरण केवल अध्ययन की सुविधा के लिए है।

सांस्कृतिक-विलम्बना (Cultural Lag)—ऑगबर्न ने संस्कृति और सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए सांस्कृतिक-विलम्बना का सिद्धान्त दिया है। आपके अनुसार संस्कृति का अर्थ मनुष्य द्वारा निर्मित सभी प्रकार के भौतिक और अभौतिक पदार्थों से है। विलम्बना अथवा 'लैग' का अर्थ पीछे रह जाना या लँगडाना है। इसके अनुसार जब संस्कृति के भौतिक पक्ष की तुलना मे अभौतिक पक्ष पीछे रह जाता है तो सम्पूर्ण संस्कृति मे एक असंतुलन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसी को सांस्कृतिक-विलम्बना अथवा सांस्कृतिक-पिछड़ कहा जाता है। यही स्थिति सामाजिक परिवर्तन का आधारभूत कारण है। ऑगबर्न ने स्वय इस स्थिति को स्पष्ट किया है—

ऑगबर्न के अनुसार, भौतिक संस्कृति सरलता से परिवर्तित होती है जबकि अभौतिक संस्कृति मे परिवर्तन देर से होता है। भौतिक संस्कृति मे परिवर्तन सरलता से इसलिए होता है क्योंकि प्रत्येक भौतिक तत्त्व की एक निश्चित उपयोगिता होती है और उसे ग्रहण करने के लिए व्यक्ति को अपनी आन्तरिक रुचि, मनोभाव, विश्वास आदि को त्यागना नहीं पडता है, परन्तु अभौतिक संस्कृति को ग्रहण करने के लिए व्यक्ति को अपनी रुचि, मनोभाव, विश्वास आदि को बदलना

पडता है। ऑगबर्न के इस सांस्कृतिक-पिछड़ के सिद्धान्त की अनेक विद्वानों द्वारा आलोचना की गई है, जो निम्नलिखित हैं—

सांस्कृतिक-विलम्बना के सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Cultural-lag Theory)—*मूलर* ने ऑगबर्न के इस सिद्धान्त को कल्पित बताया है। अन्य के मत में यह सिद्धान्त प्रौद्योगिक अग्रसरता और अप्रौद्योगिक-विलम्बना पर आधारित है। अर्थात् प्रौद्योगिक तत्त्व पहले अग्रसर हो जाते हैं और अप्रौद्योगिक-तत्त्व धीरे-धीरे उनका अनुसरण करते हैं और सन्तुलन स्थापित कर लेते हैं। इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए यह अति सरल भूमिका है।

मैकाइवर एव पेज के अनुसार—यह आवश्यक नही कि सदैव अभौतिक संस्कृति ही भौतिक संस्कृति के पीछे रहे। विद्वानो ने ऑगबर्न के भौतिक संस्कृति और अभौतिक सस्कृति के भेद की भी आलोचना की है। सास्कृतिक-विलम्बना के अनुसार—अग्रसर और विलम्ब करने *वाली वस्तुएँ एक ही प्रकार की होनी चाहिएँ और उनका मापदण्ड भी समान होना चाहिए। जहाँ* पर समान मापदण्ड सम्भव नहीं हो, वहाँ पर 'विलम्बना' शब्द का प्रयोग गलत है। इस तरह मैकाइवर और पेज ने विभिन्न व्यवस्थाओ मे उत्पन्न होने वाले असन्तुलन के लिए विभिन्न शब्दो का सुझाव दिया है।

(1) प्रौद्योगिक-विलम्बना (Technological Lag)—*मैकाइवर और पेज* के अनुसार इस शब्द का प्रयोग उस असतुलन के लिये किया जाना चाहिए जो प्रौद्योगिक प्रक्रिया के किसी परस्पर सम्बन्धी भाग से उत्पन्न हो और उसके कारण सम्पूर्ण उत्पादन प्रक्रिया मे बाधा पहुँचे, उदाहरण के लिए—ऑगबर्न द्वारा प्रस्तुत उदाहरण मे हम जंगलों के पदार्थों का उपयोग करते जाते हैं, परन्तु उतनी कुशलता से उनकी रक्षा नहीं कर पाते। यह प्रौद्योगिक- विलम्बना का उदाहरण है।

(2) प्रौद्योगिक प्रतिरोध (Technological Restraint)—प्रौद्योगिक प्रतिरोध का प्रयोग वहाँ किया जाता है जबकि पहले से ही स्थापित कुछ स्वार्थों के कारण व्यक्ति उत्पादन के नए उपकरणों, पद्धतियों, एजेन्सियो और कुशल साधनों का बहिष्कार करते हैं। मैकाइवर ने तीन प्रमुख प्रौद्योगिक प्रतिरोधो का उल्लेख किया है—

2.1 नौकरशाही स्वार्थों द्वारा निश्चित अवरोध (Restraint Determined by Bureaucratic Interests)—नौकरशाही और कुलीन वर्ग वर्तमान व्यवस्था में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते, क्योंकि इससे उनके अस्तित्व को भय रहता है।

2.2 आर्थिक स्वार्थ द्वारा निश्चित प्रतिरोध (Restraint Determined by Economic Interest)—अनेक बार आर्थिक स्वार्थ के कारण कुशल पद्धतियो का प्रतिरोध किया जाता है। श्रमिकों द्वारा श्रम बचाने वाली युक्तियों का विरोध करना—इसका उदाहरण हे।

2.3 सांस्कृतिक स्वार्थ द्वारा निश्चित प्रतिरोध (Restraint Determined by Cultural Interest)—कभी-कभी प्रौद्योगिक विकास का प्रतिरोध परम्पराओ, रूढ़ियो और सिद्धान्तों द्वारा किया जाता है।

(3) सांस्कृतिक संघर्ष (Cultural Conflict)—जब एक समाज मे कोई विदेशी सास्कृतिक समूह आकर बस जाता है तो उस विदेशी सस्कृति के साथ उस समाज की प्राचीन सस्कृति का एक सघर्ष होता है जिसे सास्कृतिक सघर्ष कहा जाता है। इसका उदाहरण पाश्चात्य संस्कृति और भारतीय संस्कृति के मध्य सघर्ष है।

(4) सांस्कृतिक विसंयुक्तता (Cultural Ambivalence)—सांस्कृतिक विसंयुक्तता मे दूसरी सस्कृति के लिए प्रेम और घृणा दोनो ही हो सकती है। जब कोई व्यक्ति किसी एक सस्कृति मे पला बडा होता है और बाद मे उसे किसी नवीन सस्कृति मे जाकर रहना होता है तो उसे उस नवीन सस्कृति से समायोजन करना पड़ता है। उसका व्यक्तिगत समायोजन तो हो जाता है, परन्तु पुरानी सस्कृति के मूल्यो के अनुसार बनने की इच्छा भी रहती है। इस तरह की विरोधी मनः सामाजिक प्रक्रिया को सास्कृतिक विसयुक्तता कहा जाता है।

प्रौद्योगिक परिवर्तन और सांस्कृतिक परिवर्तनों में सम्बन्ध
(Relationship between Technological Change and Cultural Change)

प्रौद्योगिक-परिवर्तन सांस्कृतिक-परिवर्तनो से घनिष्ठतया सम्बन्धित होते हैं। प्रत्येक नवीन प्रोद्योगिकी एक नवीन अवस्था को उत्पन्न करती है जिसका परिणाम सामाजिक परिवर्तन होता है। वेब्लेन ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—प्रौद्योगिकी उस कार्य को निश्चित करती है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपना जीविकोपार्जन करता है। उस प्रौद्योगिकीय परिस्थिति मे आये किसी भी प्रकार के परिवर्तन से व्यक्ति अपना समायोजन कर लेता हैं, इसके लिए वह अपनी आदतो को भी बदल लेता है। इन आदतों के आधार पर ही मनुष्य के विचार विकसित होते हैं और इन विचारों पर ही सामाजिक-ढाँचा और सामाजिक-परिवर्तन निर्भर करता है। अर्थात् मनुष्य जैसा कार्य करता है वैसे ही विचार और अनुभव भी करता है। वेब्लेन का मानना है कि प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के अनुसार व्यक्ति के जीवन और सांस्कृतिक ढाँचे मे भी परिवर्तन होता है।

प्रौद्योगिकीय परिवर्तनो के परिणामस्वरूप अनेक सास्कृतिक परिवर्तन होते हैं, उदाहरण के लिए—प्रौद्योगिकी के फलस्वरूप अनेक बड़े-बडे कल कारखाने और मिल आदि खुले जहाँ विभिन्न जातियो के लोग परस्पर कार्य करते हैं, इससे उनमे मेलजोल बढता है और इससे जातिगत बन्धनो मे शिथिलता आई है। परिवहन और सचार के साधनो के प्रादुर्भाव ने सामाजिक गतिशीलता को बढावा दिया है, इससे धार्मिक संकीर्णता कम हुई है, सामाजिक-मूल्य और आदर्श बदले हैं। लोग साथ-साथ खाते-पीते और रहते हैं—ये सब सामाजिक परिवर्तन प्रौद्योगिकीय-परिवर्तनों के परिणाम हैं।

जिस प्रकार प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों का परिणाम सामाजिक परिवर्तन होता है ठीक उसी प्रकार सांस्कृतिक दशाएँ प्रौद्योगिकीय परिवर्तन की दिशा एवं प्रगति को प्रभावित करती हैं। इस सम्बन्ध में *मैकाइवर एवं पेज* का कथन है—सभ्यता की सामग्रियों को हम अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उपयोग कर सकते हैं, उत्पादक कार्यों में लगाई गई शक्तियों से हम जो चाहे उत्पन्न कर सकते हैं, हमारे औद्योगिक कारखाने जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ तैयार कर सकते हैं, भोग-विलास की सामग्रियों का निर्माण कर सकते हैं और युद्ध-सामग्रियों का भी। परन्तु वास्तव मे इन कारखानों मे क्या तैयार होगा, इसका निर्धारण हमारी संस्कृति ही करती है। मैकाइवर एव पेज ने प्रौद्योगिकीय साधनों की उपमा जहाज से दी है। जहाज अनेक वन्दरगहो को जा सकता है, वह जितना अच्छा होगा, उतने ही अधिक बन्दरगाहों पर जा सकेगा, परन्तु जहाज स्वयं यह निश्चित नही कर सकता कि वह किन बन्दरगाहो पर जाएगा। वह वन्दरगाह जहाँ को हम यात्रा करते हैं, हमारी संस्कृति द्वारा चुना जाता है।

डासन और गेटिस ने संस्कृति के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "संस्कृति सामाजिक परिवर्तन की दिशा निश्चित करती है, उसे गति प्रदान करती है, और उन सीमाओं का निर्धारण करती है जिनके बाहर सामाजिक परिवर्तन नहीं जा सकते।

वास्तव मे समस्त सांस्कृतिक-परिवर्तन सामाजिक-परिवर्तन से घनिष्ठतया सम्बन्धित हैं। इस सम्बन्ध में *मैक्सवेबर* का कथन है—सामाजिक परिवर्तन के लिए संस्कृति सभ्यता की तुलना में कम महत्त्वपूर्ण कारक नहीं है। सामाजिक-व्यवस्थाएँ सांस्कृतिक-मूल्यों द्वारा रची जाती हैं और सामाजिक-मूल्यो मे उत्पन्न किसी प्रकार का परिवर्तन संस्थाओं मे भी परिवर्तन कर देता है।

सांस्कृतिक कारक और निम्न सामाजिक परिवर्तन
(Cultural Factors and Social Change)

सामाजिक जीवन पर संस्कृति के पड़ने वाले प्रभावो को निम्नलिखित रूप में देखा जा सकता है—

सांस्कृतिक कारकों द्वारा निम्न सामाजिक परिवर्तन होते हैं :

↓

↓	↓	↓	↓
सामाजिक ढाँचे एवं संगठन मे परिवर्तन	आर्थिक जीवन में परिवर्तन	प्रौद्योगिक क्षेत्र मे परिवर्तन	राजनैतिक संगठन में परिवर्तन
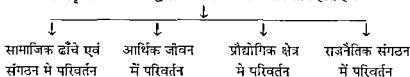
(1) सामाजिक ढाँचे एवं संगठन में परिवर्तन (Changes in Social Structure and Organisation)—किसी समाज के सामाजिक ढाँचे और सामाजिक सगठन का स्वरूप अलग-अलग सांस्कृतिक पर्यावरण मे अलग-अलग होता है, जैसे—कहीं संयुक्त परिवार की प्रथा है, तो किन्हीं समाजों में एकाकी परिवार का प्रचलन है। इसी प्रकार किसी समाज मे अति निकट के रक्त सम्बन्धियों को छोड़कर ही विवाह सम्बन्ध निश्चित किए जाते हैं तो कहीं-कहीं पर

विवाह-सम्बन्ध निश्चित करते समय 5 या 7 पीढ़ियो को छोडकर विवाह किया जाता है। हिन्दुओ और मुसलमानो मे विवाह सम्बन्धी अनेक भिन्नताएँ हैं जिनका कारण दोनों धर्मों के सांस्कृतिक पर्यावरण की भिन्नता है। यही नहीं, किसी समाज का सामाजिक ढाँचा उस समाज के सदस्यो की स्थिति और कार्यों का भी निर्धारक होता है, जैसे—किसी समाज मे सत्ता स्त्रियों के पास होती है और उन्ही के नाम पर वश चलता है तो दूसरी ओर किसी समाज मे स्त्रियों की स्थिति पुरुषों की तुलना मे हीनतर मानी जाती है—परम्परागत हिन्दू समाज मे महिलाओ की स्थिति निम्न स्तर की है जबकि दक्षिण की जनजातियो मे मातृसत्तात्मक परिवार होते हैं जिसमे स्त्रियो के पास सत्ता रहती है। अत: निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि संस्कृति मे परिवर्तन ही सामाजिक ढाँचे के स्वरूप का निर्धारक है।

(2) आर्थिक जीवन में परिवर्तन (Changes in Economic Life)— *मैक्स वेबर* ने धर्म को आर्थिक व्यवस्था से सम्बद्ध किया है क्योकि धर्म भी सस्कृति का ही एक अंग है और निष्कर्ष निकाला कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म की कुछ विशेषताएँ पूँजीवाद के विकास मे सहायक हुई हैं। प्रोटेस्टेण्ट धर्म को मानने वाले इग्लैण्ड, अमेरिका, हॉलैण्ड आदि देशो मे सबसे अधिक है। इन देशो में आर्थिक क्षेत्र मे पूँजीवाद का अत्यधिक विकास हुआ है, जबकि इटली, स्पेन आदि देशों मे कैथोलिक धर्म के अनुयायी अधिक हैं, अत: इन देशों में पूँजीवाद अधिक विकसित नहीं हो पाया है। भारत में आध्यात्मिक उन्नति को महत्त्व दिया जाता है इसलिए यहाँ आर्थिक उन्नति कम हो सकी है जबकि अमेरिका जैसे देशो मे आर्थिक प्रगति अत्यधिक हुई है क्योकि वहाँ भौतिक प्रगति को अधिक महत्त्व दिया जाता है। फलत: यह कहा जा सकता है कि सास्कृतिक परिवर्तन आर्थिक जीवन को प्रभावित करता है।

(3) प्रौद्योगिक क्षेत्र में परिवर्तन (Changes in Technological Field)— किसी समाज के जिस प्रकार के मूल्य, आदर्श, मान्यताएँ, प्रथाएँ व रूढियाँ आदि होंगे उसी के अनुरूप वहाँ प्रौद्योगिकीय विकास होगा, उदाहरण के लिए—भारत की सस्कृति त्याग, आदर्श और मानवता के सिद्धान्त की पोषक है अत: यहाँ पर अणु शक्ति का उपयोग मानव-कल्याणार्थ किया जाएगा, विध्वस के लिए नहीं। इसी प्रकार अन्य प्रकार के प्रौद्योगिकीय आविष्कार भी भारत के सास्कृतिक आदर्शों और मान्यताओं के अनुरूप ही होगे। यद्यपि प्रौद्योगिकी-परिवर्तन स्वयं ही सास्कृतिक-परिवर्तन की दिशा को निर्धारित नहीं करता है, तथापि उसके अनुरूप अनेक विकल्प प्रस्तुत करता है। यदि किसी देश की संस्कृति प्रौद्योगिकीय विकास को महत्वहीन मानती है तो उस देश मे किसी भी प्रकार का प्रौद्योगिक-आविष्कार नही होगा। वास्तव मे किसी देश की संस्कृति वहाँ की प्रौद्योगिक प्रगति को भी प्रभावित करती है।

(4) राजनैतिक संगठन में परिवर्तन (Changes in Political Organization)— किसी समाज का राजनैतिक सगठन भी उस समाज की सस्कृति से प्रभावित रहता है। किसी देश का राजनैतिक संगठन कौनसी विचारधारा (एकतंत्र, प्रजातत्र, राजतंत्र अथवा साम्यवादी) वाला होगा, किन-किन वर्गो को संरक्षण दिया जाएगा, सुधार की कौन-कौनसी योजनाएँ लागू की जायेगी? आदि सभी नीतियो का निर्धारण उस देश की सस्कृति के अनुरूप निर्धारित होगा, उदाहरण

के लिए—भारत की संस्कृति समन्वयवादी है। अत: यहाँ प्रजातत्र-शासन पद्धति है अत: कानून द्वारा भी निम्न वर्गों को प्रोत्साहन देने वाली योजनाएँ बनाई जाती हैं जिससे उन्हें विशेष सुरक्षा मिल सके। अत: यह कहा जा सकता है कि संस्कृति में किसी भी प्रकार का परिवर्तन राजनैतिक व्यवस्था को भी परिवर्तित करता है अथवा किसी देश का राजनैतिक संगठन वहाँ की संस्कृति से प्रभावित रहता है।

अन्त मे यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक-कारक सामाजिक-परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण है क्योकि कोई समाज किस प्रकार की राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक अथवा प्रौद्योगिक व्यवस्था को अपनाता है यह उस समाज की मान्यताएँ, प्रथाएँ, विश्वास, आदर्श अथवा मूल्यो द्वारा निर्धारित होता है जो संस्कृति का ही अंग है। संस्कृति ही किसी समाज की जनसंख्या, तकनीकी, धर्म आदि का भी निर्धारण करती है। वास्तव मे सांस्कृतिक-परिवर्तन सामाजिक-परिवर्तन को अनेकविध प्रभावित करता है।

उपर्युक्त सामाजिक परिवर्तन के कारको के अध्ययन के अनन्तर यह भी कहा जा सकता है कि कोई एक कारक नहीं, अपितु सभी कारक सामाजिक-परिवर्तन को प्रभावित करते हैं, उसकी दिशा निर्धारित करते हैं।

(6) आर्थिक कारक
(Economic Factors)

कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के लिए आर्थिक कारक को महत्त्वपूर्ण माना है। इनका मानना है कि प्रत्येक समाज में दो वर्ग पाए जाते हैं—एक पूँजीपति वर्ग तथा दूसरा श्रमिक वर्ग। ये वर्ग उत्पादन के साधनों व सम्पत्ति पर अधिकार की दृष्टि से हैं। दोनो वर्गों मे सदैव संघर्ष होता रहता है। वर्ग-संघर्ष एक समाज व्यवस्था को समाप्त करता है और उसके स्थान पर दूसरी व्यवस्था जन्म ले लेती है, जैसे—यदि समाज पूँजीवादी से साम्यवादी व्यवस्था को अपना लेता है तो नई समाज व्यवस्था जन्म ले लेती है।

विवाह, आवास, स्वास्थ्य, जनसंख्या, विवाह-विच्छेद, बेकारी, गरीबी, आत्महत्या, मद्यपान आदि समाज की आर्थिक स्थिति से ही सम्बन्धित हैं। आर्थिक परिस्थितियों के कारण राजनैतिक उथल-पुथल, आतंक, क्रान्ति आदि का जन्म होता है। इसके अतिरिक्त सम्पत्ति का वितरण, लोगों का जीवन-स्तर, वर्ग-संघर्ष, उत्पादन, व्यापार आदि भी आर्थिक कारण से उत्पन्न होते हैं जो सामाजिक संरचना को प्रभावित करते हैं। कहने का आशय यह है कि समाज की आर्थिक संरचना में परिवर्तन का अर्थ सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था में परिवर्तन होना है। इस प्रकार आर्थिक कारक सामाजिक परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण कारक हैं।

(7) राजनैतिक कारक
(Political Factors)

सांस्कृतिक कारकों के समान ही राजनैतिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जब-जब सत्ता अथवा सरकार बदली है तो

उसने अपने अनुसार समाज मे अनेक परिवर्तन किए है। प्रत्येक राजनैतिक दल की अपनी-अपनी राजनैतिक नीतियाँ होती हैं, उदाहरण के लिए—भारत मे जब अंग्रेज सत्ता छोडकर गए तो भारतीय सरकार ने समाज मे अनेक सुधार किए। छुआछूत को समाप्ति, दास-प्रथा की समाप्ति, बैंको का राष्ट्रीयकरण, राजाओं के अधिकारो की समाप्ति, जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन आदि कारको ने सामाजिक जीवन को अनेक रूपों मे प्रभावित किया हैं।

अनेक क्रान्तियॉ व युद्ध भी सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। युद्ध के कारण अनेक लोग मारे जाते हैं और उनकी स्त्रियाँ व बच्चे, बूढ़े दूसरे स्थानो पर जाकर शरणार्थी बन जाते हैं तथा धीरे-धीरे वहाँ की सस्कृति को अपना लेते हैं। युद्ध के कारण राजनैतिक व सामाजिक दोनो ही व्यवस्थाएँ बदल जाती हैं। अनेक बार क्रान्तियाँ भी समाज मे परिवर्तन के लिए जिम्मेदार होती हैं क्योकि उनसे सामाजिक ढाँचा चरमरा जाता है। इस प्रकार राजनैतिक सत्ता, युद्ध, क्रान्ति आदि सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते हैं।

(8) मनोवैज्ञानिक कारक
(Psychological Factors)

मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो मानव के व्यवहारों का अध्ययन करता है। अर्थात् व्यक्ति के सभी प्रकार के व्यवहार चाहे वे समाज-व्यवस्था के कारण हो अथवा पारिवारिक व्यवस्था के कारण हो, व्यक्ति को प्रभावित अवश्य करते हैं जिससे उसके भी व्यवहारो में अन्तर आ जाता है और धीरे-धीरे यह अन्तर सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था मे परिवर्तन ला देता है, उदाहरण के लिए—पारिवारिक विघटन या विवाह-विच्छेद आदि का कारण पति-पत्नी के मध्य समायोजन का न होना है जो मानसिक तनाव, नैराश्य, सघर्ष आदि को जन्म देता है। इसी भावुकता मे अपराध की प्रवृति बढ जाती है। आत्महत्या व हत्या जैसे जघन्य अपराध भी इसी मानसिक असतुलन का परिणाम होते हैं। धीरे-धीरे सम्पूर्ण सामाजिक-जीवन इससे प्रभावित होता है। इस प्रकार सामाजिक सम्बन्धों मे परिवर्तन मानव-मस्तिष्क मे परिवर्तन आने के कारण होते हैं।

(9) वैचारिक कारक
(Ideological Factors)

विचारधाराएँ भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती हैं, जैसे—किसी समस्या के हल के लिए समाज-विद्वान् अपने विचार प्रस्तुत करते हैं और जिसके विचार मान्य हो जाते हैं वे सामाजिक संरचना मे परिवर्तन ले आते हैं। विचारो मे परिवर्तन आने से प्रथाएँ, कानून, रीतिरिवाज भी परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे—एक विचारधारा को मानने वाला दल जब सत्ता में आता है तो वह अपने अनुसार समाज मे अनेक परिवर्तन कर देता है। कई बार दो विचार परस्पर विरोधी होते हैं और दोनो मान्य भी होते हैं, ऐसी स्थिति मे समाज व्यवस्था दो भागों मे बँट जाती है, जैसे—मार्क्स की विचारधारा से प्रभावित होकर आज सम्पूर्ण विश्व दो मान्यताओ मे बँट गया है—एक ओर पूँजीवादी राष्ट्र हैं तो दूसरी ओर साम्यवादी राष्ट्र हैं। इस प्रकार विचारधाराएँ भी सामाजिक परिवर्तन लाती हैं।

(10) महान् लोगों की भूमिका
(Role of Great Men)

समाज की व्यवस्था को सुचारु रूपेण चलाने के लिए महान् पुरुषों की भूमिका बड़ी महत्त्वपूर्ण होती है। इतिहास मे इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि समाज कभी भी महापुरुषों के योगदान से विमुक्त नहीं रहा है। समाज मे जितनी भी क्रान्तियाँ, आन्दोलन आदि हुए हैं, सभी किसी न किसी महापुरुष के मस्तिष्क की उपज थीं। भारत में अछूतोद्धार, विधवा-विवाह, सती-प्रथा-निवारण, पर्दा-प्रथा, जैसी बुराइयो को हटाने में हमारे नेताओं—राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, दयानन्द सरस्वती आदि का योगदान रहा है। भारत को आजाद कराने में महात्मा गाँधी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने भी भारत की समाज-व्यवस्था के लिए अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए। 'बीस सूत्री कार्यक्रम' उन्ही की देन है। विश्व के स्तर पर भी चर्चिल, हिटलर, मुसोलिनी, रूजवेल्ट आदि की भूमिका सामाजिक आन्दोलनों में महत्त्वपूर्ण रही है। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि सामाजिक परिवर्तनों के लिए समय-समय पर महापुरुषों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिए हैं।

(11) शैक्षिक कारक
(Educational Factor)

विगत वर्षो मे शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का एक प्रमुख संयन्त्र माना गया है। शिक्षा के अभाव मे योजनाबद्ध सामाजिक परिवर्तन की गति बहुत धीमी अथवा अवरुद्ध पाई गई है। भारत के ग्रामों मे अशिक्षित पंचों, सरपंचो आदि के कारण ग्रामीण विकास कार्यक्रमो के विकास एवं परिवर्तन की गति बहुत धीमी रही है। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि शिक्षा के द्वारा योग्य एव विशेषीकृत कार्यकर्ता तैयार किये जा सकते हैं, जो जन-साधारण मे नये सामाजिक मूल्यों का विकास करके परिवर्तन की गति को तेज कर सकते हैं। शिक्षा लोगो मे नव-परिवर्तन के प्रति आकर्षण एवं प्रेरणा पैदा करती है। शिक्षा के अभाव में व्यक्ति नव-परिवर्तनो का स्वागत करने से डरते हैं। जिन समाजो मे शिक्षा का प्रसार और विस्तार हुआ है, उन समाजो में परिवर्तन की विशिष्ट प्रगति देखी जा सकती है। शिक्षा के द्वारा आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि विकास करना सरल हो जाता है। शिक्षा के अभाव के कारण समाज मे परिवर्तन लाना अधिक कठिन होता है, अत: शिक्षा सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त अभिकरण है।

निष्कर्ष (Conclusion)—सामाजिक परिवर्तन के उपर्युक्त सभी कारक समाज को प्रभावित करते हैं लेकिन कौनसा कारक विशेष है, ऐसी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। अनेक कारको के सम्मिलित योग से सामाजिक परिवर्तन घटित होते हैं क्योंकि किसी समाज में परिवर्तन के लिए एक कारक प्रभावी होता है तो दूसरे समाज मे कोई अन्य कारक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। यह इस पर निर्भर करता है कि परिवर्तन किस प्रकार का है।

❐

अध्याय-26

व्यावहारिक समाजशास्त्र का परिचय ; समाजशास्त्र और सामाजिक समस्याएँ

(Introduction to Applied Sociology; Sociology; and Social Problems)

व्यावहारिक समाजशास्त्र के परिचय और विषय प्रवेश के लिए आवश्यक है कि सर्वप्रथम हम समाजशास्त्र के प्रमुख प्रकारो पर एक दृष्टि डाले। अध्ययन के उद्देश्य, दृष्टिकोण और उपयोगिता के आधार पर वैज्ञानिको ने समाजशास्त्र को दो प्रमुख प्रकारो मे विभाजित किया है। ये हैं—(1) विशुद्ध समाजशास्त्र और (2) व्यावहारिक समाजशास्त्र। विशुद्ध समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक अव्यवस्था और उनमे होने वाले परिवर्तनो का अध्ययन करके सिद्धान्तो का निर्माण करना है। विशुद्ध समाजशास्त्र का उद्देश्य ज्ञान का विस्तार एव सिद्धान्तो का निर्माण करना होता है। यह सैद्धान्तिक लक्ष्यो एव विद्यमान ज्ञान के भण्डार की वृद्धि करता है। विशुद्ध समाजशास्त्र का उद्देश्य किन्हीं समस्याओ का अध्ययन करना तथा समाधान प्रस्तुत करना नही है। समाज की समस्याओ का अध्ययन करना तथा समाधान प्रस्तुत करना समाजशास्त्र के दूसरे प्रकार—व्यावहारिक समाजशास्त्र का सर्वोपरि उद्देश्य होता है।

व्यावहारिक समाजशास्त्र समाज की अनेक व्यावहारिक समस्याओ के समाधान म योगदान देता है। समाजशास्त्र के विकास के लिए व्यावहारिक समाजशास्त्र और इसके अन्तगत किए गए अनुसधान आवश्यक हैं। यह शास्त्र समाज की सरचना और उसके कार्यो का वर्णन और व्याख्या करता है। इसके अनेक लक्षण, कार्य, उद्देश्य एव महत्त्व हैं जिनकी विवेचना इसक अर्थ को समझाने के बाद करेगे।

व्यावहारिक समाजशास्त्र का अर्थ

(Meaning of Applied Sociology)

जब समाजशास्त्र का उद्देश्य ऐसे ज्ञान की खोज के लिए किया जाता है जो व्यावहारिक समस्याओ के समाधान के लिए उपयोगी हो तो उसे व्यावहारिक समाजशास्त्र कहते हैं।

व्यावहारिक समाजशास्त्र का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य समाज की समस्याओ के समाधानो को ज्ञात करना है। इस समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण मानविकी होता है। इसीलिये व्यावहारिक समाजशास्त्र का सीधा सम्बन्ध समाज की विभिन्न समस्याओ, कल्याणकारी योजनाओ, नीति-निर्माण तथा व्यावहारिक उपयोगिता से होता है।

व्यावहारिक समाजशास्त्री यह मानकर चलता है कि समस्त ज्ञान मूलत: उपयोगी है चाहे उसका उपयोग निष्कर्ष निकालने में हो अथवा किसी क्रिया या व्यवहार को कार्यान्वित करने में हो। व्यावहारिक समाजशास्त्र का उपयोग सिद्धान्त के निर्माण करने मे ज्ञान को व्यवहार मे लाने में किया जाता है। इस शास्त्र में सिद्धान्त और व्यवहार सामान्यतया आगे चलकर एक दूसरे में विलीन हो जाते हैं। व्यावहारिक समाजशास्त्र मे अन्वेषण करवाने वाली संस्थाओं तथा संगठनों द्वारा प्रस्तुत की गई समस्याओ से सम्बन्धित ऐसी अन्वेषण क्रियाए आती हैं जो समाज की विभिन्न समस्याओ के समाधान में योगदान करती हैं।

व्यावहारिक समाजशास्त्र विशुद्ध समाजशास्त्र में किए गए अनुसंधान द्वारा प्राप्त ज्ञान के आधार पर समाज को नियंत्रित करता है और समस्याओं का समाधान करता है। इस समाजशास्त्र का उद्देश्य समाज मे व्याप्त सघर्षों का अध्ययन करना, उनकी प्रकृति तथा कारणों को ज्ञात करना तथा सघर्षों को दूर करने के लिए उपयुक्त समाधान प्रस्तुत करना होता है। व्यावहारिक समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य मानवतावादी और उपयोगितावादी होता है। यह उपलब्ध ज्ञान का अधिकतम उपयोग समाज की विभिन्न समस्याओं के समाधान मे सीधा करता है। यह शास्त्र समस्याओं के कारणो, लक्षणो, नियमो आदि की व्याख्या करने मे सहायता करता है। इस व्यावहारिक समाजशास्त्र का उद्देश्य सामाजिक नियोजन, नीति-निर्धारण, सामाजिक समस्याओं, व्याधिकीय लक्षणों आदि का अध्ययन, वर्णन और व्याख्या करने एवं समझने मे सहायता प्रदान करना होता है। इस शास्त्र का कार्य व्यावहारिक और उपयोगी सुझाव देना है जिनको कार्यान्वित करके समाज की समस्याओं को हल किया जाता है।

व्यावहारिक समाजशास्त्र के उद्देश्य
(Aims of Applied Sociology)

व्यावहारिक समाजशास्त्र परिवर्तनशील मानव समाज की समस्याओं का अध्ययन समय-समय पर करता है तथा तथ्य एकत्र करके अद्यतन जानकारी देता है। प्रमुखत: व्यावहारिक समाजशास्त्र के निम्न उद्देश्य निश्चित किए जा सकते हैं—

व्यावहारिक समाजशास्त्र के उद्देश्य
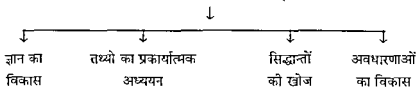
(1) ज्ञान का विकास (Development of Knowledge)—व्यावहारिक समाजशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य समाजशास्त्रीय ज्ञान का विकास करना है। यह क्षेत्रीय अध्ययन करके सामाजिक घटनाओ, सामाजिक समस्याओं, सामाजिक परिवर्तन आदि को समझने का प्रयास करता है तथा इन विषयों के सम्बन्ध में ज्ञान का विकास करता है। व्यावहारिक समाजशास्त्र विशुद्ध शोधों के द्वारा प्रतिपादित नियमों एवं सिद्धान्तो का आनुभविक तथ्यो द्वारा परीक्षण करता है एवं उनकी सत्यता, प्रामाणिकता और विश्वसनीयता की जाँच करता है। इतना ही नहीं यह शास्त्र संचयी ज्ञान के आधार पर आगे परीक्षण करता है और नवीन तथ्यों की खोज करता है।

(2) तथ्यों का प्रकार्यात्मक अध्ययन (Functional Study of Facts)—व्यावहारिक समाजशास्त्र का उद्देश्य सिद्धान्त से सम्बन्धित तथ्यों का परस्पर एक-दूसरे के साथ कारण-प्रभाव सम्बन्धो का आनुभविकता के आधार पर ज्ञात करना है। एक कारक का अन्य कारको से, अन्य कारकों का एक कारक से एवं कारको का परस्पर क्या गुण सम्बन्ध है? उनका अध्ययन व्यावहारिक समाजशास्त्र करता है। इतना ही नहीं व्यावहारिक समाजशास्त्र सामाजिक संगठन (सरचना और कार्य) सामाजिक व्यवस्था आदि के विभिन्न लक्षणों, तत्वो और कारको का अध्ययन करके उनके गुण-दोषो की खोज करता है और उनकी व्याख्या करता है।

(3) सिद्धान्तों की खोज (Discovery of Theory)—सिद्धान्तों के अनेक प्रकार होते हैं, जैसे विश्लेषणात्मक, मानकात्मक, तात्त्विक, वैज्ञानिक आदि। वैज्ञानिक सिद्धान्त में कारणता, आनुभविकता, प्रयोग, सिद्धान्त और सार्वभौमिकता के गुण होते हैं। व्यावहारिक समाजशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य समाजशास्त्रीय वैज्ञानिक सिद्धान्तों का निर्माण करना है। यह नए-नए वैज्ञानिक सिद्धान्तो की खोज करता है। इसके लिए यह व्यावहारिक शोध करता है। आनुभविक तथ्यो को एकत्र करता है। इस शोध कार्य के द्वारा प्रतिपादित समाजशास्त्रीय सिद्धान्त वैज्ञानिक होते हैं। इसके द्वारा निर्मित सिद्धान्तो की सहायता से सामाजिक समस्याओ, घटनाओ आदि का पूर्व मे अनुमान लगाना सुगम हो जाता है।

(4) अवधारणाओं का विकास (Development of Concepts)—व्यावहारिक समाजशास्त्र का उद्देश्य अवधारणाओ की व्याख्या स्पष्टीकरण, संशोधन, संक्षिप्तीकरण आदि करना भी है। अवधारणाएँ तथ्यो की व्याख्या करती हैं और व्यावहारिक समाजशास्त्र नए-नए तथ्य एकत्र करता है जिनका प्रभाव विद्यमान अवधारणाओ पर पड़ता है। नवीन तथ्यों के सन्दर्भ में अवधारणाओ के अर्थ भी बदल जाते हैं जिसके कारण व्यावहारिक समाजशास्त्र अवधारणाओं के अर्थ में सशोधन करता है, उनकी पुन: परिभाषा करता है, उन्हे अद्यतन बनाता है। इस प्रकार से व्यावहारिक समाजशास्त्र का उद्देश्य पुरानी अवधारणाओ की पुन: व्याख्या करना, स्पष्टीकरण करना, सुनिश्चित करना, परिष्कृत करना तथा नवीन अवधारणाओ का निर्माण करना है।

व्यावहारिक समाजशास्त्र की उपयोगिता (Utility of Applied Sociology)—सामाजिक वैज्ञानिकों का कहना है कि व्यावहारिक विज्ञानों का महत्त्व तभी बढ सकता है जब वे अपने अध्ययनो, खोजों, अनुसंधानों के द्वारा व्यावहारिक पक्ष को प्रभावशाली बनाएँ। इसी सदर्भ मे व्यावहारिक समाजशास्त्र की प्रमुख उपयोगिताएँ निम्नलिखित निश्चित की जा सकती हैं—

(1) व्यावहारिक समाजशास्त्र समाज के लिए अनेक प्रकार से उपयोगी है। व्यावहारिक समाजशास्त्र समाज की समस्याओ का अध्ययन करता है तथा इसके सुझावो के द्वारा समस्याओ का समाधान किया जाता है।

(2) व्यावहारिक समाजशास्त्र समाज का वास्तविक और व्यवहारो का अध्ययन करता है। यह सामाजिक जीवन से सम्बन्धित यथार्थ और आनुभविक सूचनाओ को एकत्र करके समाजशास्त्र के ज्ञान का विकास करता है।

(3) यह शास्त्र कारकों के कारण-प्रभाव सम्बन्धों का अध्ययन करके बताता है कि कौन-से तथ्य समाज के लिए संगठनात्मक हैं और कौन-से तथ्य विघटनात्मक हैं।

(4) व्यावहारिक समाजशास्त्र अनुसंधान के क्षेत्र में ऐसी प्रविधियों का विकास करता है जो विशुद्ध समाजशास्त्र के अनुसंधान के लिए भी उपयोगी होते हैं।

(5) यह शास्त्र "क्या है?", "क्यों है?", "कैसे है?", "क्या होगा?" का ही अध्ययन नहीं करता है बल्कि "क्या होना चाहिए?" की भी व्याख्या करता है।

व्यावहारिक समाजशास्त्र का योगदान (Contribution of Applied Sociology)—संक्षिप्त में यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यावहारिक समाजशास्त्र नवीन तथ्यों का अवलोकन, संकलन एवं खोज करता है। उनके आधार पर पुराने सिद्धान्तों की जाँच करता है, उनमें संशोधन करता है। नवीन परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक होता है तो उन्हे रद्द करके नवीन सिद्धान्तों को प्रतिपादित करता है। समय-समय पर नवीन तथ्यो एवं सूचनाओ के परिप्रेक्ष्य में अवधारणाओं की व्याख्या, स्पष्टीकरण एवं संशोधन करता है। समाजशास्त्र के विकास में व्यावहारिक समाजशास्त्र का अपना विशिष्ट महत्त्व एवं स्थान है।

समाजशास्त्र और सामाजिक समस्याएँ
(Sociology and Social Problems)

समाजशास्त्र मानव समाज की व्यवस्था, अव्यवस्था और उसमें होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन अनेक प्रकारो से करता है। विभिन्न समाजशास्त्रियों ने समाज का अध्ययन उनमे विद्यमान समानता, असमानता, सहयोग-संघर्ष, व्यवस्था-अव्यवस्था, सन्तुलन-असन्तुलन, संगठन-विघटन आदि के द्वारा किया है। इसी प्रकार से समाज में विद्यमान विभिन्न सामाजिक समस्याओ के अध्ययन के द्वारा भी समाज को समझा जा सकता है। अगर समाज मे सामाजिक समस्याएँ न्यून हैं तब तो समाज को व्यवस्थित एवं संगठित माना जाएगा और यदि समस्याएँ अनेक हैं तो उस समाज को विघटित कहा जाएगा। समाज में समस्याएँ तब उत्पन्न होती हैं जब व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं का चयन एवं उनकी पूर्ति समाज द्वारा स्थापित मानदण्डों के अनुसार नहीं करते हैं। समाज के विकास और प्रगति के लिए आवश्यक है कि व्यावहारिक समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं और उनकी अवधारणाओ का वैज्ञानिक अध्ययन करे तथा उनके निवारण की योजनाएँ प्रस्तुत करे।

वर्तमान में समाज की अनेक सामाजिक समस्याएँ हैं। समाज के विकास एवं प्रगति की योजनाओं को बनाने के लिए भी आवश्यक है कि इसकी सभी समस्याओं का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित ज्ञान उपलब्ध हो। यह कार्य समाजशास्त्र के द्वारा समय-समय पर सामाजिक समस्याओं के अध्ययन द्वारा किया जाता रहा है।

अधिकतर समाजों की प्रमुख समस्याएँ अपराध तथा बाल-अपराध, जनसंख्या का विस्फोट, निर्धनता, असमानता, बेरोजगारी, अशिक्षा, श्रमिक एवं विद्यार्थी असन्तोष, कमजोर एवं दलित जातियाँ, जनजातियाँ, मजदूरों आदि की समस्याएँ, भ्रष्टाचार, नशाखोरी, एड्स आदि हैं। इनका अध्ययन करने से पहले यह आवश्क है कि हम सामाजिक समस्याओं की अवधारणा के समाजशास्त्रीय अर्थ को समझे।

सामाजिक समस्या का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Problem)—सामाजिक समस्या की परिभाषा अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण तथा रुचि के आधार पर निम्नांकित दी हैं—

पाल एच. लैंडिस (Paul H Landis) ने लिखा है, "सामाजिक समस्याये व्यक्ति की कल्याणकारी अपूर्ण आकाक्षाएँ हैं।"

रॉब तथा सेल्जनिक (Roab Earl and G J Selznick) ने कहा है, "यह मानवीय सम्बन्धो की एक समस्या है जो समाज के लिए एक गम्भीर खतरा है अथवा जो अनेक व्यक्तियों की आकाक्षाओ की पूर्ति मे बाधाएँ पैदा करती है।"

वेलेस वीवर (W Wallace Weaver) के मतानुसार, "सामाजिक समस्या एक ऐसी स्थिति है जो चिन्ता, तनाव, संघर्ष या नैराश्य पैदा करती है और एक आवश्यकता की पूर्ति मे बाधा डालती है।"

फुलर तथा मायर्स (R C Fuller and R Mayers) के अनुसार, "व्यवहार के जिन प्रतिमानो या परिस्थितियो को किसी समय समाज के बहुत-से सदस्य आपत्तिजनक या अनपेक्षित मानते हो, वे ही सामाजिक समस्याएँ हैं।"

शेपर्ड तथा वॉस (Shepard and Voss) की मान्यता है, "एक सामाजिक समस्या समाज की कोई भी ऐसी सामाजिक दशा है जिसे समाज के एक बहुत बड़े भाग या शक्तिशाली भाग द्वारा अनपेक्षित और ध्यान देने लायक समझा जाता है।"

वाल्स और फर्फे (M F Walsh and P H Furfey) का कहना है, "सामाजिक समस्या सामाजिक आदर्शो का विचलन है जिसका समाधान सामूहिक प्रयासो से ही सम्भव है।"

मर्टन और निस्बट (Merton and Nisbet) के अनुसार, "सामाजिक समस्या व्यवहार का एक ऐसा रूप है जिसे समाज का एक बड़ा भाग व्यापक रूप से स्वीकृत तथा अनुमोदित मानदण्डो का उल्लघन मानता है।"

उपर्युक्त विद्वानो की परिभाषाओ के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक समस्या एक व्यापक समाजशास्त्रीय अवधारणा है जिसके द्वारा सामाजिक अव्यवस्था मे वृद्धि होती है। यह समाज विरोधी होती है। यह एक समाज मे तनाव एव सघर्ष पैदा करती है। सामाजिक समस्या समाज के आदर्शों तथा अपेक्षित व्यवहारो का उल्लघन है।

सामाजिक समस्या के तत्त्व एव विशेषताएँ (Elements and Characte-ristics of Social Problem)—

विद्वानो द्वारा दी गई परिभाषाओ एव विचारो के आधार पर सामाजिक समस्या के निम्नलिखित मुख्य तत्त्व एव विशेषताएँ निश्चित की जा सकती हैं—

1 सभी सामाजिक समस्याएँ मूल रूप मे सामाजिक होती हैं।
2 सामाजिक समस्याएँ सामाजिक आदर्शों से विचलन होती हैं।

3. समाज के अधिकतर सदस्य इसे आपत्तिजनक मानते हैं।
4 ये व्यक्ति की कल्याणकारी अपूर्ण आकांक्षाओं का परिणाम होती हैं।
5. ये व्यक्तियों की आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक होती हैं।
6. सामाजिक समस्याएँ चिन्ता, तनाव, संघर्ष आदि पैदा करती हैं।
7 ये गतिहीनता उत्पन्न करती हैं जिससे समाज के सदस्य अपेक्षित सामाजिक भूमिकाएँ पूर्ण नहीं कर पाते हैं।
8. समाज के अधिकतर लोग इससे प्रभावित होते हैं।
9. इसका समाधान सामाजिक प्रयत्नों से किया जाता है।
10. इसके निवारण के लिए सुधार नीतियों, कार्यक्रमों तथा सेवाओं की आवश्यकता होती है।
11 ये समाज के लिए गम्भीर खतरा होती हैं।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि सामाजिक समस्याएँ सामाजिक आदर्शों का विचलन होती हैं जो व्यक्ति की कल्याणकारी अपूर्ण आकांक्षाओं का परिणाम होती हैं। समाज के अधिकतर सदस्य इनसे प्रभावित रहते हैं। ये आपत्तिजनक होती हैं। इनके द्वारा समाज में गतिहीनता उत्पन्न होती है जो समाज के लिए एक गम्भीर खतरा होती है। सामाजिक समस्याएँ समाज में चिन्ता, तनाव, संघर्ष आदि पैदा करती हैं। इनका समाधान सामाजिक प्रयत्नों, जैसे—सुधार नीतियों, कार्यक्रमों तथा सेवाओ के द्वारा किया जाता है। इनसे समाज मे एकता, व्यवस्था, सुदृढ़ता आदि पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

सामाजिक समस्याओं के प्रकार (Types of Social Problem)—**जोन जे. केन** ने सोशियल प्रोब्लम्स में सामाजिक समस्या के दो प्रकार बताए हैं—(1) प्रकट सामाजिक समस्या और (2) अप्रकट (गुप्त) सामाजिक समस्या। इनकी व्याख्या अग्र हैं—

(1) प्रकट सामाजिक समस्या (Overt Social Problems)—प्रकट या प्रत्यक्ष सामाजिक समस्याये समाज की वे समस्याएँ होती हैं जिनके समाधान तथा निराकरण के लिए राज्य सरकार अथवा—और निजी अभिकरण (एजेन्सी) मिलकर प्रयास करते हैं। लोग भी इन समस्याओ के प्रति सजग होते हैं। वे इसे समाज के लिए हानिकारक भी मानते हैं। निर्धनता, बेरोजगारी, जनसख्या मे वृद्धि, अपराध, बाल-अपराध आदि प्रकट सामाजिक समस्याओ के उदाहरण हैं।

(2) अप्रकट सामाजिक समस्या (Covert Social Problem)—अप्रकट सामाजिक समस्या उसे कहते हैं जिसके प्रति सरकार, निजी संस्थाएँ तथा लोग जागरूक नहीं होते हैं तथा उनके निराकरण के लिए सामूहिक प्रयास नहीं किया जाता है। लेकिन जैसे ही इन समस्याओ के प्रति जागरूकता आ जाती है तथा समाधान के लिए सामूहिक प्रयास किया जाता है तो ये प्रकट सामाजिक समस्याएँ बन जाती हैं। ऐसी अनेक समस्याएँ हैं जो अप्रकट से प्रकट सामाजिक समस्याओं के वर्ग में चली गई हैं; जैसे—अस्पृश्यता, बाल-विवाह, सती-प्रथा,

विधवा पुनर्विवाह आदि। ये सदियो से अप्रकट सामाजिक समस्याएँ थीं परन्तु बाद में उनके निराकरण के लिए सरकार तथा निजी सगठनों जैसे ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि ने सामूहिक प्रयास किए। जनता मे इनके प्रति जागरूकता पैदा हो गई।

सामाजिक समस्याओं के कारण
(Cause of Social Problems)

सामाजिक समस्याओ के अनेक कारण हैं। विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक समस्याओ के कारणो पर अपने विचार प्रकट किए हैं जो निम्न हैं—

(1) रॉब और सेल्ज़निक ने **'मेजर सोशियल प्रोब्लम्स'** मे सामाजिक समस्याओ के निम्नलिखित पाँच कारण बताए हैं—

1 जब संगठित समाज के लोगो की पारस्परिक सम्बन्धों को व्यवस्थित करने की क्षमता समाप्त होती दिखाई देती है, तो सामाजिक समस्या उत्पन्न होती है।

2 जब समाज की अनेक संस्थाएँ विचलित होने लगती हैं तो सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं।

3 जब समाज के कानूनो को लोग तोड़ते हैं, उनका पालन नहीं करते हैं, तब सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

4 जब समाज के मूल्यो का हस्तान्तरण एक पीढी से दूसरी पीढी को होना बन्द हो जाता है, तब सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होने लगती हैं।

5 जब समाज के सामान्य सदस्यो की आकाक्षाओ तथा अपेक्षाओ की सरचना बिगडने लगती है, तब सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

(2) रॉबर्ट ए. निस्बेत ने सामाजिक समस्या की उत्पत्ति के निम्न चार कारण बताए हैं—

1. संस्थाओं मे सघर्ष सामाजिक समस्याओ को जन्म देते हैं।
2. सामाजिक गतिशीलता के कारण सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।
3. व्यक्तिवादिता सामाजिक समस्या का प्रमुख कारण है।
4. व्याधिकीय स्थिति सामाजिक समस्याओ को जन्म देती है।

(3) पॉल लैंडिस के अनुसार सामाजिक समस्या के अग्र चार कारण हैं—

1 व्यक्ति का समायोजन करने मे असफल होना।

2 सामाजिक सरचना का दोषपूर्ण होना।

3 सस्थात्मक समायोजन मे असफल होना।

4 सामाजिक नीतियो मे सस्थात्मक विलम्बन का होना।

उपर्युक्त वैज्ञानिको द्वारा व्यक्त किए गए सामाजिक समस्याओ के कारणो से स्पष्ट होता है कि सामाजिक समस्याओ को मनोविकारी, विकृत और व्याधिकीय सामाजिक एवं

व्यक्तिगत परिस्थितियाँ जन्म देती हैं। ये ऐसी विकृति परिस्थितियाँ आदिम, ग्रामीण, कस्बाई, नगरीय और महानगरीय सभी छोटे-बडे समाजों में पैदा होती हैं। जो समाज आकार में छोटे होते हैं, जिनमें यात्रिक एकता होती है तथा परिवर्तन की गति धीमी होती है उनमें सामाजिक समस्याएँ कम होती हैं, जो समाज आकार में बड़े होते हैं जिनमें सावयवी एकता होती है तथा परिवर्तन की गति तीव्र होती है उनमें सामाजिक समस्याएँ अधिक होती हैं।

सामाजिक समस्याओं से सम्बन्धित कारणात्मक कारक अनेक होते हैं जिन्हें अध्ययन की सुविधा के लिए निम्न दो वर्गों में विभाजित करके देखा जा सकता है।
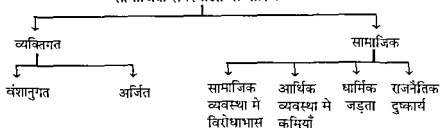
भिन्न-भिन्न समाजों तथा उनकी सामाजिक समस्याओं के कारणात्मक कारक भी भिन्न-भिन्न होते हैं। सभी समाजों मे तथा सभी समस्याओं के कारण एक-से कभी नहीं होते हैं। सामाजिक समस्याओं को समझने के बाद उनके समाधान पर विचार करना आवश्यक है जिनकी विवेचना निम्नलिखित पृष्ठों मे की जा रही है।

सामाजिक समस्याओं का समाधान
(Solutions of Social Problems)

मानव एक ऐसा प्राणी है जो निरन्तर समस्याओं का समाधान खोजता रहता है। सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए मानव समाज तथा विद्वानो द्वारा खोज करना कोई नई बात नहीं है। सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए निम्नलिखित तीन दृष्टिकोण महत्त्वपूर्ण हैं—

(1) बहुकारकवादी दृष्टिकोण (Multiple-factor Approach)—समाज एक जटिल व्यवस्था है। सामाजिक समस्या अनेक कारणों के सम्मिलित प्रभावों का परिणाम होती है। जाति-व्यवस्था से सम्बन्धित किसी भी सामाजिक समस्या को ले लीजिए, उसका कोई एक कारण निश्चित करना बहुत कठिन है। उदाहरण के रूप मे अस्पृश्यता की समस्या के अनेक कारण हैं, जैसे—धार्मिक कर्म का सिद्धान्त, निर्धनता, पिछड़ापन, अन्धविश्वास, अशिक्षा, राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक आदि-आदि। इसी प्रकार बेरोजगारी, निर्धनता, दहेज, बाल विवाह, भिक्षावृत्ति, भाषावाद आदि सामाजिक समस्याओं के अनेक कारण हैं। इसीलिए किसी

भी सामाजिक समस्या से सम्बन्धित दृष्टिकोण बहुकारको के सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिए तभी समस्या से सम्बन्धित पूर्ण, क्रमबद्ध, व्यवस्थित तथा वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त हो सकेगी। इसी को बहुकारकवादी दृष्टिकोण कहते हैं।

(2) पारस्परिक सम्बद्धता (Inter-relatedness)—सामाजिक समस्याएँ सामाजिक व्यवस्था और सगठन का अंग होती हैं। समस्याओ के अनेक कारण होते हैं जो परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित तथा अन्योन्याश्रित होते हैं। कोई एक सामाजिक समस्या अलग-थलग तथा स्वतंत्र रूप से विद्यमान नहीं होती है, वह तो अनेक सामाजिक समस्याओं का परिणाम होती है। इसलिए किसी भी सामाजिक समस्या के निराकरण के लिए अनेक परस्पर सम्बन्धित कारकों तथा कारणो का अध्ययन तथा समाधान खोज निकालना आवश्यक हो जाता है जो निम्न उदाहरण से और स्पष्ट हो जाएगा। बेकारी की सामाजिक समस्या के कारण—जनसंख्या वृद्धि, दोषपूर्ण शिक्षा, कुटीर एव लघु उद्योग-धन्धो का विनाश, भौगोलिक गतिहीनता, नौकरी की प्रतिष्ठा आदि हैं, जो परस्पर सम्बन्धित भी हैं। बेकारी की समस्या का निराकरण भी इन सभी कारणो तथा इनसे सम्बन्धित समस्याओ के साथ-साथ निराकरण से ही हो सकता है। जनसंख्या वृद्धि को रोकने के लिए परिवार कल्याण कार्यक्रम को तेज करना होगा। इसके लिए शिक्षा का प्रसार करना होगा। शिक्षा को व्यावसायिक आधार देना होगा। भौगोलिक गतिशीलता की वृद्धि के लिए यातायात तथा संचार के साधनो का विकास करना होगा। इस प्रकार सामाजिक समस्या अन्य बहुत सी समस्याओं से सम्बन्धित समस्या है जिसे हल करने मे उनका ध्यान रखना आवश्यक है।

(3) सापेक्षता (Relativity)—सामाजिक समस्याएँ समाज तथा स्थान सापेक्ष होती हैं जिससे तात्पर्य है कि एक समाज मे एक समय विशेष मे एक क्रिया सामाजिक समस्या हो सकती है परन्तु उसी समाज मे दूसरे काल में वह मान्य क्रिया हो सकती है, जैसे—व्यवसायो पर प्रतिबन्ध जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत प्राचीन काल मे प्रथा थी। कोई परम्परागत व्यवसाय छोडकर अन्य व्यवसाय नही कर सकता था। अस्पृश्यता पहिले सामाजिक मूल्य था, अब एक समस्या है। स्थान सापेक्षता से तात्पर्य है कि एक स्थान मे वह सामाजिक समस्या है तथा दूसरे समाज में नहीं है, जैसे—प्रजातीय संघर्ष की समस्या अफ्रीका तथा अमेरिका मे उग्र रूप मे है, भारत मे नहीं है। जनसख्या वृद्धि भारत मे जटिल समस्या है, चीन मे नहीं है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सामाजिक समस्याओ के निराकरण मे समय तथा स्थान सापेक्षता का भी ध्यान रखना आवश्यक है।

सामाजिक समस्याओं के निराकरण में बाधाएँ (Difficulties in Removing Social Problems)—सामाजिक समस्याओ के निराकरण मे जो बाधाएँ आती हैं वे जॉनसन के अनुसार निम्न तीन हैं।

(1) शक्तिशाली भावनाओं तथा निहित स्वार्थों का समर्थन—जॉनसन ने लिखा है कि अनेक समस्याओ के समाधान मे शक्तिशाली मनोभाव और निहित स्वार्थो के कारण लोग सामाजिक सरचना को समर्थन देते हैं जिसे बदले बिना समस्याओ का समाधान करना कठिन

कार्य होता है। कुछ स्वार्थी लोग समस्या को हल करने का केवल दिखावा करते हैं, अन्दर से चाहते हैं कि समस्या बनी रहे, क्योंकि समस्या के बने रहने से उनके स्वार्थ पूर्ण होते रहते हैं। भारतवर्ष में आवास की समस्या, अशिक्षा, निर्धनता, भ्रष्टाचार आदि इसके उदाहरण हैं।

(2) सुझावों को हानिकारक बताना—जब सामाजिक समस्याओ को हल करने के लिए सुझाव दिए जाते हैं तो प्रभावशाली लोग उन सुझावों को हानिकारक बता कर पास नहीं होने देते हैं। सन् 1969 मे भारत मे बैंकों का जब राष्ट्रीयकरण करने की बात आई तो पूँजीपतियों ने उसका विरोध किया था। राष्ट्रीयकरण इसलिए किया गया जिससे विकास कार्यों के लिए अधिक पूँजी उपलब्ध हो सके तथा निर्धनता को दूर किया जा सके। पूँजीपति ऐसा होने देना नहीं चाहते थे।

(3) कार्य की धीमी गति—सामाजिक समस्याओं के निराकरण के लिए जो योजनाएँ बनाई जाती हैं उनको बहुत धीमी गति से कार्यान्वित किया जाता है जिससे उसके परिणाम कई वर्षों में भी देखने को मुश्किल से ही मिलते हैं। अनेक अधिनियम सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए बनाए गए हैं परन्तु उन्हें व्यवहार में लाने में काफी समय लगाया जा रहा है; जैसे—बाल विवाह निरोधक अधिनियम, दहेज प्रथा निरोधक अधिनियम, विवाह विच्छेद अधिनियम आदि।

कुछ प्रभावशाली लोग अपने स्वार्थवश समस्याओं के निराकरण की योजनाओं, साधनों आदि का विरोध करते हैं। ऐसा सोचना भी गलत है कि यह विरोध हमेशा स्वार्थवश ही हो। कभी-कभी निस्वार्थ विरोध भी हो सकता है, जो वास्तव मे सही भी हो। इसलिए विरोधों का भी मूल्यांकन निष्पक्ष रूप से करना चाहिए।

सामाजिक समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन (Scientific Study of Social Problems)—सामाजिक समस्याओ का निराकरण करने से पहिले उनका वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहिए। समस्या से सम्बन्धित सही कारणों को ज्ञात करना चाहिए, समस्या से सम्बन्धित तथ्यों को एकत्र करना चाहिए, उनका वर्गीकरण और सारणीयन तथा विश्लेषण करना चाहिए, उसके बाद समाधान से सम्बन्धित वास्तविक कार्य करना चाहिए।

वाल्श तथा फर्फे ने सामाजिक समस्याओं के निराकरण के सम्बन्ध में सुझाव दिया है कि प्रत्येक समस्या के निराकरण के लिए अवलोकन, विश्लेषण, समाधान को कार्यान्वित करना चाहिए। यह कार्य अग्र प्रकार से सम्पन्न होना चाहिए—

(1) समस्या की व्याख्या (Statement of the Problem)—सामाजिक समस्या के निराकरण के पहिले उसका वैज्ञानिक पद्धति से अध्ययन किया जाना आवश्यक है। इसके लिए सर्वप्रथम उस समस्या का चयन किया जाता है जिसका निराकरण करना है। समस्या की व्याख्या स्पष्ट रूप से की जाती है कि सामाजिक समस्या के किन-किन पहलुओं का अध्ययन करना है। समस्या से सम्बन्धित कौन-कौनसे कारण हैं जो समस्या के समाधान के लिए मालूम करने आवश्यक हैं।

(2) अवलोकन एवं तथ्यों का संकलन (Observation and Collection of Data)—सामाजिक समस्या का निराकरण तब अधिक व्यावहारिक तथा सरल हो जाता है जब उससे सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों, कारणों तथा प्रभावों का पूर्ण ज्ञान हो। इसी उद्देश्य को ध्यान में रख कर अध्ययन के द्वितीय चरण मे समस्या से सम्बन्धित तथ्यों का अवलोकन तथा संकलन किया जाता है। तथ्यों के सकलन की प्रविधि का चयन सामाजिक समस्या की प्रकृति के अनुसार किया जाता है, यह प्रविधि अवलोकन, साक्षात्कार, अनुसूची, प्रश्नावली आदि होती है।

कई बार ऐसा होता है कि लोग परिस्थिति की भिन्न-भिन्न व्याख्या करते हैं। उदाहरण के रूप में जनसंख्या के नियत्रण मे परिवार कल्याण को लोग ठीक मानते हैं परन्तु उसके साधनो, तरीको अथवा उपकरणो के सम्बन्ध मे भिन्न-भिन्न विचार हैं। इसलिए सामाजिक समस्या के बारे मे यह ज्ञात करना आवश्यक हो जाता है कि लोगो के व्यवहार और विचार क्या-क्या हैं। समाज विशेष मे क्या सही है तथा क्या गलत है इसका निर्णय करने के लिए सम्बन्धित समाज के मूल्यो, परम्पराओं, नैतिक सदाचार आदि की सहायता लेनी चाहिए। समस्या को सम्बन्धित समाज के सदर्भ मे अध्ययन करके समझना चाहिए।

(3) तथ्यों का वर्गीकरण, सारणीयन एवं संगठन (Classification, tabulation and organisation of Data)—तथ्य सकलन के पश्चात् एकत्र सामग्री में परस्पर कारण-प्रभाव का अध्ययन करने के लिए तथ्यो को विभिन्न वर्गों या समूहों मे बाँटा जाता है। उनके गुणो और वर्गों को ध्यान मे रख कर एकत्र सामग्री को तालिका के रूप में व्यवस्थित किया जाता है। इससे सामाजिक समस्या से सम्बन्धित कारको का कारण सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है जो समस्या के समाधान की योजना बनाने मे मदद करते हैं।

(4) समस्या का निराकरण (Removal of the Problem)—इस प्रकार समस्या से सम्बन्धित सम्पूर्ण जानकारी मिलने के बाद समाधान की योजना तैयार की जाती है। जहाँ *सामाजिक क्रिया* करना आवश्यक होता है वहाँ सामाजिक समस्या का समाधान प्रचलित सामाजिक और आर्थिक सस्थाओ मे परिवर्तन करने का प्रयास करके समस्या का निवारण करते हैं। जहाँ **सामाजिक कार्य** (Social Work) की आवश्यकता होती है वहाँ पर जिन व्यक्तियों को सहायता की आवश्यकता होती है, दी जाती है। सामाजिक क्रिया समस्या को जड़ से समाप्त करती है तथा समस्या के उत्पत्ति सम्बन्धी कारणो को ही नष्ट करती है। सामाजिक कार्य तो मात्र बुराइयों का समाधान करता है। सामाजिक क्रिया बुराई को दूर करने के लिए नियम बनाती है, जैसे—बाल विवाह, दहेज प्रथा, सती प्रथा आदि को रोकने के लिए अधिनियम बनाए गए हैं। सामाजिक कार्य केवल सम्बन्धित लोगों को समझाता है, मदद करता है। सामाजिक क्रिया सामूहिक प्रयास हैं। यह एक सगठित प्रयास होता है। सामाजिक कार्य व्यक्तिगत स्तर पर भी किया जा सकता है।

इस प्रकार सामाजिक समस्या का अवलोकन, तथ्यो का सकलन, वर्गीकरण, सारणीयन, विश्लेषण आदि समस्या के समाधान मे बहुत सहायक सिद्ध होते हैं।

सामाजिक परिवर्तन की दिशा तथा सामाजिक समस्यायें

(Direction of Social Change and Social Problems)

गिलिन, डिट्मर, कोबर्ट तथा **केस्लर** ने सामाजिक परिवर्तन की दो दिशाओं का उल्लेख किया हैं। उन परिवर्तन की दिशाओं के अनुसार कुछ विशेष प्रकार की सामाजिक समस्याएँ भी उत्पन्न होती हैं, जो निम्न हैं–

1. परिवर्तन की प्राथमिक दिशा (Primary Direction of Change)—जब किसी खोज अथवा आविष्कार को समाज नवाचार के रूप में स्वीकार कर लेता है तब उससे जो परिवर्तन होता है वह प्राथमिक दिशा मे परिवर्तन कहलाता है। जब समाज नये-नये साधनों के प्रयोग को स्वीकार कर लेता है तब भी परिवर्तन प्राथमिक दिशा मे होता है। प्रथम अथवा मौलिक परिवर्तन प्राथमिक दिशा वाला परिवर्तन कहलाता है। इस प्रकार की दिशा का उल्लेख गिलिन तथा सहयोगियो ने किया है। जनसख्या की आकस्मिक अदला-बदली भी इसके अन्तर्गत आती है।

2. परिवर्तन की द्वैतीयक दिशा (Secondary Direction of Change)— परिवर्तन की द्वैतीयक दिशा से गिलिन तथा साथियो का तात्पर्य प्राथमिक दिशा मे परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न कुसमायोजन से है। सन् 1947 मे भारत-पाकिस्तान के बँटवारे से जनसंख्याओं की अदला-बदली से जो सामाजिक कुसमायोजन पैदा हुआ वह परिवर्तन की द्वैतीयक दिशा थी। उससे अनेक सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न हुई थीं। साम्प्रदायिक दंगे, शरणार्थियों की समस्या, लूटमार, हत्याएँ आदि द्वैतीयक दिशा में परिवर्तन था। गिलिन तथा साथियो का कहना है कि सामाजिक परिवर्तन की द्वैतीयक दिशा से सामाजिक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

सामाजिक समस्याएँ और समाजशास्त्र (Sociology and Social Problems)—समाजशास्त्र का उन सभी कारणो, कारको, तथ्यों आदि से घनिष्ठ सम्बन्ध है जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं तथा प्रभावित होते हैं। समाजशास्त्र का सामाजिक समस्याओ के साथ केवल घनिष्ठ सम्बन्ध ही नहीं बल्कि ये तो समाजशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र और विषय सामग्री भी है। समाजशास्त्र की **एलेक्स इंकल्स** द्वारा जो परिभाषा दी गई है उससे यह सत्य और स्पष्ट हो जाएगा। इनके अनुसार, *"यह (समाजशास्त्र) सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक अव्यवस्था की प्रकृति की व्याख्या करता है।"* जब समाजशास्त्र सामाजिक अव्यवस्था की प्रकृति की व्याख्या करता है तब वह सामाजिक समस्याओ की ही व्याख्या करता है। **इंकल्स** ने आगे लिखा हैं, *"समाजशास्त्र उस व्यवस्था की खोज, तलाश वर्णन और व्याख्या करता है जो मानव के सामाजिक जीवन के गुण-दोषो को बताता है।"* सामाजिक जीवन के दोष ही सामाजिक समस्यायें हैं जो समाजशास्त्र के अध्ययन के प्रमुख उद्देश्यो मे से एक उद्देश्य है।

समाजशास्त्र की प्रमुख भूमिका सामाजिक व्यवस्था का अध्ययन करने की है। समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य है—सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार से बनी रहे? इसमें अव्यवस्था (समस्या) कैसे उत्पन्न होती है? समाज की समस्याओ को कैसे नियन्त्रित रखा जाता है?

समाजशास्त्र इस बात का विशेष रूप से अध्ययन करता है कि किन-किन कारणो से सामाजिक समस्याये उत्पन्न होती हैं? उन्हे नियन्त्रित करने के लिए सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ, परिभाषा, सिद्धान्त, प्रकार तथा अभिकरणो आदि का क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। विचलित व्यवहार के कौन-कौनसे कारण हे? सामाजिक समस्याओ और सामाजीकरण मे परस्पर क्या सम्बन्ध है? पारितोष और दण्ड के द्वारा विचलित व्यवहार कैसे नियन्त्रित किया जा सकता है? इन विभिन्न पक्षो का समाजशास्त्र मे वैज्ञानिक अध्ययन किया जाता है जो सामाजिक समस्याओ से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। समाजशास्त्र मे विवाह, परिवार, समूह, जाति, वर्ग सघर्ष आदि का अध्ययन किया जाता हे। इन विषयो पर अनुसन्धान कार्य किए जाते हैं जो सामाजिक समस्याओ को समझने तथा हल करने मे विशेष रूप से सहायता करते हैं।

सामाजिक समस्याओ का अध्ययन समाजशास्त्र की विशेष शाखा 'अपराधशास्त्र' (Criminology) मे किया जाता हे। यहाँ पर थोडा-सा इस पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है कि समाजशास्त्र मे सामाजिक समस्याओं का अध्ययन किस परिप्रेक्ष्य—वैज्ञानिक या मानविकी परिप्रेक्ष्य—के अनुसार किया जाता हे? अथवा दोनो परिप्रेक्ष्यो के अनुसार किया जाता है। समाजशास्त्र मे इस सम्बन्ध मे दो सम्प्रदाय हैं। एक सम्प्रदाय का मानना है कि समाजशास्त्र को सामाजिक समस्याओ का अध्ययन केवल वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार करना चाहिए। दूसरे सम्प्रदाय का कहना है कि समाजशास्त्र को वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के साथ-साथ मानविकी परिप्रेक्ष्य का भी ध्यान रखना चाहिए। वेज्ञानिक परिप्रेक्ष्य मे "क्या है?" तथा "क्या होगा?" का अध्ययन किया जाता है। "क्या होना चाहिए?" का अध्ययन मानविकी परिप्रेक्ष्य है जो वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत नहीं आता है।

सामाजिक समस्याये और वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य (Social Problems and Scientific Perspective)—समाजशास्त्र मे सामाजिक समस्याओ का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य के अनुसार पक्षपातरहित अध्ययन किया जाता है। वेज्ञानिक परिप्रेक्ष्य मे अध्ययन के निम्न चरणो—(1) समस्या का कथन, अथवा समस्या से सम्बन्धित प्राक्कल्पना का निर्माण, (2) सामग्री का सकलन, अवलोकन एव परीक्षण, (3) तथ्यो का वर्गीकरण, सारणीयन एव सगठन, (4) सामान्यीकरण, निष्कर्ष, (5) प्रतिवेदन लिखा जाता हे। समस्या से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यो मे परस्पर कारण प्रभाव सम्बन्धो का परीक्षण और अवलोकन किया जाता है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण वैज्ञानिक होता है जिसमे कारणता, आनुभविकता, सार्वभौमिकता आदि का ध्यान रखा जाता है। सामाजिक समस्या से सम्बन्धित निम्न प्रश्नो के उत्तरो का अन्वेषण किया जाता है—

(1) क्या है? (What is it?)
(2) कैसे है? (How is it?)
(3) क्यो है? (Why is it?)
(4) क्या होगा (What will it be?)

सामाजिक समस्याओ का अन्वेषण समाजशास्त्र मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करते समय उपर्युक्त प्रश्नों का ध्यान रखा जाता है। मानविकी परिप्रेक्ष्य मे "क्या होना चाहिए?"

प्रश्न का भी उत्तर दिया जाता है। समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं की प्रकृति का अध्ययन करके सामान्यीकरण करता है। समस्याओं से सम्बन्धित सिद्धान्तों को प्रतिपादित करता है जिसके द्वारा समस्याओं के हल खोजे तथा कार्यान्वित किये जा सकते हैं।

सामाजिक समस्यायें और मानविकी परिप्रेक्ष्य (Social Problems and Humanistic Perspective)—समाजशास्त्र मे एक विद्वानों का समूह सामाजिक समस्याओं के प्रति मानविकी दृष्टिकोण रखता है। मानविकी दृष्टिकोण अथवा परिप्रेक्ष्य के अनुसार सामाजिक समस्याओ का अध्ययन करने के साथ-साथ उसके समाधान की योजना भी बनाई जाती है तथा कार्यान्वित करने का प्रयास भी किया जाता है। समाजशास्त्र मे दुर्खीम द्वारा आत्महत्या का विनिबन्ध इसका उदाहरण है। मानविकी परिप्रेक्ष्य के अनुसार समस्याओ के कारणों का पता लगाया जाता है। व्यापक रूप से समस्या को प्रस्तुत किया जाता है। उनको दूर करने के लिए व्यावहारिक और उपयोगी योजना तथा नीतियों को प्रस्तुत किया जाता है। सामाजिक समस्याओं को रोकने के लिए सुझाव दिये जाते हैं। मानविकी दृष्टिकोण मे समाज के सुधार, विकास, उन्नति आदि के लिए प्रयास किये जाते हैं। उस परिप्रेक्ष्य के अन्तर्गत समस्या के विभिन्न कारणों की खोज की जाती है। उसे दूर करने के लिए प्रयास किये जाते हैं। बाल अपराध तथा अपराध के सम्बन्ध में जो अन्वेषण किया जायेगा उसमे इन समस्याओ के कारणों को खोजा जायेगा, अपराधियों को सुधारने के विभिन्न तरीको का पता लगाया जायेगा। सुधारात्मक योजना तैयार की जायेगी। इसी प्रकार विवाह विच्छेद, भिक्षावृत्ति, नशाखोरी, बेकारी, निर्धनता आदि का अध्ययन करने में उनको दूर करने के उपायो का पता लगाया जायेगा। यही सामाजिक समस्याओं का मानविकी परिप्रेक्ष्य के अनुसार अध्ययन कहलाता है।

समाजशास्त्र में सामाजिक समस्याओं का मानविकी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जो अध्ययन किया जाता है, उसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं—

1 समाजशास्त्र सामाजिक समस्याओं के सभी पक्षो का अध्ययन करता है।
2. सामाजिक समस्याओं का अध्ययन वैज्ञानिक और मानविकी दोनों दृष्टिकोणो से किया जाता है।
3 समस्याओं के समाधान के लिए रचनात्मक योजना तैयार करने के लिए सभी प्रकार की जानकारी योजनाकार को प्रदान करता है।
4 सामाजिक समस्याओं का—क्या है, क्यों हैं, कैसे है, क्या होगा तथा क्या होना चाहिए आदि सभी दृष्टिकोणों से सम्बन्धित कार्य-करण का अध्ययन करता है।
5 सामाजिक समस्याओं के प्रति लोगों में जागरूकता पैदा करता है।
6. सामाजिक समस्याओं के प्राथमिक तथा द्वैतीयक दिशाओं के परिवर्तन की जानकारी देता है।
7 सामाजिक समस्याओं के वैज्ञानिक अध्ययन को सम्भव बनाता है।

❒

अध्याय-27

समाजशास्त्र और सामाजिक परिवर्तन

(Sociology and Social Change)

ऑगस्ट कॉम्ट के विचार (Views of August Comts)—समाजशास्त्र को एक अध्ययन की महत्त्वपूर्ण क्षेत्र सामाजिक परिवर्तन है। किसी भी अध्ययन की वस्तु, जैसे—मानव समाज, जीव आदि को पूर्ण रूप से समझने एव भविष्य मे उसमे होने वाले परिवर्तनो का अनुमान लगाने के लिए आवश्यक है कि उसके जो परिवर्तन भूतकाल मे हुए हैं उनका अध्ययन किया जाए तथा वर्तमान मे उसकी सरचना एव प्रकृति का अध्ययन करके भविष्य के सम्बन्ध मे सिद्धान्त निर्माण करके भविष्यवाणी की जाए। इसी सदर्भ मे यह आवश्यक है कि समाजशास्त्र को सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन करना चाहिए।

ऑगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र विषय की स्थापना सन् 1838 मे की थी। आपने समाजशास्त्र को समाज का दो दृष्टिकोणो—(1) सामाजिक स्थिरता और (2) सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन करने वाला विज्ञान बताया। सामाजिक गतिशीलता के अन्तर्गत समाज के विकास और परिवर्तन के अध्ययन पर जोर दिया। कॉम्ट की मान्यता थी कि समाज विकास के विभिन्न चरणो से होकर गुजर रहा है तथा प्रवाहित होता है। आपने ज्ञान के विकास के क्रमो का विश्लेषण किया तथा इसके परिवर्तन के निम्न तीन चरण बताए—(1) धार्मिक, (2) तत्त्वमीमासीय, और (3) प्रत्यक्षवादी। गतिशील अध्ययन मे सामाजिक घटनाओ का अध्ययन काल-क्रमिक किया जाता है। यह देखा जाता है कि विभिन्न कालो मे विकास एवं परिवर्तन का क्रम क्या रहा। इसमें सामाजिक घटना से सम्बन्धित भूतकाल की सूचनाओ को एकत्र किया जाता है तथा उनकी प्रामाणिकता निर्धारित की जाती है। *थियोडोरसन एव थियोडोरसन* ने लिखा है कि परिवर्तन के क्षेत्र समाचार पत्र व्यापारी आलेख, यात्रियो के सस्मरण, सभी प्रकार का साहित्य तथा भौतिक अवशेष, जैसे—सभी प्रकार के भवन तथा वस्तुएँ होती हैं।

गतिक अध्ययन का महत्त्व

(Impotrnace of Dynamic Study)

गतिशील अध्ययन मे सामाजिक तथ्यो की प्रामाणिकता और सत्यता को ऐतिहासिक घटनाओ के आधार पर विश्लेषित किया जाता है। सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन मे अतीत और वर्तमान की घटनाओं की तुलना की जाती है तथा निष्कष निकाले जाते हैं। *ईवान्स-प्रिचार्ड* ने भी लिखा है कि वर्तमान मे जब वैज्ञानिक किसी समाज अथवा सामाजिक घटना का अध्ययन करता है तो उसके सम्मुख प्रश्न उठता है कि उनका अतीत मे सरलतम रूप क्या था। इस जिज्ञासा का

समाधान सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी अध्ययन ही कर सकता है। वर्तमान को समझने तथा निष्कर्ष निकालने में अतीत का भी महत्त्व है। सामाजिक पविर्तन का अध्ययन करने वाले समाजशास्त्री सामाजिक संस्थाओ, समाजो और सभ्यताओं की उत्पत्ति, विकास और रूपान्तरण की समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। यह सम्पूर्ण मानव इतिहास और समाज को सभी महत्त्वपूर्ण संस्थाओ से सम्बन्धित इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र मे सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी अध्ययन कितने महत्त्वपूर्ण होते हैं।

इस संसार में प्रत्येक वस्तु : जोव निर्जीव, भोतिक-अभौतिक, पेड-पौधे मानव समाज और संस्कृति सभी परिवर्तनशील हैं। परिवर्तन प्रकृति और समाज का सर्वकालिक ओर सार्वभौमिक निगम है। पहले को तुलना मे आज विश्व मे सामाजिक परिवर्तन बहुत तीव्र गति मे हो रहे हैं। नगरीय और विकसित समाजो मे ग्रामीण और अविकसित समाजों की तुलना मे परिवर्तन की गति बहुत तेज है। ये परिवर्तन बहु-आयामी हैं। मैकाइवर और पेज ने लिखा है कि जिसे हम समाज कहते हैं वह एक निरन्तर परिवर्तित होती रहने वाली जटिल व्यवस्था है। यह सामाजिक सम्बन्धो का जाल है ओर यह हमेशा बदलता रहता है। आज तक कोई भी ऐसा समाज नहीं देखा गया है जो परिवर्तनशील न हो। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि किसी भी समाज को पूर्ण रूप से समझने के लिए आवश्यक है कि हम उसमे होने वाले परिवर्तन के विभिन्न पक्षो को समझे।

समाजशास्त्र में सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन
(Study of Social Change in Sociology)

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि समाज को पूर्ण रूप से समझने, योजनाबद्ध विकास करने, विकाम की योजना बनाने, प्रगति के मार्ग मे बाधाओ को ज्ञात करने, विकाम योजनाओ को क्रियान्वित करने आदि के लिए सामाजिक परिवेश सम्बन्धी अध्ययन अत्यावश्यक है। समाजशास्त्र और सामाजिक परिवर्तन अन्योन्याश्रित अवधारणाएँ ह। सामाजिक परिवेश के अध्ययन के अभाव में समाजशास्त्र का महत्त्व गोण हो जाता है। इसीलिए समाजशास्त्र मे सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित निम्न प्रकरणो का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा एव सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ एव प्रकृति। (1) सामाजिक परिवर्तन के काव्य, (2) सामाजिक परिवर्तन के प्रकार, उद्‌विकास और क्रान्ति प्रगति और विकाम आदि-आदि।

सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा, सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ एव प्रकृति, सामाजिक परिवर्तन के कारक आदि के लिए इस पुस्तक के अध्याय-25 को पढिए। सामाजिक परिवर्तन के प्रकार की विवेचना अग्रलिखित है—

सामाजिक परिवर्तन के प्रकार
(Types of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के प्रमुख प्रकार निम्न प्रकार है—

सामाजिक परिवर्तन के प्रकार

उद्‌विकास | प्रगति | क्रान्ति | विकाम
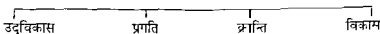
(1) उद्विकास
(Evolution)

सर्वप्रथम डार्विन ने प्राणीशास्त्र में जीवो की उत्पत्ति का उद्विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। समाजशास्त्र मे इस सिद्धान्त को कॉम्टे, स्पेसर मार्क्स, वेबर, दुर्खीम आदि ने विकसित किया। इन विचारको ने जैवकीय उद्विकास से सामाजिक उद्विकास की अवधारणा को प्रतिफलित किया। इनकी मान्यता है कि समाज और सस्कृति जीवो की तरह सरलता से जटिलता, समानता से विभिन्नता तथा एक सीधी रेखा मे परिवर्तित होती है। उद्विकास के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने से पहले इसके अर्थ और परिभाषाओ का अध्ययन करेंगे।

उद्विकास का अर्थ एवं परिभाषा—उद्विकास अँग्रेजी के शब्द 'EVOLUTION' का हिन्दी रूपान्तरण है। इस Evolution शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'EVOLVER' से हुई है। 'E' का अर्थ है 'बाहर की ओर' (out) और 'Volver' का अर्थ है 'प्रकट होना' या 'खोलना' (to unfold) या विकसित होना। सरल शब्दो मे उद्विकास का अर्थ है किसी वस्तु का बाहर को ओर खुलना, फैलना या विकसित होना। विज्ञान मे उद्विकास को एक प्रक्रिया माना जाता है जिसमें वस्तु, घटना या जीव एक सीधी-सादी अवस्था एवं संरचना से क्रमबद्ध विकास के द्वारा जटिल, विभेदीकृत संरचना या अवस्था में परिवर्तित हो जाती है, जैसे—बीज का अंकुरित होकर पेड़ बन जाना तथा एक कोष्ठ का शिशु तथा मानव बन जाना उद्विकास कहलाएगा। उद्विकास की कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

(1) स्पेन्सर के अनुसार, "उद्विकास कुछ तत्त्वो का एकीकरण तथा उससे सम्बन्धित वह गति है जिसके अन्तर्गत कोई तत्त्व एक अनिश्चित तथा असम्बद्ध समानता से निश्चित और सम्बद्ध भिन्नता में परिवर्तित हो जाता है।"

(2) मैकाइवर तथा पेज के अनुसार, "जब परिवर्तन मे निरन्तरता ही नहीं होती बल्कि परिवर्तन की एक दिशा भी होती है, तो ऐसे परिवर्तन से हमारा तात्पर्य उद्विकास से होता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओ से निष्कर्ष निकलता है कि उद्विकास एक निश्चित दिशा मे होने वाले निरन्तर परिवर्तन की प्रक्रिया है जो वस्तु की आन्तरिक शक्तियो एवं क्षमताओ के कारण होता रहता है एव इसमे वस्तु अनिश्चित तथा असम्बद्ध समानता से निश्चित सम्बद्ध भिन्नता तथा जटिलता की ओर परिवर्तित होती है।

उद्विकास की विशेषताएँ

इसकी निम्नलिखित विशेषताएँ हैं जो इसके अर्थ को और अधिक स्पष्ट करती हैं—

1. सरल से जटिल परिवर्तन—उद्विकास में परिवर्तन हमेशा सरल अवस्था से जटिल अवस्था की ओर होता है, जैसे—जीवन जगत में एककोशीय अमीबा से बहु कोशीय मेधावी मानव का विकास हुआ है। इसी प्रकार आखेटक समाज से आदिम समाज फिर ग्राम, नगर तथा महानगरीय समाज का विकास हुआ है।

2. सीधी रेखा में परिवर्तन—उद्विकास में परिवर्तन सीधी रेखा में आगे की ओर तथा ऊपर की ओर होता है, जैसे—मानव का उद्विकास एक कोशीय अमीबा, रीढ़ की हड्डी वाले जीव, फिर स्तनधारी जीव से हुआ है। अब मानव से पुनः अमीबा की ओर परिवर्तन नहीं हो सकता है। उद्विकास में परिवर्तन 'नहीं पलटने वाली प्रक्रिया' है। परिवर्तन सरल से जटिल अवस्था की ओर ही होता है न कि जटिल अवस्था से सरल अवस्था की ओर।

3. निश्चित चरणों में परिवर्तन—उद्विकास मे परिवर्तन सर्वदा निश्चित चरणों मे होता है, जैसे—अमीबा से बहुकोशीय बिना रीढ़ की हड्डी वाले जीव, फिर रीढ़ की हड्डी वाले, फिर स्तनपायी जीव, फिर मानव का विकास हुआ है। उद्विकास के ये चरण निश्चित हैं। बीच का कोई भी चरण छोडा नहीं जा सकता है। मानव सभ्यता का विकास **मॉर्गन** ने जंगली अवस्था, गँवार अवस्था तथा सभ्य अवस्था बताई है। इनके अनुसार सभ्यता का विकास इन चरणों से गुजर कर होगा। बीच का दूसरा चरण छूट नहीं सकता है।

4. न्यूनतम श्रम-विभाजन से अधिकतम श्रम विभाजन की ओर परिवर्तन होता है। जैसे-जैसे जीव अवस्था वस्तु का उद्विकास होगा श्रम का विभाजन बढ़ता जाएगा। एककोशीय जीव या आदिम समाज में न्यूनतम श्रम का विभाजन होता है। परन्तु मानव बहु-कोशीय जीव अथवा महानगर में भिन्न-भिन्न कार्यो के लिए अलग-अलग अंग अथवा विभाग होते हैं।

5. न्यूनतम विशेषीकरण से अधिकतम विशेषीकरण उद्विकास की पाँचवीं विशेषता है। जैसे-जैसे परिवर्तन होता है, वैसे-वैसे कार्यो को करने वाले अंग अथवा कार्य को करने वाले संगठन विशेषीकृत होते जाते हैं, जैसे—मानव शरीर में फैंफड़े, हृदय, पाचन नली, गुर्दा, आँखे, हाथ आदि नगर में जलदाय विभाग, बिजली घर, परिवहन निगम, न्यायालय, चिकित्सालय आदि।

6. न्यूनतम विभेदीकरण से अधिकतम विभेदीकरण भी उद्विकास मे सरल से जटिल परिवर्तन के साथ-साथ चलता है तथा परिवर्तन आता जाता है। संरचना के अगों में भिन्नता बढ़ती जाती है।

7. न्यूनतम निपुणता से अधिकतम निपुणता की परिवर्तन की प्रक्रिया भी उद्विकास में देखी जा सकती है। **स्पेन्सर** की मान्यता है कि जैसे-जैसे उद्विकास होता है वैसे-वैसे जीव और समाज पूर्ण निपुणता की ओर अग्रसर होते जाते हैं तथा उनमें अनुकूलता की क्षमता भी बढ़ती जाती है।

8. उद्विकास में परिवर्तन निरन्तर एवं धीमी गति से होता है।

9. परिवर्तन वस्तु की आन्तरित क्षमता के द्वारा उसकी संरचना में होता है। संरचना सरल अवस्था से जटिल अवस्था में परिवर्तित स्वत: ही अपनी अन्तर्निहित क्षमता तथा गुणों के कारण होती है।

सामाजिक उद्विकास और सामाजिक संरचना

सामाजिक उद्विकास द्वारा सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या हरबर्ट स्पेन्सर, टायलर मोरगन आदि ने की है। स्पेन्सर ने कहा कि जिस प्रकार से जीवों का विकास सरलता से जटिलता, न्यून

विभेदीकरण से अधिकतम विभेदीकरण तथा न्यूनतम निपुणता से अधिकतम निपुणता की ओर होता है, उसी प्रकार से समाज, राज्य, धर्म आदि का विकास भी सरलता, न्यून विभेदीकरण तथा न्यून निपुणता से जटिलता, अधिकतम विभेदीकरण तथा अधिकतम निपुणता की ओर होता है। प्रारम्भ मे समाज छोटे, सरल, सादा, सीधे, न्यून श्रम विभाजन वाले थे। धीरे-धीरे उनका आकार बड़ा हुआ, श्रम का विभाजन बढ़ा, विशेषीकरण आया, परस्पर निर्भरता बढ़ी, सहयोग करना आवश्यक हो गया तथा समाज, संस्कृतियाँ तथा इनके विभिन्न अंग एव सस्थाएँ सरल से जटिल अवस्था मे परिवर्तित हो गई। आदिम सरल समाज जटिल महानगर में परिवर्तित हुए। इसी प्रकार जंगली अवस्था से सभ्य अवस्था, सयुक्त परिवार से एकाकी परिवार, कामाचार से एक-विवाह, बाल-कला से प्रतीकात्मक कला, बहु-देवतावाद से एक-देवतावाद आदि क्षेत्रों मे उद्विकास परिवर्तन देखे गए। उद्विकास के सिद्धान्त द्वारा विद्वानो ने सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों मे परिवर्तन की व्याख्या की है। विद्वानों के अनुसार सामाजिक उद्विकास एकरेखीय न होकर बहुरेखीय है तथा सामाजिक परिवर्तन पुन: लौट भी सकता है। जीव जगत मे उद्विकास के चरणों की पुनरावृत्ति नहीं होती है, परन्तु सामाजिक परिवर्तन मे चरणों की पुनरावृत्ति हो सकती है। सामाजिक परिवर्तन मे बाह्य कारक भी परिवर्तन को प्रभावित करते हैं। सामाजिक उद्विकास के द्वारा विद्वानो ने अनेक समाजो मे परिवर्तन के रूपों तथा दिशा की निश्चित विधि से व्याख्या की है। उद्विकास की दृष्टि से भारतीय समाज एव संस्कृति तथा इसके विभिन्न प्रकरणों तथा सस्थाओ (जाति, परिवार, धर्म, विवाह, सभ्यता आदि) के परिवर्तन की सुनिश्चित तथा क्रमबद्ध व्याख्या एव मूल्याकन किया गया है। विद्वानो ने उद्विकास की दृष्टि से भारतीय समाज तथा सस्कृति के परिवर्तन को—(1) पूर्व मुगल काल, (2) मुगल काल, (3) ब्रितानिया काल, और (4) उत्तर-स्वातन्त्र्य काल मे विभाजित करके अध्ययन किया है। सामाजिक उद्विकास के सिद्धान्त ने समाज एव सस्कृति के अध्ययन को वैज्ञानिकता प्रदान की हैं। सर्वप्रथम इसी सिद्धान्त ने समाज तथा सस्कृति के अध्ययन को वैज्ञानिक बनाया।

(2) प्रगति
(Progress)

प्रगति सामाजिक परिवर्तन की एक विशिष्ट प्रक्रिया है। इसमे निश्चित लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए योजनाबद्ध प्रयास किए जाते हैं। प्रगति ऐसा सामाजिक परिवर्तन है जिसमें मूल्य निर्धारित करके अच्छाई के लिए परिवर्तन किया जाता है। इस परिवर्तन के द्वारा सुख-सुविधाओं मे वृद्धि होती है तथा लाभ अधिक होता है एव हानि कम। प्रगति का अर्थ भिन्न-भिन्न कालो और समाजो मे भिन्न-भिन्न मिलता है। एक ही समाज के विभिन्न युगो मे भी इसका अर्थ अलग-अलग मिलता है। विद्वानो में भी प्रगति के अर्थ के सम्बन्ध में एक मत नहीं मिलता है। प्राचीनकाल मे प्रगति से तात्पर्य आध्यात्मिक लक्ष्यो की प्राप्ति था। आज आधुनिक युग मे भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति एव वृद्धि प्रगति कहलाती है। प्रगति मूल्य सापेक्ष अवधारणा है। अब हम प्रगति की अवधारणा, विशेषताएँ, मापदण्ड आदि पक्षों का अध्ययन करेंगे।

प्रगति का अर्थ एवं परिभाषा--एल. एफ. वार्ड, ऑगबर्न एवं निमकॉफ, हारनेल हार्ट तथा हॉबहाउस ने प्रगति की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं—

(1) **वार्ड** के अनुसार, "प्रगति वह है जो मानवीय सुख में वृद्धि करती है।"

(2) **ऑगबर्न** तथा **निमकॉफ** के अनुसार, "प्रगति का अर्थ होता है—अच्छाई के लिए परिवर्तन और इसलिए प्रगति में मूल्य-निर्धारण होता है।"

(3) **हार्ट** के अनुसार, "सामाजिक प्रगति सामाजिक ढाँचे में वे परिवर्तन हैं जो कि मानवीय कार्यों को मुक्त करें, प्रेरणा और सुविधा प्रदान करें तथा उसे संगठित करे।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रगति अच्छाई के लिए किया गया सामाजिक परिवर्तन है जो समाज में सुख में वृद्धि करती है, यह मूल्यो पर आधारित सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन करता है तथा समाज को संगठित रखता है। प्रगति समाज के मूल्यों, शक्तियों, तार्किक्ता, तकनीकी उन्नति आदि पर आधारित योजनाबद्ध परिवर्तन होता है।

प्रगति की विशेषताएँ--*प्रगति की विशेषताओं का अध्ययन करने से इसका अर्थ और* स्पष्ट हो जाएगा। इसकी विशेषताएँ अग्रलिखित हैं—

1. निश्चित लक्ष्य--प्रगति एक ऐसा विशिष्ट परिवर्तन है जिसका निश्चित लक्ष्य होता है। भिन्न-भिन्न समाजो में लक्ष्य भिन्न-भिन्न होते हैं। विशिष्ट समाज अपनी आवश्यकतानुसार लक्ष्य एवं दिशा तय करके परिवर्तन की योजना बनाते हैं तथा समाज की प्रगति करते हैं।

2. मूल्य सापेक्ष परिवर्तन--प्रगति मूल्यों पर आधारित एवं निर्धारित सामाजिक परिवर्तन है। समाज अपनी परम्पराओं तथा आदर्शों के आधार पर परिवर्तन के लक्ष्य एवं दिशा निश्चित करते हैं। ऐसे मूल्यों से सम्बन्धित तथा आधारित परिवर्तन प्रगति कहलाते हैं।

3. समाज से सम्बन्धित परिवर्तन—समाज से सम्बन्धित परिवर्तन ही प्रगति हो सकते हैं। क्योंकि प्रगति मूल्यों, आदर्शों, लक्ष्यो आदि से सम्बन्धित परिवर्तन हैं जो केवल मानव समाज में ही सम्भव हैं। अन्य प्राणियों में प्रगति का होना सम्भव नहीं है। पशु योजना नहीं बना सकते हैं मानव समाज योजनाबद्ध परिवर्तन करके प्रगति करता है।

4. नियोजित एवं सचेत परिवर्तन—प्रगति अन्य प्रकार के परिवर्तनों से इस अर्थ में भी भिन्न है कि इसमें मानव समूह मिलकर सचेत रूप से अपनी आवश्यकताओ के अनुसार योजना नियोजित करके परिवर्तन करते हैं।

5. तुलनात्मक अवधारणा--*प्रगति सामाजिक परिवर्तन की एक तुलनात्मक अवधारणा* है। यह समाज एवं समय सापेक्ष है। भिन्न-भिन्न समाजो के मूल्य, आदर्श, परम्परा एव आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। क्योंकि प्रगति मूल्य सापेक्ष है इसलिए अलग-अलग समाजो की प्रगति के लक्ष्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। प्रगति के लक्ष्य एक ही समाज के अलग-अलग कालो में भी बदलते रहते हैं। एक समाज में जो प्राचीनकाल में प्रगति कहलाती थी आज पिछड़ापन हो सकती है। उदाहरण के रूप में आध्यात्मिक लक्ष्य प्राचीनकाल में प्रगति थे आज भौतिकवाद की

ओर परिवर्तन प्रगति है। प्रगति समय और स्थान के अनुसार बदलती रहती है। भारत मे जनसंख्या एक समस्या है परन्तु पश्चिम के कुछ देशो मे जनसख्या वृद्धि प्रगति मानी जाती है। प्रगति की अवधारणा परिवर्तनशील है।

6. प्रगति लाभकारी परिवर्तन अधिक एव हानिकारक कम है। प्रगति समाज की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर नियोजित की जाती है। इसलिए इसमे लाभ की सम्भावना अधिक रहती है।

सामाजिक प्रगति की कसौटियाँ—विद्वानो ने प्रगति को नापने के लिए कुछ मापदण्ड दिए हैं जिससे यह पता लगाया जा सकता है कि कोन-सा परिवर्तन सामाजिक प्रगति है। अर्थशास्त्री **पीगू** आर्थिक कल्याण को तथा अन्य विद्वान् आय, जीवन स्तर, उद्योग, उत्पादन, व्यापार तथा वाणिज्य इत्यादि मे वृद्धि को प्रगति कहते हैं। समाजशास्त्री **बोगार्डस** ने प्रगति को मापने के निम्नलिखित चौदह आधार दिए है—(1) प्राकृतिक स्रोतो का सार्वजनिक उपयोग, (2) शारीरिक एवं मानसिक स्वस्थता, (3) स्वस्थ वातावरण का विकास, (4) मनोरजन के उपयोगी साधनो मे वृद्धि, (5) संगठित परिवारो मे वृद्धि, (6) रचनात्मक कार्यो के अवसरों का विकास, (7) व्यापार एव उद्योग के अधिकारो मे वृद्धि, (8) सामाजिक बीमे की सुविधाओ मे वृद्धि, (9) जीवन-स्तर मे वृद्धि, (10) सरकार और जनता के पारस्परिक सहयोग मे वृद्धि, (11) कला का प्रसार, (12) धार्मिक एव आध्यात्मिक पक्षो का विकास, (13) व्यावसायिक, बौद्धिक और कल्याणकारी शिक्षा का विस्तार, तथा (14) सहयोगी तथा सहकारी जीवन मे वृद्धि।

सामाजिक प्रगति के लिए सहायक दशाएँ

निम्नाकित कुछ सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक दशाएँ हैं जो प्रगति की प्रक्रिया मे सहायक सिद्ध होती हैं—

(1) सामाजिक सुरक्षा—जब समाज मे लोग अपने को सुरक्षित महसूस करते हैं तो ऐसे समाज मे प्रगति के अवसर बढ जाते हैं।

(2) आत्म-विश्वास—सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है कि समाज के लोगों मे स्वयं में आत्मविश्वास होना चाहिए कि वे प्रगति कर सकते हैं।

(3) कार्य में विश्वास—*अगर लोग कार्य मे विश्वास रखते हैं, मेहनती हैं, तो प्रगति* के अवसर बढ जाते हैं। समाज के लोग भाग्यवादी होगे, रूढ़िवादी होगे, धार्मिक नियतिवादी हैं तो प्रगति के अवसर कम हो जाएँगे।

(4) नैतिक चरित्र—जिस समाज मे लोग बेईमान, अनैतिक, भ्रष्ट तथा अन्यायी होगे तो वह समाज प्रगति नहीं कर सकता है। वह समाज तेजी से प्रगति करता है जिस समाज के सदस्य नैतिक चरित्र वाले होते हैं।

(5) शिक्षा का स्तर—समाज के जितने अधिक लोग शिक्षित होगे तथा शिक्षा का स्तर जितना उच्च होगा वह समाज उतनी ही तीव्रता से प्रगति करेगा। शिक्षा समाज के सदस्यों को नवीन परिवर्तनों को स्वीकार करने तथा आविष्कार करने के लिए आधार प्रदान करती है।

(6) स्वतन्त्रता एवं समानता—स्वतन्त्रता एवं समानता लोगों में कर्त्तव्यपरायणता, उत्तरदायित्व की भावना एवं प्रगति करने के लिए जिज्ञासा एव आत्मविश्वास पेदा करती है। इसलिए स्वतन्त्र देश गुलाम देशों की तुलना में तेजी से प्रगति करते हैं।

(7) राजनैतिक स्थिरता—सामाजिक प्रगति के लिए राजनैतिक एवं प्रशासनिक स्थिरता आवश्यक है। उसके अभाव में लोगों में असुरक्षा की भावना रहती है। उनके प्रयास निष्फल हो सकते हैं।

(8) योग्य नेतृत्व—सामाजिक प्रगति के लिए आवश्यक है कि समाज के जनसाधारण को कोई दिशा-निर्देश देने वाला हो। उनको त्याग और बलिदान करने के लिए तैयार करे तथा प्रगति करने के लिए तैयार करे, त्यागी तथा निस्वार्थ भाव से जनसाधारण का नेतृत्व करे। अच्छे नेतृत्व के द्वारा समाज प्रगति करता है।

(9) वैज्ञानिक एवं औद्योगिक प्रगति—सामाजिक प्रगति के लिए समाज में आधुनिकतम वैज्ञानिक एव औद्योगिक ज्ञान उपलब्ध होना चाहिए। उन्नत आद्योगिकी के अभाव मे समाज धीमी *प्रगति करता है। समाज की प्रगति का सीधा गुण सम्बन्ध वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास के* साथ होता है।

(10) नवीनतम आविष्कार—जब समाज मे नवीनतम आविष्कार उपलब्ध होते हैं तो उससे अनेक समस्याओं का समाधान करके समाज प्रगति करता है। समाज मे सुख-सुविधाएँ बढ़ती हैं तो ये प्रगति के सूचकांक हैं।

(11) अनुकूल पर्यावरण—समाज की तीव्र गति से प्रगति के लिए अनुकूल भौगोलिक एवं प्राकृतिक पर्यावरण आवश्यक है। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जिन देशो मे वर्षा, नदियाँ, झीलें, प्राकृतिक सम्पदा, जैसे—उपजाऊ भूमि, खनिज पदार्थ, चाँदी, सोना, लोहा, कोयला, पेट्रोल, यूरेनियम के विपुल भण्डार रहे, उन देशों ने तेजी से प्रगति की है।

(12) इष्टतम जनसंख्या—प्रगति का सम्बन्ध राष्ट्र की भौगोलिक सम्पदा तथा जनसंख्या के साथ सीधा है। जिस देश मे जब इष्टतम जनसख्या होती है उस समय उसकी प्रगति की दर भी अधिकतम होती है। इष्टतम जनसख्या से जब जनसख्या अधिक अथवा कम होती है तब प्रगति की दर भी कम हो जाती है। इष्टतम जनसंख्या उपलब्ध प्राकृतिक सम्पदा का अधिकतम दोहन करती है जिसका सामाजिक प्रगति की दर को बढ़ाने मे सकारात्मक सहयोग मिलता है।

(13) न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति—सामाजिक प्रगति की न्यूनतम आवश्यकता यह है कि समाज के सभी सदस्यों को भोजन, वस्त्र और आवास की सुविधाएँ उपलब्ध हों। इन न्यूनतम आवश्यकताओं के अभाव में समाज प्रगति की सोच भी नहीं सकता।

प्रगति के द्वन्द्व—रोमीन ने प्रगति के द्वन्द्व पर प्रकाश डाला है। आपका कहना है कि समाज में निश्चित दिशा तथा लक्ष्यों के लिए प्रगति होती है तो उसका लाभ एक वर्ग विशेष को अधिक मिलता है। यह वर्ग विशेष तब तक तीव्र गति से प्रगति चाहता है जब तक उसके निहित स्वार्थ

प्राप्त नहीं हो जाते हैं। जब इनके स्वार्थों तथा लाभों की पूर्ति की चरम सीमा आ जाती है तब ये प्रगति को रोकते हैं। पुन: शीघ्र तथा तीव्र परिवर्तन नहीं होने देते हैं। दूसरी ओर दलित वर्ग की स्थिति दयनीय होती है। वह लाभों से वंचित रहता है। जब दलित वर्ग उत्थान तथा प्रगति करने का प्रयास करता है तो उच्च वर्ग उसमें बाधा पैदा करता है। इसी को रोमीन 'प्रगति का द्वन्द्व' कहते हैं। इसी प्रकार का द्वन्द्व राज्यों के बीच भी देखा जा सकता है। सम्पन्न राज्यो और क्षेत्रों में अधिक प्रगति होती है तथा कमजोर राज्यों और क्षेत्रों में कम अथवा नहीं के बराबर प्रगति होती है। यह द्वन्द्व वर्गों जातियों, समूहों, परिवारो आदि में भी मिलता है।

सामाजिक प्रगति एवं सामाजिक परिवर्तन

प्रश्न उठता है कि क्या प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन सामाजिक प्रगति है? प्रत्येक सामाजिक परिवर्तन प्रगति नहीं होते हैं। वही सामाजिक परिवर्तन प्रगति कहलाते हैं जो समाज के निर्धारित लक्ष्यों एवं लाभ प्राप्ति तथा मानवीय कल्याण एव सुख-सुविधाओं को बढाने के लिए किए जाते हैं। जो परिवर्तन प्रगति की कसौटियो पर खरे उतरते हैं उन्हीं परिवर्तनो को प्रगति कहा जाता है। परिवर्तन अपने आप में एक तटस्थ एवं मूल्य-रहित अवधारणा है जो उद्विकास, क्रान्ति, प्रगति, विकास या आन्दोलन कुछ भी हो सकता है।

आधुनिक युग एवं प्रगति—वर्तमान युग प्रगतिशील है या नहीं, इसका मूल्यांकन भौतिक तथा अभौतिक संस्कृति के आधार पर कर सकते हैं। वर्तमान युग में लोगों का चारित्रिक तथा नैतिक पतन हुआ है, सच्चाई, दया, मानवीय मूल्यों में कमी आई है। झूठ, बेईमानी, धोखाधड़ी, श्वेत अपराध, यौन स्वच्छन्दता आदि बढ़े हैं। इस प्रकार आधुनिक युग मे अभौतिक क्षेत्र मे प्रगति के स्थान पर अधोगति हुई है। भौतिक सुख-सुविधाओ, साधनो आदि की उपलब्धि के आधार पर आधुनिक युग ने प्रगति की है। विज्ञान, उद्योग, प्रौद्योगिकी, आविष्कार, सचार और यातायात के साधन, चिकित्सा तथा स्वास्थ्य सुविधाएँ, शिक्षा आदि क्षेत्रो मे काफी प्रगति हुई है।

भारत में प्रगति—भारत ने प्रगति की है या नहीं? इसका मूल्यांकन भी भौतिक तथा अभौतिक संस्कृतियों की उपलब्धि के आधार पर कर सकते हैं। वर्तमान काल में अभौतिक क्षेत्र मे भारत में प्रगति नहीं हुई है। हर क्षेत्र मे भ्रष्टाचार बढा है। गत वर्षों मे आध्यात्मिक प्रगति के स्थान पर नैतिक चरित्र का ह्रास हुआ है। झूठ, बेईमानी, घूसखोरी, हत्याओं, बाल-अपराध तथा अपराध, चोरी, डकैती आदि में निरन्तर वृद्धि हो रही है। भौतिक क्षेत्र में भारत ने प्रगति की है। भारत अन्य राष्ट्रों—अमेरिका, जापान आदि की तुलना मे वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकी तथा तकनीकी में बहुत कम प्रगति कर पाया है। वैज्ञानिकों, अभियन्ताओं, तकनीशियनो की संख्या के आधार पर भारत का विश्व में दूसरा स्थान है। भारत के अनेक वैज्ञानिक, डॉक्टर, अभियन्ता विश्व के अनेक राष्ट्रों में कार्य कर रहे हैं। विकासशील देशों में भारत का स्थान प्रगति के आधार पर ऊँचा है। कई राज्यों, क्षेत्रों, जिलो आदि का विकास किया है तो कई दूर-दराज के राज्य काफी पिछडे हुए हैं। अनेक प्रयासो द्वारा अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जनजातियो, पिछडे वर्गों, महिलाओ आदि की प्रगति के लिए कार्य किए जा रहे हैं। इनमें प्रगति भी हो रही है किन्तु जनसंख्या विस्फोट के कारण अनेक क्षेत्रो मे प्रगति करने पर भी भारत पिछडा हुआ है।

(3) क्रान्ति
(Revolution)

क्रान्ति सामाजिक परिवर्तन का ऐसा चरम स्वरूप है जिसका उद्देश्य सत्ताधारियों को झटका देना होता है या उनको सत्ता से हटाना होता है अथवा उनको जान से मार डालना होता है। क्रान्ति द्वारा विद्यमान सामाजिक व्यवस्था तथा सत्ता को उखाड़कर फेंक दिया जाता है। सामाजिक परिवर्तन के अन्य प्रकारों की तुलना में क्रान्ति धीमी नहीं होती है। इसमे परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र होती है। इसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था में आमूलचूल परिवर्तन लाना होता है। नकारात्मक दृष्टि से देखें तो क्रान्ति विद्रोह, गदर, बलवा, बगावत, सैन्य-द्रोह आदि नहीं होती है। क्रान्ति को समझने के लिए इसकी परिभाषाओं का अध्ययन आवश्यक है।

क्रान्ति का अर्थ एवं परिभाषा

(1) **हॉर्टन** और **हण्ट** के अनुसार, "क्रान्तिकारी आन्दोलन वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को उखाड़कर उसके स्थान पर एक बिल्कुल भिन्न व्यवस्था लाना चाहता है।"

(2) **किम्बाल यंग** के अनुसार, "क्रान्ति एक ऐसा आकस्मिक सामाजिक परिवर्तन है जो साधारणत: वर्तमान राजनैतिक व्यवस्था को बलपूर्वक उलट देने से घटित होता है और जिसके फलस्वरूप सामाजिक और कानूनी नियंत्रण के नए स्वरूपो की स्थापना होती है।"

(3) **बोगार्डस** के अनुसार, "सामाजिक क्रान्ति असद्भावना तथा रक्तपात की कीमत पर शक्तिशाली विप्लव पैदा करके अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के मूल्यो को उखाड़ फेकती है और विस्तृत सामाजिक पुनर्गठन की मांग करती है।"

(4) **वर्थीम** लिखते हैं, "मेरे अनुसार मूल कसौटी यह है कि क्रान्ति सदैव विद्यमान सामाजिक व्यवस्था और वर्तमान सत्ता संरचना को उखाड़ फेंकती है . ।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से यही निष्कर्ष निकलता है कि "क्रान्ति समाज में आकस्मिक परिवर्तन करती है। इसमें बल का प्रयोग होता है। सामाजिक तथा कानून के नए स्वरूपों को स्थापित करती है। अच्छे-बुरे सभी मूल्यो को उखाड़ फेंकती है। इसमें रक्तपात द्वारा भी परिवर्तन हो सकता है।"

सामाजिक क्रान्ति की विशेषताएँ—सामाजिक क्रान्ति को समझने के लिए इसकी विशेषताओं का ज्ञान आवश्यक है, जो निम्नलिखित है—

(1) **नव-सामाजिक व्यवस्था की स्थापना**—क्रान्तिकारी पुरानी सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था तथा सत्ता को उखाड फेक देते हैं तथा नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करते हैं।

(2) **आमूल-चूल परिवर्तन**—क्रान्ति के द्वारा समाज के विभिन्न पक्षों, उप-व्यवस्थाओं तथा संरचना में आमूल-चूल परिवर्तन आता है।

(3) **नेतृत्व में परिवर्तन**—क्रान्ति का प्रमुख उद्देश्य नेतृत्व में परिवर्तन होता है। पुराने नेताओं तथा मुखियाओं को हटाकर नए नेता प्रमुख पदों पर आसान होते हैं।

(4) सामाजिक असंतोष—क्रान्ति का प्रमुख कारण सामाजिक असन्तोष है। जब समाज मे असतोष बहुत बढ़ जाता है तथा उसे दूर करने के प्रयास नहीं किए जाते हैं तो समाज मे क्रान्ति आती है।

(5) व्यापक क्षेत्र—जब समाज मे क्रान्ति होती है तो शायद ही कोई क्षेत्र परिवर्तन से अछूता रह पाता है। क्रान्ति के द्वारा सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक आदि किसी भी क्षेत्र मे आमूल-चूल परिवर्तन तेजी से होते हैं।

(6) तीव्र गति—क्रान्ति की सामाजिक परिवर्तन की गति तीव्र होती है। यह सामाजिक परिवर्तन के अन्य सभी प्रकारो से तीव्र परिवर्तन का प्रकार है।

(7) सामूहिक क्रिया—जब समाज मे क्रान्ति होती है तो उसमे अनेक लोग भाग लेते हैं। सामूहिक रूप से प्रयास करने पर ही क्रान्ति सम्भव होती है। व्यक्ति विशेष क्रान्ति नहीं कर सकता है।

(8) लाभ-हानि दोनों—क्रान्ति के द्वारा पुराने सत्ताधारियों को हानि उठानी पडी है तथा क्रान्ति के सफल हो जाने पर क्रान्तिकारियो को अनेक लाभ (सत्ता में पद) मिलते हैं।

(9) हिंसात्मक/अहिंसात्मक—सामान्यतया क्रान्ति हिंसात्मक होती है परन्तु यह आवश्यक नहीं है। कई बार क्रान्ति अहिसात्मक भी होती है, जैसे—गाँधीजी ने भारत को अहिसात्मक क्रान्ति द्वारा स्वतन्त्रता दिलाई थी।

(10) सचेत एवं जागरूक प्रयास—सचेत एव जागरूक प्रयास क्रान्ति करने के लिए आवश्यक होते हैं। क्रान्ति अपने-आप कभी नहीं होती है।

भारत में सामाजिक क्रान्ति

भारत मे सामाजिक क्रान्ति हुई है अथवा नहीं? इस सम्बन्ध मे दो मत हैं। एक मत को मानने वाले विद्वान क्रान्ति में हिसा को एक आवश्यक तत्त्व मानते हैं। भारत मे सामाजिक परिवर्तन अहिसात्मक तथा शान्तिपूर्ण तरीको मे हुए हैं। परिवर्तन की गति भी धीमी रही है। जो विद्वान सामाजिक क्रान्ति में हिसा, तीव्र गति, आमूलचूल परिवर्तन मानते हैं उनके अनुसार भारत में सामाजिक क्रान्ति नहीं हुई है। परन्तु दूसरे मत को मानने वाले विद्वानो की मान्यता है कि भारत मे सामाजिक क्रान्तियाँ हुई हैं। **ऑगबर्न तथा निमकॉफ** के अनुसार "सस्कृति मे महत्वपूर्ण प्रकार के तीव्र परिवर्तन को क्रान्ति कहते हैं।" इस परिभाषा के अनुसार तो भारतीय संस्कृति में क्रान्तिकारी परिवर्तन अनेक बार हुए हैं। **ब्रिण्टन** का कथन है, "वर्तमान सामाजिक सरचना के प्रति धारणाओ और मूल्यो मे आमूल-चूल परिवर्तन को क्रान्ति कहते हैं।" इन समाजशास्त्रियो की परिभाषाओ ओर क्रान्ति की विशेषताओ के आधार पर भारत मे सामाजिक परिवर्तनो का सिहावलोकन करे तो पाएँगे कि भारत में क्रान्तियाँ हुई हैं। अहिंसक क्रान्तियों में औद्योगिक क्रान्ति, जनाकिकीय क्रान्ति, विद्युदगुणीय क्रान्ति, कम्प्यूटर क्रान्तियो का उल्लेख किया जाता है। 1868 मे जापान में मेजी शासन को पुनः स्थापना, 1948 में चेकोस्लोवाकिया की क्रान्ति और वर्तमान में चीन मे सास्कृतिक क्रान्ति आदि ऐसी क्रान्तियाँ हैं जिनमें बहुत कम खून बहा था।

महात्मा गाँधी ने अहिंसक सामाजिक क्रान्ति का संचालन करके ब्रितानिया सरकार से भारत को स्वतन्त्र किया। गाँधी ने, सविनय, सहयोग, अवज्ञा-आन्दोलन और 'भारत छोड़ो आन्दोलन' तथा आमरण अनशन आदि उपायों से अँग्रेजी राजनैतिक व्यवस्था को उखाड़ फेंका था। उन्हे समकालीन लोगों का जन-समर्थन प्राप्त था। लेकिन गाँधीजी भारत की सामाजिक व्यवस्था में पूर्ण क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं ला पाए। राजा, महाराजा, जमींदारों, जागीरदारो, बड़े व्यापारियों और उद्योगपतियों पर तुरन्त और प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव नहीं पड़ा। राजाओ को 1969 तक शाही भत्ता दिया गया। उनको नए कानून के अन्तर्गत पैतृक सम्पत्ति और भूमि रखने की भी छूट दी गई थी। उनकी जमीन, जायदाद और जागीरों के उन्मूलन के बदले मे मुआवजा भी दिया गया था। आचार्य विनोबा भावे तथा जयप्रकाश नारायण ने भारत में सामाजिक परिवर्तन लाने के लिए गाँधीवाद का अनुकरण किया था। विनोबा जी ने भू-दान और ग्रामदान के द्वारा भूमि प्राप्त करके उसे गरीबो में बाँटा था। जयप्रकाशजी ने 1980 के दशक मे 'सम्पूर्ण क्रान्ति' का विचार दिया।

भारत में सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्रों में क्रान्ति द्वारा आधारभूत परिवर्तन हुए हैं। राजनैतिक संरचना में सबसे अधिक परिवर्तन आए हैं। 1947 में भारत स्वतन्त्र हुआ। 1950 मे नया संविधान लागू हुआ। इस सविधान द्वारा राजनैतिक अधिकारों, पदों, विचारों मे क्रान्तिकारी परिवर्तन आए। सभी को मतदान का अधिकार दिया गया। धर्म, जाति, जन्म, रंग, लिंग भेद, प्रजाति आदि असमानताओं को समाप्त किया गया। इसके द्वारा मानव गरिमा की भावना और समाज में दलित वर्गों, जातियों-जनजातियो, में जागृति पैदा हुई। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले की तुलना में आज भारत मे नागरिक अधिक स्वतन्त्रता, सुरक्षा, समानता, भ्रातृत्वता आदि का अनुभव कर रहे हैं। अनेक क्षेत्रो मे मनोवैज्ञानिक क्रान्तिकारी परिवर्तन देखे जा सकते हैं। स्त्रियों, अनुसूचित जातियो, अनुसूचित जनजातियों, कृषकों, भूमिहीन श्रमिको, काश्तकारों आदि मे क्रान्तिकारी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक परिवर्तन देखे जा सकते हैं।

जाति-व्यवस्था के प्रतिबन्धों मे परिवर्तन आया है। प्रदत्त प्रस्थिति से अर्जित प्रस्थिति की ओर परिवर्तन एक क्रान्तिकारी कदम है। अनेक अधिनियम, विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा पुनर्विवाह विवाह-विच्छेद, अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, स्त्रियो का सम्पत्ति पर अधिकार अधिनियम, आदि समय-समय पर पारित करके सामाजिक व्यवस्था को बदलने का प्रयास किया जाता रहा है। नगरीयकरण, औद्योगिकीकरण, पंचवर्षीय योजनाएँ, यातायात एवं संचार के साधनों द्वारा क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, हरित क्रान्ति आदि भी भारत में क्रान्तिकारी परिवर्तन के उदाहरण हैं।

(4) विकास
(Development)

समाजशास्त्र मे विकास एक नूतन अवधारणा है। यह अवधारणा प्रगति की तरह वांछित दिशा में परिवर्तन की ओर संकेत देती है। विकास एक सम्मिश्र, संदर्भात्मक और सापेक्ष अवधारणा है। विकास को समझने के लिए इसकी परिभाषाओं और विशेषताओ का अध्ययन करेंगे।

विकास का अर्थ एवं परिभाषा

1 योगेन्द्र सिंह के अनुसार, ''समाज के सदस्यों मे वाछनीय दिशा में नियोजित सामाकि परिवर्तन लाने के उपाय को विकास कहते हैं।'' आपने आगे यह भी लिखा है, ''अत: विकास की धारणा सामाजिक-सास्कृतिक पृष्ठभूमि और राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थिति के आधार पर प्रत्येक समाज मे भिन्न-भिन्न पाई जाती है।

2. मिर्डन के अनुसार विकास का अर्थ आधुनिकीकरण के आदर्शों को सामाजिक जीवन म उतारने से है। आपने शब्दो में, ''विकास का अर्थ सामाजिक व्यवस्था मे उन अनेक अवाछनीय व्यवस्थाओ का सुधार करना है जिनके कारण अल्प-विकास की स्थिति बनी हुई है।''

3. ए. स्कॉफ के अनुसार, ''माप के पैमाने और सन्दर्भ के एक निश्चित ढाँचे में एक निश्चित प्रकार के परिवर्तनों को बताने वाला शब्द विकास है जो मूल्यो की एक निश्चित व्यवस्था के अन्तर्गत स्पष्ट रूप से एक घटना की परिमाणात्मक वृद्धि का प्रतिनिधित्व करता है। आपने इस परिभाषा मे विकास की तीन विशेषताएँ बताई हैं, जो निम्नलिखित हैं—(1) विकास ऐसा शब्द है जो निश्चित ढाँचे मे निश्चित प्रकार के परिवर्तन को स्पष्ट करता है, (2) इस परिवर्तन को पैमाने द्वारा परिमाणात्मक वृद्धि के रूप मे नापा जा सकता है, और (3) विकास मूल्यो मे सम्बन्धित होता है। इस प्रकार विकास प्रगति से मिलता-जुलता है परन्तु प्रगति व्यापक अवधारणा है और विकास निश्चित अवधारणा है। विकास की अवधारणा प्रकृति संदर्भात्मक और सापेक्षित है। प्रगति की प्रकृति सामान्य है और औचित्यात्मक कारको पर आधारित है। प्रगति की अवधारणा औद्योगिक क्रान्ति के युग से जुडी हुई है और विकास नवीन अवधारणा है।

4. 'द चैलेंज ऑफ डेवलपमेंट' गोष्ठी के अनुसार विकास एक तुलनात्मक अवधारणा है। इन्होने विकास शब्द का प्रयोग कम आय वाले देशो और पश्चिमी देशो मे हो रहे औद्योगिकीकरण की तुलना करने के लिए किया है। पश्चिमी देश अधिक विकसित हैं तथा कम आय वाले देश कम विकसित हैं।

5. हॉबहाउस के अनुसार, '' एक समुदाय का विकास मात्रा, कार्य-क्षमता, स्वतन्त्रा और सेवा की पारस्परिकता मे वृद्धि के साथ-साथ होता है।

उपर्युक्त परिभाषाओ के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि विकास ऐसी अवधारणा है जो एक समाज, क्षेत्र और जनता की सामाजिक-सास्कृतिक और आर्थिक आवश्यकताओ की स्थिति को सापेक्ष रूप मे स्पष्ट करता है—

सामाजिक विकास की विशेषताएँ

1. सार्वभौमिक प्रक्रिया—सभी समाजो मे, सभी कालो मे विकास की प्रक्रिया होती रहती है। विश्व मे जहाँ-जहाँ मानव समाज है वहाँ-वहाँ किसी-न-किसी रूप मे विकास होता रहता है।

2. सम्मिश्र अवधारणा—विकास एक मिश्रित अवधारणा है जिसमे अनेक क्षेत्रो मे परिवर्तन साथ-साथ होते हैं, जैसे—समाज के विकास मे व्यापार, कृषि, उद्योग, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि विभिन्न क्षेत्रों में प्रगति को सम्मिलित करते हैं। विकास एक सयुक्त प्रघटना है। इसमें मानव जीवन के सभी पहलुओं को सम्मिलित किया जाता है।

3. कल्याणकारी परिवर्तन—विकास ऐसा परिवर्तन है जिसमें बच्चो, स्त्रियो, वृद्धों, बीमार, बेरोजगार लोगों, कमजोर वर्गों और अल्पसंख्यकों आदि के कल्याण का ध्यान रखा जाता है।

4. मूल्याधारित परिवर्तन—विकास कार्यक्रमों का उद्देश्य पिछड़े वर्गों, जातियों तथा जनजातियों, ग्राम और नगरो, महिलाओं, श्रमिकों के कल्याण का होता है इसलिए यह मूल्यों पर आधारित परिवर्तन है।

5. समाज सापेक्ष अवधारणा—विकास की अवधारणा भिन्न-भिन्न समाजों की सामाजिक-सास्कृतिक आवश्यकताओं, राजनैतिक, आर्थिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भिन्न-भिन्न होती है। यह समाजों से सम्बन्धित है इसलिए इसे समाज सापेक्ष अवधारणा कहा जाता है।

6. चक्रीय-कार्य-कारण भाव—सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न अंग अन्तर्निर्भर होते हैं। किसी एक अंग अथवा अवस्था मे विकास का प्रभाव अन्य अवस्थाओं तथा अंगों मे परिवर्तन लाता है। अगर बेरोजगारी को रोका नहीं जाएगा तो अन्य समस्याएँ—निर्धनता, निरक्षरता, कुपोषण आदि बढ़ेंगी। इसे ही चक्रीय-कार्य-कारण भाव कहते हैं जो विकास की प्रक्रिया का विशेष लक्षण है। एक मे विकास का प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर पड़ता है।

7. अवांछनीय अवस्थाओं का सुधार—**मिर्डल** ने विकास का अर्थ बताते हुए लिखा, "विकास का अर्थ सामाजिक व्यवस्था मे उन अनेक अवांछनीय अवस्थाओ का सुधार करना है जिनके कारण अल्प-विकास की स्थिति बनी हुई है।" विकास समाज की अवांछनीय अवस्थाओ का सुधार करता है।

8. उत्तरोत्तर परिवर्तन—सामाजिक विकास एक अवस्था से दूसरी तथा तीसरी अवस्था की ओर आगे बढ़ते रहने वाला परिवर्तन है। इसमें विभेदीकरण की वृद्धि सदैव ऊपर की ओर होती है। उत्तरोत्तर परिवर्तन विकास की विशेषता है।

9. लौकिक परिवर्तन—विकास का सम्बन्ध केवल भौतिक जगत के परिवर्तन से है। इसका धर्म, अध्यात्म या अभौतिक जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है।

10. माप सम्भव—किसी समाज का विकास कितना हुआ है अथवा वह अन्य समाजो की तुलना में किस क्षेत्र मे कितना अधिक या कम विकसित है इसे मापा जा सकता है। **स्कॉफ** का कहना है कि विकास एक घटना की परिमाणात्मक वृद्धि को बताता है। माप के पैमाने और संदर्भ के एक निश्चित ढाँचे में एक निश्चित प्रकार के परिवर्तन को बताने वाला शब्द विकास है।

विकास के प्रमुख मापदण्ड

सभी समाजों में विकास का कोई-न-कोई विशिष्ट स्वरूप अवश्य होता है। इसके दो प्रमुख मापदण्ड हैं—(1) समाज का जनजातीय या कृषि की अवस्था से औद्योगिक समाज की ओर परिवर्तन, तथा (2) आर्थिक परिवर्तन।

मिचेल ने विकास की छः प्रमुख कसोटियों का उल्लेख किया ह—(1) अशिक्षा से सार्वभौमिक शिक्षा की ओर परिवर्तन (2) एकतन्त्र से प्रजातन्त्र और सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार की ओर परिवर्तन, (3) कानून के सामने सभी की समानता मे वृद्धि, (4) राष्ट्रीय प्रभुसत्ता मे वृद्धि, (5) धन के केन्द्रीकरण से उचित और न्यायपूर्ण वितरण की ओर परिवर्तन, और (6) स्त्रियो की दासी की स्थिति से साथी की स्थिति में परिवर्तन। इन मापदण्डो के द्वारा किसी भी समाज के विकास का मूल्याकन किया जा सकता है।

सामाजिक विकास की दशाएँ—हॉबहाउस ने सामाजिक विकास की निम्नलिखित दशाओ का उल्लेख किया है जो विकास मे सहायक होती हे तथा इनके अभाव मे विकास करना कठिन होता हे—

(1) पर्यावरण सम्बन्धी दशाएँ—अनुकूल पर्यावरण मे समाज तीव्र गति से विकास करता है तथा प्रतिकूल पर्यावरण मे विकास की गति धीमी होती है। भौगोलिक पर्यावरण, प्राकृतिक ससाधन, खनिज पदार्थ, जलवायु, समतल तथा उपजाऊ भूमि आदि का होना विकास के लिए आवश्यक है।

(2) जैविकीय दशाएँ—समाज के सदस्य स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट, निरोगी, बलवान होते हैं तो समाज के विकास मे सहायक होते हैं। रुग्ण, कमजोर, बीमार, अस्वस्थ जनसख्या वाला समाज विकास नहीं कर पाता है। समाज की इष्टतम जनसख्या होती है तो विकास अधिकतम गति से होता है। जन्मदर तथा मृत्यु-दर एव प्राकृतिक ससाधनो मे सतुलन होना चाहिए।

(3) मनोवैज्ञानिक दशाएँ—सामाजिक विकास के लिए आवश्यक है कि समाज के लोग मानसिक रूप से विकास के लिए तैयार हो। इसके लिए सदस्यो को बताना होगा कि परिवर्तन के लक्ष्य क्या हैं? उनका लाभ क्या है? उस निश्चित परिवर्तन के अभाव में हानियाँ क्या-क्या हैं? आदि, आदि।

(4) सामाजिक दशाएँ—सामाजिक विकास के लिए अनुकूल सामाजिक परिस्थितियो का होना भी आवश्यक है। विकास सामाजिक मूल्यो, प्रथाओ, धर्म, रीति-रिवाज, संस्कृति आदि के अनुरूप होगा तभी समाज के सदस्य सहयोग करेगे अन्यथा विकास का विरोध किया जाएगा।

विकास के सम्बन्ध में मिर्डल के विचार

गुन्नार मिर्डल ने सामाजिक विकास के सम्बन्ध मे अपने विचार **एशियन ड्रामा** पुस्तक मे प्रस्तुत किए है। आपने विकास का अर्थ 'आधुनिकीकरण के आदर्शो' को सामाजिक जीवन मे उतारने से लगाया है। मिर्डल आगे लिखते हैं, "विकास का अर्थ सामाजिक व्यवस्था मे उन अनेक अवाछनीय अवस्थाओ का सुधार करना है जिनके अल्प-विकास की स्थिति बनी हुई है।" मिर्डल की मान्यता है कि व्यवस्था का एक समग्र रूप होता है जिसके विभिन्न अंग परस्पर आत्मनिर्भर और सम्बन्धित होते है। किसी एक मे परिवर्तन का प्रभाव अन्य मे परिवर्तन लाता है। आपके अनुसार किसी एक अवस्था मे अगर ऊपर की ओर परिवर्तन होता है तो अन्य अंगो या उप-व्यवस्थाओ मे भी ऊपर की ओर परिवर्तन होता है। आप सस्थागत उपागम के द्वारा अध्ययन पर जोर देते हैं। अध्ययनकर्त्ता को यह ज्ञात करना चाहिए कि लोग विकास के कितने

उत्सुक हैं ? उनकी मनोकामना क्या है ? लोग जीवन के स्तर, आय आदि मे परिवर्तन लाने के लिए कितने उत्सुक है ?

मिर्डल ने विकास की दशाओं को निम्नलिखित छः भागों में विभक्त किया है—(1) उत्पादन और आय, (2) उत्पादन की अवस्थाएँ, (3) जीवन स्तर, (4) जीवन और कार्य के प्रति अभिवृत्तियाँ, (5) संस्थाएँ, और (6) नीतियाँ।

भारत में सामाजिक विकास कार्यक्रम (Development Programmes in India)

भारत में अनेक योजनाएँ वांछित दिशा में परिवर्तन करने के लिए चलायी गई हैं तथा उनको **विकास कार्यक्रम** नाम दिया गया है, जैसे—ग्रामीण भारत मे 1952 में ग्रामीण विकास कार्यक्रम शुरू किया गया। अनेक आर्थिक विकास कार्यक्रम—स्त्रियों, दलित वर्गो, उद्योग-धन्धो, कृषि के विकास के लिए अनेक नीतियों को कार्यान्वित किया गया है। राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक आदि अनेक विकास कार्यक्रम चलाए गए हैं। सरकार ने अनुसूचित जातियों, जनजातियो आदि के लिए भी अनेक विकास एव कल्याणकारी कार्यक्रम चला रखे हैं। विकास कार्यक्रम सयुक्त तथा मिश्रित प्रघटना है इसमें समाज के अनेक पक्षो का ध्यान रखा जाता है।

❑

अध्याय-28

समाजशास्त्र, सामाजिक नीतियाँ एवं क्रियान्वयन

(Sociology, Social Policies and Action)

समाजशास्त्र और सामाजिक नीति (Sociology and Social Policy)— समाजशास्त्र समाज का व्यापक विज्ञान है। व्यापक विज्ञान इस अर्थ मे है कि यह समाज को एक पूर्ण इकाई मानकर इसके अनेक पक्षो का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन करता है। समाजशास्त्र अनेक पक्षो में से एक महत्त्वपूर्ण पक्ष समाज की समस्याओं का अध्ययन करना है। इस शास्त्र की एक शाखा व्यावहारिक समाजशास्त्र है जो समाज की समस्याओ का वैज्ञानिक अध्ययन करके उसके विभिन्न पक्षो से सम्बन्धित ज्ञान प्रदान करता है, जैसे—समस्या के कारणों की खोज करना। समस्या के कारणो का सकलन करना, वर्गीकरण, सारणीयन करके उनके परस्पर सम्बन्धो (कारण-प्रभाव) को ज्ञात करना। विभिन्न पारिस्थितिको का विश्लेषण करके समस्या से सम्बन्धित निष्कर्ष निकालना। इतना ही नहीं अन्त मे समस्या के समाधान के लिए योजना प्रस्तुत करना है। समस्या के समाधान के लिए नीति निर्देश प्रदान करना भी इस व्यावहारिक समाजशास्त्र का परम लक्ष्य एव कर्त्तव्य है।

समाजशास्त्र समाज का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण विज्ञान है जो सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ सामाजिक अव्यवस्था (समस्याओ) तथा उनमे होने वाले परिवर्तनो का अध्ययन करता है तथा समय-समय पर सामाजिक नीतियो एव उनके क्रियान्वयन के लिए आधार एवं योजनाएँ प्रदान करता है। समाजशास्त्र के अनुसन्धान के दो उद्देश्य हैं—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। व्यावहारिक समाजशास्त्र का उद्देश्य समाज की समस्या का क्रमबद्ध एव व्यवस्थित अध्ययन करके समाधान करना होता है। इस अनुसन्धान का उद्देश्य समस्या का बहु-आयामी अध्ययन करके समस्या से सर्वाधिक विभिन्न कारको और कारणो का वर्णन और व्याख्या करने के साथ-साथ समाधान के लिए नीति-निर्माण करना भी होता है। इतना ही नहीं उन नीतियो को किस प्रकार से व्यवस्थित किया जाए, इसको योजना भी व्यावहारिक समाजशास्त्र प्रस्तुत करता है।

समाजशास्त्र के अध्ययन का उद्देश्य समाज के उत्तरोत्तर विकास के लिए नीतिपरक अनुसन्धान करना भी होता है। ये नीतिपरक अध्ययन सामाजिक व्यवस्था, अव्यवस्था या किन्हीं विशिष्ट प्रक्रियाओ से सम्बन्धित होते हैं। ये नीतिपरक अध्ययन अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे—(1) अन्वेषणात्मकता, या निरुपणात्मक, (2) वर्णनात्मक (3) परीक्षणात्मक, (4) व्यावहारिक, (5) क्रियात्मक और मूल्यांकनात्मक आदि-आदि। इन नीतिपरक समाजशास्त्रीय अध्ययनो का उद्देश्य समाज की वर्तमान स्थिति को माप कर भविष्य में विकास की नीति एवं क्रियान्वयन की योजना प्रस्तुत करना होता है। सामाजिक परिवर्तनों एवं नियन्त्रण की दिशा और दशा का अध्ययन करके एक स्थाई, सुसंगत एव व्यावहारिक नीति का निर्माण करना होता ह, जो समाज के लक्ष्यों को प्राप्त करने मे सहायक सिद्ध हो। विद्यमान एवं नवीन नीतियो का तथा उनसे सम्बन्धित कार्यक्रमो का मूल्यांकन करना होता है। किसी भी समाज के विकास के लिए सर्वप्रथम विकास के उद्देश्यों को निर्धारित करना आवश्यक होता है। इसके उपरान्त इनको कार्यान्वित करने के लिए नीतियाँ निश्चित की जाती हैं और नीतियों के अनुसार विकास कार्यक्रम चलाए जाते हैं। अब हम भारत में विकास सम्बन्धी नीतियों तथा उनके क्रियान्वयन के लिए बनाई गई प्रमुख योजनाओं का विवेचन करेगे।

भारत की विकास नीतियाँ (Development Policies of India)— 26 जनवरी, 1950 को भारत का वर्तमान सविधान लागू किया गया है, जिसमे भारतीय समाज के विकास से सम्बन्धित अनेक नीतियों एवं प्रावधानों का वर्णन किया गया है। इन्हीं विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक नीतियो को कार्यान्वित करने के लिए समय-समय पर विकास योजनाएँ बनाई जाती रही हैं। *स्वतंत्र भारत की प्रमुख सामाजिक नीति समतावादी समाज की स्थापना करना है।* विकास नीतियाँ, उनके उद्देश्य, संकेतक, प्रावधान, विशेषताओ आदि का मूल आधार संविधान में वर्णित प्रावधान है, जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण नीतियो एवं प्रावधानों का वर्णन प्रस्तुत है—

भारत मे विकास की नीतियों का मूल आधार भारत का संविधान है। संविधान से कुछ स्पष्ट नीतियों का वर्णन किया गया है। संविधान मे नागरिको को न्याय दिलाना, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक समान प्रस्थिति एवं अवसर प्रदान करने तथा सभी नागरिको मे मातृत्व एव सम्मान का विश्वास पैदा करने से सम्बन्धित प्रावधान (नीतियाँ) घोषित की गई हैं। इनसे सम्बन्धित नीतियाँ सविधान के अनुच्छेदो-14, 15, 16, 17, 38, 39, 43, 44, 45 और 46 आदि में देख सकते हैं। इन नीतियों से सम्बन्धित प्रावधानो को समय-समय पर सामाजिक-आर्थिक विकास योजनाओं के उद्देश्यो, संकेतको आदि के रूप में रखकर कार्यान्वित करने का प्रयास किया जाता रहा है।

अनुच्छेद-14, 15 और 16 की सभी नागरिकों को समानता के मौलिक अधिकार प्रदान करने की नीति रही है। इन अनुच्छेदों में यह प्रावधान रखा गया है कि राज्य किसी भी नागरिक के साथ धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग भेद, जन्म-स्थान के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। इन अनुच्छेदों की यह नीति है कि सभी नागरिकों को नौकरियों मे समानता के अवसर प्रदान किए

जाएँ। समानता की नीति को कार्यान्वित करने के लिए अनुच्छेद 17 के द्वारा अस्पृश्यता को समाप्त घोषित कर दिया गया है तथा इस प्रकार का दुर्व्यवहार कानूनन दण्डनीय है।

राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तो मे अनुच्छेद 38 के अन्तर्गत राज्य जनता के कल्याण के लिए ऐसी सामाजिक व्यवस्था को प्रोत्साहित करेगे कि जिसके द्वारा जनता को न्याय सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक सुरक्षा प्रभावपूर्ण रूप से प्रदान की जाए।

सविधान की यह नीति है कि समान कार्य के लिए समान वेतन दिया जाए। इस नीति को कार्यान्वित करने के लिए अनुच्छेद 39 मे प्रावधान रखा गया है कि राज्य इस बात का ध्यान रखेगा कि समान कार्य के लिए समान वतेन दिया जाए। अनुच्छेद 43 इस नीति पर जोर देता है कि राज्य सभी कार्यकर्त्ताओ के लिए कार्य करने की अनुकूल परिस्थितियो की व्यवस्था प्रदान कराए तथा उनको जीवनयापन के लिए अनुकूल वेतन दिलवाए।

अनुच्छेद 44 के अन्तर्गत राज्य सभी नागरिको के लिए समान कानून व्यवस्था स्थापित करेगा। अनुच्छेद 45 के अनुसार राज्य विशेष रूप से 14 वर्ष तक की आयु के बालको के लिए नि:शुल्क एव अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था का प्रावधान करेगा। अधिनियम 46 के अनुसार राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह कमजोर तथा दलित वर्ग के लोगों के शैक्षिक और आर्थिक हितो की रक्षा को विशेष रूप से अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियों का ध्यान रखे तथा उन्हे सामाजिक न्याय प्रदान करे।

विकास योजनाओं की नीतियाँ एवं उद्देश्य

(Policies and Aims of Developmental Schemes)

सविधान मे वर्णित विभिन्न नीतियो के कार्यान्वयन के लिए समय-समय पर विभिन्न विकास योजनाएँ बनाई गई हैं। इन योजनाओ की नीतियाँ एव उद्देश्य इस प्रकार हैं—

(1) सामाजिक उद्देश्य (Social Aims)—समाजवादी समाज की स्थापना करना, प्रमुख उद्योगो के जनस्वामित्व पर बल देना, पूँजीपतियो की भूमिका को प्रतिबन्धित करना, समाज मे समानता, न्याय, स्वतन्त्रता, मुक्तिकरण, व्यक्तिवाद को लाना है। लोगो को सुखमय तथा अच्छे जीवनयापन के लिए अधिक-से-अधिक अवसर प्रदान करना और शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, आवास तथा समाज कल्याण के लिए अधिक-से-अधिक सुविधाओ का विस्तार एव सुधार करना है।

(2) आर्थिक उद्देश्य (Economic Aims)—प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि करना, राष्ट्र को आत्मनिर्भर बनाना, राष्ट्रीय आय मे वृद्धि, सभी लोगो तक विकास की योजनाओ का न्यायोचित लाभ पहुँचाना, उत्पादन मे कार्यकुशलता की वृद्धि के लिए आय एव धन के न्यायोचित वितरण की उत्तम व्यवस्था करना, रोजगार के अवसरो का स्तर ठोस रूप मे ऊँचा करना, आय की सुरक्षा को ऊँचा उठाना, निर्धनता का उन्मूलन करना, पर्यावरण की सुरक्षा के लिए अधिक-से-अधिक सुविधाओ का विस्तार एवं सुधार करना है।

(3) राजनैतिक उद्देश्य (Political Aims)—एक शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य सरकार का निर्माण करना, राजनैतिक सत्ता के विखण्डन को पुनः एकीकृत करना, ऐसी राजनैतिक व्यवस्था की स्थापना करना जो जनता के प्रति उत्तरदायी हो, राजनैतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना, अधिकाधिक लोगों को निर्णय की प्रक्रिया में सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित करना तथा भागीदारी मे वृद्धि करना। साम्प्रदायिकतावाद, प्रान्तीयवाद, भाषावाद, जातिवाद आदि को समाप्त करके राष्ट्रीय एकीकरण की स्थापना करना, सभी नागरिकों को समानता के अधिकार एवं अवसर प्रदान करने के लिए अधिक-से-अधिक सुविधाओं का विस्तार एवं सुधार करना है।

(4) सांस्कृतिक उद्देश्य (Cultural Aims)—पवित्रता से धर्म-निरपेक्षता की नीति की स्थापना एवं विस्तार करना, मूलभूत मानव अधिकारो का सरक्षण करना, जैसे—स्वतन्त्र भाषण का अधिकार, स्वतन्त्र धार्मिक अभिव्यक्ति का अधिकार प्रदान करना, जातियो, क्षेत्रो एव वर्गों में असमानताओं का उन्मूलन करना, नागरिको में परस्पर भ्रातृत्व की भावनाओ का विस्तार करके ऐसे समाज का निर्माण करना जिसमें व्यक्ति आदर्शवाद की ओर प्रेरित हो तथा लोग परस्पर नि:स्वार्थ, त्याग एवं सहयोग की भावना से साथ-साथ रहे।

इन उपर्युक्त वर्णित उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए भारत मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद समय-समय पर अनेक नीतियाँ और विकास योजनाएँ बनाई गईं एवं कार्यान्वित की गई जो निम्नलिखित हैं।

विकास-नीतियों का क्रियान्वयन एवं मूल्यांकन
(Implementation and Evaluation of Development Policies)

भारत में विस्तृत मानव संसाधनो की क्षमता का विकास स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से क्रियान्वित की गई नीतियों एव उन पर आधारित विकास कार्यक्रमों का परिणाम है। विगत वर्षों में मानव संसाधन विकास के क्षेत्र मे उल्लेखनीय प्रगति हुई हैं, जिन्हें स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाओं, शिक्षा और प्रौढ़ साक्षरता दरों के क्षेत्र में हुई प्रगति तथा बेहतर जनसांख्यिकीय उपलब्धियों में देख सकते हैं। दसवीं पंचवर्षीय योजना (2002-07) के दृष्टिकोण पत्र में मानव विकास पर विशेष ध्यान दिया गया है तथा 8 प्रतिशत के सकल घरेलू उत्पादन की वृद्धि को प्राप्त करने की नीति प्रस्तुत की गई है। इसमें सभी व्यक्तियों और समूहों के लिए सामाजिक और आर्थिक अवसरो का विस्तार, असमानताओं में कमी करना और निर्णय लेने की प्रक्रिया में और अधिक भागीदारी होना भी सम्मिलित है। (देखिए बॉक्स संख्या-1)

दसवीं योजना तथा उसके बाद की अवधि के लिए मानीटर किए जाने वाले लक्ष्य—वर्ष 2007 तक निर्धनता में 5 प्रतिशतांक तथा वर्ष 2012 तक 15 प्रतिशतांक तक की कमी लाना, दसवीं योजना अवधि के दौरान श्रम बल में वृद्धि के लिए लाभकारी उच्च श्रेणी के रोजगार प्रदान करना। वर्ष 2003 तक सभी बच्चों की स्कूलों में उपस्थिति, वर्ष 2007 तक 5 वर्ष के सभी बच्चे स्कूली शिक्षा ग्रहण करेंगे; वर्ष 2007 तक साक्षरता और मजदूरी दरों में लिंग

भेद घटाकर उसमे 50 प्रतिशत की कमी लाना; जनसंख्या वृद्धि की वर्ष 2001 और 2011 के बीच दशकीय दर में 16 2 प्रतिशत तक कमी करना, योजना अवधि के अन्तर्गत साक्षरता दर को 75 प्रतिशत तक बढ़ाना, वर्ष 2007 तक नवजात शिशु मृत्युदर कम करके प्रति 1000 जीवित बच्चों के जन्म पर 45 तथा वर्ष 2012 तक 28 करना; वर्ष 2007 तक मातृ-मृत्यु दर कम करके प्रति 1000 जीवित बच्चो के जन्म पर 2 और 2012 तक 1 के स्तर तक लाना, वर्ष 2007 तक वन और वृक्ष कवर को 25 प्रतिशत तक तथा वर्ष 2012 तक 33 प्रतिशत बढाना; योजना अवधि के भीतर सभी गाँवों को पेयजल की उपलब्धि बनाए रखना, वर्ष 2007 तक प्रमुख प्रदूषित नदियों और वर्ष 2012 तक नदियों के अन्य अधिसूचित भागो को साफ करना।

शिक्षा स्वास्थ्य, परिवार कल्याण, पोषण, सफाई, ग्रामीण विकास आवास निर्माण, सामाजिक कल्याण आदि पर केन्द्रीय सरकार का व्यय वर्ष 1992-93 में 9608 करोड़ रुपये से बढाकर वर्ष 2001-2002 (बजट अनुमान) में 40205 करोड़ रुपये हो गया है।

गरीबी (Poverty)—गरीबी उन्मूलन भारत में आर्थिक विकास की रणनीति का एक अभिन्न अंग रहा है। उच्च गरीबी स्तर, निम्न जीवन स्तर, अभाव, कुपोषण, निरक्षरता और मानव संसाधन विकास में कमी के पर्याय हैं। राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन के अनुसार जुलाई, 1999—जून, 2000 में गरीबी अनुपात ग्रामीण क्षेत्रो में 27 09 प्रतिशत तथा शहरी क्षेत्रों में 23 62 प्रतिशत और समग्र रूप से देश के लिए 26 10 प्रतिशत अनुमानित है। यह 1973-74 मे 55 प्रतिशत थी। जनसंख्या वृद्धि के कारण 1973 से 1993 की अवधि मे 320 मिलियन पर स्थिर रही, जो घटकर 997 मिलियन की कुल जनसंख्या मे 260 मिलियन हो गई है।

श्रम और रोजगार (Labour and Employment)—भारत में विकासात्मक योजना का मुख्य उद्देश्य न केवल बेरोजगारो की विगत से चली आ रही संख्या को बल्कि श्रम शक्ति मे शामिल होने वाले नए लोगों के लिए भी अधिक रोजगार के अवसर प्रदान कराना है। मात्रात्मक पाबिन्दयो को समाप्त करने, टैरिफ कम करने, श्रम कानूनो में सुधार करने और एस एस आई प्रतिबन्धों को समाप्त करने का उद्देश्य सम्बन्धी नीतियो का भारत में अधिक श्रम जनक उत्पादन को प्रोत्साहन देना है।

राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन द्वारा किए गए सर्वेक्षणो के विभिन्न दौर यह व्यक्त करते हैं कि वर्ष 1972-73 से 1983 से 1987-88 की अवधि के दौरान समग्र रोजगार (संगठित और असंगठित, दोनो क्षेत्रो मे) की औसत वार्षिक वृद्धि दर 2 73 प्रतिशत थी। परन्तु इसमे 1983 से 1988 तक 1 54 प्रतिशत की गिरावट आई। 1987 से 1994 तक इसमें 2 43 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि हुई। गरीबी उन्मूलन के कई कार्यक्रम ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों मे चल रहे हैं, जिसके लिए 2001-2002 के लिए 9765 करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। कार्यक्रमो का विवरण बॉक्स मे दिया गया है।

रोजगार सृजन तथा गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम

जवाहर ग्राम समृद्धि योजना (जे.जी.एस.वाई.) जवाहर रोजगार योजना की पुनः संरचना करके अप्रैल, 1999 में ग्राम समृद्धि योजना शुरू की गई थी और यह योजना केन्द्र और राज्यों के बीच 75 : 25 के लागत बँटवारे के अनुपात के आधार पर केन्द्रीय प्रायोजित योजना के रूप में कार्यान्वित की जा रही है। यह कार्यक्रम ग्राम पंचायतों द्वारा कार्यान्वित है तथा इस कार्यक्रम के अन्तर्गत ऐसे सभी कार्य शामिल किए जाते हैं, जिनके परिणामस्वरूप स्थायी उत्पादनकारी सामुदायिक परिसम्पत्तियों का सृजन होता है। तथापि, इसका गौण उद्देश्य ग्रामीण बेरोजगार गरीबों के लिए मजदूरी वाले रोजगार का सृजन करना है।

स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना (ए.एस.जी.एस.वाई.) समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई आर.डी.पी.) ग्रामीण क्षेत्रों में महिला और बाल विकास (डी.डब्ल्यू.सी.आर.ए.) स्वरोजगार हेतु ग्रामीण युवकों को प्रशिक्षण (ट्राइसेम), दस लाख कुएँ खुदवाने सम्बन्धी योजना (एम डब्ल्यू एस.) आदि ग्रामीण नामक कतिपय भूतपूर्व कार्यक्रमों को एकल स्वरोजगार कार्यक्रम में मिलाने के परिणामस्वरूप स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना को पहली अप्रैल, 1999 में शुरू किया गया था। इस योजना का उद्देश्य लघु उद्यमों को बढ़ावा देना तथा ग्रामीण निर्धनों को अपने स्व-सहायता समूहों (एस.एस.जी.) में संगठित करने में मदद देना है। यह योजना ग्रामीण निर्धनों को अपने स्व: सहायता समूहों के संगठन और उनकी क्षमता निर्माण, प्रशिक्षण, सामूहिक गतिविधियों का नियोजन, ढाँचागत विकास, बैंक ऋण तथा आर्थिक सहायता के माध्यम से वित्तीय सहायता और विपणन सम्बन्धी सहायता आदि जैसे स्व-रोजगार के सभी पक्षों को कवच प्रदान करती है। इस योजना को केन्द्र और राज्यों के बीच 75 : 25 के लागत बँटवारे के अनुपात के आधार पर केन्द्रीय प्रायोजित योजना के रूप मे कार्यान्वित किया जा रहा है।

रोजगार आश्वासन योजना (ई.ए.एस.) सूखा सम्भावित क्षेत्रों, रेगिस्तानी क्षेत्रों तथा पहाड़ी क्षेत्रों, जहाँ नये सिरे से तैयार की गई सार्वजनिक वितरण प्रणाली प्रचालन में थी, में स्थित 257 जिलों की निर्धारित पिछड़ी 1778 पंचायत समितियों में कार्यान्वन हेतु यह योजना 2 अक्टूबर, 1993 में शुरू की गई थी। बाद में यह योजना वर्ष 1977-78 तक देश की सभी 5448 ग्रामीण पंचायत समितियों में विस्तारित की गई थी। इस योजना को एकल मजदूरी-रोजगार कार्यक्रम बनाने के लिए वर्ष 1999-2000 में इसकी पुनर्संरचना की गई और 75 : 25 के लागत बँटवारे के अनुपात के आधार पर इसे केन्द्रीय प्रायोजित योजना के रूप में कार्यान्वित किया गया।

सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना (एस.जी.आर.वाई.) यह योजना स्थिर सामुदायिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिसम्पत्तियों के सृजन सहति ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी रोजगार तथा खाद्य सुरक्षा भी मुहैया कराने के उद्देश्य से सितम्बर, 2001 में शुरू की गई। यह योजना केन्द्र

और राज्यो के बीच 75:25 के अनुपात बँटवारे के अनुपात के आधार पर कार्यान्वित की जा रही है। चल रही रोजगार आश्वासन योजना और जवाहर ग्राम समृद्धि योजना को बाद में पूर्णतः इस स्कीम के अन्तर्गत 1 अप्रैल, 2002 से समेकित किया जाएगा।

राष्ट्रीय सामाजिक सहायता कार्यक्रम (एन.एस.पी.)—वृद्धावस्था, परिवार में जीविका कमाने वाले सदस्य की मृत्यु अथवा मातृ-देखरेख से प्रभावित गरीब परिवारों को सामाजिक सहायता का लाभ मुहैया कराने के लिए 100 प्रतिशत केन्द्रीय प्रायोजित योजना के रूप मे यह योजना 15 अगस्त, 1995 को आरम्भ की गई थी। इस कार्य मे तीन योजनाएँ अर्थात् राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेशन योजना, राष्ट्रीय परिवार लाभ योजना और राष्ट्रीय मातृत्व लाभ योजना है।

प्रधानमंत्री ग्रामोदय योजना (पी.एन.जी.वाई.)—ग्रामीण क्षेत्रो मे लोगों के जीवन-स्तर मे सुधार लाने के समग्र उद्देश्य सहित स्वास्थ्य, प्राथमिक शिक्षा, पेयजल, आवास तथा ग्रामीण सडको जैसे पाँच महत्त्वपूर्ण क्षेत्रो मे ग्रामीण स्तर पर विकास करने पर ध्यान देने के उद्देश्य से यह योजना वर्ष 2000-01 मे शुरू की गई।

(i) प्रधानमत्री ग्राम सडक योजना (पी एम जी एस वाई)—वर्ष 2003 तक 1000 व्यक्तियो से अधिक जनसख्या तथा वर्ष 2007 तक 500 व्यक्तियो से अधिक जनसंख्या सहित सभी ग्रामीणवासियो को सभी मौसमों मे अच्छी रहने वाली सडको के माध्यम से सड़क सम्पर्क सुविधा मुहैया कराने के उद्देश्य से सह-योजना 25 दिसम्बर, 2000 को शुरू की गई। वर्ष 2001-02 मे इस योजना के लिए 2500 करोड़ रुपये के आवंटन की व्यवस्था की गई है।

(ii) प्रधानमत्री ग्रामोदय योजना (ग्रामीण आवास)—ग्रामीण स्तर पर लोगों के स्थायी निवास को विकसित करने तथा ग्रामीण गरीबो की बढती हुई आवास सम्बन्धी आवश्यकताओ को पूरा करने के उद्देश्य से यह योजना इन्दिरा गाँधी आवास योजना के पैटर्न पर कार्यान्वित की जानी है।

(iii) प्रधानमन्त्री ग्रामोदय योजना (ग्रामीण पेयजल परियोजना)—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कुल आवंटन का कम-से-कम 25 प्रतिशत भाग सम्बन्धित राज्यो/सघ राज्य क्षेत्रो द्वारा मरु विकास कार्यक्रम/सूखा सम्भावित क्षेत्र कार्यक्रम के अन्तर्गत ऐसे क्षेत्रो के सम्बन्ध मे जल सरक्षण, जल प्रबन्धन, जल भराई तथा पेयजल ससाधनो को कायम रखने के लिए परियोजनाओ/योजनाओं के सम्बन्ध मे उपयोग मे लाया जाना है।

स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना (एस.जे.एस.आर.वाई.)— दिसम्बर, 1997 मे शुरू किए गए शहरी स्वरोजगार कार्यक्रम और शहरी मजदूरी रोजगार कार्यक्रम उस स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना की दो विशेष योजनाएँ हैं जिसने पहले गरीबी उन्मूलन के लिए चलाए जा रहे विभिन्न कार्यक्रमो का स्थान लिया। यह योजना केन्द्र और राज्यो के बीच 75 . 25 अनुपात के आधार पर वित्तपोषित की जा रही है। वर्ष 2001-02 के दौरान इस कार्यक्रम के विभिन्न घटको के लिए 168 करोड रुपये के आवंटन की व्यवस्था की गई है।

इन्दिरा आवास योजना (आई.ए.वाई.)—निर्धनों को मुफ्त दिए जाने वाले मकानों के निर्माण से सम्बन्धित यह एक बड़ी योजना है। इसमें बेकार कच्चे घरों को आधे-पक्के घरो मे बदलने का एक अतिरिक्त घटक भी शामिल किया गया है। वर्ष 1999-2000 के लिए राज्यों/संघ राज्य क्षेत्रों को निधियों के आवंटन का मापदण्ड निर्धनता अनुपात से राज्य में निर्धनता अनुपात और मकानों की कमी प्रतिबिम्बित करने के लिए बदल दिया गया है। इसी प्रकार, किसी जिले को किए जाने वाले निधियों के आवंटन का मापदण्ड अनुसूचित जाति/अनुसूचित जनजाति की जनसंख्या और मकानो की कमी प्रतिबिम्बत करने के लिए बदल दिया गया है।

समग्र आवास योजना— आश्रय, सफाई और पेयजल का समेकित प्रावधान सुनिश्चित करने के उद्देश्य से प्रत्येक 24 राज्यों में एक खण्ड तथा संघ राज्य क्षेत्र में एक खण्ड में प्रायोजित परियोजना के आधार पर वर्ष 1999-2000 में एक व्यापक आवास योजना के रूप में यह समग्र आवास योजना शुरू की गई है। इसका बुनियादी सिद्धान्त मौजूदा आवास, सफाई तथा जलपूर्ति योजनाओं को लोगों की भागीदारी से प्रौद्योगिकी अन्तरण, मानव संसाधन विकास और आवास सुधार पर विशेष जोर देते हुए एकीकृत करना है।

काम के बदले अनाज कार्यक्रम—प्रारम्भ मे यह कार्यक्रम फरवरी, 2001 से 5 महीनो के लिए शुरू किया गया था और बाद में इसे बढ़ाया गया था। इस कार्यक्रम का उद्देश्य आठ राज्यों अर्थात् गुजरात, छत्तीसगढ़, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान और उत्तरांचल मे सूखा प्रभावित ग्रामीण क्षेत्रों में मजदूरी-रोजगार के माध्यम से खाद्य सुरक्षा को बढ़ाना है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अतिरिक्त सहायता के रूप में केन्द्र प्रत्येक सूखाग्रस्त राज्य को मुक्त खाद्यान्नो की उचित मात्रा उपलब्ध कराता है। राज्य सरकार द्वारा मजदूरी की अदायगी अंशतः वस्तु (प्रति कार्य दिवस के लिए 5 किलोग्राम खाद्यान्न तक) तथा अंशतः नकद के रूप में की जा सकती है। कामगरों को बकाया मजदूरी नकद मे अदा की जाती है ताकि उन्हे अधिसूचित न्यूनतम मजदूरी प्राप्त हो। यह कार्यक्रम अधिसूचित "प्राकृतिक आपदा प्रभावित" जिलों के सम्बन्ध में 31 मार्च, 2002 तक बढ़ा दिया गया है।

अन्नपूर्णा—यह योजना 100 प्रतिशत केन्द्रीय प्रायोजित योजना के रूप मे 1 अप्रैल, 2000 से प्रभावी हुई। इस योजना का उद्देश्य वरिष्ठ नागरिकों, जो राष्ट्रीय वृद्धावस्था पेशन स्कीम के तहत पेशन प्राप्त करने के पात्र हैं, लेकिन जिन्हें पेशन मिल नहीं रही है, की आवश्यकता को पूरा करने के लिए खाद्य सुरक्षा प्रदान करना है। लाभानुभोगियो को उन्हें रियायती दर पर 2 रुपये प्रति किलो गेहूँ तथा 3 रुपये प्रति किलो चावल की दर पर खाद्यान्न मुहैया कराए जाते हैं। यह योजना 25 राज्यों तथा 5 संघ राज्य क्षेत्रों में चल रही है। इसके अन्तर्गत 6.08 लाख से अधिक परिवारों की पहचान की गई है तथा इस योजना के लाभ उन्हे पहुँचाये जा रहे हैं।

कृषि श्रमिक सामाजिक सुरक्षा योजना—यह योजना जुलाई, 2001 मे 18 से 60 वर्ष की आयु वर्ग मे खेतिहर व किराये पर मजदूरों को सामाजिक सुरक्षा लाभ देने के लिए शुरु की गई थी।

शिक्षा सहयोग योजना—इस योजना को अन्तिम रूप दे दिया गया है जो गरीबी की रेखा से नीचे रह रहे माता-पिता को अपने बच्चो को नवीं से बारहवी कक्षा की शिक्षा प्रदान करने के लिए 100 रुपये प्रति माह शैक्षणिक भत्ता मुहैया कराएगी।

सरकार ने रोजगार उत्पन्न करने के लिए नीति बनाई है, जो निम्नलिखित हैं—

पाँच प्रमुख क्षेत्रों में हस्तक्षेप करते हुए रोजगार उत्पन्न करने हेतु नीति—कम आये वाले वर्गों के श्रम बल की अधिक आय सुनिश्चित कराने वाले क्षेत्रो पर विशेष जोर डालने सहित सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि को बढाना। अलग-अलग क्षेत्रो, जो विशेष रूप से रोजगार उत्पन्न करने हेतु महत्त्वपूर्ण हैं, मे उचित क्षेत्रक नीतियो का पालन करना। मोटे तौर पर क्षेत्र स्तर की ये नीतियाँ सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि को बढ़ाने के समग्र उद्देश्य के अनुकूल होनी चाहिए। असुरक्षित वर्गो, जिन्होने सामान्य विकास सवर्धन वाली अन्य नीतियो से पर्याप्त रूप से लाभ प्राप्त नहीं किया है, को सहायता देने के उद्देश्य से अतिरिक्त रोजगार सृजन करने तथा विद्यमान कार्यकलापो से अधिक आय उत्पन्न करने के लिए सकेन्द्रित विशेष कार्यक्रमो का कार्यान्वयन। शिक्षा तथा कौशलता विकास के लिए उचित नीतियों का पालन करना जो श्रमबल की गुणवत्ता का उन्नयन करेगा तथा इसे विकास प्रक्रिया को समर्थन देने के योग्य बनाएगा जिससे उच्च कोटि की नौकरियाँ उत्पन्न होती हैं। यह सुनिश्चित करना कि श्रम बाजार को शासित करने वाला नीतिगत और कानूनी वातावरण, विशेषकर सगठित क्षेत्र मे श्रमिक बल के प्रयोग को प्रोत्साहित करे।

कार्य बल में महिलाएँ (Women in Work Force)—महिलाएँ देश के कार्य बल का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा हैं। ग्रामीण महिला कामगारो मे अधिसख्य महिलाएँ श्रमिको और खेतिहरो के रूप में कृषि-कार्य मे लगी हुई है। शहरी क्षेत्र मे महिला कामगार मुख्यत: गृह उद्योगो, छोटे-मोटे कामधन्धों और सेवाओ, इमारतो और निर्माण इत्यादि जैसे असगठित क्षेत्रो मे नियुक्त हैं। 31 मार्च, 1999 की स्थिति के अनुसार महिलाएँ सगठित क्षेत्र (सरकारी और निजी दोनो) के रोजगार के लगभग 17 2 प्रतिशत हिस्से का निर्माण करती थी।

विश्वभर मे *'टाइम यूज सर्वेस'* का एक प्रमुख निष्कर्ष यह था कि महिलाओ और पुरुषो की तुलना *मे काम का अत्यधिक बोझ है। वे घरेलू कार्य भी करती हैं। काम* के इस दोहरे बोझ को न तो आँकड़ो में मान्यता दी जाती है और न ही सामाजिक-आर्थिक नीति-निर्माण के समय इस पर विचार किया जाता है। एक अध्ययन के अनुसार औसतन एक महिला प्रति सप्ताह 34 6 घंटे काम करती है, जिसकी तुलना मे एक पुरुष प्रति सप्ताह 3 6 घंटे काम करता है।

आर्थिक गतिविधि मे भागीदारी का महिला-पुरुष अनुपात चीन को छोडकर सब देशो मे 100 से कम है। भारत के सम्बन्ध मे महिला-पुरुष अनुपात 50 है।

एक सहायक कानूनी ढाँचा मुहैया कराने की जरूरतो को देखते हुए समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 मे महिलाओं और पुरुषों को समान-स्वरूप के कार्य के लिए समान पारिश्रमिक का भुगतान किए जाने का प्रावधान है। उच्चतम न्यायालय ने दिनांक 13 8 97 के अपने आदेश में महिला कर्मचारियो के उनके कार्य स्थल पर यौन-उत्पीड़न को रोकने के लिए

दिशा-निर्देश निर्धारित किए हैं। इन दिशा-निर्देशों को कार्य रूप देने हेतु फरवरी, 1998 मे केन्द्रीय सिविल सेवा (आचरण) नियमावली, 1964 मे संशोधन किया गया है। उच्चतम न्यायालय के दिशा-निर्देशों को निजी क्षेत्र के कर्मचारियों पर लागू करने के लिए श्रम मंत्रालय ने भी औद्योगिक रोजगार (स्थायी आदेश) अधिनियम, 1964 में सशोधन किया है। महिला कामगारों के लाभ के लिए शिशु देखरेख केन्द्र निर्मित करने हेतु मौजूदा श्रम कानूनों मे सांविधिक प्रावधान भी किए गए हैं।

शिक्षा (Education)—शिक्षा को सार्वभौमिक तौर पर 'मानव-पूँजी' का एक केन्द्रीय घटक माना जाता है। आर्थिक वृद्धि में इसके योगदान कर्त्ता के रूप में और जनसंख्या नियत्रण, जीवन प्रत्याशा, शिशु मृत्यु-दर पर इसके प्रभाव, पोषण सम्बन्धी स्थिति में सुधार लाने और सिविल संस्थाओ को मजबूत बनाने में शिक्षा की भूमिका को भली प्रकार से मान्यता दी गई है।

भारत में इस शिक्षा पर किया जाने वाला कुल व्यय सकल घरेलू उत्पाद का 3 8 प्रतिशत (1998) है। शिक्षा पर आयोजनागत व्यय मे पहली पंचवर्षीय योजना से आगे तीव्र वृद्धि भी हुई है। नौवीं पंचवर्षीय योजना में इस क्षेत्र को उच्च प्राथमिकता दी गई जब आठवीं योजना के 8,522 करोड़ रुपये के व्यय की तुलना में 24,908 करोड़ रुपये का आवंटन किया गया, जो इस क्षेत्र को उपलब्ध निधियों में तीन गुणा की वृद्धि का द्योतक है। शिक्षा के लिए कुल आयोजनागत आवटन को भी वर्ष 2000-01 (व अ) के 5,450 करोड़ रुपये से बढ़ाकर 2001-02 (ब.अ.) के 5,920 करोड़ रुपये कर दिया गया है। इसमें से बुनियादी शिक्षा को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है, जिसे वर्ष 2000-01 के 3609 करोड़ रुपये के स्तर से बढ़ाकर 2001-02 (ब.अ.) मे 3800 करोड़ कर दिया गया है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986 और वर्ष 1992 में यथासमीक्षित इसके कार्यक्रम मे सभी क्षेत्रों में शिक्षा के सुधार और विस्तार, शिक्षा प्राप्त करने मे वैषम्य की समाप्ति, सभी स्तरों पर शिक्षा के स्तर तथा उसकी प्रासगिकता मे सुधार किए जाने के साथ तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा पर जोर देने की बात कही गई है। शिक्षा नीति का उद्देश्य सभी के लिए शिक्षा प्राप्त करना रहा है, जिसमें प्राथमिकता क्षेत्र स्वतंत्र हों और 6-14 वर्ष के आयु वर्ग के बच्चों को (कक्षा-5 तक) नि:शुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा, निरक्षरता का पूर्ण उन्मूलन, व्यवसायीकरण, विशेष जरूरतों वाले बच्चों पर ध्यान देना, महिलाओ, कमजोर वर्गों और अल्पसंख्यको की शिक्षा पर विशेष ध्यान देना है।

वर्ष 1950-51 से वर्ष 1999-2000 की अवधि के दौरान, प्राथमिक स्कूलों की संख्या में तीन गुणा वृद्धि हो गई जो 1950-51 के 21,000 से बढ़कर 1999-2000 में बढ़कर 642000 हो गई है। उच्च प्राथमिक स्कूलों की संख्या मे 15 गुणा वृद्धि हुई है जो 1950-51 के 13,596 से बढ़कर 1999-2000 में 198,000 हो गई है। उच्च प्राथमिक स्कूलों और प्राथमिक स्कूलों का अनुपात भी 1950-51 के 1 : 15 से कम होकर 1999-2000 में 1 : 3 : 2 रह गया है। इस समय राज्य और केन्द्रीय विधान के जरिए स्थापित 245 विश्वविद्यालय, 52 सम-विश्वविद्यालय, पाँच संस्थान हैं और उच्च शिक्षा क्षेत्र मे मान्यतारहित संस्थानो के अतिरिक्त

1520 महिला महाविद्यालयो सहित लगभग 11,831 महाविद्यालय हैं। पिछले अर्थात्, छठे अखिल भारतीय शिक्षा सर्वेक्षण 1993 के अनुसार, ग्रामीण बस्तियो की 83 प्रतिशत और ग्रामीण जनसंख्या के 94 प्रतिशत हिस्से को 1 कि.मी. की परिधि में प्राथमिक स्कूलों/सेक्शनो की सुविधा उपलब्ध है। ग्रामीण बस्तियो के 76 प्रतिशत और ग्रामीण जनसंख्या के 85 प्रतिशत हिस्से को 3 कि.मी की परिधि मे उच्च प्राथमिक स्कूलो/सेक्शनों की सुविधा उपलब्ध है। वर्ष 1993 के बाद से प्राथमिक/उच्च प्राथमिक शिक्षा की उपलब्धता में सुधार हुआ है।

शिक्षा क्षेत्र के भीतर ही, उप-क्षेत्र आवंटनो के अर्थ मे बुनियादी शिक्षा को उच्चतम प्राथमिकता दी गई है। शिक्षा को दृष्टि से साधनहीन लोगो की जरूरतो को पूरा करने तथा शिक्षा हेतु सामाजिक आधारभूत ढाँचे को मजबूत बनाने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा अनेक योजनाएँ शुरू की गई हैं, अर्थात् ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड (ओबी), जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डीपीईपी), अनौपचारिक शिक्षा (एनएफई) शिक्षा गारंटी योजना और वैकल्पिक तथा नवीन शिक्षा (ईजीएस एण्ड एईआई), महिला सामाख्या, शिक्षक शिक्षा (टीई), दोपहर के भोजन की योजना, लोक जुंबिश, शिक्षाकर्मी परियोजना (जीएसकेपी), जनशाला इत्यादि। वर्ष 2001-02 मे राज्यो के साथ मिलकर "सर्व शिक्षा अभियान" शुरू करके एक समयबद्ध समेकित दृष्टिकोण अपनाकर सभी को प्राथमिक शिक्षा देने के उद्देश्य को पूरा करने के लिए महत्त्वपूर्ण उपाय किए गए हैं। (बाक्स-1) "सर्व शिक्षा अभियान" की योजना को विकेन्द्रीकृत किया जाएगा और सामुदायिक स्वामित्व और अनुवीक्षण को उच्चतम प्राथमिकता दी जाएगी। यह कार्यक्रम आगे चलकर विदेशी सहायता-प्राप्त कार्यक्रमों सहित सभी मौजूद कार्यक्रमों को अपनी सरचना मे शामिल कर लेगा जिसमें कार्यक्रम कार्यान्वयन की इकाई जिला होगा।

"सर्व शिक्षा अभियान के उद्देश्य"—वर्ष 2003 तक 6-14 वर्ष की आयु के सभी बच्चे स्कूलो/शिक्षा गारंटी केन्द्रो/ब्रिज पाठ्यक्रमों में हों। वर्ष 2007 तक 6-14 वर्ष की आयु के सभी बच्चे पाँच वर्ष की प्राथमिक शिक्षा पूरी करें। वर्ष 2010 तक 6-14 वर्ष की आयु के सभी बच्चे स्कूली शिक्षा के आठ वर्ष पूरे करें। जीवन के लिए शिक्षा पर जोर देते हुए सन्तोषजनक स्तर की बुनियादी शिक्षा पर ध्यान देना। प्राथमिक स्तर पर वर्ष 2007 तक और बुनियादी शिक्षा के स्तर पर वर्ष 2010 तक सभी लिंग सम्बन्धी और सामाजिक वर्गीकरण के अन्तरो को समाप्त करना। 2010 तक सार्वजनिक तौर पर स्कूली शिक्षा लेना।

"सभी के लिए शिक्षा" के लक्ष्य को प्राप्त करने हेतु किया गया एक उपाय 28 नवम्बर, 2001 को लोकसभा में पारित सविधान का तिरानवेवां संशोधन था ताकि 6-14 वर्ष की आयु के बच्चों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा के अधिकार को मूल अधिकार बनाया जा सके और साथ ही इसे 6-14 वर्ष की आयु वर्ग के बच्चों को शिक्षा हेतु अवसर मुहैया कराने के लिए माता-पिता/अभिभावक का मूल कर्त्तव्य बनाया जा सके।

वर्ष 1991-2001 के दौरान सात वर्ष से अधिक की आयु वर्ग की जनसंख्या मे 172 मिलियन की वृद्धि हुई जबकि 204 मिलियन अतिरिक्त व्यक्ति साक्षर हुए। जनसंख्या मे समूचे तौर पर वृद्धि के बावजूद, निरक्षर व्यक्तियो की संख्या वर्ष 1991 के 328 मिलियन से कम

होकर 2001 में 296 मिलियन रह गई है। यह महत्त्वपूर्ण घटनाक्रम है क्योंकि स्वतंत्रता के बाद से पहली बार किसी दशक में निरक्षर व्यक्तियों की कुल संख्या में गिरावट हुई है। निरक्षर व्यक्तियों की कुल संख्या में हुई इस गिरावट में योगदान देने वाले राज्य हैं— आन्ध्रप्रदेश, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, राजस्थान, मध्यप्रदेश और तमिलनाडु। इस दशक के दौरान निरक्षर व्यक्तियों की संख्या मे वृद्धि दर्ज करने वाले राज्य/संघ राज्य क्षेत्र हैं--दिल्ली, नागालैण्ड, मणिपुर और चण्डीगढ़, दमन और दीव तथा दादर और नगर हवेली।

वर्ष 1988 में स्थापित किए गए राष्ट्रीय साक्षरता मिशन (एनएलएम) का उद्देश्य पूर्ण साक्षरता अर्थात् 15-35 वर्ष के आयु वर्ग में गैर-साक्षर व्यक्तियों को कामचलाऊ रूप से साक्षर बनाकर, वर्ष 2005 के अन्त तक 75 प्रतिशत का स्थायी आरम्भिक स्तर हासिल करना है। राष्ट्रीय साक्षरता मिशन का उद्देश्य यह सुनिश्चित करना है कि "पूर्ण साक्षरता अभियान" और उनके बाद चलाए जाने वाले अभियान "साक्षरता-उत्तर अभियान" सफलतापूर्वक "अनवरत शिक्षा" की राह पर चलें। इस योजना के अन्तर्गत नई जानकारी के विकास और उसे हासिल करने पर अधिक जोर दिया जाता है। गैर-साक्षर व्यक्तियों को वापस निरक्षरता की स्थिति में जाने से रोकने और साथ ही कौशलों का विकास करने के लिए, राष्ट्रीय साक्षरता मिशन की पुनर्संरचना की गई है ताकि निरन्तरता , कार्यदक्षता और समाभिरूपता हासिल करने के लिए एक ही "साक्षरता परियोजना" के तहत "सम्पूर्ण और साक्षरता उत्तर कार्यक्रम" को मिलाते हुए एक समेकित दृष्टिकोण अपनाया जा सके।

जनसंख्या—भारत विश्व के 135.79 मिलियन वर्ग कि मी भूमि का 2.4 प्रतिशत हिस्सा है और यह विश्व की जनसंख्या के 16.7 प्रतिशत हिस्से को पोषित करता है। भारतीय जनगणना 2001 के अन्तिम परिणामों के अनुसार, 1 मार्च, 2001 की स्थिति के अनुसार, भारत की जनसंख्या 531 मिलियन पुरुष और 496 मिलियन महिलाएँ थीं। इस तरह एक अरब की संख्या को पार करने वाला भारत विश्व में दूसरा देश है।

राष्ट्रीय जनसंख्या नीति (एनपीपी) 2000 में "स्थायी आर्थिक विकास, सामाजिक विकास और पर्यावरण की सुरक्षा की जरूरतों के अनुरूप स्तर पर वर्ष 2045 तक एक स्थिर जनसंख्या को हासिल करने" के दीर्घकालिक उद्देश्य की रूपरेखा प्रस्तुत की गई। राष्ट्रीय जनसंख्या नीति का मध्यावधिक उद्देश्य कुल प्रजनन दर को कम करके वर्ष 2010 तक 2.1 की प्रतिस्थापन दर तक लाना है। हालाँकि सर्वांग रूप से 1991-2001 के दौरान जनसंख्या में 180.6 मिलियन व्यक्तियों की वृद्धि हुई है, फिर भी वर्ष 1961 से शुरू करते हुए निवल वृद्धि में हुए परिवर्तन में गिरावट का रूख देखा गया है। 1991-2001 के बीच 21 34 प्रतिशत के स्तर पर जनसंख्या की दशकीय वृद्धि में स्वतंत्रता के बाद से तीव्रतम गिरावट देखी गई जब तद्नुरूप अवधि की औसत वृद्धि दर गिरकर 1.93 प्रतिशत प्रतिवर्ष हो गई, जो यह इंगित करता है कि देश जनसांख्यिकी संक्रमण की प्रक्रिया में तेजी से गिरती जनन-क्षमता के चरण में दाखिल हो रहा है।

राज्यो का जनसांख्यिकीय परिदृश्य यह स्पष्ट करता है कि केरल, तमिलनाडु और पजाब सहित 9 राज्यो और संघ राज्य क्षेत्र प्रजनन के प्रतिस्थापन दर की स्थिति पर पहले ही पहुँच गए है। ये राज्य कुल जनसख्या के लगभग 15 प्रतिशत जनसंख्या वाले 10 अन्य राज्यों द्वारा वर्ष 2010 तक प्रतिस्थापन दरें हासिल कर लेने की सम्भावना है। शेष 11 राज्य जो देश की जनसख्या का लगभग 44 प्रतिशत हिस्सा निर्मित करते हैं और इसमे उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, मध्य प्रदेश इत्यादि जैसे अधिक जनसंख्या वाले राज्य शामिल हैं। वर्ष 2010 तक प्रजनन भी प्रतिस्थापन दर हासिल नहीं कर पाएँगे।

राष्ट्रीय जनसख्या नीति जिसमे सामाजिक क्षेत्र के सभी कार्यक्रम शामिल हैं, के कार्यान्वियन के साथ-साथ राज्य सरकारो को सामाजिक, आर्थिक और जनसांख्यिकी सकेतकों विशेषकर उच्च प्रजजन के क्षेत्रो मे एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी है। राज्य स्तर की जनसख्या-नीतियो को बनाने का कार्य पहले ही चल रहा है और सम्बन्धित राज्यों मे जनसख्या स्थिरीकरण के प्रयासो का कारगर कार्यान्वयन जनसख्या के आकार और उस वर्ष को निर्धारित करेगा जिस पर देश जनसांख्यिकीय स्थिरीकरण की स्थिति को हासिल करता है।

जनगणना 2001 के अनुसार, देश मे समग्र तौर पर लिग अनुपात प्रति 1000 पुरुष, 933 महिलाएँ थीं। हालाँकि वर्ष 1991 में दर्ज किए गए 927 के लिग अनुपात की तुलना मे यह कुछ बेहतर है, लेकिन दीर्घकालिक प्रवृत्ति गिरावट की ही है जो 1971 को समाप्त दशक से, जब 11 अकों की गिरावट दर्ज की गई थी, अधिक तेज हुई है। उसके बाद, यह बाद की जनगणनाओ मे 930 के लगभग वना रहा है। भारत मे कम लिग अनुपात की लगातार बनी हुई यह प्रवृत्ति लिंग का चयन करके कन्याओ की गर्भ मे हत्या, बच्चियो की उपेक्षा, बालिका-वध, उच्च मातृ-मृत्यु दर इत्यादि के कारण कही जा सकती है।

जनगणना 2001 मे पहली बार देश में गन्दी बस्तियो (स्लम) पर विस्तृत आँकडे एकत्र किए गए हैं, जो 1991 की जनगणना पर आधारित विशेष रूप से 50,000 या इससे अधिक की जनसख्या वाले शहरों/नगरो के बारे मे हैं। ऐसे क्षेत्रों के वासियो को, जिन्हें किन्हीं कानूनी उपबन्धों के तहत राज्य सरकारो द्वारा गन्दी बस्ती (स्लम) के रूप मे अधिसूचित किया गया हो अथवा यहाँ तक कि सिर्फ मान्यता दी गई हो, तद्नुसार इस प्रयोजनार्थ स्लम जनसख्या वाला क्षेत्र माना गया है। किसी क्षेत्र को स्लम के रूप में घोषित करने के लिए सामान्य मापदण्डो को पूरा करने वाले शहरों/नगरों के क्षेत्रो पर भी विचार किया गया है। 26 राज्यों/सघ राज्य क्षेत्रो ने 607 शहरो मे स्लम जनसंख्या की मौजूदगी सूचित की है। 9 राज्य/संघ राज्य क्षेत्रो अर्थात् हिमाचल प्रदेश, नागालैण्ड, मिजोरम, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, दादर और नगर हवेली, दमन और दीव तथा लक्षद्वीप ने अपने शहरो/नगरो मे स्लम जनसंख्या की कोई सूचना नहीं दी है। देश मे कुल स्लम जनसंख्या 40 3 मिलियन है जिसमे स्लम की मौजूदगी सूचित करने वाले शहरों/नगरो की कुल शहरी जनसंख्या का 22 6 प्रतिशत हिस्सा है।

परिवार कल्याण (Family Welfare)—देश मे आर्थिक विकास की प्रक्रिया को जारी रखने के लिए जनसख्या स्थिरीकरण प्राथमिकता का क्षेत्र है। यह निरन्तर पचवर्षीय

योजनाओं का मुख्य केन्द्र भी रहा है। नौवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2000) में निम्नलिखित उद्देश्यो/रणनीतियों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है—

निम्नलिखित कार्यों के जरिए जनसंख्या वृद्धि में कमी लाना— गर्भनिरोधक देखरेख की बेहतर उपलब्धता, पैठ और गुणवत्ता के जरिए गर्भनिरोध के सम्बन्ध मे महसूस की गई सभी जरूरतों को पूरा करना। शिशु और मातृ रुग्णता तथा मृत्यु दर में कमी लाना ताकि जनन-क्षमता में वांछित स्तर तक कमी की जा सके। प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र (पीएचसी) के स्तर पर प्रजनन और शिशु की देखरेख की जरूरत का मूल्यांकन करना और क्षेत्र-विशिष्ट लघु योजना-निर्माण करना। आवश्यकता पर आधारित, माँग द्वारा संचालित, उच्च किस्म की, एकीकृत प्रजनन और शिशु स्वास्थ्य देखरेख सुविधा मुहैया कराना। परिवार नियोजन सेवाओं की उपलब्धता मे सुधार लाना तथा अवांछित गर्भ की संख्या में कमी लाना। आवश्यक प्रसूति देखरेख मुहैया कराने के उपायों पर ध्यान देना, संस्थागत प्रसवों को बढ़ावा देने और खराब निष्पादन करने वाले राज्यो मे घरों मे सुरक्षित प्रसव-सेवा को बढ़ावा देने के उपाय करना। स्वास्थ्य देखरेख के सभी स्तरों पर आवश्यक प्रजनन और शिशु-स्वास्थ्य (आरसीएच) कार्यक्रम में महिलाओ मे यौन-सचारी संक्रमणों/जननाग संक्रमणों की रोकथाम, उनका पता लगाना और देखरेख करना एक प्राथमिकता क्षेत्र है। सर्वजनीन प्रतिरक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत पोलियो के लिए नेमी प्रतिरक्षण के अतिरिक्त 1995 मे पल्स पोलियो कार्यक्रम शुरू किया गया ताकि वर्ष 2000 तक पोलियो की घटना शून्य स्थिति तक पहुँच जाए।

परिवार कल्याण सेवाओं में सुधार लाने के लिए एक विश्वसनीय और *संगत नीतिगत ढाँचे की व्यवस्था* करने और इनकी सुपुर्दगी एवं जनसांख्यिकीय प्रभाव को मॉनीटर करने की दृष्टि से परिवार कल्याण विभाग ने *राष्ट्रीय जनसंख्या नीति (एनपीपी) 2000* बनाई है। इस नीति का एक प्रमुख उद्देश्य वर्ष 2010 तक प्रजनन-क्षमता के प्रतिस्थापन स्तर तथा 2045 तक जनसख्या स्थिरीकरण को हासिल करना है। वर्ष 2010 के लिए इस नीति के मुख्य उद्देश्य हैं—टीएफआर को कम करके 2 1 करने तथा दो बच्चो के मापदण्ड को अपनाने के लिए उच्च कोटि की गर्भ निरोधक सेवाओं को सार्वजनिक तौर पर मुहैया कराना, जन्म मृत्यु, विवाह और गर्भाधारण के पजीकरण को पूरा कवरेज, शिशु मृत्यु दर को कम करके 30 प्रति हजार जीवित नवजात तक ले आना, टीकाकरण के जरिए नियंत्रित किए जाने वाले रोगों से बच्चो का प्रतिरक्षण, 2000 तक पोलियो का उन्मूलन और टिटनेस एवं खसरा का लगभग उन्मूलन, मातृ-मृत्यु दर को कम करके 100 प्रति एक लाख जीवित नवजात से सभी नीचे लाना, लड़कियों के देरी से विवाह को बढावा देना और प्राथमिक शिक्षा का सार्वभौमिकरण तथा प्राथमिक व माध्यमिक स्तरो पर लड़के और लड़कियों दोनो के लिए स्कूल छोड देने की दर मे कमी करके उसे 20 प्रतिशत से नीचे लाना।

इस नीति के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए परिवार कल्याण विभाग द्वारा अनेक संवर्धनकारी और प्रेरक उपाय किए गए हैं, उदाहरणार्थ—सामुदायिक प्रोत्साहन योजना जिसके अन्तर्गत अनुकरणीय कार्य-निष्पादन के लिए पंचायतो और जिला परिषदों को पुरस्कृत किया

जाएगा, महिला और बाल-विकास विभाग की बालिका समृद्धि योजना जारी रखी गई है, परिवार-कल्याण से सम्बन्धित स्वास्थ्य बीमा योजना शुरू की जा रही है, परिवार कल्याण विभाग के जरिए राष्ट्रीय मातृत्व लाभ योजना अब कार्यान्वित की जा रही है, जिसके अन्तर्गत नकद प्रोत्साहनो को देरी से किए गए गर्भधारण से जोड़ा जाता है, ग्रामीण क्षेत्रो और शहरी स्लम-इलाको मे शिशु गृह और शिशु देखरेख केन्द्र खोले जाएँगे, सुरक्षित गर्भपात के लिए सुविधाओ को सुदृढ़ किया जाएगा, बाल-विवाह अवरोध अधिनियम, 1976 और प्रसव-पूर्व नैदानिक तकनीक अधिनियम, 1994 इत्यादि को कठोरता से लागू किया जाएगा।

राष्ट्रीय जनसख्या आयोग का गठन किया गया है जिसकी अध्यक्षता प्रधानमंत्री करते हैं और जिसमे सदस्यो के रूप मे सभी राज्यो और संघ राज्य क्षेत्रो के मुख्यमत्री और सम्बन्धित मत्रालयो/विभागो के केन्द्रीय मंत्री, प्रतिष्ठित जनसाख्यिकीविद्, जन-स्वास्थ्य सम्बन्धी पेशेवर व्यक्ति और गैर-सरकारी सगठन शामिल हैं। यह आयोग राष्ट्रीय जनसख्या नीति के कार्यान्वयन की देखरेख तथा उसे मॉनीटर करेगा। राष्ट्रीय जनसंख्या नीति-2000 के अन्तर्गत निर्धारित उद्देश्यो की पूर्ति को सुसाध्य बनाने के लिए, स्वास्थ्य और परिवार-कल्याण मत्रालय मे एक अधिकार-सम्पन्न कार्यदल (ईएजी) गठित किया गया है, जो जनसंख्या वृद्धि को नियत्रणीय स्तरों तक रखने मे पीछे रह गए राज्यो पर, विशेष जोर देते हुए क्षेत्र विशिष्ट कार्यक्रम तैयार करेगा। राष्ट्रीय जनसंख्या आयोग के सम्बन्ध मे विचार-विमर्शों के बाद, प्रधानमत्री ने भारत सरकार की ओर से 100 करोड रुपये के आरम्भिक अशदान से "जनसंख्या स्थिरीकरण कोष" के निर्माण की घोषणा की। परिवार-कल्याण की विभिन्न योजनाओ के सम्बन्ध मे वर्ष 2000-01 में 3520 करोड़ रुपये (बजट अनुमान) की तुलना मे 2001-02 मे 4210 करोड रुपये मुहैया कराए गए।

स्वास्थ्य (Health)—अच्छी स्वास्थ्य देखभाल सम्बन्धी सेवाओ की ओर बढ़ती पहुँच सामाजिक विकास कार्यक्रमो का एक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र रहा है और जिसे देश मे अपनाया जा रहा है। प्रौद्योगिक उन्नति और ढाँचागत नेटवर्क में विस्तार के फलस्वरूप मृत्यु-दर मे गिरावट आई है।

गत चार वर्षो के दौरान, केन्द्र और राज्य सरकारों ने प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रो (पीएचसी) का सुदृढीकरण/उनका उपयुक्त तरीके से पुनः पता लगाना, चल स्वास्थ्य क्लिनिको का उपयोग, औषधियो तथा उपभोज्य की आपूर्ति के संभारतंत्र में सुधार और प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों को गैर-सरकारी सगठनो को सौंपने जैसे महत्त्वपूर्ण प्रयास किए हैं। सात राज्यो ने विश्व बैंक की सहायता से प्रथम रेफरल यूनिटों/जिला अस्पतालो की स्थापना हेतु परियोजनाएँ प्रारम्भ की हैं।

वर्ष 2001-02 के दौरान केन्द्रीय स्वास्थ्य क्षेत्र की योजनाओ के सम्बन्ध में योजना परिव्यय 1450 करोड़ रुपये है, जो वर्ष 2000-01 में उपलब्ध कराए गए। 1300 करोड रुपये के परिव्यय की तुलना मे 11 5 प्रतिशत की वृद्धि दर्शाता है। केन्द्रीय आयोजना परिव्यय का लगभग 54 प्रतिशत भाग मलेरिया, क्षय रोग, कुष्ठ, एड्स अन्धता आदि के नियत्रण हेतु केन्द्रीय

प्रायोजित रोग नियंत्रण कार्यक्रम पर व्यय किया जाता है। रोग नियंत्रण कार्यक्रमों हेतु विभिन्न द्विपक्षीय तथा बहुपक्षीय एजेंसियो से पर्याप्त विदेशी सहायता भी जुटाई गयी है। स्वास्थ्य क्षेत्र मे किए गए समेकित प्रयासों से चेचक, नहरुआ रोग के देश से उन्मूलन के रूप में पिछले वर्षो मे उल्लेखनीय सफलता हासिल हुई है। पोलियो उन्मूलन के कगार पर है।

ग्रामीण जलापूर्ति (Rural Water Supply)—वर्तमान में राजीव गाँधी राष्ट्रीय पेयजल मिशन के रूप मे ज्ञात त्वरित ग्रामीण जलापूर्ति कार्यक्रम वर्ष 1972-73 से चालू है जो ग्रामीण जनसख्या को स्वच्छ तथा पर्याप्त पेयजल आपूर्ति की सुविधाओं के विस्तार में तेजी लाने हेतु राज्यों तथा संघ राज्य क्षेत्रों को सहायता प्रदान करता है। ग्रामीण पेयजल आपूर्ति व्यवस्था का कार्यान्वयन, प्रबन्धन तथा रख-रखाव हेतु सामुदायिक भागीदारी की व्यवस्था की गयी है। इस कार्यक्रम के लिए केन्द्रीय आवंटन वर्ष 2000-01 मे 1960 करोड रुपये से बढाकर वर्ष 2001-02 मे 1,975 करोड रुपये किया गया। जनवरी, 2002 के अन्त तक केन्द्र द्वारा 1,637 करोड़ रुपये तथा राज्यों द्वारा 1,496 करोड रुपये पृथक् से जारी किए गए। 45,527 के लक्ष्य की तुलना मे 26,803 निवासी स्थानों को कवर किया गया और इस अवधि हेतु कवर की गयी जनसख्या 21.6 मिलियन के लक्ष्य की तुलना में 10.5 मिलियन थी।

ग्रामीण स्वच्छता (Rural Cleanliness)—ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम को ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा वर्ष 1986 में ग्रामीण गरीब लोगों के जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाने तथा महिलाओं की गोपनीयता और प्रतिष्ठा कायम रखने हेतु जारी किया गया था। केन्द्रीय ग्रामीण स्वच्छता कार्यक्रम को वर्ष 1999 में नए सिरे से तैयार किया गया जिसका उद्देश्य ग्रामीण लोगों को पर्याप्त स्वच्छता सुविधाएँ उपलब्ध कराना, स्वास्थ्य शिक्षा के सम्बन्ध में जागरूकता बढ़ाना, मौजूदा सभी शुष्क शौचघरों को कम लागत के सुलभ-शौचालयों मे परिवर्तित कर सिर पर मैला ढोने की समस्या का उन्मूलन करना है। देश मे विभिन्न चरणो में समग्र तौर पर स्वच्छता अभियानों का कार्यन्वयन किया जा रहा है।

ग्रामीण स्कूल स्वच्छता कार्यक्रम को एक मुख्य अवयव के रूप में और ग्रामीण लोगों को प्रारम्भिक स्तर पर इसे व्यापक स्वीकृति के बतौर आरम्भ किया गया है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य नौवीं योजना के अन्त तक सभी ग्रामीण स्कूलों में शौचघरों का निर्माण करना है। स्वच्छता सुविधाओं के साथ ग्रामीण जनसंख्या का कवरेज नौंवी योजना के प्रारम्भ में लगभग 17 प्रतिशत था। इसमे इस योजना के प्रथम कुछ वर्षों के दौरान लगभग 3 प्रतिशत अथवा इसके *आसपास* वृद्धि हुई।

महिला तथा बाल विकास

(Women and Child Development)

महिला अधिकारिता (Women Rights)—महिला और बाल विकास के विभाग द्वारा महिलाओं को आर्थिक तथा सामाजिक दोनों दृष्टियों से अधिकार प्रदान करने तथा विकास में उन्हें समान भागीदारी बनाने में मूल उद्देश्य से प्रशिक्षण और क्षमता निर्माण, रोजगार और

आय सृजन, कल्याणकारी और सहायता सेवाओ तथा लिंग सुग्रहिता के प्रति जागरूकता जैसे क्षेत्रो मे उपाय जारी है।

वर्ष 2001 को सरकार द्वारा महिला अधिकारिता वर्ष के रूप में घोषित किया गया है। महिला अधिकारिता सम्बन्धी राष्ट्रीय नीति को मंत्रिमण्डल द्वारा 20 मार्च, 2001 को अनुमोदित किया गया था। यह नीति देश में महिलाओ की समान विधिक स्थिति तथा असमान वास्तविक स्थिति के मध्य अन्तर को पाटने की रणनीति तथा कार्य बिन्दुओ का निर्धारण करती है। लिंग व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य मे सबको सरकार के सभी कानूनों, नीतियों, कार्यक्रमो, विनियमो और बजट आवंटन के सन्दर्भ मे मुख्यधारा के बाहर प्रत्येक स्तर तथा प्रत्येक क्षेत्र मे कार्यवाही करने का प्रयास भी किया जाता है।

महिला तथा बाल विकास विभाग ने 'यूनिफेम' के सहयोग से लिंग परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ मे वर्ष 2001-02 के बजट का विश्लेषण करने हेतु राष्ट्रीय लोक वित्त नीति संस्थान की स्थापना की है। इस अध्ययन मे महिलाओ पर सरकारी व्यय की 3 श्रेणियों की पहचान की गयी है, अर्थात् (i) महिलाओ के लिए विशेष रूप से लक्षित व्यय, (ii) महिलाओ के पक्ष में निर्धारित सरकारी व्यय, और (iii) मुख्य सरकारी व्यय जिसका लिंग व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है।

बाल विकास (Child Development)—देश की कुल जनसंख्या मे 0-14 आयु वर्ग के 347 54 मिलियन बच्चे (33 84 प्रतिशत) हैं। इनमे से 169 03 मिलियन (48 64 प्रतिशत) बालिकाएँ हैं। बच्चों के समग्र विकास के लिए महिला तथा बाल विकास विभाग समेकित बाल विकास सेवा योजनाएँ (आईसीडीएस) कार्यान्वित कर रहा है जिसका उद्देश्य स्वास्थ्य, पोषण तथा पूर्व-स्कूली शिक्षा की बुनियादी सेवाओ की ओर बढने के अनवरत दृष्टिकोण को मजबूती प्रदान करना है। यह योजना 6 वर्ष से नीचे की आयु के बच्चो की पूर्व-स्कूली शिक्षा तथा गर्भवती और धायो के लिए टीकाकरण, स्वास्थ्य जाँच, रेफरल सेवाओं, पूरक पोषण, स्वास्थ्य और पोषण शिक्षा आदि की व्यवस्था करती है। वर्ष 2000 में 4384 खण्डो मे प्रभावी थी। इसी वर्ष 2001-02 के अन्त तक, 5171 खण्डों/शहरी क्षेत्रो को कवर किए जाने का प्रस्ताव है जो नौवीं योजना के अन्त तक खण्डो के कवरेज का 90 प्रतिशत भाग होगा। इस योजना के विस्तार के साथ इसके सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार के आवंटन को भी बढ़ा दिया गया है। नौवीं योजना अवधि के दौरान, आईसीडीएस योजना के लिए 4960 करोड रुपये की राशि आवंटित की गयी है, यह राशि योजना के प्रथम तीन वर्षों के दौरान व्यय की गयी 2159 2 करोड़ रुपये की तुलना मे है। यह योजना वर्ष 2000-01 मे 935 करोड़ रुपये के आवटन की तुलना में राज्यो/संघ राज्य क्षेत्रो को फरवरी, 2001 तक 1005 8 करोड़ रुपये जारी किए। वर्ष 2001-02 के लिए 1050 करोड़ रुपये निर्धारित किए गए।

आईसीडीएस के तहत ढाँचागत सुविधाओं के उपयोग द्वारा किशोरियो के कल्याण मे सुधार के लिए किशोरी शक्ति योजना प्रारम्भ की गयी है। इस योजना का उद्देश्य पोषण सम्बन्धी अन्तर्पीढ़ी चक्र और लिंग-भेद की हानियो को समाप्त करना तथा 11-18 वर्ग आयु वर्ग की बालिकाओं के स्व-विकास हेतु सहायक वातावरण उपलब्ध कराना है।

राष्ट्रीय बाल नीति को वर्ष 1974 में अपनाया गया था ताकि बच्चो मे जन्म से पहले और बाद में उनके पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक विकास के सुनिश्चयन हेतु पर्याप्त सेवाएँ उपलब्ध कराई जा सकें। दो राष्ट्रीय कार्य योजनाओं को वर्ष 1992 मे अपनाया गया जिसमें एक योजना बालकों के लिए तथा दूसरी विशेष रूप से बालिकाओं के लिए है। बच्चों हेतु एक राष्ट्रीय चार्टर तथा राष्ट्रीय बाल आयोग ऐसे मुख्य उपाय हैं जिन पर अन्तिम कार्यवाही की जा रही है। यद्यपि विभिन्न नीतियों के कार्यान्वयन के जरिए शिशु ओर बाल मृत्यु दरो, स्कूल नामांकन अनुपात, कुपोषण के स्तर जैसे महत्त्वपूर्ण संकेतको में सकारात्मक परिवर्तन आया है, फिर भी इनमें व्यापक अन्तर्राज्यीय अन्तर है और देश मे बच्चो की समग्र स्थिति में उल्लेखनीय परिवर्तन लाने हेतु अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है।

सामाजिक रूप से वंचित समूहों की अधिकारिता
(Rights of Society Neglected Groups)

सामाजिक न्याय तथा अधिकारिता मंत्रालय द्वारा अनुसूचित जातियो, धार्मिक तथा भाषायी अल्पसंख्यकों, सामाजिक तथा शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े वर्गों, वृद्धो, शारीरिक रूप से विकलांग व्यक्तियों के कल्याण कार्यक्रमों तथा साथ ही सामाजिक रक्षा और किशोर सामाजिक असमायोजन सम्बन्धी कार्य हाथ में लिए गए हैं। नौवीं पंचवर्षीय योजना मे 6,194 करोड रुपये का आवंटन उपलब्ध है, वर्ष 2001-02 मे मत्रालय हेतु कुल परिव्यय 1,332 करोड़ रुपये (जिसमे पशु कल्याण शामिल नहीं है) आयोजना स्कीम के तहत है। मैला उठाने वालो का उद्धार तथा पुनर्वास करने सम्बन्धी राष्ट्रीय योजना को नया रूप दिया गया है ताकि सर्वाधिक गरीब तथा सर्वाधिक कम रोजगार वाले सफाई कर्मचारी अपने को विकल्प के रूप मे दूसरा कार्य ग्रहण हेतु सगठित कर सके। एक लाख से अधिक की आबादी वाले कस्बो में मैला उठाने वालों को समूहों/सहकारिताओं में संगठित करने के उद्देश्य से सफाई मार्ट स्थापित किए गए हैं और मैला उठाने वालो को भारी संख्या मे स्थापित किए जाने वाले थे मार्ट उत्पादन केन्द्र भी बन जाएँगे।

आर्थिक रूप से वंचित समूहों की आर्थिक अधिकारिता भी चिन्ता का एक प्रमुख कारण है। राष्ट्रीय अनुसूचित जाति वित्त और विकास निगम, राष्ट्रीय पिछड़ा वर्ग वित्त और विकास निगम, राष्ट्रीय सफाई कर्मचारी वित्त और विकास निगम, राष्ट्रीय अल्पसख्यक विकास और वित्त निगम सरीखे शीर्ष स्तर के पाँच वित्त निगम स्वरोजगार सम्बन्धी कार्यो को हाथ मे लेकर लाभ भोगियों को सहायता प्रदान कर रहे हैं। ये निगम स्व-सहायता समूहों की लघु वित्त पोषण सुविधा हेतु ऋण भी उपलब्ध करा रहे हैं ताकि लक्षित जनसंख्या को अधिक-से-अधिक कवर किया जा सके।

जनजातीय कार्य मंत्रालय को स्थापना वर्ष 1999 में की गयी जो पूर्ण रूप से देश मे जनजातीय जनसंख्या की आवश्यकताओ पर ध्यान दे रहा है। वर्ष 2001-02 में अनुसूचित जनजाति के कल्याण तथा विकास हेतु विभिन्न योजनाओं के तहत 1040 करोड़ रुपये उपलब्ध कराए गए हैं।

सामाजिक कल्याण
(Social Welfare)

शारीरिक/मानसिक रूप से विकलांग व्यक्तियों का कल्याण (Welfare of Physical/Mental Disabled Peoples)—विकलांग व्यक्ति (समान अवसर, अधिकारो का संरक्षण और पूर्ण भागीदारी) अधिनियम, 1995 मे विकलांग व्यक्तियो को यह अधिकार प्राप्त है कि वे एक ऐसे समर्थकारी वातावरण की माँग कर सकते हैं जिसमें कि उन्हे देश की विकास सम्बन्धी विभिन्न गतिविधियो मे पूर्ण भागीदारी, अधिकारो का संरक्षण तथा समान अधिकार मिल सके ताकि वे समाज के आत्मनिर्भर तथा उपयोगी सदस्य बन सकें।

विकलाग व्यक्तियो का पुनर्वास सम्बन्धी राष्ट्रीय कार्यक्रम राज्य क्षेत्र का कार्यक्रम है जो विकलाग व्यक्तियो को पुनर्वास सेवाएँ जिला स्तर से लेकर गाँव स्तर तक संरचनात्मक तरीके से प्रदान करता है। इस योजना के अन्तर्गत, राज्य सरकारो को राज्य तथा जिला स्तर के पुनर्वास केन्द्रो की स्थापना हेतु सहायता प्रदान की जाती है। वर्ष 2001-02 के दौरान, 43 करोड रुपये की राशि राज्यो को अन्तरित की गयी है। रीढ की हड्डी मे चोटग्रस्त व्यक्तियो के लिए पाँच संघटित क्षेत्रीय केन्द्र और चार क्षेत्रीय पुनर्वास केन्द्रो की भी स्थापना मंत्रालय से सहायता के माध्यम से की गयी है।

राष्ट्रीय न्यास अधिनियम के अन्तर्गत आत्मविमोह, प्रमस्तिष्कीय पक्षाघात, मानसिक विकलागता और बहु-अक्षमताओ के सम्बन्ध में एक राष्ट्रीय न्यास की स्थापना की गयी है। यह न्यास इन वर्गो के अधिकारो की रक्षा, उनके विकास को प्रोत्साहन तथा हितो के रक्षोपायो की व्यवस्था करता है। केन्द्र सरकार से इस समग्र निधि में 100 करोड़ रुपये के एकल अशदान करने की व्यवस्था है जिसमे से दिसम्बर 2001 तक 90 करोड़ रुपये पहले ही उपलब्ध कराए गए हैं। विकलांग व्यक्तियो के सम्बन्ध मे सम्पूर्ण तथा व्यापक कल्याण योजनाएँ तैयार करने के लिए बेहतर योजना तथा निर्माण को सुसाध्य बनाने के लिए वर्ष 2001 की जनगणना मे पृथक् श्रेणियो के रूप मे विकलाग व्यक्तियो से सम्बद्ध आँकड़े जोड़े गए हैं। विकलांग व्यक्तियो के लिए पहचान-पक्ष जारी करने के समान दिशानिर्देश सभी राज्यो/संघ राज्य क्षेत्रों को जारी किए गए हैं।

विकलांग व्यक्तियों के सम्बन्ध मे सहायक उपकरणो की खरीद/फिटिंग में सहायता प्रदान करने की योजना चालू है। क्रियान्वयन एजेसियाँ मूल्याकन कैम्पो के माध्यम से पहचान किए गए लोगों के लिए सहायक उपकरणो की खरीद, निर्माण तथा वितरण के सम्बन्ध में अनुदान सहायता उपलब्ध कराई जाती है। विकलाग व्यक्तियो के सम्बन्ध मे स्वैच्छिक कार्यवाही करने की एक संघटित योजना जारी है जिसका उद्देश्य गैर-सरकारी सगठनो के माध्यम से शिक्षा, प्रशिक्षण तथा पुनर्वास सेवाएँ उपलब्ध कराना है। वर्ष 2001-02 के दौरान विकलाग व्यक्तियों के कल्याण हेतु विभिन्न योजनाओ के तहत 259 करोड़ रुपये का आयोजना आवटन किया गया था।

अन्य वंचित वर्गो की देखभाल (Care of Other Neglected Classes)—वृद्ध व्यक्तियों के कल्याण पर निगरानी रखने हेतु वृद्ध व्यक्तियों से सम्बन्धित समेकित कार्यक्रम को पूर्ववर्ती स्वैच्छिक संगठन से सम्बन्धित विषयक स्कीम को नये सिर से प्रारम्भ कर तैयार किया गया। मंत्रालय द्वारा 527 स्वैच्छिक एजेसियों को 331 वृद्धाश्रमो, 436 दिवस देखभाल केन्द्रों, 74 चल मेडिकेयर इकाइयों तथा 2 गैर-सांस्थानिक सेवा केन्द्रों की स्थापना हेतु वित्तीय सहायता प्रदान की गयी है। वृद्ध लोगों के लिए राष्ट्रीय नीति को वृद्धों के कल्याण तथा देखभाल हेतु वर्ष 1999 में अपनाया गया था। इस नीति के कार्यान्वयन हेतु वृद्ध व्यक्तियों के सम्बन्ध मे शिकायतें, परिवाद तथा सुझावों को प्राप्त करने हेतु वृद्ध लोगों की राष्ट्रीय परिषद की स्थापना की गयी है। इस नीति के उपबंधों के कार्यान्वयन हेतु वर्ष 2000-05 की कार्ययोजना को अन्तिम रूप दिया गया है तथा इसे सभी राज्यों/सघ राज्य क्षेत्रों को परिचालित किया गया है।

बेसहारा बच्चों की समस्याओं का समाधान करने हेतु बेसहारा बच्चो से सम्बद्ध समेकित कार्यक्रम तैयार किया गया है जिसके अन्तर्गत स्वैच्छिक संगठनो तथा अन्य एजेसियों को सहायता उपलब्ध कराई जाती है ताकि वे आश्रय, पोषण, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि जैसी व्यापक स्वरूप की सेवाएँ उन्हें मुहैया करा सके। इस योजना को 190 स्वैच्छिक संगठनों के जरिए 22 राज्यो/सघ राज्य क्षेत्रों में कार्यान्वित किया जा रहा है। संकट मे फँसे बच्चो हेतु 24 घँटे की आपात सेवा 'चाइल्डलाइन' 34 शहरों मे कार्यरत है और इसे 16 शहरों में और शुरू किया जाएगा। बाल-संरक्षण के राष्ट्रीय प्रयास राष्ट्रीय सामाजिक रक्षा संस्थान तथा चाइल्डलाइन इंडिया फाउडेशन के माध्यम से प्रारम्भ किए गए हैं। केन्द्रीय दत्तक ग्रहण संसाधन एजेंसी मार्च, 1999 मे स्वायत्त एजेंसी बन गयी और उसने देश में बच्चों के दत्तक लेने को प्रोत्साहन देने हेतु प्रयास प्रारम्भ किए हैं।

सामाजिक विषमताओं में सुधार (Reforms in Social Inequality)—किशोर न्याय अधिनियम, 1986 के स्थान पर नया किशोर न्याय बच्चों की देखभाल और संरक्षण अधिनियम, 2000 लाया गया है। इस नये अधिनियम में किशोर अपराधी तथा उपेक्षित बच्चे के बीच अन्तर किया गया है और इसमे बच्चों की उचित देखभाल तथा उनके सामाजिक तथा भावनात्मक जीवन के सुधार का प्रयास किया जाता है। किशोर-सामाजिक असमायोजन के निवारण तथा नियत्रण की स्कीम के तहत अपराधी किशोरों की देखभाल हेतु 522 गृह/संस्थाएँ सरकारी सहायता प्राप्त कर रही हैं।

एल्कोहल तथा मादक पदार्थों के दुरुपयोग की समस्या से निजात पाने के लिए एल्कोहल और पदार्थ (मादक द्रव्य) के दुरुपयोग निवारण सम्बन्धी योजना के तहत 88 परामर्शी केन्द्रो तथा 354 उपचार तथा पुनर्वास केन्द्रो को सहायता प्रदान की जा रही है।

निष्कर्ष (Conclusion)—निष्कर्षत: यह कह सकते हैं कि विगत वर्षों मे सामाजिक क्षेत्रो के विभिन्न घटकों पर विशेष जोर देते हुए बनाई गई नीतियो, कार्यक्रमों और उनके क्रियान्वयन से बुनियादी सामाजिक जनसांख्यिकीय संकेतकों, जीवन सम्बन्धी गुणवत्ता में

सुधार, गरीबी के समग्र स्तरो मे कमी और जीवन की बुनियादी आवश्यकताओ की अधिकाधिक उपलब्धता के सम्बन्ध मे सकारात्मक परिणाम प्राप्त हुए हैं और देश अपनी समतावादी समाज की नीति को क्रियान्वयन करने में आगे बढ रहा है। लेकिन अभी भी राज्यो मे, ग्रामीण और शहरी क्षेत्रो मे और पुरुष तथा महिलाओ के बीच व्याप्त स्पष्ट विषमताओ को कम करने हेतु सतत् प्रयास किए जाने की आवश्यकता है।

समाजशास्त्र और सामाजिक परिवर्तन
(Sociology and Social Change)

ऑगस्त कॉम्ट ने समाजशास्त्र विषय की स्थापना सन् 1838 मे की थी। आपने समाजशास्त्र को समाज का दो दृष्टिकोणो—(1) सामाजिक स्थिरता और (2) सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन करने वाला विज्ञान बताया। सामाजिक गतिशीलता के अन्तर्गत समाज के विकास और परिवर्तन के अध्ययन पर जोर दिया। कॉम्ट की मान्यता थी कि समाज विकास के विभिन्न चरणो से होकर गुजर रहा है तथा प्रवाहित होता है। आपने ज्ञान के विकास के क्रमो का विश्लेषण किया तथा इसके परिवर्तन के निम्न तीन चरण बताए—(1) धार्मिक, (2) तत्त्वमीमासीय, और (3) प्रत्यक्षवादी। गतिशील अध्ययन में सामाजिक घटनाओ का अध्ययन काल-क्रमिक किया जाता है। यह देखा जाता है कि विभिन्न कालो मे विकास एव परिवर्तन का क्रम क्या रहा। इसमे सामाजिक घटना से सम्बन्धित भूतकाल की सूचनाओ को एकत्र किया जाता है तथा उनकी प्रामाणिकता निर्धारित की जाती है। थियोडोरसन एव थियोडोरसन ने लिखा है कि परिवर्तन के क्षेत्र समाचार-पत्र, व्यापारी आलेख, यात्रियो के संस्मरण, सभी प्रकार का साहित्य तथा भौतिक अवशेष, जैसे—सभी प्रकार के भवन तथा वस्तुएँ होती हैं।

गतिशीलता अध्ययन सामाजिक तथ्यो की प्रामाणिकता और सत्यता को ऐतिहासिक घटनाओ के आधार पर विश्लेषित किया जाता है। सामाजिक परिवर्तन के अध्ययन मे अतीत और वर्तमान की घटनाओ की तुलना की जाती है तथा निष्कर्ष निकाले जाते हैं। ईवान्स-प्रिचार्ड ने भी लिखा है कि वर्तमान मे जब वैज्ञानिक किसी समाज अथवा सामाजिक घटना का अध्ययन करता है तो उसके सम्मुख प्रश्न उठता है कि उनका अतीत मे सरलतम रूप क्या था। इस जिज्ञासा का समाधान सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी अध्ययन ही कर सकता है। वर्तमान को समझने तथा निष्कर्ष निकालने मे अतीत का भी महत्त्व है। सामाजिक पविर्तन का अध्ययन करने वाले समाजशास्त्री सामाजिक सस्थाओ, समाजो और सभ्यताओ की उत्पत्ति, विकास और रूपान्तरण की समस्याओ पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। यह सम्पूर्ण मानव इतिहास और समाज की सभी महत्त्वपूर्ण सस्थाओ से सम्बन्धित इन तथ्यो से स्पष्ट हो जाता है कि समाजशास्त्र मे सामाजिक परिवर्तन सम्बन्धी अध्ययन कितने महत्त्वपूर्ण होते हैं।

इस ससार मे प्रत्येक वस्तु : जीव-निर्जीव, भौतिक-अभौतिक, पेड़-पौधे, मानव समाज और सस्कृति सभी परिवर्तनशील हैं। परिवर्तन प्रकृति और समाज का सर्वकालिक और सार्वभौमिक नियम है। पहले की तुलना मे आज विश्व मे सामाजिक परिवर्तन बहुत तीव्र गति से

हो रहे हैं। नगरीय और विकसित समाजों मे ग्रामीण और अविकसित समाजो की तुलना मे परिवर्तन की गति बहुत तेज है। ये परिवर्तन बहु-आयामी है। मैकाइवर और पेज ने लिखा है कि जिसे हम समाज कहते हैं वह एक निरन्तर परिवर्तित होती रहने वाली जटिल व्यवस्था है। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और यह हमेशा बदलता रहता है। आज तक कोई भी ऐसा समाज नहीं देखा गया है जो परिवर्तनशील न हो। निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि किसी भी समाज को पूर्ण रूप से समझने के लिए आवश्यक है कि हम उसमे होने वाले परिवर्तन के विभिन्न पक्षो को समझे।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि समाज को पूर्ण रूप से समझने, योजनाबद्ध विकास करने, विकास की योजना बनाने, प्रगति के मार्ग मे बाधाओ को ज्ञात करने, विकास योजनाओं को क्रियान्वित करने आदि के लिए सामाजिक परिवेश सम्बन्धी अध्ययन अत्यावश्यक है। समाजशास्त्र और सामाजिक परिवर्तन अन्योन्याश्रित अवधारणाएँ हैं। सामाजिक परिवेश के अध्ययन के अभाव मे समाजशास्त्र का महत्त्व गौण हो जाता है। इसीलिए समाजशास्त्र मे सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित निम्न प्रकरणों का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा एवं सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ एवं प्रकृति॥ (3) सामाजिक परिवर्तन के काव्य, (4) सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त, (5) सामाजिक परिवर्तन के प्रकार, उद्‌विकाम और क्रान्ति प्रगति ओर विकास आदि-आदि। सामाजिक परिवर्तनों के इन सब पक्षो, विषयो, प्रकरणो आदि की सविस्तार विवेचना अध्याय-20 में की गई है।

❑

अध्याय-29

समाजशास्त्र और विकास

(Sociology and Development)

समाजशास्त्र का परिप्रेक्ष्य सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक अवधारणा और उसमे होने वाले परिवर्तनो का क्रमबद्ध और व्यवस्थित अध्ययन करता है। समाजशास्त्र की एक शाखा व्यावहारिक समाजशास्त्र समाज के परिवर्तन का गहन अध्ययन करके समाज के विकास की योजना प्रस्तुत करने का कार्य करती है। इसमे सामाजिक परिवर्तन की जटिल प्रकृति को समझने के साथ-साथ परिवर्तन के कारकों, कारणो और दिशा आदि का अध्ययन किया जाता है। सामाजिक परिवर्तन या समाज के गतिशील अध्ययन के परिणामस्वरूप अनेक अवधारणाएँ सामने आई हैं। उनमे से सबसे महत्त्वपूर्ण एक उपयोगी अवधारणा 'विकास' की है। (1) विकास की अवधारणा को मानने वाले विचारक समाज व अविकसित, विकासशील और विकसित समाजों से वर्गीकरण करके विकास का अध्ययन करते हैं और समाज की स्थिति को स्पष्ट करते हैं (2) विकास की अवधारणा परिवर्तन की प्रक्रिया की विवेचना करत हुए समाज की अविकसित स्थिति से विकास की ओर परिवर्तन की व्याख्या और मूल्याकन करती है। (3) यह अवधारणा विकास के आदर्श कार्यक्रमो की रूपरेखा सामने रखते हुए लक्षणो को निश्चित कर रही है। समाज के विकास को समझने के लिए समाजशास्त्रियो ने इस अवधारणा की सहायता से समाजशास्त्रियो ने अनेक क्षेत्रीय और शुद्ध अनुसन्धान किए है और इस अवधारणा की सहायता से अध्ययन करने के लिए विशेष शाखा 'विकास का समाजशास्त्र' का विकास किया है।

कुछ समाजशास्त्रियों ने तो विकास और आधुनिकीकरण की अवधारणाओ को पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त किया है—श्यामाचरण दुबे ने अपनी कृति 'विकास का समाजशास्त्र' मे इन अवधारणाओ के सभी महत्त्वपूर्ण पक्षो पर विद्वतापूर्ण प्रकाश डाला है। आपने परिवर्तन की प्रक्रिया को विश्लेषण मे इन अवधारणाओ का उपयोग करते हुए सिद्ध किया है कि ये दोनो अवधारणाएँ किस प्रकार से एक दूसरे से गुम्फित हैं। आपने लिखा है, "मानव की स्थिति और नियति के बारे मे आजकल जो बहस हो रही है, उसमे आधुनिकीकरण और विकास दो बीज शब्द बन गए हैं।" इन दोनो अवधारणाओं के घनिष्ट सम्बन्धो को आपके द्वारा लिखी गई निम्न

पंक्तियों में देखा जा सकता है, "आधुनिकीकरण और विकास के बीच अन्तर धुँधला पड़ता जा रहा है—दोनों एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच गए हैं जहाँ दोनों शब्द एक-दूसरे के स्थान पर और लगभग पर्यायवाची रूप मे प्रयुक्त किए जा सकते हैं। अब विकास की अवधारणा की परिभाषा और अर्थ, विशेषताएँ, संकेतक भारत में विकास के उद्देश्य, बाधाएँ, विकास की योजनाओं, मूल्याकन, सफलता और असफलताओं, विकास की दुविधाओं आदि पर प्रकाश डाला जाएगा।

विकास की परिभाषा एवं अर्थ
(Definition and Meaning of Development)

विकास की अवधारणा सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित है लेकिन इनमे कुछ अन्तर है। सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा मूल्य मुक्त या मूल्य निरपेक्ष अवधारणा है जबकि विकास मूल्यपरक या मूल्य सापेक्ष अवधारणा है। विकास से तात्पर्य अपेक्षित परिवर्तन की प्रक्रिया से लगाया जाता है। सभी परिवर्तनों से समाज का विकास नहीं होता है। समाजशास्त्रियो के अनुसार वह नियोजित परिवर्तन विकास कहलाता है जिसकी दिशा पूर्व निश्चित और अपेक्षित होती है। जिस परिवर्तन की प्रक्रिया का दृष्टिकोण मानवतावादी या समतावादी समाज को स्थापना करना होता है वह विकास की प्रक्रिया कहलाती है।

दुबे ने लिखा है, "काफी दिनों तक विकास का तात्पर्य केवल एक स्थिर और मन्द अर्थव्यवस्था में पाँच से सात प्रतिशत की दर से सकल राष्ट्रीय उत्पाद मे वार्षिक बढ़ोतरी लाने और बनाए रखने की क्षमता थी।" डब्ल्यू. आर्थर लेविस, "जनसख्या के प्रति व्यक्ति उत्पाद की वृद्धि को ही विकास मानते थे न कि वितरण को। आप वितरण के सम्बन्ध मे तभी चिन्तित होते थे जब वृद्धि से उत्पन्न धन पुन: उत्पादक तक नहीं पहुँचता था।"

योगेन्द्र सिंह के अनुसार, "समाज के सदस्यो में वांछनीय दिशा में नियोजित सामाजिक परिवर्तन लाने के उपाय को विकास कहते हैं।" आपने इसके अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है, "अत: विकास की अवधारणा सामाजिक-सास्कृतिक पृष्ठभूमि और राजनैतिक और भौगोलिक परिस्थिति के आधार पर प्रत्येक समाज मे भिन्न-भिन्न पाई जाती है।"

हॉबहाउस ने लिखा है, "एक समुदाय का विकास मात्रा, कार्यक्षमता, स्वतन्त्रता और सेवा की पारस्परिकता में वृद्धि के साथ-साथ होता है।"

द चैलेंज ऑफ डिवेलपमेण्ट गोष्ठी के अनुसार विकास एक तुलनात्मक अवधारणा है। इन्होंने 'विकास' शब्द का प्रयोग कम आय वाले देशों और पश्चिमी देशों में हो रहे औद्योगीकरण की तुलना करने के लिए किया है। पश्चिमी देश अधिक विकसित हैं तथा कम आय वाले देश कम विकसित हैं।"

महबूब-अल-हक (Mahbub-ul-Haq) ने 1996 के प्रारम्भ में इन्स्टीट्यूट ऑफ सोशियल साइन्सेज, नई दिल्ली में डी टी. लकड़ावाला स्मृति व्याख्यान में विकास की निम्न परिभाषा दी है, "विकास का मूल उद्देश्य लोगो के लिए चुनाव के अवसरों में वृद्धि करना होता है। सिद्धान्तत: ये चुनाव सीमित हो सकते हैं और समय के साथ परिवर्तित भी हो सकते हैं। लोग प्राय: ऐसी उपलब्धियो को महत्त्व देते हैं जो आय के विकास के रूप में प्रकट ही नहीं

होती या शीघ्र प्रकट नहीं होती, जैसे—ज्ञान, बेहतर पोषण और स्वास्थ्य सेवाओं तक उनकी अधिक पहुँच, अधिक सुरक्षित जीवनयापन के साधन, अपराध एवं शारीरिक हिंसा के प्रति सुरक्षा, सन्तोषप्रद अवकाश के क्षण, राजनैतिक एव सास्कृतिक स्वतन्त्रताएँ तथा सामुदायिक क्रियाओ मे उनकी भागीदारी की भावना। विकास का उद्देश्य लोगो के लिए एक ऐसा वातावरण तैयार करना होता है जिसमे वे सुदीर्घ, स्वस्थ व सृजनात्मक जीवन का आनन्द ले सके।''

सामाजिक विकास के लिए आवश्यक है कि समाज मे गुणात्मक एव सरचनात्मक परिवर्तन तीव्र प्रगति के साथ-साथ किए जाएँ तथा विद्यमान क्षेत्रीय, खण्डात्मक एव सामाजिक असमानताओ को ठोस रूप से कम किया जाए। ये उपर्युक्त लक्ष्य विकास के निर्णायक कारक एव परिणाम दोनो ही हैं। इनको एक गत्यात्मक प्रक्रिया के एकीकृत अगो के रूप मे देखना चाहिए तथा इसके लिए एकीकृत दृष्टिकोण आवश्यक है।

सयुक्त राष्ट्रों तथा इसके सदस्य सगठनो ने भी विकास मे एकीकृत दृष्टिकोण को प्रोत्साहित किया है। इनका निष्कर्ष है कि, ''विकास की प्रक्रिया जटिलतापूर्ण है जिसमे सामाजिक, सामाजिक, राजनैतिक और प्रशासनिक तत्त्व समाहित हैं। विकास द्वारा इन लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए एकीकृत दृष्टिकोण आवश्यक एव अवश्यम्भावी है।''

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि सामाजिक विकास एक नियोजित संस्थात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया है जिसका उद्देश्य समाज के सदस्यो की आवश्यकताओ और आकाँक्षाओं तथा सामाजिक और सामाजिक नीतियो और कार्यक्रमो मे परस्पर सामजस्य स्थापित करके सभी लोगो के जीवन-स्तर की गुणवत्ता को सुधारना है। सामाजिक विकास गरीबी, बेरोजगारी, अज्ञानता, विवेकहीनता, निरक्षरता, असमानता, शोषण, समाज मे विद्यमान दमन इत्यादि को जड़ से उखाड फेकने के लिए एक क्रान्तिकारी अभियान है। सामाजिक विकास की विशेषताओ के अध्ययन द्वारा इसे और स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

सामाजिक विकास की विशेषताएँ

(Characteristics of Social Development)

सामाजिक विकास की विशेषताओ पर अनेक विद्वानों ने प्रकाश डाला है जो
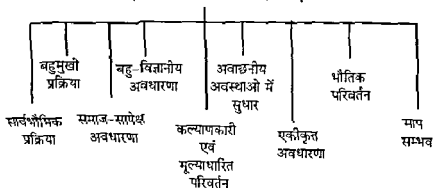
निम्नानुसार हैं—

(1) **सार्वभौमिक प्रक्रिया** (Universal Process)—सभी समाज निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं। सभाजों का विकास निश्चित चरणों मे होता है। विकास सरल से जटिल, न्यून विभेदीकरण से अधिकतम विभेदीकरण की ओर तथा न्यून निपुणता से अधिकतम निपुणता की ओर होता है।' विकास की प्रक्रिया सभी समाजों में सभी कालों में किसी-न-किसी रूप मे निरन्तर चलती रहती है। विश्व मे जहाँ-जहाँ मानव समाज है वहाँ-वहाँ किसी-न-किसी रूप मे विकास होता रहता है।

(2) **बहुमुखी अवधारणा** (Versatile Concept)—जोनिस् ने लिखा है, "यह एक बहुमुखी अवधारणा है। इसका उपयोग सामाजिक परिवर्तन का विश्लेषण करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर, विकासशील राष्ट्रो की परिस्थितियो तथा उच्चस्तरीय औद्योगीकृत देशो जैसे संयुक्त राज्य के लिए किया जा सकता है।

(3) **समाज-सापेक्ष अवधारणा** (Society-Relative Concept)—विकास की अवधारणा समाज से सम्बन्धित है क्योकि भिन्न-भिन्न समाजो के विकास का स्तर भिन्न-भिन्न होता है।

(4) **बहुविज्ञानीय अवधारणा** (Multi-disciplinary Concept)—विकास एक सर्वसमावेशी शब्द है जो मानवीय समस्याओं के समाधान के लिए पूर्ण दृष्टिकोण का सुझाव देता है। विकास अपनी प्रकृति एवं उद्देश्यों के कारण सामाजिक, सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षिक, धार्मिक आदि कारको से सम्बन्धित है तथा यह बहुविज्ञानीय दिशा प्रतिबिम्बित करता है। इन्होने निष्कर्षत: सुझाव दिया था कि, "विकास की प्रक्रिया एक जटिलतापूर्ण प्रक्रिया है जिसमे सामाजिक, सामाजिक, राजनैतिक और प्रशासनिक तत्त्व समाहित हैं।"

(5) **कल्याणकारी एवं मूल्याधारित परिवर्तन** (Welfare and Value-based Changes)—विकास कार्यक्रम एवं योजनाओं का उद्देश्य समाज के पिछड़े वर्गों, जातियों, जनजातियों, बेरोजगार लोगों, महिलाओ, बच्चों, वृद्धो, बीमार लोगो, ग्रामों, नगरों और श्रमिकों आदि का कल्याण करना है। इसीलिए सामाजिक विकास को कल्याणकारी एवं मूल्यों पर आधारित कार्यक्रम कहा जाता है।

(6) **अवांछनीय अवस्थाओं में सुधार** (Reform in Unwanted Conditions)—गुन्नार मिर्डल ने लिखा है कि विकास की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता ये है कि इसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था में विद्यमान अनेक अवांछनीय अवस्थाओ में सुधार किया जाता है। आपने इन शब्दों मे यह विचार व्यक्त किए हैं, "विकास का अर्थ सामाजिक व्यवस्था में उन अनेक अवांछनीय अवस्थाओं का सुधार करना है जिनके कारण अल्पविकास की स्थिति बनी हुई है।" समाज की अवांछनीय अवस्थाएँ—निर्धनता, बेरोजगारी, कुपोषण, अशिक्षा आदि हैं।

(7) **एकीकृत अवधारणा** (Unified Concept)— किसी एक अंग अथवा अवस्था में विकास या विनाश का प्रभाव अन्य अंगों अथवा अवस्थाओं में परिवर्तन लाता है। अगर

बेरोजगारी को नियन्त्रित नहीं किया जाएगा तो अन्य समस्याएँ—निर्धनता, निरक्षरता, कुपोषण आदि मे वृद्धि होगी। इस प्रकार से विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अनेक कारक, कारण तथा प्रभाव एकीकृत रूप से सगठित होते हैं तथा एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं तथा प्रभावित होते हैं। इसीलिए विद्वानो ने सामाजिक विकास का एक प्रमुख लक्षण इसका बहुमुखी एवं एकीकृत होना बताया है।

(8) **भौतिक परिवर्तन** (Material Change)—सामाजिक विकास का सम्बन्ध केवल भौतिक जगत के परिवर्तन से है, जैसे—जीवन-स्तर में परिवर्तन, गरीबी उन्मूलन, रोजगार के अवसरों मे वृद्धि, समाज कल्याण सुविधाओ में सुधार, असमानताओ का उन्मूलन, पर्यावरण संरक्षण आदि। विद्वानो के अनुसार सामाजिक विकास का सम्बन्ध धर्म, आध्यात्म या अभौतिक जगत से नहीं है।

(9) **माप सम्भव** (Measurement Possible)—किसी समाज का सामाजिक विकास कितना हुआ है अथवा वह अन्य समाजो की तुलना मे किस क्षेत्र मे कितना अधिक या कम विकसित है इसे मापा जा सकता है। **स्कॉफ** का कहना है कि विकास एक घटना की परिमाणात्मक वृद्धि को बताता है। माप के पैमाने और सन्दर्भ के एक निश्चित ढाँचे में एक निश्चित प्रकार के परिवर्तन को बताने वाला शब्द 'विकास' है।

विकास के प्रमुख मापदण्ड

(Major Criteria for Development)

सभी समाजो मे विकास का कोई-न-कोई विशिष्ट स्वरूप अवश्य होता है। इसके दो प्रमुख मापदण्ड हैं—(1) समाज का जनजातीय या कृषि की अवस्था से औद्योगिक समाज की ओर परिवर्तन, तथा (2) सामाजिक परिवर्तन।

मिचेल (Mitchel) ने विकास की छः प्रमुख कसौटियो का उल्लेख किया है—(1) अशिक्षा से सार्वभौमिक शिक्षा की ओर परिवर्तन, (2) एकतन्त्र से प्रजातन्त्र और सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार की ओर परिवर्तन, (3) कानून के सामने सभी की समानता मे वृद्धि, (4) राष्ट्रीय प्रभुसत्ता मे वृद्धि, (5) धन के केन्द्रीकरण से उचित और न्यायपूर्ण वितरण की ओर परिवर्तन, और (6) स्त्रियो की 'दासी' की स्थिति से 'साथी' की स्थिति मे परिवर्तन। इन मापदण्डो के द्वारा किसी भी समाज के विकास का मूल्यांकन किया जा सकता है।

भारत में सामाजिक विकास (Economic Development in India)—भारत में अनेक योजनाएँ वाँछित दिशा में परिवर्तन करने के लिए चलायी गई हैं तथा उनको *विकास कार्यक्रम* नाम दिया गया है, जैसे—ग्रामीण भारत मे 1952 ई मे 'ग्रामीण विकास कार्यक्रम' शुरू किया गया। अनेक सामाजिक विकास कार्यक्रम—स्त्रियो, दलित वर्गों, उद्योग-धन्धो, कृषि के विकास के लिए अनेक नीतियो को कार्यान्वित किया गया है। राजनैतिक, सामाजिक, शैक्षणिक आदि अनेक विकास कार्यक्रम चलाए गए हैं। सरकार ने अनुसूचित जातियो, जनजातियो आदि के लिए भी अनेक विकास एवं कल्याणकारी कार्यक्रम चला रखे हैं। विकास कार्यक्रम संयुक्त

तथा मिश्रित प्रघटना है, इसमें समाज के अनेक पक्षो का ध्यान रखा जाता है।

सामाजिक विकास के संकेतक (Indicators of Economic Development)— विकास की परिभाषा, अर्थ, उद्देश्य तथा विशेषताओ के आधार पर सामाजिक विकास के निम्नांकित संकेतक निर्धारित किए जा सकते हैं—

1. गरीबी का उन्मूलन, 2. बेरोजगारी का उन्मूलन तथा रोजगार के स्तर में वृद्धि, 3. कमजोर वर्गों का उत्थान, 4 जीवन की विविध कठिनाइयों एवं विषमताओं से सुरक्षा, 5. समाज कल्याण सुविधाओं में सुधार, 6. जीवन-स्तर में विकास, 7 स्वास्थ्य संरक्षण एवं विकास, 8. शिक्षा का विस्तार, 9. सभी स्तरो (व्यक्ति, समूह, समुदाय, समाज) से सामाजिक असमानताओं का उन्मूलन, 10. सामाजिक न्याय एवं विभिन्न अवसरों का समान वितरण, 11.पर्यावरण संरक्षण, और 12. सामाजिक विकास कार्यक्रमो मे सभी की भागीदारी को प्रोत्साहन।

विकास की प्रक्रियाओं की विशेषताएँ
(Characteristics of the Processes of Development and Modernization)

हटिंगटन ने विकास और आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं की निम्न नौ विशेषताएँ बताई हैं—

1. क्रान्तिकारी प्रक्रिया (Revolutionary Processes)—विकास एक क्रान्तिकारी प्रक्रिया हैं। इनके सांस्कृतिक और तकनीकी प्रभाव एवं परिणाम उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने कि नूतन लोह क्रान्ति के थे, जिसने घुमन्तू और शिकारी लोगो को कृषक के रूप में स्थापित किया था। अब ग्रामीण कृषि-प्रधान संस्कृतियाँ नागर-औद्योगिक संस्कृतियो में परिवर्तित होने का प्रयास कर रही हैं। टाफलर ने इसे पहिली धारा से दूसरी धारा की ओर आगे बढ़ना बताया है।

2 जटिल एवं बहुआयामी प्रक्रिया (Complex and Multidimensional Processes)—विकास और आधुनिकीकरण दोनों ही प्रक्रिया जटिल और बहुआयामी हैं। सज्ञानात्मक, व्यवहारपरक एवं संस्थागत परिमार्जन और पुनर्रचना की एक शृंखला इन प्रक्रियाओं के साथ जुड़ी हुई है।

3. अन्योन्याश्रित प्रक्रिया (Interdependent Processes)—दोनों ही प्रक्रिया अन्योन्याश्रित हैं। एक आयाम मे परिवर्तन होने पर दूसरे आयामो में भी परिवर्तन होता है।

4. व्यापक प्रक्रिया (Comprehensive Processes)—ये दोनों ही बहुत व्यापक प्रक्रिया हैं। ये प्रक्रिया इस अर्थ में व्यापक हैं कि जिस उद्‌भव केन्द्र से ये प्रक्रिया उत्पन्न होती हैं वहाँ से इनके विचार और तकनीक विश्व के अन्य भागो मे फैल जाते हैं।

5. दीर्घकालिक प्रक्रिया (Long Term Processes)—यह प्रक्रिया दीर्घकालिक हैं। इन प्रक्रियाओ मे समय का विशेष महत्त्व है। इनके प्रभाव तत्काल उत्पन्न करने की विधियाँ अभी तक खोजी नहीं जा सकी हैं। इनके प्रभाव लम्बे समय के बाद ही सामने आते हैं तथा

प्रभाव भी लम्बे समय तक रहते हैं।

6. बहुचरणीय प्रक्रिया (Multi-stage Processes)—ये दोनों ही प्रक्रिया अनेक चरणो में निबद्ध होती हैं। इतिहास इस सत्यता का साक्षी है कि विकास और आधुनिकीकरण के लक्ष्यों की दिशा में प्रवृत्ति पहचाने जा सकने वाले अनेक चरण और उप-चरण आते हैं।

7. समरूपीय प्रक्रिया (Analogous Processes)—यह प्रक्रिया समाजो को समरूपता
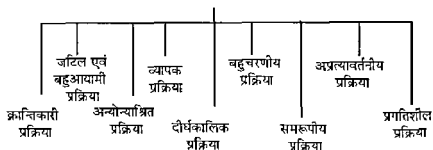
प्रदान करने वाली हैं। विकास और आधुनिकीकरण जैसे-जैसे उच्च चरणो पर पहुँचते हैं, वैसे-वैसे विभिन्न राष्ट्रीय समाजो के बीच मे अन्तर घटते जाते हैं। अन्त मे एक ऐसी स्थिति आती है, "जब आधुनिक विचारों और संस्थाओं के सार्वभौमिक रूप लागू होते हैं, जिससे विभिन्न समाज एक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाते हैं कि वे इतने एक रूप हो जाते हैं कि विश्व राज्य का निर्माण करने मे समर्थ हो जाते हैं।"

8. अप्रत्यावर्तनीय प्रक्रिया (Irreversible Processes)—विकास ऐसी प्रक्रिया है जो एक बार आगे जाने के बाद पुन: वापिस अपनी पूर्व अवस्था में नहीं लाई जा सकती हैं। इन दोनो प्रक्रियाओं मे यदा-कदा उथल-पुथल एव अस्थाई तौर पर उतार-चढाव तो आ सकते हैं, परन्तु इन्हे पुन: पीछे नहीं लाया या मोडा जा सकता है।

9. प्रगतिशील प्रक्रिया (Progressive Processes)—ये दोनो प्रक्रिया प्रगतिशील हैं। दीर्घकाल मे विकास और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया मानव की भौतिक और सास्कृतिक दोनो ही प्रकार की समृद्धि मे योगदान करती हैं। इसलिए ये दोनो प्रक्रिया मानव समाज के लिए अपरिहार्य और वाछित हैं।

भारत में विकास के उद्देश्य
(Aims of Development in India)

26 जनवरी, 1950 ई को भारत का वर्तमान सविधान क्रियान्वित हुआ जिसमें भारतीय समाज के विकास से सम्बन्धित अनेक प्रावधान रखे गए हैं। इन्हीं विभिन्न सामाजिक, सामाजिक, राजनैतिक, सास्कृतिक, शैक्षिक प्रावधानो को प्राप्त करने के लिए भारत में विकास

योजनाएँ बनाई जाती रही हैं तथा कार्यान्वित होती रही है। विकास योजनाओं के उद्देश्य, संकेतक, प्रावधान, विशेषताओं आदि मूल आधार सविधान में वर्णित प्रावधान है जिनमे मे कुछ महत्त्वपूर्ण प्रावधानों एवं संकेतको का वर्णन प्रस्तुत है—

भारतीय संविधान में विकास के उद्देश्य (Aims of Development in Indian Constitution)—विकास की योजनाओं का मूल आधार भारत का संविधान रहा है। सविधान में कुछ स्पष्ट प्रतिमान निश्चित किए गए हैं। संविधान मे नागरिकों को न्याय दिलाना, सामाजिक, सामाजिक और राजनैतिक समान प्रस्थिति एवं अवसर प्रदान करने तथा सभी नागरिको में भ्रातृत्व एवं सम्मान का विश्वास पैदा करने के उद्देश्य घोषित किए गए हैं। इन उद्देश्यो से सम्बन्धित प्रावधान प्रमुख अनुच्छेदो 14, 15, 16, 17, 38, 39, 43, 44, 45, 46 आदि में देखे जा सकते हैं जिन्हें समय-समय पर सामाजिक-सामाजिक विकास योजनाओ के उद्देश्यों, संकेतको आदि के रूप में रखकर कार्यान्वित करने का प्रयास किया जाता रहा है।

अनुच्छेद 14, 15 और 16 के द्वारा सभी नागरिको को समानता के मौलिक अधिकार दिए गए हैं। इनमें यह प्रावधान रखा गया है कि राज्य किसी भी नागरिक के साथ धर्म, प्रजाति, जाति, लिंग भेद, जन्म-स्थान के आधार पर भेदभाव नहीं करेगा। ये अनुच्छेद सभी नागरिको को नौकरियों में समानता के अवसर प्रदान करते हैं। **अनुच्छेद 17** के द्वारा अस्पृश्यता को समाप्त घोषित कर दिया गया है तथा इस प्रकार का दुर्व्यव्यवहार कानूनन दण्डनीय है।

राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तो में **अनुच्छेद 38** के अन्तर्गत राज्य जनता के कल्याण के लिए ऐसी सामाजिक व्यवस्था को प्रोत्साहित करेगे जिसके द्वारा जनता को न्याय, सामाजिक, सामाजिक और राजनैतिक सुरक्षा प्रभावपूर्ण रूप से प्रदान की जाए।

अनुच्छेद 39 में प्रावधान है कि राज्य इस बात का ध्यान रखेगा कि समान कार्य के लिए समान वेतन दिया जाए। **अनुच्छेद 43** इस बात पर जोर देता है कि राज्य सभी कार्यकर्ताओं—चाहे कृषि, या प्रौद्योगिकी या अन्य के हों—की कार्य करने की अनुकूल परिस्थितियाँ हो तथा उनको जीवनयापन के लिए अनुकूल वेतन मिले।

अनुच्छेद 44 के अन्तर्गत राज्य सभी नागरिकों के लिए समान कानून व्यवस्था स्थापित करेगा। **अनुच्छेद 45** के अनुसार राज्य विशेष रूप से 14 वर्ष तक की आयु के बालको के लिए नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था का प्रावधान करेगा।

अधिनियम 46 के अनुसार राज्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह कमजोर तथा दलित वर्ग के लोगों के शैक्षिक और सामाजिक हितों की रक्षा करे, विशेष रूप से अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियो का ध्यान रखे तथा उन्हें सामाजिक न्याय प्रदान करे।

इस प्रकार से संविधान में सामाजिक विकास योजनाओ के लिए सामाजिक, सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक उद्देश्यों का आधार प्रदान किया है जो संक्षेप में निम्नलिखित है—

(1) सामाजिक उद्देश्य (Social Aims)—समाजवादी समाज की स्थापना करना, प्रमुख उद्योगों के जनस्वामित्व पर बल देना, पूँजीपतियो की भूमिका को प्रतिबन्धित करना,

समाज मे समानता, न्याय, स्वतन्त्रता, मुक्तिकरण, व्यक्तिवाद को लाना है। लोगों को सुखमय तथा अच्छे जीवनयापन के लिए अधिक-से अधिक अवसर प्रदान करना और शिक्षा स्वास्थ्य, पोषण, आवास तथा समाज कल्याण के लिए अधिक-से-अधिक सुविधाओ का विस्तार एवं सुधार करना है।

(2) **सामाजिक उद्देश्य** (Economic Aims)—प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि करना, राष्ट्र को आत्मनिर्भर बनाना राष्ट्रीय आय में वृद्धि, सभी लोगो तक विकास की योजनाओं का न्यायोचित लाभ पहुँचाना, उत्पादन मे कार्यकुशलता की वृद्धि के लिए आय एव धन के न्यायोचित वितरण की उत्तम व्यवस्था करना रोजगार के अवसरो का स्तर ठोस रूप मे ऊँचा करना, आय की सुरक्षा को ऊँचा उठाना, निर्धनता का उन्मूलन करना, पर्यावरण की सुरक्षा के लिए अधिक-से-अधिक सुविधाओ का विस्तार एव सुधार करना है।

(3) **राजनैतिक उद्देश्य** (Political Aims)—एक शक्तिशाली केन्द्रीय राज्य सरकार का निर्माण करना, राजनैतिक सत्ता के विखण्डन को पुन: एकीकृत करना, ऐसी राजनैतिक व्यवस्था की स्थापना करना जो जनता के प्रति उत्तरदायी हो, राजनैतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण करना, अधिकाधिक लोगो को निर्णय की प्रक्रिया मे सम्मिलित होने के लिए प्रोत्साहित करना तथा भागीदारी मे वृद्धि करना। साम्प्रदायिकतावाद, प्रान्तीयवाद, भाषावाद, जातिवाद आदि को समाप्त करके राष्ट्रीय एकीकरण की स्थापना करना, सभी नागरिको को समानता के अधिकार एव अवसर प्रदान करने के लिए अधिक-से-अधिक सुविधाओ का विस्तार एव सुधार करना है।

(4) **सास्कृतिक उद्देश्य** (Cultural Aims)—पवित्रता से धर्म-निरपेक्षता की नीति की स्थापना एव विस्तार करना, मूलभूत मानव अधिकारो का सरक्षण करना जैसे—स्वतन्त्र भाषण का अधिकार, स्वतन्त्र धार्मिक अभिव्यक्ति का अधिकार प्रदान करना, जातियो, क्षेत्रो एवं वर्गों मे असमानताओ का उन्मूलन करना, नागरिको मे परस्पर भ्रातृत्व की भावनाओ का विस्तार करके ऐसे समाज का निर्माण करना जिसमे व्यक्ति आदर्शवाद की ओर प्रेरित हो तथा लोग परस्पर नि:स्वार्थ, त्याग एव सहयोग की भावना से साथ-साथ रहे।

इन उपर्युक्त वर्णित उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए भारत मे स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद समय-समय पर अनेक विकास योजनाएँ बनाईं एवं कार्यान्वित की गई जो निम्नलिखित हैं—

भारत के विकास में बाधाएँ

(Hindrances in the Development of India)

भारत के विकास मे बाधाओ का वर्णन योगेन्द्र सिंह, थामस शी और देसाई आदि ने किया है। ये निम्नानुसार हैं—

योगेन्द्र सिंह ने भारत के विकास मे प्रमुख बाधाएँ निम्न चार बताई हैं—

योगेन्द्र सिंह : भारत में विकास की बाधाएँ
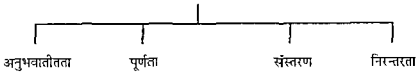
1. अनुभवातीतता (Transcendence)—हिन्दू समाज की इस अनुभवातीतता की *विशेषता के कारण पारस्परिक मूल्यों की वैधता के विरुद्ध निर्णय नहीं लिए जा सकते हैं।* सामाजिक विकास में इस विशेषता के कारण पारम्परिक मूल्य बाधा बन जाते हैं।

2. पूर्णता (Holism)—इस विशेषता के कारण व्यक्ति अपने हित, लाभ अधिकार तथा आकांक्षाओ आदि को महत्त्व नहीं देकर समाज, समाज कल्याण एव समूह के हित एव लाभों को सर्वोपरि मानता है। इसमे व्यक्ति का सहयोग सामाजिक विकास मे नहीं मिल पाता है।

3. संस्तरण (Hierarchy)—योगेन्द्र सिंह तथा अन्य अनेक समाजशास्त्रियो ने लिखा है कि हिन्दू समाज संस्तरण प्रदत्त है। व्यक्ति जिस जाति मे जन्म लेता है उसी जाति के व्यवसाय को अपनाता है। इससे सामाजिक विकास मे बाधा पडती है।

4. निरन्तरता (Continuity)—समाज का स्तरीकरण, सदस्यता, व्यवसाय आदि कर्म एव पुनर्जन्म की निरन्तरता के सिद्धान्त के द्वारा संचालित होती है। इस विश्वास के कारण भारत में सामाजिक विकास नहीं हो पा रहा है। व्यक्ति भाग्यवादी होते हैं। वर्तमान जीवन की सामाजिक परिस्थितियों को पिछले जन्म के कर्म मानते हैं। इस जन्म को जाति के प्रतिबन्धो एवं नियमो के अनुसार इस विश्वास के साथ व्यतीत करते हैं कि अगला जन्म उच्च जाति मे होगा। इस निरन्तरता के विश्वास के कारण सामाजिक विकास मे अनेक बाधाएँ पैदा हो जाती हैं।

ए. आर देसाई ने सामाजिक विकास में संकीर्ण स्थानीय मानसिकता और प्राचीन प्रकार की संस्थाएँ निम्न बाधाएँ उत्पन्न करती हैं : (1) इसके द्वारा भाई-भतीजावाद को बढ़ावा मिलता है, (2) ऐसी प्रथाओं को जन्म देती है, जिससे अनुत्पादक निवेश एवं गलत उपयोग के स्वरूप पनपते हैं, (3) यह कार्यकुशलता, व्यवसाय एवं साधनों के प्रति दृष्टिकोण मे विकृति पैदा करती है, (4) यह ऐसी लोक रीतियों, मान्यताओ आदि के विकास में अवरोध पैदा करती है जो आज के सामाजिक विकास की मूल आवश्यकताएँ हैं।

थामस शी ने भारत मे सामाजिक विकास से सम्बन्धित चार निम्न प्रमुख बाधाओं का उल्लेख किया है : (1) जाति, (2) भूमि पट्टे का प्रकार, (3) जनसंख्या वृद्धि एवं

(4) सम्पत्ति कानून।

(1) भारत में विकास योजनाएँ
(Development Schemes in India)

भारत मे विकास योजनाओ के अध्ययन को दो भागो मे विभाजित करके क्रमबद्ध एव व्यवस्थित रूप से देखा जा सकता है। ये हैं—(1) स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व विकास योजनाएँ, एव (2) स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद की विकास योजनाएँ। इस अध्याय के "भारत में विकास योजनाओ" से सम्बन्धित सामग्री पूर्व मे अध्याय "समाजशास्त्र और नीति एव क्रियान्वयन" मे आ चुकी है।

I. स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व विकास योजनाएँ
(Development Schemes Before Independence)

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व विकास की योजनाओ का इतिहास 1938 से देखा जा सकता है जब सर्वप्रथम जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में राष्ट्रीय आयोजन समिति नियुक्त की गई थी। इस समिति ने आयोजन के विभिन्न पहलुओ पर विचार करके अनेक प्रतिवेदन प्रकाशित किए। इस समिति ने उचित क्षतिपूर्ति देकर जमींदारी प्रथा के उन्मूलन की सिफारिश की। इसने भूमि के वैयक्तिक स्वामित्व के अधिक फैलाव को स्वीकार करते हुए सहकारी खेती करने की सिफारिश की। जिन बडे पैमाने के उद्योगो मे एकाधिकार स्थापित होने की सम्भावना है उन पर राज्य के स्वामित्व या नियन्त्रण का सुझाव दिया। इस राष्ट्रीय आयोजन समिति ने दस वर्षो मे जनता का जीवनस्तर दुगुना करने का लक्ष्य रखा था। ऐसा ही लक्ष्य आचार्य श्रीमन्नारायण, गाँधी जी के अनुयायी ने, गाँधीवादी योजना मे दस वर्ष मे जनता को न्यूनतम जीवनस्तर उपलब्ध कराने का रखा था। राष्ट्रीय आयोजन समिति के अतिरिक्त आठ उद्योगपतियो ने भारत के विकास के लिए एक योजना तैयार की जो बम्बई योजना के नाम से प्रसिद्ध है। द्वितीय महायुद्ध के कारण 1938 मे गठित की गई राष्ट्रीय आयोजन समिति कोई विशेष उल्लेखनीय कार्य करने के पहले ही भग हो गई।

पुन: 2 सितम्बर, 1946 मे अन्तरिम सरकार का गठन किया गया जिसके उप-प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू बने। आपने अन्तरिम सरकार का कार्यभार सम्भाला तथा विकास से सम्बन्धित निम्न दो प्रमुख कार्य किए—

(1) **प्रथम**, नेहरू ने के सी नियोगी की अध्यक्षता मे एक सलाहकार समिति का गठन किया। इस समिति को पिछले तीन-चार वर्षो मे नियोजन एव विकास विभाग द्वारा किए गए कार्यों का पुनरीक्षण एव मूल्याकन करने का कार्य दिया गया। इस समिति ने योजना आयोग के गठन का सुझाव दिया था जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद कार्यान्वित किया गया।

(2) **दूसरा,** नेहरू ने एस.एस. भटनागर की अध्यक्षता मे वैज्ञानिक मानवशक्ति समिति का गठन किया। इस समिति का मुख्य उद्देश्य देश में उपलब्ध मानवशक्ति का वैज्ञानिक आधार पर तकनीकी संस्थाओं द्वारा समुचित उपयोग करना था। 1947 ई मे देश के विभाजन के कारण ये समितियाँ कोई विशेष कार्य नहीं कर पाई।

एम.एन. राय ने रूसी आयोजन के अनुभव से प्रेरित होकर भारत में विकास के लिए जनता योजना (People s Plan) प्रतिपादित की। इसमें आपने सहकारी खेती (Collective or State Farming) पर जोर दिया तथा भूमि के राष्ट्रीयकरण की सिफारिश की। राय ने रूस के अनुभव के विपरीत उपभोग-वस्तु उद्योगों के विकास पर जोर दिया जिसके द्वारा लोगों के जीवन-स्तर को शीघ्रता से उन्नत किया जा सके। ये उपर्युक्त वर्णित सभी योजनाएँ कागजी योजनाएँ रहीं तथा ये किन्हीं कारणो से क्रियान्वित नहीं हो पाईं परन्तु आज भी इनका ऐतिहासिक महत्त्व है।

II. स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् विकास योजनाएँ

(Development Schemes After Independence)

भारत सरकार ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् 1950 ई मे योजना आयोग की स्थापना की थी। इस आयोग का कार्य देश की भौतिक पूँजी एवं मानवीय ससाधनों की आवश्यकता का अनुमान लगाना तथा इनका अधिक संतुलित तथा प्रभावपूर्ण रूप से उपयोग करने के लिए योजना बनाना रहा। इसी के परिणामस्वरूप 1950-51 मे प्रथम पंचवर्षीय योजना का शुभारम्भ हुआ और उसके बाद पंचवर्षीय योजनाओं की शृखला को देखा जा सकता है। योजना आयोग का गठन संविधान मे वर्णित नीति-निदेशक सिद्धान्तों तथा समवर्ती सूची में निहित सामाजिक तथा सामाजिक नियोजन की भावनाओ के अनुरूप था।

भारत में योजना के उद्देश्य

(Objectives of Planning in India)

निदेशक सिद्धान्त भारत के जनसामान्य की सामाजिक-सामाजिक सम्बन्धी चेतना और प्रेरणा को अभिव्यक्त करते हैं जिन्हें सविधान के निम्न निदेशक सिद्धान्तों मे देखा जा सकता है, "राज्य अपनी नीति का संचालन विशेष रूप से निम्नलिखित उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए करेगा—(क) नागरिक को—पुरुषो और स्त्रियों, दोनों को समान रूप से जीवन-निर्वाह के पर्याप्त साधनो का अधिकार प्राप्त होगा; (ख) समाज के भौतिक साधनो के स्वामित्व का वितरण और नियन्त्रण इस प्रकार से किया जाएगा कि सर्वोत्तम रूप में सबका भला हो, (ग) सामाजिक प्रणाली की क्रियान्विति का परिणाम ऐसा न हो कि धन और उत्पादन के साधनो का संकेन्द्रण (Concentration of wealth and means of production) आम जनता के हित के विरुद्ध हो जाए।"

भारत में योजना के चार प्रमुख उद्देश्य निश्चित किए गए हैं—

(1) उत्पादन को अधिकतम सम्भव सीमा तक बढाया जाए जिससे कि राष्ट्रीय एव प्रति व्यक्ति आय के उच्च स्तर को प्राप्त किया जा सके,
(2) पूर्ण रोजगार प्राप्त करना,
(3) आय एव सम्पत्ति की असमानताओ को कम करना, और
(4) सामाजिक न्याय उपलब्ध कराना।

विकास योजनाएँ एवं उनका मूल्यांकन
(Development Schemes and their Evaluation)

स्वाधीनता प्राप्ति के लगभग चार वर्ष बाद से समय-समय पर राज्य एव केन्द्र सरकारो द्वारा विकास के लिए जो विभिन्न योजनाएँ एव प्रयास किए गए हैं उन्हे निम्न चार भागो मे विभाजित करके देखा जा सकता है—

(1) पचवर्षीय योजनाएँ,
(2) राष्ट्रीयकरण,
(3) बीस-सूत्री कार्यक्रम, और
(4) विशेष रोजगार और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम।

(1) पंचवर्षीय योजनाएँ (Five Year Plans)—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से भारत सरकार तथा राज्य सरकारों ने विकास के लिए अनेक प्रयास किए हैं। उन प्रयासों में पचवर्षीय योजनाओ का विशेष योगदान है। पचवर्षीय योजनाओ द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से जो प्रयास किए गए हैं उनमे सामुदायिक विकास योजनाएँ एकीकृत विकास कार्यक्रम एव स्वर्ण जयन्ती रोजगार योजना तथा इसके अन्तर्गत कृषि, सिंचाई, पशुपालन, कुटीर उद्योग, लघु उद्योग, यातायात, सहकारी समितियाँ आदि प्रमुखत: उल्लेखनीय हैं। पचवर्षीय योजनाओ द्वारा निर्धनता को दूर करने के लिए अनेक प्रकार से रोजगार उपलब्ध कराए गए जिससे लोगो को निर्धनता रेखा से ऊपर उठाया जा सके। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओ मे कितना रुपया खर्च किया गया; राष्ट्रीय आय तथा व्यक्तिगत आय में कितनी वृद्धि हुई तथा रोजगार के साधन उपलब्ध कराकर सामाजिक विकास में इन पचवर्षीय योजनाओ का क्या योगदान रहा इनका विवेचना प्रस्तुत है—

1.1. प्रथम पंचवर्षीय योजना 1951-56 (First Five Year Plan)—1 अप्रैल, 1951 से 31 मार्च, 1956 तक प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ की गई। इस योजना का प्रमुख लक्ष्य ब्रितानिया सरकार से विरासत मे प्राप्त शोषित अर्थव्यवस्था, द्वितीय विश्वयुद्ध और देश-विभाजन मे हुई क्षतिग्रस्त अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान करना, स्फीतिकारी प्रवृत्तियो पर नियन्त्रण करते हुए देश की उत्पादन क्षमता में वृद्धि एव आधारभूत ससाधनो का विकास करना था ताकि आगे चलकर देश की गरीबी को पूर्ण रूप से दूर किया जा सके। मुख्य प्राथमिकताएँ कृषि एव सिंचाई परियोजनाओ को दी गयीं। कुछ महत्त्व समाज कल्याण कार्यक्रमों, ग्रामीण और विद्युत

विकास को प्रदान किया गया। इस योजना पर मात्र 1,960 करोड़ रुपया ही खर्च हो पाया। इस योजनावधि में राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि 3 6 और प्रतिव्यक्ति आय मे प्रतिवर्ष 1 7व की वृद्धि हुई। बेरोजगारी निवारण के लिए 309 करोड रुपए की अतिरिक्त व्यवस्था की गई थी तथा 45 लाख लोगों को प्रत्यक्ष रूप से रोजगार दिलाए गए जिससे समाज के विकास मे कुछ प्रगति हो सके। (तालिका 1)

1.2. द्वितीय पंचवर्षीय योजना 1956-61 (Second Five Year Plan)—इस योजना का उद्देश्य तीव्र गति से मूल उद्योगों के विकास द्वारा रोजगार मे वृद्धि करके आय तथा सम्पत्ति की असमानता में कमी लाकर भारतीय समाज को समाजवादी समाज की व्यवस्था में बदलना था। गरीबी उन्मूलन के लिए ग्रामों में लघु उद्योगों के विकास के लिए 200 करोड रुपए का प्रावधान किया गया जिससे गाँवो में रोजगार के अवसरों मे वृद्धि हो सके तथा लोग निर्धनता-रेखा के ऊपर उठ सके। इसके अतिरिक्त भूमि के पुनःवितरण, शिक्षा में विस्तार, श्रम सहयोग समितियों की स्थापना आदि के द्वारा सामाजिक विकास के लिए प्रयास किए गए। 90 करोड रुपए पिछड़े वर्गों के उत्थान के लिए खर्च किए गए थे। सामाजिक विकास का लक्ष्य 4 5 के स्थान पर 3 9ब पूर्ण हो गया। प्रति व्यक्ति आय मे वार्षिक वृद्धि 1 9ब रही। इस योजना मे एक करोड़ लोगो को रोजगार प्रदान करने का लक्ष्य था लेकिन 65 लाख लोगों को ही गैर-कृषि कार्य मे रोजगार प्रदान किए जा सके। कुल 1 लाख 72 हजार लोगो को पुनः बसाया गया तथा उन्हे नौकरियों और मकान आदि के लिए ऋण दिए गए।

1.3 तृतीय पंचवर्षीय योजना-1961-66 (Third Five Year Plan)—इस योजना का प्रमुख उद्देश्य देश को आत्मनिर्भरता की ओर ले जाना रहा। इसके लिये पाँच लक्ष्यो की सूची निर्धारित की गई—राष्ट्रीय आय में 5 प्रतिशत-दर से प्रतिवर्ष वृद्धि, कृषि मे आत्मनिर्भरता; रासायनिक उद्योग, इस्पात, ईंधन और बिजली आदि आधारभूत उद्योगो का विकास, मानव-शक्ति के साधनों का अधिकाधिक उपयोग; और सामाजिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण। इस काल मे कृषि और सिचाई को अधिक महत्त्व दिया गया। इस योजना मे खेतीहर श्रमिको के लिए कुटीर तथा लघु उद्योगों के विकास, ग्रामीण आवास, जल, सिंचाई, कृषि उत्पादन मे वृद्धि पर ध्यान दिया गया। योजना पर कुल 8,577 करोड़ रुपए खर्च हुए। राष्ट्रीय आय मे वार्षिक वृद्धि का लक्ष्य 5 6 रखा था लेकिन वृद्धि 2 3ब हो पाई। प्रति व्यक्ति आय में वार्षिक वृद्धि 0 1ब रही। सभी लक्ष्य अधूरे रहे जिसके मुख्य कारण भारत-चीन और भारत-पाक युद्ध, प्रतिकूल मानसून, अकाल एव रासायनिक उर्वरकों का न्यून प्रयोग था। इस योजना मे अर्थव्यवस्था अति दीन-हीन स्थिति में हो गई थी।

1.4 तीन एकवर्षीय योजनाएँ-1966-69 (Three Annual Plans)—भारत-चीन तथा भारत-पाक युद्ध, 1965-66 में सूखा पड़ने, विदेशी सहायता के बन्द होने आर कठिन सामाजिक परिस्थितियों के कारण चतुर्थ पंचवर्षीय योजना को मार्च, 1966 मे स्थगित करना पड़ा तथा इसके स्थान पर तीन एकवर्षीय योजनाएँ (1966-67, 1967-68 और 1968-69)

चलाई गई। इस 1966-69 की अवधि को भारतीय नियोजन में *योजनावकाश या योजना की छुट्टी का काल* कहा जाता है। तीन एकवर्षीय योजनाओं का उद्देश्य तृतीय पंचवर्षीय योजना के बचे हुए कार्यों को पूर्ण करना था। राष्ट्रीय आय मे वार्षिक वृद्धि 3.7ब तथा प्रति व्यक्ति वार्षिक आय मे वृद्धि 3 7ब रही।

1.5 चतुर्थ पंचवर्षीय योजना-1969-74 (Fourth Five Year Plan)—इस योजना के प्रारूप में प्रमुख लक्ष्य—स्थिरता के साथ 5 5 वार्षिक दर से सामाजिक विकास करना, आय के वितरण मे असमानताओ को कम करना, समानता और सामाजिक न्याय मे वृद्धि करना, देश का तीव्रता से विकास करना, जनसख्या वृद्धि को रोकना, बेरोजगारी को रोकना, आय की असमानता को कम करना और देश को आत्मनिर्भरता प्रदान करने थे। इस योजनावधि मे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि 3 3ब रही। प्रति व्यक्ति आय मे वार्षिक वृद्धि 0 9ब रही। योजना पर कुल खर्च 15,799 करोड रुपए हुआ था। 134 करोड़ 37 लाख रुपया पिछडे वर्गो के कल्याण पर व्यय किया गया। 5.54 करोड रुपया भूमिहीन किसानो को बसाने पर व्यय किया गया। 1 20 करोड़ से 1 40 करोड़ लोगो को रोजगार देने की व्यवस्था की गई थी। चौथी पचवर्षीय योजना ने न तो खाद्यान्नो मे आत्म-निर्भरता प्राप्त की और न ही इस योजना में बेरोजगारी मे कमी हुई।

1.6 पंचम् पंचवर्षीय योजना-1974-79 (Fifth Five Year Plan)—इस योजना के प्रमुख उद्देश्य—गरीबी उन्मूलन, आत्मनिर्भरता की प्राप्ति एव आय का समान वितरण—थे। रोजगार विस्तार को प्राथमिकता दी गई तथा उद्योगो के विकास पर सर्वाधिक ध्यान दिया गया। इसके अतिरिक्त न्यूनतम मजदूरी की नीति, क्षेत्रीय असन्तुलन को हटाना और निर्यात को प्रोत्साहन देना था। योजना पर कुल 39,426 करोड़ रुपए खर्च किए गए। राष्ट्रीय आय में वार्षिक वृद्धि 2 6 हुई। वास्तव मे इस योजनाकाल मे किसी भी क्षेत्र मे कोई विशेष लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके। हाँ, खाद्यान्न के क्षेत्र मे अवश्य सफलता हासिल की गई। फिर भी कृषि उत्पादकता और विकास की दृष्टि से पंचमवर्षीय योजना सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती।

अनवरत योजना-1979-80 (Rolling Plan)—पाँचवीं पचवर्षीय योजना को *जनता दल की सरकार ने 1979 के स्थान पर 1978 मे ही समाप्त कर दिया तथा षष्ठम् योजना* **अनवरत योजना** के रूप मे शुरू की गई थी। जब काँग्रेस दल 1978 में पुन: सत्ता मे आया तो उसने पुन: पाँचवी योजना की अवधि को 1974 से 1979 प्रदर्शित किया। एक प्रकार से यह योजना वार्षिक विकास कार्यक्रमों का केवल सग्रह रही। इसकी विशेष उपलब्धि खाद्यान्न के क्षेत्र में वृद्धि थी। इस अनवरत योजना में राष्ट्रीय आय में -6 0ब की कमी आई। इसी प्रकार प्रति व्यक्ति आय मे भी -8 2ब की कमी आई।

1.7 षष्ठम् पंचवर्षीय योजना-1980-85 (Sixth Five Year Plan)—इस योजना के प्रमुख लक्ष्य—निर्धनता को समाप्त करना, बेरोजगारी का उन्मूलन, सामाजिक विकास, आय एवं धन के वितरण की असमानता को दूर करना, प्रौद्योगिकी मे आत्मनिर्भरता, समाज के कमजोर वर्ग के लोगों के जीवन स्तर को ऊपर उठाना, सार्वजनिक वितरण प्रणाली मे सुधार करना, जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण को प्राथमिकता देना—थे। सर्वाधिक प्राथमिकता ऊर्जा क्षेत्र

को प्रदान की गई। इस योजना पर कुल खर्च 1,09,292 करोड़ रुपए हुआ था। राष्ट्रीय आय मे वृद्धि का लक्ष्य प्रतिवर्ष 5 2ब रखा था तथा वृद्धि 5 4ब की दर मे हुई थी। प्रति व्यक्ति आय मे वार्षिक वृद्धि 3.2ब की हुई थी। नेशनल सेम्पल सर्वे के अनुसार 1977-78 में निर्धनता रेखा से नीचे 48.3ब जनसंख्या थी वह 1984-85 मे घटकर 36 9ब रह गई थी। इसी काल मे ग्रामीण निर्धनता के निवारण के लिए *'एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम'* प्रारम्भ किया गया।

1.8 सप्तम् पंचवर्षीय योजना-1985-90 (Seventh Five Year Plan)—इस योजना के प्रमुख तीन उद्देश्य थे—खाद्यान्न, रोजगार तथा उत्पादकता में वृद्धि करना। उत्पादनकारी रोजगार में वृद्धि के द्वारा इस योजना का लक्ष्य निर्धनता को कम करना तथा निर्धनों का जीवन-स्तर ऊँचा करना था। इस काल में कृषि, ग्रामीण-विकास और सामाजिक सेवाओ पर विशेष बल दिया गया था किन्तु कृषि और ग्रामीण विकास आदि मे आशा के अनुरूप सफलता नहीं मिल सकी। इस योजना मे गरीबी और बेरोजगारी को दूर करने, सभी को मकान प्राप्त कराने एवं स्वास्थ्य संरक्षा हेतु महत्त्वपूर्ण प्रयास किये गये। इस योजना पर कुल 2,18,730 करोड़ रुपया खर्च हुआ था। राष्ट्रीय आय में वृद्धि 5 8ब हुई थी तथा प्रति व्यक्ति आय मे वार्षिक वृद्धि 3.6 रही।

1.9 वार्षिक योजना काल-1990-92 (Yearly Plan Period)—1 अप्रैल, 1990 से आठवीं पंचवर्षीय योजना को प्रारम्भ किया जाना था किन्तु केन्द्रीय स्तर पर राजनैतिक अस्थिरता के कारण इसे अप्रैल, 1992 से लागू करना पड़ा। इसके बीच के दो वर्षो के अन्तराल (1990-91 और 1991-92) को *'वार्षिक-योजना-काल'* माना गया। 1990-91 मे योजना-व्यय 61,523.1 करोड़ और 1991-92 में योजना पर 2,316.8 करोड़ रुपये खर्च किए गये।

1.10 अष्टम् पंचवर्षीय योजना-1992-97 (Eighth Five Year Plan)—यह योजना केन्द्रीय स्तर पर राजनैतिक अस्थिरता के कारण 1 अप्रैल, 1992 में प्रारम्भ हो सकी। इस योजना के उद्देश्य थे—रोजगार वृद्धि, जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण, शिक्षा का सार्वभौमिकरण तथा आधारभूत संसाधनो का विकास करना। योजना में ऊर्जा, प्राथमिक शिक्षा, स्वास्थ्य और कृषि सम्बन्धी विकास को प्राथमिकता प्रदान की गई।

आठवीं पंचवर्षीय योजना की उपलब्धियाँ निम्नलिखित हैं—(क) तीव्र सामाजिक विकास, (ख) निर्माण क्षेत्र तथा कृषि व सम्बद्ध क्षेत्र का तीव्र विकास, (ग) निर्यात और आयात में महत्त्वपूर्ण विकास दरों, व्यापार तथा चालू खाता घाटे में सुधार तथा केन्द्र सरकार के वित्तीय घाटे में महत्त्वपूर्ण कमी होना है।

आठवीं योजना पर चालू मूल्यों के अनुसार 4,95,669 करोड़ खर्च आया, जबकि (1991-92 के मूल्यों को लेकर) सार्वजनिक क्षेत्र के लिए 4,31,100 करोड़ रुपये का अनुमान लगाया था, जिसके परिणामस्वरूप मामूली तौर पर 14 2 प्रतिशत की वृद्धि दर्ज की गई। आठवी योजना के दौरान सकल घरेलू उत्पाद में 6.2 प्रतिशत की औसत दर से वृद्धि हुई, जबकि लक्ष्य 5.6 प्रतिशत था।

1.11 नवम् पंचवर्षीय योजना-1997-2000 (Nineth Five Plan)—नौवीं पंचवर्षीय

योजना (1997-2000) भारतवर्ष की 50वीं वर्षगाँठ के अवसर पर शुरू की गई थी। इस योजना का उद्देश्य देश के सामाजिक-सामाजिक विकास को उचित दिशा और सतुलन प्रदान करना है। नौवीं योजना का प्रमुख कार्य सामाजिक न्याय के साथ साथ एक नए युग मे प्रवेश करना, जिसमें न केवल केन्द्र व राज्य सरकार, बल्कि आम लोग विशेषकर गरीब, आयोजन प्रक्रिया में संस्था के रूप मे भागीदारी निभा सके। जीवन स्तर सुधारना, रोजगार के ठोस अवसर पैदा करना तथा क्षेत्रीय सतुलन मोटे तौर पर सरकार की नीति का प्रमुख पहलू है। इस योजना मे गरीबी दूर करने और रोजगार पैदा करने के तथा खाद्य और पोषण सुरक्षा सुनिश्चित करने मे कृषि क्षेत्र के विशेष महत्त्व को पहचाना गया है।

नौवीं योजना के उद्देश्यों मे निम्नलिखित बाते शामिल हैं—

(1) पर्याप्त अर्थपूर्ण रोजगार पैदा करने और गरीबी उन्मूलन के उद्देश्य से कृषि और ग्रामीण विकास को प्राथमिकता, (2) मूल्यों मे स्थिरता के साथ-साथ अर्थव्यवस्था की विकास दर को तेज करना, (3) सबके लिए विशेषकर समाज के कमजोर वर्गों के लिए और खाद्य आर पोषाहार की सुरक्षा सुनिश्चित करना, (4) सुरक्षित पीने का पानी, प्राथमिक स्वास्थ्य देखरेख सुविधा, सबके लिए प्राथमिक शिक्षा, (5) जनसख्या की वृद्धि दर रोकना, (6) सभी स्तरों पर जनता की भागीदारी और सामाजिक जागरूकता के द्वारा विकास प्रक्रियाओ को ऐसा बनाना जो पर्यावरण के अनुरूप हो, (7) महिलाओ और अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजातियो तथा अन्य पिछड़ी जातियो व अल्पसख्यकों जैसे सामाजिक रूप से अभाव वाले वर्गों का सामाजिक-सामाजिक परिवर्तन कर उन्हें विकास के प्रतिनिधि के रूप मे साधन सम्पन्न बनाना, (8) पंचायती राज सस्थाओ, सहकारी संगठन तथा स्वैच्छिक समुदायों जैसी जनता की भागीदारी वाली सस्थाओ को प्रोत्साहित करना और विकसित करना, (9) आत्मनिर्भरता के प्रयासो को मजबूत करना।

सभी पचवर्षीय योजनाओ द्वारा देश को आगे बढाने के लिए अनेक कार्यक्रम सरकार द्वारा चलाए गए। समन्वित ग्रामीण विकास कार्यक्रम, ग्रामीण महिला एव बाल विकास कार्यक्रम, स्वच्छ पेयजल एव स्वच्छता और भूमि सुधार एव भू-अभिलेख आदि पर विभिन्न पचवर्षीय योजनाओ द्वारा पर्याप्त राशि व्यय की जाती रही है। इलेक्ट्रोनिकी, समन्वित ऊर्जा आयोजना कार्यक्रम और निर्धनता आदि पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। इन सब कार्यक्रमो के परिणामस्वरूप देश अवश्य प्रगति के पथ पर अग्रसर होगा। रोजगार के अवसर प्राप्त करना, कमजोर वर्गों का उन्नयन, निर्धनता की परिसमाप्ति और ऊँच नीच का भेद मिटाकर समाज को समता की ओर ले जाने का लक्ष्य पूरा कर लिया जाएगा।

पंचवर्षीय योजनाओं की सफलताएँ-असफलताएँ एवं विकास

(Success and Failure and Development of Five Year Plan)

देश के गणराज्य घोषित होने के वर्ष (1950-51 से 1997-98) तक पिछले 47 वर्षों मे राष्ट्रीय आय-शुद्ध राष्ट्रीय उत्पाद मे 6 6 गुनी वृद्धि हुई है। यह 40,454 करोड रुपये से बढकर 2,67,551 करोड रुपये तक पहुँच गया है, अर्थात् सालाना 4 1 प्रतिशत की वृद्धि हुई है। प्रति व्यक्ति आय में 2 9 गुनी वृद्धि हुई है। यह 1,127 रुपये से बढकर 3,212 रुपये तक पहुँच

गई है। अर्थात् प्रत्येक वर्ष कुल 2 3 प्रतिशत की चक्रवृद्धि हुई है। सकल घरेलू उत्पाद मे 7 3 गुनी वृद्धि हुई जो 42,871 करोड़ रुपए से बढ़कर 3,11,766 करोड रुपये हो गई अर्थात् 1980-81 के मूल्य आधार पर कुल चक्रवृद्धि दर 4 3 प्रतिशत रही। केन्द्रीय साख्यिकीय संगठन के अग्रिम आकलन के अनुसार, 1998-99 में राष्ट्रीय आय, प्रति व्यक्ति आय आर 1998-99 के सकल घरेलू उत्पाद मे, 1997-98 के मुकाबले, क्रमश: 5.7 प्रतिशत, 4 प्रतिशत और 5 8 प्रतिशत वृद्धि दर होने का अनुमान हे।

कृषि के क्षेत्र में विकास और वृद्धि का गरीबी उन्मूलन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा हैं। मुद्राम्फीति को रोकने, कृषि-मजदूरी में वृद्धि ओर रोजगार के अवसर पैदा करने में भी कृषि मे वृद्धि से काफी प्रभाव पड़ा है। स्वाधीनता के वाद से कृषि के विकास के लिए अपनाई गई नीति के अच्छे परिणाम सामने आए हैं।

आठवीं योजनावधि मे, कृषि क्षेत्र में ओसतन लगभग 3.9 प्रतिशत की वार्षिक वृद्धि दर दर्ज की गई। अनाज का उत्पादन आठवी योजना के आधार वर्ष (1991-92) के 16 करोड़ 84 लाख टन से बढकर 1996-97 मे लगभग 19 करोड 40 लाख टन के रिकार्ड स्तर तक जा पहुँचा। नौवी योजना का लक्ष्य कृषि उत्पादों की प्रतिवर्ष 4 5 प्रतिशत वृद्धि दर प्राप्त करना ओर वर्ष 2001-02 तक 23 करोड 40 लाख टन अनाज पैदा करना है।

खाद्य तेलो मे अनुमानित 68 लाख टन का उत्पादन माँग के लिए कम पडेगा और इस कमी को 15 लाख टन खाद्य तेल के आयात से पूरा किया जाएगा। चीनी का उत्पादन 1997-98 के 12 करोड़ 82 लाख 70 हजार टन के मुकाबले 1998-99 में 15 करोड टन होने की आशा है, जबकि खपत की मात्रा 14 करोड़ 40 लाख टन होने का अनुमान है।

सिंचाई के क्षेत्र में बडी, मझोली और छोटी योजनाओ की क्षमता 1950-51 मे 2 करोड 26 लाख हेक्टेयर से बढकर आठवीं योजना के अन्त अर्थात् 1996-97 तक सिचाई क्षमता 8 करोड 95 लाख 60 हजार हेक्टेयर तक प्राप्त करने और उसका उपयोग 8 करोड़ 7 लाख 50 हजार हेक्टेयर मे होने का अनुमान है।

बिजली के क्षेत्र में कुल स्थापित क्षमता (उपयोग मे न लाई गई उत्पादन क्षमता सहित) जो 1950 मे सिर्फ 2,301 मेगावाट थी, मार्च, 1996 के अन्त मे बढ़कर 95,183 मेगावाट (उपयोग मे न लाई गई उत्पादन क्षमता सहित) हो गई। आठवीं योजनावधि (1992-97) के दौरान 16,423 मेगावाट बिजली की अतिरिक्त क्षमता वास्तविक रूप से प्राप्त की गई।

ग्रामीण विद्युतीकरण कार्यक्रम के अन्तर्गत सातवीं योजना के अन्त तक (1981 की जनगणना के अनुसार) 5 लाख 79 हजार गाँवों में से 4 लाख 70 हजार गाँवो में बिजली पहुँचाकर विद्युतीकरण का 81.3 प्रतिशत लक्ष्य प्राप्त किया गया। वर्ष 1998-99 के अन्त अर्थात् मार्च, 1999 तक 5 लाख 4 हजार गाँवों (86 4 प्रतिशत) को बिजली दी गई।

53वें राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के अनुसार साक्षरता का प्रतिशत 1991 के 52 प्रतिशत की तुलना मे 1997 मे बढ़कर 62 प्रतिशत हो गया है और 1998 मे इसके 64 प्रतिशत होने का अनुमान हे तथा 2001 तक साक्षरता दर के 68 प्रतिशत का अनुमान है। 73वे सविधान सशोधन को ध्यान मे रखते हुए, बदलते परिदृश्य के अनुरूप, जिला ग्रामीण विकास एजेसियो

को भी पुनर्गठित किया जा रहा है। इन एजेंसियों को जिला परिषदों के समग्र नियंत्रण और देखरेख मे काम करना होगा।

विकेन्द्रित विकास को सफल बनाने के लिए, पंचायती राज प्रणाली में शामिल नए प्रवेशार्थियो के लिए कई चरणों मे, प्रशिक्षण का एक समयबद्ध कार्यक्रम शुरू किया गया है ताकि उन्हें विभिन्न कार्यक्रमो, प्रौद्योगिकियो ओर अन्य आवश्यक जानकारी के क्रियान्वयन से परिचित कराया जा सके।

पचायती राज सस्थाओ को साधन सम्पन्न बनाने की दिशा में बड़े प्रयास के तहत, केन्द्र सरकार ने मानव विकास को आयोजना के प्रमुख लक्ष्य के रूप मे रखकर विकेन्द्रित लोकतन्त्र प्रक्रिया को गति प्रदान करने के उद्देश्य से 1999-2000 को "ग्रामसभा वर्ष" घोषित किया है और निर्वाचित पचायती राज सस्थाओ की सविधान के ग्यारहवीं सूची मे निर्दिष्ट 29 विषयों के बारे मे विकास कार्यक्रमो के क्रियान्वयन मे सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करने का प्रयास किया गया है।

(2) राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation)

निर्धनता के निराकरण के लिए सरकार द्वारा समय-समय पर अनेक कार्य किये जाते रहे हैं। सन् 1969 से राष्ट्रीय कार्यक्रम के अन्तर्गत सर्वप्रथम 14 बैंको का राष्ट्रीयकरण किया गया। उसके पश्चात् 1972-73 मे कोयले की खानो का राष्ट्रीयकरण हुआ। इसके बाद सरकार ने बडी लोहे और स्टील कम्पनी और खाद्यान्न के थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण किया। कमजोर वर्गों तथा निर्धन लोगों को ऋण देने के लिए राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाई गई थी। किन्तु इन कार्यक्रमो से अत्यधिक लाभ नहीं हो सका। वास्तव मे इस कार्य का उद्देश्य बैंकों के साधनो को बड़े उद्योगो के निजी उपयोग से बचाना था। किन्तु यह उद्देश्य पूरा न हो सका। बैंको द्वारा दिए जाने वाले ऋण उन व्यक्तियो को प्राप्त होते हैं जो राजनैतिक प्रभावो का उपयोग करने मे सक्षम हैं। ये ऋण निर्धन लोगो को प्राप्त नहीं हो पाते हैं। बैंको ने ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था के नवीनीकरण मे योगदान किया है लेकिन इसके अनेक हानिकारक प्रभाव भी पडे हैं, जैसे—अधिकाश ऋणों की वसूली नहीं होना, राष्ट्रीय मोर्चा सरकार द्वारा 1990 मे किसानो के 10,000 रुपए तक के ऋणो को माफ कर देना आदि हैं। ऋण माफी से केन्द्र सरकार पर 2,600 से 3,000 करोड़ रुपए का भार पड़ा। रिजर्व बैंक के गवर्नर ने भी ऋण माफी को हानिकारक बताया था। कुल मिलाकर राष्ट्रीयकरण के द्वारा अपेक्षित उद्देश्य अपूर्ण ही रहे हैं।

(3) बीस सूत्री कार्यक्रम
(20 Point Programme)

देश मे गरीबी हटाना और लोगों का, विशेषकर (निर्धनता) गरीबी की रेखा से नीचे के लोगो का जीवन स्तर सुधारना, देश मे नियोजित विकास के मुख्य लक्ष्य रहे हैं। हाल के वर्षों मे सामाजिक विकास का अर्थ प्रति व्यक्ति आय मे वृद्धि से हटकर अवसरों के प्रसार पर रखा गया

है। मानव क्षमता और योग्यता, मोटे तौर पर विकास प्रक्रिया के विशेष लक्षण के रूप में देखी जा सकती है। भारत सरकार विभिन्न कार्यक्रमों/योजनाओं के द्वारा नागरिकों को अपनी योग्यताएँ बढ़ाने में मदद कर रही हैं। गरीबी हटाने और जीवन का स्तर सुधारने के लिए 1975 से 20 सूत्री कार्यक्रम के तहत बृहत कार्यक्रम और योजनाएँ चलाई जा रही हैं। वर्ष 1982 और 1986 में इस कार्यक्रम में दो बार ढाँचागत परिवर्तन किए गए। बीस सूत्री कार्यक्रम के नाम से यह अप्रैल, 1987 से चल रहा है। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय अर्थव्यवस्था के अन्तर्राष्ट्रीयकरण तथा बाजार उदारीकरण प्रक्रिया अपनाए जाने के बाद 20 सूत्री कार्यक्रम वंचित और विपरीत रूप से प्रभावित लोगों को सुरक्षा कवच प्रदान करता है, जिसकी उन्हें अधिक आवश्यकता है। इसलिए 20 सूत्री कार्यक्रम को निष्पक्षता और सामाजिक न्याय के साथ वृद्धि सुनिश्चित करने के लिए अहम भूमिका अदा करनी होगी। 20 सूत्री कार्यक्रम सरकारो/केन्द्रशासित प्रशासको तथा केन्द्रीय मंत्रालयों/विभागो के योजना और गैर योजना का अभिन्न अंग है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न मदों के लिए परिव्यय राज्य सरकारों/केन्द्र प्रशासको तथा केन्द्र सरकार के प्रमुख मंत्रालयों विभागों के अन्तर्गत सम्बद्ध योजना शीर्ष से प्राप्त किया जाता है। परिवार कल्याण जैसी कुछ योजनाओं को केन्द्र पूरी तरह से धन उपलब्ध कराता है, जबकि समेकित ग्रामीण विकास कार्यक्रम (आई.आर डी पी.) जवाहर रोजगार योजना तथा इंदिरा आवास योजना को केन्द्र और राज्य सयुक्त रूप से धन उपलब्ध कराते हैं।

20 सूत्री कार्यक्रम 86 के विषय से सम्बद्ध विभाग/मंत्रालय राज्य के साथ परामर्श से वार्षिक लक्ष्य निर्धारित करते हैं। 20 सूत्री कार्यक्रम के अन्तर्गत 119 मदों पर नजर रखी जाती है, 54 मद मूल्यांकन आधार पर आंके जाते हैं तथा 65 मदो पर भौतिक रूप से नजर रखी जाती है। परिणात्मक मूल्यांकन के लिए पहचाने गए 65 मदो में 20 मदो के बारे मे हर माह जवाबदेही जरूरी है।

विशेष रोजगार और गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम जो सरकार द्वारा चलाए जा रहे हैं। इनकी सविस्तरा विवेचना अध्याय-3 मे देखे।

(1) विकास की दुविधाएँ

(Dilemma of Development)

दुबे ने विकास की प्रमुख दुविधाओं का विवेचन किया है जो इस प्रकार है—

(1) विकास बनाम अविकास की दुविधा (Dilemma of Development Versus Undevelopment)—दुबे ने लिखा है कि विकास की कुछ दुविधाओं के सम्बन्ध मे संवाद करना आवश्यक है। पहिली दुविधा विकास बनाम अविकास की है। पिछले तीन दशको मे विकास के प्रयासों के परिणाम से मोहभंग इतने व्यापक और गम्भीर रूप से हुआ है कि तीसरी दुनिया के कुछ विचारक विकास को मानवता का प्रथम शत्रु मानने लगे है एव अविकास के पुजारी बन गए हैं। यह कटु सत्य है कि विकास के वादो के अनुसार लाभ प्राप्त नही हुए हैं और इसकी सफलता और विफलता दोनों ने बहुत-सी पकड मे नहीं आ सकने वाली समस्याओ को जन्म दिया है। परन्तु अविकास की विचारधारा शायद रोग से कहीं अधिक इलाज सिद्ध हो

सकती है। जनसख्या का विस्फोट, खाद्यान्न, ऊर्जा और अन्य प्राकृतिक संसाधनों की कमी और त्रुटिपूर्ण वितरण तथा पर्यावरण के लिए खतरे ऐसी समस्याएँ हैं जिन्हें स्वत: अपने-आप हल होने के लिए नहीं छोडा जा सकता है।

2. देशज बनाम विदेशी विकास की दुविधा (Dilemma of Indigenous Versus Foreign Development)—आधुनिक विश्व के अनेक देश एक-दूसरे के निकट आ रहे हैं वहीं दूसरी ओर केन्द्राभिमुख प्रवृत्ति के कारण जातीयता, धर्म, संस्कृति और भाषा इनको निकट आने मे बाधाएँ उत्पन्न कर रही हैं। विकास के लक्ष्य आन्तरिक देशज कारकों के द्वारा प्रभावित होते हैं। विचार, संस्थाएँ और तकनीक को देशज मानस के अनुकूल ढालना होगा। कोई भी समाज बाह्य तथ्यो से पूर्ण रूप से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। इन दोनो का मिश्रण ही परिस्थिति की बाध्यता है।

3. आत्म निर्भरता बनाम पारस्परिक-निर्भरता की दुविधा (Dilemma of Self-Sufficient Versus Inter-dependence)—विभिन्न देश क्षेत्रफल, जनसख्या और प्राकृतिक ससाधनो की स्थायी निधि की दृष्टि से अलग-अलग होते हैं। परन्तु उन्हे अनेक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अन्य देशों पर निर्भर रहना पडता है। विभिन्न देशो को पूँजी, तकनीक और प्राकृतिक ससाधनों के लिए दूसरो पर निर्भर रहना पडता है। उपक्षेत्रीय-क्षेत्रीय आदि की निर्भरता बढानी होगी। यह आवश्यक है कि यह परस्पर निर्भरता स्वामी-सेवक के सम्बन्धो में विकसित नहीं हो जाए जो तीसरी दुनिया में आधीनता और निर्भरता को जन्म देती है। विकास सहायता के प्रति विकसित देशों का दृष्टिकोण निन्दनीय है। ये देश जरूरतमन्द देशों का शोषण करते हैं। पारस्परिक निर्भरता का लाभ विकसित देश उठाते हैं और अविकसित देशो का शोषण होता है।

4. वृद्धि बनाम वितरण की दुविधा (Dilemma of Growth Versus Distribution)—वृद्धि के बिना समाज किसका वितरण करेगा, इसलिए वृद्धि के कारक की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। दूसरी ओर विकास के सम्बन्ध मे सकल राष्ट्रीय उत्पाद व्यर्थ हो गया है क्योकि उत्पादक का लाभ अभावग्रस्थो तक नहीं पहुँचता है। यह समानता और सामाजिक न्याय दिलाने मे असफल रहा है। इसलिए पुन: पुनर्वितरण पर बल दिया जा रहा है जिससे मूल आवश्यकताओ की पूर्ति, रोजगार दिलाने और सामाजिक सेवाओ को सुधारा जा सके।

5. उद्योगीकरण बनाम पर्यावरण की दुविधा (Dilemma of Industrialization Versus Environment)—विकसित देश औद्योगिकीकरण के द्वारा पर्यावरण को अधिक प्रदूषित करते हैं बनिस्पत अविकसित देशो से। विकसित समाज प्रदूषण और प्रदूषण को उत्पन्न करने वाली तकनीक दोनों का ही अल्पविकसित समाजो को निर्यात करते हैं। इसलिए *औद्योगीकृत समाज को न्यूनतम प्रदूषण पैदा करने वाली तकनीक या शोध कार्य करवाना* चाहिए, पुन: प्राप्त न हो सकने वाले संसाधनो का व्यर्थ का दोहन न हो और पर्यावरण का संरक्षण तथा सुधार हो। उन्हे तीसरी दुनिया को ऐसी तकनीक का निर्यात नहीं करना चाहिए जो

उच्च मात्रा में प्रदूषण पैदा करती हो और ऊर्जा व प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करती हो। तीसरी दुनिया में लोभ और अदूरदर्शिता के कारण पर्यावरण का प्रचुर मात्रा में अवमूल्यन हुआ है उसे नियंत्रित करना चाहिए।

6. उद्योग बनाम खेत तथा आयात बनाम निर्यात की दुविधाएँ (Dilemma of Industry Versus Agriculture and Import Versus Export)—विश्व किसी भी परिस्थिति मे दो अलग-अलग एक मुख्यत: कृषि-प्रधान और दूसरी मुख्यतः उद्योग-प्रधान को बनाए रखने वाली संस्कृति नहीं अपना सकता है। दोनो का विवेकपूर्ण संयोग अपेक्षित है। तीसरी दुनियाँ के कई देशों में उत्पादन तो संतोषजनक है परन्तु वितरण की प्रणाली दोषपूर्ण है। अधिक खाद्यान्न होने पर भी क्रयशक्ति कम होने के कारण कई लोग पर्याप्त खाद्यान्न की व्यवस्था नहीं कर पाते हैं। प्राकृतिक संसाधनों का व्यापक वितरण असंतुलित और असमान है जिससे कुछ आवश्यक वस्तुओं का आपात आयात आवश्यक हो जाता है। आयात और निर्यात को सतुलित करना आवश्यक है।

7. सहायता बनाम व्यापार की दुविधाएँ (Dilemma of Help Versus Business)—यह एक कटु सत्य है कि जब भी सहायता दी जाती है तो उसके साथ कठोर शर्ते भी लगी होती हैं। सर्वदा सहायता पाने वाले की तुलना में सहायता देने वाले को अधिक लाभ होता रहा है। दुबे ने लिखा है कि, "वस्तुत: सहायता एक भ्रामक शब्द है—ऐसे कर्ज जिन्हें ब्याज समेत चुकाना हो, सहायता नहीं कहे जा सकते। अन्तर्राष्ट्रीय कर्जों का भार कभी-कभी इतना ज्यादा होता है कि बाद में ली जाने वाली अधिकता उधारी कर्ज के रख-रखाव मे चली जाती है। सहायता के बहुत से रूप निश्चय ही शोषक प्रकृति के हैं, इनमे से कुछ तो छद्म साम्राज्यवाद के रूप होते हैं।" निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि तीसरी दुनिया में विनिमय और व्यापार को न्यायपूर्ण और उपयुक्त शर्तों के आधार पर विकसित किया जाना चाहिए।

8. भौतिक निवेश बनाम मानव पूँजी में निवेश (Dilemma of Physical Investment Versus Investment in Human Capital)—मानव संसाधन विकास के उपाय आवश्यक भौतिक निवेश के अभाव में कुछ भी नहीं कर सकते हैं। अत: आवश्यक है कि मानव पूँजी मे निवेश एवं भौतिक निवेश दोनों में संतुलन किया जाए। चेतना के विस्तार और प्रशिक्षित क्षमता और कौशल विकसित करके मानव-ससाधनों को समृद्ध किया जा सकता है।

9. औपचारिक बनाम अनौपचारिक शिक्षा की दुविधा (Dilemma of Formal Versus Informal Education)—ये दोनों प्रकार की शिक्षाएँ आवश्यक है और दोनों के विशिष्ट उद्देश्य हैं। शिक्षा को कम महत्त्वपूर्ण मानने के कारण अधिक विकसित आर अल्पविकसित देशों के बीच ज्ञान, वैज्ञानिक एवं तकनीकी दूरियाँ बढ़ती हैं एव तीसरी दुनिया विकास में पिछड़ जाती है। शिक्षा के औपचारिक माध्यमो के द्वारा गुणवत्ता और उत्कृष्टता मे विकास करना होगा। अविकसित देशों में शिक्षा के औपचारिक माध्यमों के द्वारा गुणवत्ता और उत्कृष्टता में विकास करना होगा। अनौपचारिक शिक्षा की पद्धति का विस्तार करना होगा। इसका उपयोग विभिन्न कौशलों की शिक्षा देकर विकास कार्यों को तेज करना होगा।

10. नवीनतम तकनीक बनाम मध्यस्तरीय तकनीक की दुविधाएँ (Dilemma of Latest Technology Versus Middle-Layer Technology)—तीसरी दुनिया में निम्नस्तरीय तकनीक के उपयोग से देशो के बीच की विभाजन रेखा और भी सुदृढ हो जाती है। देश को कार्य की प्रकृति के अनुसार उच्च, मध्यम या निम्न तकनीको का चयन करना चाहिए। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि तकनीक मानवता की सेवा मे एक उपकरण होना चाहिए न कि मानव तकनीक का गुलाम बन कर रहे। अल्पविकसित देशो को ऐसे विकल्पो को अपनाने के लिए बाध्य नही करना चाहिए जो उन्हे वैज्ञानिक और तकनीकी दृष्टिकोण से स्थाई रूप से मद स्थिति मे नही पहुँचा दे।

11. उद्‌विकास बनाम क्रान्ति की दुविधाएँ (Dilemma of Evolution Versus Revolution)—इतिहास इस बात का साक्षी है कि उद्‌विकास के क्रम मे अनेक क्रान्तिकारी प्रभाव वाले परिवर्तन हुए है। समाज मे क्रान्ति तब होती है जब समाज अपने अन्तर्विरोधो को हल करने और समग्रवादी पुनर्वितरण को स्थापित करने मे सफल नहीं हो पाते हैं। सामान्यतया क्रान्ति अन्तिम विकल्प होता है जिसका मूल्य समाज को चुकाना पडता है। क्रान्ति के लिए सफल सक्रियकरण, सतर्क योजना और समर्पित भावना वाला कठोर परिश्रम अत्यावश्यक होता है। जब क्रान्ति सफल नहीं हो पाती है तो वह दुर्व्यवहार को जन्म देती है।

12. एक विकास बनाम अनेक विकास की दुविधाएँ (Dilemma of Mono Development Versus Multi-Development)—विकास एक-रेखीय या बहु-रेखीय हो सकता है। एक-रेखीय विकास मानव को समान नियति की ओर आगे बढाता है। बहुरेखीय विकास के कई रूप और मार्ग होते हैं। इनमे प्रदेश के निश्चित एवं अलग उद्देश्य एव विधियाँ होती हैं। एक रेखीय विकास के प्रतिमान मे अनेक अस्पष्टताएँ और कमियाँ होती हैं। एक सार्वभौमिक विकासात्मक विकल्प की तुलना मे अनेक जीवन-शैलियो और भविष्य की सम्भावनाओ की दिशा मे सोचना एव विकास करना अधिक लाभदायक होता है।

निष्कर्ष (Conclusion)

आधुनिकीकरण और विकास की प्रक्रिया क्रान्तिकारी, जटिल प्रणालीपरक, लम्बी और कई चरणो मे निबद्ध होती हैं। इस सम्बन्ध मे कोई विवाद नहीं है, परन्तु प्रश्न उठता है कि क्या ये प्रक्रिया व्यापक हैं? यह प्रश्न विवादास्पद है। यह सत्य है कि आधुनिकीकरण और विकास के कुछ लाभ बहुत व्यापक रहे हैं, परन्तु मानव-समाज का एक बहुत बडा हिस्सा उन लाभो से अछूता रहा है। वर्तमान प्रवृत्तियो को देखने मे ऐसा लगता है कि विश्वव्यापी धरातल पर आधुनिकीकरण और विकास कभी प्राप्त किया जा सकेगा। टाफलर के अनुसार मानव समाज का एक छोटा-सा टुकड़ा जहाँ दूसरी से तीसरी धारा मे जा रहा है, दो-तिहाई मानवता परिस्थितियो के षड्‌यन्त्र से जकड़ी हुई पहली धारा का अवयव बनी हुई है। केवल बडे ही सीमित अर्थ में सभी समाज आधुनिक और विकसित होने का प्रयास कर रहे हैं, अन्यथा बढती हुई विषमताएँ आधुनिकीकरण और विकास की व्यापकता को निरर्थक बना रही हैं।

आजकल विश्व को एक व्यापक गाँव कहना आम बात हो गई है। लेकिन दूसरी ओर जातियों और सांस्कृतिक चेतना की बहुलताओं में वृद्धि इसे टुकड़े-टुकड़े कर रही है। महाशक्तियाँ जिस प्रकार से व्यवहार कर रही हैं उससे तो ऐसा लगता है कि विश्व का कभी सार्थक और व्यापक एकीकरण सम्भव नहीं हो पाएगा। विकासशील देशो को भी तनाव और द्वन्द्व के भंवर मे घसीट लिया गया है। उनके आपसी मतभेद विश्वशान्ति के लिए खतरा पैदा कर रहे हैं।

अनेक समाजों मे रूढ़िवादिता सिर उठा रही है और अनेक स्थानों पर विकास विरोधी और आधुनिकता विरोधी विचारधाराएँ दृढ होती जा रही हैं। सांस्कृतिक मूल्यांकन और वैचारिक दृष्टि मे आधुनिकीकरण और विकास दोनो प्रगतिशील प्रक्रिया हैं। निम्सन्देह इनके लाभ प्रचुर मात्रा मे हैं। लेकिन उनके सामाजिक मूल्य एवं उनमे छिपे सांस्कृतिक हानियाँ भी कुछ कम नहीं हैं। अधिक विकसित देशो में विद्यमान बहुत-सी प्रवृत्तियाँ किसी भी प्रकार से प्रगतिशील नही कही जा सकती हैं।

आधुनिक और विकसित समाजो मे सामाजिक नामहीनता और व्यक्तिगत अलगाव मे वृद्धि हो रही है। व्यक्ति और समूह के स्तर पर हिसा में वृद्धि हो रही है। समाज की मानवीय संरचना कमजोर पड़ती जा रही है और अनेक सामाजिक सस्थाएँ बेकार होती जा रही हैं। समाज इन प्रवृत्तियों को रोकने में कठिनाई का अनुभव कर रहा हैं। दुबे ने लिखा है कि, "अन्तिम विश्लेषण में आधुनिकीकरण और विकास का भविष्य इस पर निर्भर करता है कि आधुनिक मानव अन्तर्राष्ट्रीय अव्यवस्था और ससाधनों के व्यापक स्तर पर हो रहे दोषपूर्ण वितरण को किस तरह संभालता है। यदि महाशक्तियाँ टकराव का रास्ता चुनती हैं और नयी *अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के तर्क को अस्वीकार करती हैं तो उसका भविष्य यदि कोई है तो* अन्धकारमय है।"

❑

अध्याय-30

समाजशास्त्र और व्यवसाय
(Sociology and Professions)

"समाजशास्त्र और व्यवसाय" एक बहुत ही व्यापक शीर्षक है जिसको अनेक विषयो और प्रकरणो का अध्ययन करके ही समझा सकता है। समाजशास्त्र और व्यवसाय परस्पर एक-दूसरे से बहुत अधिक निकटता से सम्बन्धित हैं। इन दोनो के पारस्परिक सम्बन्धो को दो प्रमुख भागो मे बाँटकर देखा जा सकता है : व्यवसाय का समाजशास्त्र और समाजशास्त्र का व्यवसाय। प्रथम के अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि व्यवसाय के विभिन्न प्रकार और उनका विकास एवं परिवर्तन समाज की सरचना और कार्यों को किस प्रकार से प्रभावित एवं परिवर्तित करते हैं। व्यवसाय एक कारक के रूप मे सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक अव्यवस्था को कहाँ तक नियत्रित, निर्देशित और सचालित करता है। समाज मे परिवर्तन एव सामाजिक कारक किस सीमा तक व्यवसाय के प्रकार और परिवर्तन के निर्णायक हैं। दूसरा आयाम समाजशास्त्र एक व्यवसाय के रूप मे समाजशास्त्रियो द्वारा अध्ययन किया गया है। समाजशास्त्र की उपाधि प्राप्त करने के बाद इसका व्यावसायिक महत्त्व क्या है? समाजशास्त्र मे शोध करने का प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद उसकी क्या उपोगिताएँ हैं। समाजशास्त्र एक व्यवसाय के रूप मे जीविका अर्जित करने में कितना सहायक है। इसके भी अध्ययन समय-समय पर किए गए हैं। समाजशास्त्र को विद्यार्थी एक विषय के रूप में क्यो चयन करता है? समाजशास्त्र विषय का अकादमिक क्षेत्र मे क्या भविष्य है। ऐसे अनेक प्रश्नो एवं पक्षो के अध्ययन समाजशास्त्र और व्यवसाय शीर्षक के अन्तर्गत किए जाते हैं। इन सबका क्रम से विवेचन करने से पूर्व समाजशास्त्र और व्यवसाय की अवधारणाओ की परिभाषा और अर्थ की विवेचना करना आवश्यक है, जो निम्नलिखित हैं—

समाजशास्त्र की परिभाषा और अर्थ (Definitions and Meaning of Sociology)—समाजशास्त्र की परिभाषाओ की विवेचना इस कृति के द्वितीय और तृतीय अध्याय में सविस्तार की गई है। सक्षिप्त मे समाजशास्त्र मानव समाज को एक पूर्ण इकाई मानकर अध्ययन करने वाला विज्ञान है। समाज के विभिन्न घटक, आकार और जटिलता के बढ़ते क्रम

मे क्रिया, प्रतिक्रिया, अन्तःक्रिया, सामाजिक क्रिया, सामाजिक सम्बन्ध, सामाजिक समूह, सामाजिक संस्थाएँ, समाज और सामाजिक व्यवस्थाएँ हैं। समाजशास्त्र यह अध्ययन करता है कि वे विभिन्न घटक परस्पर एक-दूसरे को कैसे प्रभावित करते हैं और कैसे एक-दूसरे से प्रभावित होते हैं। साथ ही समाजशास्त्र यह भी अध्ययन करता है कि वे विभिन्न घटक अन्य समस्त कारको—प्राकृतिक या भौगोलिक कारक, प्राणिशास्त्रीय या जैविक कारक, मनोवैज्ञानिक कारक आदि से कैसे प्रभावित होते हैं और इनको कैसे प्रभावित करते हैं। इसी संदर्भ में जब समाजशास्त्र व्यवसाय का अध्ययन करता है तो दो परिप्रेक्ष्य सामने आते हैं, यथा—पहिला, समाजशास्त्र यह अध्ययन करता है कि समाज के विभिन्न घटकों पर क्या प्रभाव पड़ते हैं? तथा दूसरा, समाज के घटकों के व्यवसाय पर क्या प्रभाव पड़ते हैं। सरल भाषा में प्रथम दृष्टिकोण के अनुसार व्यवसाय कारण है और समाज उसका परिणाम है तथा दूसरे दृष्टिकोण मे समाज कारण है और व्यवसाय उसका परिणाम है। अब हम व्यवसाय के अर्थ का अध्ययन करेंगे।

व्यवसाय की परिभाषा एवं अर्थ (Definitions and Meaning of Prefession)—व्यवसाय के भिन्न संदर्भो में अलग-अलग अर्थ हैं। यहाँ पर, व्यवसाय का अर्थ पेशा, काम, धंधा, उद्यम, व्यापार आदि के रूप मे प्रयुक्त किया गया है। सामाजिक विज्ञानो मे सरल भाषा मे, अंग्रेजी के शब्द 'प्रोफेशन' का प्रयोग बहुत ही सीमित, सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित अर्थ में किया जाता है।

इस अध्याय में प्रोफेशन का हिन्दी शब्द व्यवसाय प्रयुक्त किया जा रहा है। बेव्स्टर एनसाक्लोपिडिया अनएब्रिजड् डिक्शनरी ऑफ दा इगलिश लैंग्वेंज में इसके निम्न अर्थ दिए गए हैं—पहिला, एक व्यवसाय जिसमें किसी विभाग के विज्ञान के सीखने के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, जैसे—सीखा हुआ व्यवसाय। दूसरा, कोई भी काम या व्यापार। तीसरा, लोगों का संगठन जो एक पेशे या जीविकोपार्जन मे व्यस्त होते हैं।

थियोडोरसन एवं थियोडोरसन ने व्यवसाय की व्याख्या निम्न प्रकार से की है। इनके अनुसार, ''व्यवसाय (प्रोफेसन) का एक सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित शब्द के रूप में अर्थ है—*एक उच्च प्रस्थिति का उद्यम जिसमें उच्चस्तरीय प्रशिक्षण प्राप्त निपुण लोग* होते हैं, जो समाज में बहुत ही विशेषीकृत भूमिका करते हैं। व्यवसाय में निश्चित प्रकार की दक्षता होती है जो समाज और व्यक्तिगत ग्राहकों के लिए प्रमाणिक होती है। उनमे विशिष्ट गहन शिक्षा एवं आवश्यक अनुशासन एक अंतःसमूह सुदृढ़ता का विकास करती है। प्रत्येक व्यवसाय अपने ज्ञान और कौशल के एकाधिकार एवं अपने व्यवसाय की निरन्तरता का सम्मान के आधार पर यह अनुभव करता है कि वह स्वयं अपने कार्य की गुणवत्ता का मापन और आचार का निरूपण कर सकता है। अतः व्यवसायी समूह जिस जनता और ग्राहकों को सेवाएँ देता है उनके नियंत्रण को नहीं मानता है। फिर भी व्यवसाय जिसकी सेवा करता है उनसे प्रभावित होता है और उनके

स्वरूप का निर्माण दूसरे रूचि के समूहो की आवश्यकताओं और दूसरे व्यावसायिक संगठनों की माँगों से होता है।"

व्यवसाय का समाजशास्त्र (Sociology of Occupation)—थियोडोरसन एव थियोडोरसन ने व्यावसायिक समाजशास्त्र की परिभाषा निम्न दी है-–इनके अनुसार, "व्यावसायिक समाजशास्त्र वह है जिसमें समाजशास्त्र के सिद्धान्तो द्वारा पेशो और व्यवसायों का विश्लेषण किया जाता है। व्यावसायिक समाजशास्त्र का एक अंग जीविका प्रतिमानों का अध्ययन है।"

व्यवसाय के समाजशास्त्र के प्रमुख विषय एवं प्रकरण निम्नानुसार है—

1 समाज की व्यावसायिक संरचना और उसके कार्यों का अध्ययन करना।

2 व्यवसाय मे सत्ता एवं सम्मान के परस्पर सम्बन्धो एव वितरण का अध्ययन करना।

3. व्यवसायों के प्रकारों का अध्ययन करना।

4 व्यवसाय मे नियुक्ति एवं भर्ती की प्रक्रिया का अध्ययन करना।

5 व्यवसाय से सम्बन्धित प्रशिक्षण, पारिश्रमिक की मात्रा आदि का अध्ययन करना।

6. व्यवसाय में संलग्न लोगों की भमिका एवं प्रस्थितियों के मध्य संघर्षों का अध्ययन करना।

7. व्यावसायिक संगठनों का उनके ग्राहकों के मध्य सामाजिक सम्बन्धो का विश्लेषण करना।

8. लोगों की व्यवसाय के प्रति घटनाओ का अध्ययन करना।

9 व्यावसायिक उप-व्यवस्था का समाज की अन्य उप-व्यवस्थाओं के सामाजिक सम्बन्धों का वर्णन और व्याख्या करना।

10. व्यवसायों में संलग्न व्यक्ति की जीवनशैली, मनोवृत्ति, आदतों, मूल्यों आदि का अध्ययन करना।

11 व्यक्ति के व्यवसाय के आधार पर उसके व्यवहार का विश्लेषण करना।

12. समाज में व्यवसायो की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करना।

समाजशास्त्र की एक व्यवसाय के रूप में सम्भावनाएँ

(Possibilities of Sociology as A Profession)

विगत वर्षो मे समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में सन्तोषजनक मान्यता मिली है। लेकिन इसे अकादमिक जगत मे अपना उचित स्थान प्राप्त करना शेष है। अनेक विश्वविद्यालयों में इस विषय के विभाग खोले गए हैं लेकिन यह इसकी मान्यता के मापदण्ड नहीं है। समाजशास्त्री सरकारी नीति निर्धारण में क्रियाशील सहभागिता प्राप्त नहीं कर पाए हैं। कभी-कभी समिति

के स्तर पर इसकी उपस्थिति देखी जा सकती है। इसके अतिरिक्त समाजशास्त्रियों का महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। अगर कभी समाजशास्त्री को राज्य स्तर पर नीति निर्माण का उत्तरदायित्व दिया जाता है तो या तो उसके सुझावों पर ध्यान नही दिया जाता है अथवा ऐसा प्रतिवेदन तैयार करता है जिसकी सरकार उपेक्षा करती है।

अकादमिक क्षेत्र में एक समस्या ये है कि जो विद्यार्थी समाजशास्त्र पाठ्यक्रम मे प्रवेश लेते हैं वो निम्न स्तर के होते हैं। वो समाजशास्त्र में इसलिए प्रवेश लेते हैं क्योकि अन्य विषयो में उन्हें प्रवेश नहीं मिल पाता है। समाजशास्त्र में लड़कियो की प्रवेश संख्या मे दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। अगर लड़कियों से पूछा जाए कि वो समाजशास्त्र क्यो पढ़ना चाहती हैं तो उनका उत्तर होता है कि वो इस विषय में रूचिशील हैं। इसमे परिवार, विवाह आदि का अध्ययन करना चाहती हैं।

पश्चिम में सामाजिक घटनाओं का अध्ययन समग्र उपागम के द्वारा किया जाता है। वहाँ अर्थशास्त्री यह जानता है कि उसकी क्या सीमाएँ हैं और समाजशास्त्रीय उपागम के योगदान का आर्थिक समस्याओ के अध्ययन में कितना महत्त्व है। इसी प्रकार से राजनीतिशास्त्री भी अपनी समस्याओ को सभी सामाजिक दृष्टिकोणों से समझने का प्रयास करता है। भारत मे भी इस वास्तविकता के प्रति जागरूकता में वृद्धि हो रही है फिर भी समाजशास्त्र ने अभी तक अकादमिक क्षेत्र और सरकार में अपना उचित स्थान अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र के समान प्राप्त नही किया है।

आज भी समाजशास्त्र का विद्यार्थी वह है जिसे अन्यत्र प्रवेश नहीं मिला है और वो येन-केन प्रकारेण प्राप्त करना चाहता है। लड़की तो समाजशास्त्र समय व्यतीत करने के लिए पढ़ती है और उसके माता-पिता उसके लिए इस बीच वर की खोज करते देखे जा सकते हैं। सामान्यतया समाजशास्त्र को एक सरल विषय माना जाता है। इसका कारण बाजार में हिन्दी मे अनुवादित समाजशास्त्र सम्बन्धी घटिया साहित्य की उपलब्धता रहा है। विगत वर्षों मे विभिन्न राज्यों के हिन्दी ग्रन्थ अकादमियो द्वारा उच्च स्तर के समाजशास्त्रीय साहित्य हिन्दी मे उपलब्ध कराये गए हैं लेकिन उनकी भाषा अनुवाद का भाव आदि क्लिष्ट हिन्दी में होने के कारण लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो पाई है। जैसे ही विद्यार्थी एम ए. की उपाधि प्राप्त कर लेता है वैसे ही वह बेरोजगारों की कतार में जा खड़ा होता है। सरकार को एम.ए समाजशास्त्र की आवश्यकता नहीं है। अन्वेषण या क्षेत्र कार्यकर्त्ता के लिए वह उपयुक्त आवदेक होता है लेकिन उसकी तुलना में अर्थशास्त्र में स्नातक को प्राथमिकता दी जाती है। समाजशास्त्र में जो एम ए. होते हैं उन्हें माध्यमिक पाठशालाओं मे भी सामान्य विज्ञान पढाने के लिए भी सक्षम नहीं माना जाता है। उसके लिए मात्र एक विकल्प महाविद्यालय पद की नौकरी का रह जाता है। लेकिन ऐसी नौकरियाँ तो सीमित हैं। इसका परिणाम यह होता है कि समाजशास्त्र के स्नातकोत्तर विद्यार्थी पी.एच डी के पंजीकरण और शोध छात्रवृत्ति के पीछे दौड़ते हैं। अधिकतर समाजशास्त्र के शोध छात्र कहीं-

न कहीं जीविका प्राप्त करने का प्रयास करते हैं और शोध कार्य में उनकी कोई रूचि नहीं होती है। कहीं भी उन्हें जरा-सी आशा दिखाई देती है तो वो शोध कार्य हमेशा के लिए छोड़कर चले जाते हैं। अन्य कोई काम प्राप्त नहीं कर पाते हैं वो जैसे-तैसे पी.एच डी. उपाधि प्राप्त कर लेते हैं और फिर कभी भी और शोध कार्य नहीं करते हैं। भारत मे समाजशास्त्र विषय की यह दयनीय स्थिति है।

भारत में समाजशास्त्र के उन्नयन सम्बन्धी प्रयास

(Efforts for the Development of Sociology in India)

भारत मे समाजशास्त्र विषय की दयनीय स्थिति के लिए कौन जिम्मेदार हैं? इसका समाधान क्या है? अन्ततोगत्वा इसकी जिम्मेदारी समाजशास्त्रियों पर है। कुछ समाजशास्त्री ऐसे हैं जो आराम परस्त हैं तथा उन्होने विषय को विकसित करने के लिए आवश्यक नेतृत्व प्रदान नहीं किया है। वो लोग छोटी-छोटी बातो पर झगड़ते रहते हैं और इस विषय के विकास के लिए युवा विद्यार्थियों का पथ-प्रदर्शन नहीं करते हैं। उन्होने विषय के विकास पर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया है। उन्हे व्यावसायिक सगठन बनाने चाहिए थे। विषय के विकास के लिए बैठके करनी चाहिए। उन्हे समाजशास्त्र और सम्बन्धित निकट के विषयो के मध्य समन्वय एव समझ का विकास करना चाहिए। समाजशास्त्र और मानवशास्त्र के विकास को समाप्त करना चाहिए। जहाँ कहीं भी सामाजिक मानवशास्त्र विभाग है उन्हे समाजशास्त्र मे परिवर्तित करना चाहिए। एम एम समाजशास्त्र की उपाधि को किसी भी सामाजिक कार्य के लिए स्कूल में प्रवेश के लिए न्यूनतम योग्यता निर्धारित करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त निम्न मुद्दो पर भी ध्यान देना चाहिए—

1 भारत मे समाजशास्त्र का एक विषय के रूप में क्या स्थान है?

2. भारतीय समाज के वैज्ञानिक अध्ययन के लिए समाजशास्त्रीय अवधारणाओ का उपयुक्त विकास और अवधारणीकरण की आवश्यकता का सुधार करना चाहिए।

3 अभी अन्तर-विषयक सहयोग कितना उपलब्ध है तथा उसे और कितना सुधारा जा सकता है-की सम्भावनाओ को देखना चाहिए।

4. भारत मे समाजशास्त्र से सम्बन्धित शैक्षिक और अनुसन्धान की क्या समस्याएँ हैं? उनमे क्या सुधार किया जा सकता है?

5 विकासशील समाज मे समाजशास्त्र और समाजशास्त्रियो की क्या भूमिका है?

6 आज भारत मे कौनसी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समस्याएँ हैं जिनका चयन शोध के लिए करना चाहिए।

उपरोक्त प्रयास और समस्याओं के निवारण के लिए निम्न विषयों पर चर्चा करनी चाहिए—

1 भारत मे समाजशास्त्र का क्षेत्र और वैज्ञानिक अध्ययन विधि।

2. 'भारतीय समाजशास्त्र' के विकास की सम्भावनाएँ।

3. समाजशास्त्र के पाठ्यक्रम और व्यवसाय के अवसर।

4. राज्य के संदर्भ में शिक्षण की समस्याएँ।

5. समाजशास्त्रीय शोध—इसकी दिशाएँ, समस्याएँ और विकास की सम्भावनाएँ।

6 समाजशास्त्रियों के आचरण के लिए नियमों का निर्माण।

भारत में व्यवसायों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण
(Sociological Analysis of Professions in India)

भारत मे व्यावसायिक समाजशास्त्रियों ने भारत मे व्यवसायो के विकास का अध्ययन किया है जो इस प्रकार है। भारत में जब उपनिवेश प्रशासन था तब आधुनिक व्यवसायों का निकट का सम्बन्ध—प्रशासन, न्यायिक और शैक्षिक नीतियों के साथ था। 1770 से 1830 के काल में ईस्ट इण्डिया कम्पनी नीति निर्माताओं पर शिक्षा, कानून और ओषधियो के क्षेत्र मे भारतीयों का प्रमुख सम्बन्ध था। इस काल मे प्रशासको ने हिन्दू पण्डितो और मुसलमान उल्माओ से न्यायिक मामलो में मदद माँगी तथा अपने प्रशिक्षण के लिए व्यवस्था की। उन्होंने संस्कृत पाठशालाओं और फारसी तथा अरबी पाठशालाओ के द्वारा आयुर्वेद और यूनानी दवाओ की शिक्षा की व्यवस्था की। भारत में 1790 के आस-पास आधुनिक न्यायिक और प्रशासकीय सेवाएँ (नौकरियाँ) प्रारम्भ हो गई थी। शिक्षा के उत्थान के लिए 1781 में कलकत्ता में, 1791 मे बनारस में महाविद्यालय खोले गए। इससे विश्वस्तरीय व्यावसायिक संगठनों के साथ सम्बन्धो के विस्तार को प्रोत्साहित किया। धीरे-धीरे भारत में औषधियों, प्रशासनिक नौकरियो अभियन्ता, शिक्षा, सेना आदि में वेतन आधारित व्यवसायो का विकास हुआ। कानून और पत्रकारिता स्वतत्र व्यवसायों के रूप में विकसित हुए।

1792 में कलकत्ता मे पहिला नागरिक अस्पताल निर्मित हुआ। 1882 मे कलकत्ता मे पहिला मेडिकल महाविद्यालय खुला। इसके बाद मद्रास, बम्बई, हैदराबाद, इन्दौर आदि में खोले गए। इससे इन क्षेत्रो में नौकरियो के अवसर खुले।

1773 मे वॉरेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ता में सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना की। फिरंगियो ने हिन्दू एवं मुस्लिम कानून के द्वारा न्याय प्रक्रिया अपनाई इसमे वकीलों की आवश्यकता पडी। 1826 तक कलकत्ता और बनारस महाविद्यालय के शिक्षा प्राप्त को वकालत के व्यवसाय मे प्राथमिकता दी गई। राजठिकानों पर क्षत्रियो का शासन, व्यापार, वाणिज्य आदि वैश्य जातियो के पास था। शिक्षा, कानून और औषधियो के व्यवसाय में ब्राह्मण और कायस्थ जातियो के

लोग थे। 1794 में अभियन्ता के व्यवसाय का विकास, भारतीय सेना मे प्रारम्भ हुआ। 1864 मे दाई (नर्स) के व्यवसाय का भारत के सैनिक अस्पतालो में उदय हुआ।

कुछ विद्वानो की मान्यता है कि भारत मे आधुनिक व्यवसायो का उदय प्रशासनिक और सैनिक आवश्यकताओ के कारण हुआ था। व्यवसायों में गतिशीलता का कारण ब्रिटिश प्रशासन और आधुनिक विश्वविद्यालय की शिक्षा है। भारत मे औद्योगिकीकरण के कारण भी सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई। अनेक अध्ययनो ने व्यवसाय, आधुनिक शिक्षा, वाणिज्य और राजनीति के परस्पर सम्बन्धो का अध्ययन किया है। उन्होने पाया कि व्यावसासिक परिवर्तन मे प्रमुख हिस्सेदारी बुद्धिजीवियो और मध्यम वर्गीय शिक्षार्थियों की रही है। भारतीय उत्पादों को ईस्ट इण्डिया कम्पनी को पहुँचाना तथा और इनके उत्पादो को भारत के बाजारों मे पहुँचाने का कार्य की एक बडी व्यापारिक गतिविधि ने अनेक व्यावसायिक अवसर खोले। इस प्रकार से भारत मे ब्रिटिश प्रशासन के प्रारम्भिक काल मे एक श्वेत वस्त्रधारी व्यवसाय का वर्ग, लिपिक, शिक्षक, डॉक्टर, वकील, न्यायाधोश, नर्स, अभियन्ता, लेखक, पत्रकार आदि उभरे।

भारत में ब्राह्मण कभी भी मात्र धार्मिक अनुष्ठान और पुरोहित के पेशे से जुडे नहीं रहे थे। ब्राह्मणो को कभी भी लिपिक, सैनिक, शिक्षक, न्यायाधीश, डॉक्टर प्रशासकीय व्यवस्था करने में सकोच नहीं रहा है। 1857 में बंगाल की सेना मे सर्वाधिक संख्या ब्राह्मण सैनिको की थी। जब 1857 मे कलकत्ता, बम्बई और मद्रास मे विश्वविद्यालय शिक्षा प्रारम्भ हुई थी तब नवीन शिक्षा के अवसरो का सर्वाधिक लाभ ब्राह्मण और कायस्थों ने उठाया था।

19वीं शताब्दी के अन्त तक भारत में एक वास्तविक व्यावसायिक सस्कृति का उदय हो गया था। सम्पूर्ण भारत में एक वास्तविक व्यावसायिक वर्ग के सदस्य देखे जा सकते थे। इन लोगों का उदारवादी दृष्टिकोण था। उन्नीसवीं और प्रारम्भिक बीसवीं शताब्दी का विश्लेषण करें तो स्पष्ट हो जाता है कि राम मोहन राय एक लिपिक थे, सर सैय्यद अहमद खान एक प्रशासनिक नौकर थे। विद्या सागर, अरविन्द, तिलक और गोखले शिक्षक थे। रानाडे एक न्यायाधीश थे। फिरोजशाह मेहता, मदन मोहन मालवीय, मोती लाल नेहरू, तेज बहादुर स्वरूप, महात्मा गाँधी, जवाहर लाल नेहरू, वल्लभ भाई पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, राजगोपालाचार्य तथा एम ए. जिन्ना वकील थे। डॉ. असारी, हकीम अजमल खाँ, बी सी राय और खान साहब (खान अब्दुल गफ्फार खान के भाई) औषधियो के डॉक्टर थे।

परम्परागत व्यवसायों और आधुनिक व्यवसायों में अन्तर
(Differences Between Traditional Professions and Modern Professions)

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से अगर परम्परागत व्यवसायो और आधुनिक व्यवसायों की तुलना करें तो उनमे निम्न प्रमुख अन्तर देखे जा सकते हैं। परम्परागत व्यवसाय सामान्यतया

धार्मिक और आध्यात्मिक मान्यताओ, विश्वासो और प्रयासो पर आधारित होते हैं। आधुनिक व्यवसायों के लिए औपचारिक शिक्षा, प्रमाण पत्र, नियमित और निश्चित अवधि के प्रशिक्षण को आवश्यकता होती है। आधुनिक व्यवसायों का जाति व्यवस्था से हमेशा विरोध रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे आधुनिक व्यवसायों के उदय ने कार्य-संस्कृति का निमाण किया जिसने शिक्षा, प्रशिक्षण, प्रमाण पत्र, नियमित एवं निश्चित काम के घण्टे, नियमित वेतन के भुगतान आदि को विकसित किया।

आधुनिक व्यवसाय मे भर्ती का तरीका निश्चित नियमो पर आधारित होता है। इसमे भूमिका, कार्य, अपेक्षाएँ, प्रशिक्षण की विधि आदि निश्चित होती हैं। परम्परागत व्यवसाय मे समुदाय का नियत्रण होता था। उनकी जाति पंचायत होती थी जो उनके प्रशिक्षण की विधि, नियुक्ति और उत्पादक एवं उपभोक्ता के सम्बन्धों को निश्चित करती थी। इसके विपरीत आधुनिक व्यवसायों पर ब्रिटिश राज के प्रारम्भ से राज्य का नियंत्रण होता है। राज्य नौकरी के मापदण्ड निश्चित करता है। राज्य पात्रता, नियुक्तिके नियम एवं विधि आदि निश्चित करता है। डॉक्टर, प्रशासनिक नौकर, वकील, न्यायाधीश, शिक्षक आदि पर राज्य सरकार के नियमो के अनुसार नियुक्तियाँ वेतन, काम के घण्टे आदि तय किये जाते हैं।

व्यावसायिकरण का भारत पर प्रभाव (Impact of Professionalisation on India)—भारतीय समाज, संस्कृति, आर्थिक व्यवस्था आदि पर व्यावसायीकरण के अनेक प्रभाव पड़े हैं। आज भी व्यावसायीकरण के प्रभाव सांस्कृतिक क्षेत्र, जैसे—भाषा, वेशभूषा, जीवन के तरीके आदि पर देखे जा सकते हैं जो व्यावसायीकरण के परिणाम हैं। भारत के नगरो के मध्यम वर्ग के लोगों और परिवारो में कार्यालय की भाषा अंग्रेजी है, घर की बातचीत का अध्ययन स्थानीय बोली होती है। बाजार मे हिन्दी, उर्दू या क्षेत्रीय भाषा बोली जाती है। धार्मिक अनुष्ठान एवं कृत्य सस्कृत या अरबी भाषा में सम्पन्न किये जाते हैं। कार्यालयों मे पश्चिमी वेशभूषा का प्रयोग किया जाता है तथा घर के अन्दर भारतीय परम्परागत वेशभूषा पहिनी जाती है।

व्यावसायिकरण का प्रभाव दवाइयों मे देखा जा सकता है जहाँ दोहरी सस्कृति देखने को मिलती है। सरकार ने ऐलोपैथी को बढ़ावा दिया है और यह नगरो मे अधिक उपलब्ध है। इसका उपयोग अधिकतर नगर के शिक्षित उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और विदेशी करते हैं। इसका कारण आर्थिक और साथ ही सांस्कृतिक भी है। ग्रामों में इसका प्रभाव कम है।

व्यावसायीकरण ने जाति के व्यावसायिक बन्धनों को तोड़ा है। अत: व्यवसाय का चयन, शिक्षा, क्षमता, प्रशिक्षण, प्राथमिकता, विशेषीकरण आदि पर आधारित हैं न कि जन्म, वंशानुसंक्रमण या जाति पर। व्यवसाय को करने वाले अधिकतर मध्यम वर्ग के होते हैं तथा कभी-कभी उच्च वर्ग के लोग भी व्यवसाय करते देखे जा सकते हैं।

व्यवसायीकरण ने भौतिक, व्यावसायिक आर सामाजिक गतिशीलता को तेज किया है। व्यवसाय म विशेषीकरण ने जनसामान्य और व्यवसाय करने वालो के मध्य अन्तर का बढा दिया है। भारत के अधिकतर शिक्षित लोग सम्मान प्रतिष्ठा, सत्ता, सुरक्षा आदि के कारण सरकारी नोकरी को प्राथमिकता देते हैं। विश्व के अन्य देशो की तरह आजकल भारत मे निजी व्यवसाय भी महत्त्वपूण और प्रतिष्ठा वाले हो रहे हे, जैसे—लेखक, पत्रकारिता आदि। इनके अतिरिक्त वास्तुकला एव वास्तुशास्त्र के व्यवसाय को भी सम्माननीय दृष्टि से देखा जाने लगा है।

व्यवसायों के समाजशास्त्रीय अध्ययन (Sociological Studies of Occupation)—भारत मे समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से व्यवसायो पर अनेक अध्ययन हुए हें जिन्हे दो भागो—परम्परागत व्यवसाय और आधुनिक व्यवसायो मे बाँटकर देखा जा सकता है—आधुनिक व्यवसाय जिस पर समाजशास्त्रीय अध्ययन हुए हैं वो हैं महिला नर्स डॉक्टर वकील, वेज्ञानिक आदि। परम्परागत व्यवसायो पर भी अध्ययन हुए हैं, जेसे—पुरोहितो एव *ब्राह्मणो के कार्य। इन अध्ययनो ने सामाजिक आर्थिक परिस्थितियो पर प्रकाश डाला है।* पुरोहितो के व्यावसायिक प्रतिमान, शिक्षा, आय को लेकर भी अध्ययन हुए हैं। पुरोहितो के अध्ययनो मे अनेक चरो को लिया गया है, जेसे—वरिष्ठ पुरोहित और युवा पुरोहित उनके नातेदारी के सम्बन्ध और व्यावसायिक सम्बन्ध प्रशिक्षक ओर प्रशिक्षार्थी के मध्य-सम्बन्ध, आदि क अध्ययन भी हुए है।

विभिन्न अध्ययनो से निष्कर्ष सामने आए हें कि परम्परागत व्यवसायो पर आधुनिक शिक्षा, आर्थिक दबाव, बदलते प्रस्थिति के प्रतिमानो का विशेष प्रभाव पडा है जिसके कारण परम्परागत व्यवसायो मे गिरवाट आ रही है। परम्परागत व्यवसायी लोगो के बच्चे अपने पारिवारिक व्यवसायो को करने मे रुचि नहीं रखते हैं। परम्परागत धर्म-निरपेक्ष व्यवसायो क भी कम आय के कारण लोग छोडकर नवीन व्यवसायों को अपना रहे हैं।

अभी भी व्यवसायो के अनेक प्रकारो का समाजशास्त्रीय अध्ययन नही किया गया है जिनका समाजशास्त्रीय अध्ययन करना महत्त्वपूर्ण भी हे जैसे—अभियन्ता, सेवा निवृत्ति सैनिक अधिकारी, आर्किटेक्ट, चार्टड एकाउटेन्ट, वायुयान एवं जहाजरानी सेवा के कर्मचारी आर अधिकारी, ग्रामीण क्षेत्रो मे दवाई को व्यवसाय करने वाले आदि।

निष्कर्षत. यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र और व्यवसाय दोनो परस्पर घनिष्ठ सम्बन्धित हैं तथा अभी भी अनेक व्यावसायिक क्षेत्र ऐसे हैं, जिनका समाजशास्त्रीय अध्ययन होना चाहिए।

❐